॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

तृतीय स्कन्ध

द्वितीय खण्ड

अध्याय : ९ - १६

॥ श्री हरिः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य महा प्रभु पंच शताब्दी महामहोत्सव

प्रकाशन

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथ-माला तृतीय सुमन

श्रीमदखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीकृष्णवदन विरहवैश्वानरावतार

श्री मद्वल्लभाचार्य पादुर्भाविता

श्री मच्चतुर्थ प्रस्थान श्री मद्भागवत शास्त्र सर्ग लीला

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी अध्याय ९ से १६

हिन्दी अनुवाद सहित

सहायक ग्रंथः— 'प्रकाश' श्री मद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी महाराज

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायण ।
साकार ब्रह्मवादैकस्थापको वेद पारगः ॥
मायावाद निराकर्ता सर्ववाद निरासकृत् ।
भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड स्त्रीशुद्राद्युद्धृतिक्षमः ॥
श्री भागवत पीयूष समुद्र मथनक्षमः ।
तत्सार भूतरासस्त्री भावपूरित विग्रहः ॥
श्री भागवत प्रति पद मणिवर भावांशु भूषिता मूर्तिः
श्री वल्लभाभिधानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम् ॥

श्री मद्विट्ठलेश प्रभु चरण

गो. वा. प. भ श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण जोधपुर

राष्ट्रीय भाषा अनुवादक

प्रथमावृति........१०००

श्री विजया दशमी

तिथि आश्विन शुक्ला १० वि. सं. २०३६

दिनांक १ अक्टूबर १९७९

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

प्रकाशक ।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)
मानधना भवन चौपासनी मार्ग
जोधपुर नगर (राजस्थान) पिन कोड ३४२००३

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जिकृत)

जोधपुर (राजस्थान)

उद्देश्य :— जगद्गुरु श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के ग्रन्थों का राष्ट्र भाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर जन साधारण निमित्त प्रकाशन करवाना।

संगीत कला, चित्रकला, एवं अन्य ललित कलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्यिक सामग्रियों का शोध करवा कर उनका प्रकाशन करवाना।

विशिष्ठ सहायक सदस्य— रु. ५०००) व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्ता। इनके शुभ नाम सब ग्रंन्थ मालाओं की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सहायक सदस्य रु. १०००) से रु. ४९९९) तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंट कर्ता–इनके शुभ नाम एक ग्रंथ माला की सब पुस्तकों में प्रकाशित किये जाते है

सम्मानित सदस्य रु. ५०१) से रु. १००१) तक भेट कर्ता इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जावेंगे।

सदस्य रु. १५१) से रु. ५००) भेट कर्ता–

इस द्वितीय ग्रंथ माला के सर्व सुमन अर्थात् श्री मद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध (प्रथम पांच अध्याय) की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित की पुस्तके सदस्यों को भेंट की जावेगी।

इस संस्था के विशिष्ट सहायक—

(१) गो. वा. प. भ. श्री नन्दलाल जी मानधना जोधपुर रु. ५०००)

(२) गो. वा. प. भ. श्रीमती सौभाग्यवती जी नन्दलाल जी मानधना जोधपुर रु. ५०००)

(३) श्री हरिलाल जी हरिवल्लभ दासजी धर्मादा ट्रस्ट अहमदाबाद रु. ५०००)

(४) श्री बाला भाई दामोदर दास ट्रस्ट तथा बाई रुक्मणी पत्नी वकील चिमनलाल जी कपूरचन्द जी वैष्णव मंडाण ट्रस्ट अहमदाबाद द्वारा गो. वा. सेठ साकर लाल बाला भाई। रु. ५०००)

सहायक सदस्य—

गो. वा. प. भ. हरगोविन्द दासजी की स्मृति में उनके सुपुत्र प. भ. चिमनलाल जी मोहनलाल जी नटवरलाल जी उनके धर्मादा ट्रस्ट बम्बई द्वारा भेट रु. १५०१)

गो. वा. प. भ. मोहनलाल जी शर्मा की स्मृति प. भ. बंशीबाई, जतीपुरा रु. १०५१)

प. भ. कृष्णदास जी मूंधडा व उनकी धर्म पत्नी सहोदरा बाई कलकत्ता रु. १०५१)

प. भ. लाजवन्ती बाई नन्दलाल जी भाटिया दिल्ली........ रु. ११०१)

॥ श्री हरिः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्दी महामहोत्सव प्रकाशन

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथ माला-तृतीय सुमन

तृतीय स्कन्ध अध्याय ९ से १६

मुख पत्र	क
संस्था के उद्देश्य एवं विशिष्ठ आजीवन सदस्य सूची	ख
विषय सूची	ग
संरक्षक एवं द्वितीय ग्रन्थ माला के आजीवन सदस्यों की सूची	घ
श्री वृन्दावनेश्वर की मुरली का महत्व	च
'दो शब्द' -गोस्वामी श्रीव्रज भूषणलाल जी महाराज संस्थाध्यक्ष महोदय	छ
विनम्र निवेदन श्रीनन्ददास जी (रामचन्द्रजी) मंत्री	ज
श्री तत्व दीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण तृतीय स्कन्ध के अध्याय ९ से १६	१ से २४
श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका से सौरभ पूर्ण चुनी हुई कुछ कलियां (सुबोधरत्नाकर)	२५ व २६
भूमिका	२७ से ३२

-: विषय सूची :-

अध्याय	शीर्षक	पृष्ट
९	ब्रह्माजी द्वारा श्री भगवान् की स्तुति	१ से ६६
१०	दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन	६७ से १००
११	मन्वन्तरादि काल विभाग का वर्णन	१०१ से १४०
१२	सृष्टि का विस्तार	१४१ से १९४
१३	वराह अवतार	१९५ से २६०
१४	दिति का गर्भ धारण	२६१ से ३१४
१५	जय विजय को सनकादिक मुनियों का शाप	३१५ से ३९८
१६	जय विजय का वैकुण्ठ से पतन	३९९ से ४४८
	श्लोकों और कारिकाओं की अनुक्रमणिका अध्याय ९ से १६	४४९ से ४५४

-चित्र सूचि-

श्री वृन्दावनेश्वर	च
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा श्री सुबोधिनी का आलेखन	१

संरक्षक महानुभाव

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलाल जी महाराज	नाथद्वारा (राज.)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलाल जी महाराज	सूरत
श्री व्रज भूषणलालजी महाराज	काँकरोली
श्री पुरुषोत्तमलाल जी महाराज	कोटा
श्री गोविन्दराय जी महाराज	पोरबन्दर
श्री रणछोड़ाचार्य जी महाराज	कोटा
श्री व्रजराय जी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
श्री धनश्यामलालजी महाराज	कामवन
श्री व्रज भूषणलालजी महाराज	चोपासनी (जोधपुर) जामनगर

पूजनिया नि. ली. कृष्ण प्रिया बेटीजी महाराज की स्मृति में पूजनिया अम्माजी की ओर से पूजनिया शरद प्रिया बेटी जी महोदया अध्यक्षा जपयज्ञ समिति काशी द्वारा भेट रु. ५०१)

निम्न प्रत्येक 'सहायक सदस्य' महानुभाव से रु. १००१) प्राप्त-

गो. वा. प्रेमलता बाई बलदेव दासजी डागा (आत्मजा) की स्मृति में प. भ. उद्धव दासजी एवं काशी बाई मूंधड़ा द्वारा भेंट — कलकत्ता

गो. वा. गोकुलदासजी मायाचन्दजी एवं प. भ. सरस्वती बहिन की स्मृति में उनके सुपुत्र प. भ. पुरुषोत्तम दास जी गोकुल दास जी द्वारा भेट — पूना

गो. वा. द्वारकादासजी श्यामदासजी की स्मृति में उनके सुपुत्र कृष्णदासजी द्वारकादासजी दलाल द्वारा भेट — पूना

गो. वा. दिलसुखराय जी राठी की स्मृति में उनकी धर्म पत्नी श्रीमती श्यामाबाईजी और उनके सुपुत्र लक्ष्मीनारायणजी द्वारा भेट— — दिल्ली

प. भ. कस्तूर बहन हरिकिशन दासजी की ओर से उनके सुपुत्र विट्ठलदास जी शाह द्वारा भेट— — हैदराबाद

प. भ. ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ	पूना
,, ,, रामदासजी कृष्णदासजी मांडी वाले	पूना
,, ,, प्रेमाबाई किशनचन्दजी भाटिया डेरे वाले	कानपुर
,, ,, रुक्मणी बाई बिन्नाणी	कलकत्ता
,, ,, मुन्नीबाई (शान्तादेवी जी) एवं उनके सुपुत्र अशोक कुमारजी शर्मा सी. ए.	दिल्ली

गो. वा. प. भ. चन्द्रप्रकाशजी की स्मृति में उनकी माता श्री जमुनाबाई व अनुज आत्म प्रकाजी द्वारा भेट — दिल्ली

श्री मगनभाई शंकर भाई पटेल ऐजूकेशन ट्रस्ट द्वारा भेट कर्ता प. भ. अमिता बहिनजी पटेल — बड़ोदरा

प.भ. श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी गांधी बीकानेर

प.भ. श्री केदारनाथजी दम्माणी मद्रास

प.भ. श्री विजयकुमार जी दम्माणी कलकत्ता

श्रीमती विमला बाई सिंघी कलकत्ता

गो. वा. प.भ. श्रीमती राधा बाईजी की स्मृति में उनके सुपुत्र नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) एवं पुरुषोत्तमदासजी वर्मा द्वारा भेट जोधपुर

गो. वा. प. भ. पन्नालालजी की स्मृति में उनकी धर्म पत्नी श्रीमती सूरज बाई और उनके सुपुत्र चुन्नीलालजी फूमड़ा द्वारा भेट कलकत्ता

गो. वा. प. भ. जीवनदासजी मूंधड़ा की स्मृति में उनके सुपुत्र ठाकुरदासजी द्वारा भेट कलकता

गो. वा. प. भ. पारवतीबाई जीवनदासजी मूधड़ा की स्मृति उनके में सुपुत्र चेतनदासीजी द्वारा भेट कलकता

प. भ. सूरजबाई कोठारी- कलकता

प. भ. उद्धवदासजी एवं उनकी धर्म पत्नी काशी बाई मूंधड़ा कलकता

चत्रभुज दास जी एवं उनकी धर्म पत्नी कृष्णाबाई माहेश्वरी मुरेना मंडी

प. भ. श्रीमती निर्मला देवी जी अरोड़ा इलाहाबाद

प. भ. आनन्दकुमारजी एवं उनकी धर्म पत्नी चन्द्रकान्ता जी कर्वा उदयपुर

प. भ. श्रीमती गंगाबाई गोपालदास जी मोहता अकोला

प. भ. श्रीमती रतनबाई मोहता (हरदा) एवं उनकी बहिन रंभाबाई राठी (कटक)

गो. वा घनश्याम दासजी मूंधड़ा की स्मृति में उनके सुपुत्र श्री दासजी द्वारा भेट मद्रास

प. भ. दामोदर दासजी एवं उनकी धर्म पत्नी सूरज बाई मूधडा कलकत्ता

निम्न प्रत्येक सदस्य महानुभाव के रु. ५०१) को सेवा प्राप्त हुई

प. भ. मदन मोहनजी चावला मलाड (बम्बई)

प. भ. सीता बाई कोठारी कलकत्ता

प भ. सोनाबाई चांडक व उनकी बहिन मोना बाई कोठारी कलकत्ता

टीकमदासजी आचार्य की स्मृति में उनके दोहित्र श्यामसुन्दरजी मज्जा द्वारा भेट बम्बई

प. भ. मिट्ठी बाई एवं उनके सुपुत्र हंसराजजी बम्बई

प. भ. रघुनाथ जी श्रीकमदास जी के लिए भेट कर्ता जेठालाल जी जामनगर

गो. वा. रणछोड़ दासजी मूंधड़ा एवं उनकी धर्म पत्नी सुन्दर बाई कलकता

प. भ. सुमन बाई नथाणी (रायपुर) एवं उनकी बहिन कुसुमबाई भट्टड कलकत्ता

प. भ. मोहिनी बाई कलकत्ता

प. भ- नवल बहिन पीताम्बरदास जी की स्मृति में उनके सुपुत्र चन्द्रकान्तजी एवं पुत्रवधु सुशीला बहिन द्वारा भेट हैदराबाद

प. भ. छगनलालजी राठी एवं उनकी धर्म पत्नी कृष्णाबाई दिल्ली

प. भ. नारायणदासजी पूना

प. भ. गांधी मथुरदासजी हुकमचन्दजी पूना

॥ श्री हरिः ॥

दो शब्द

श्री मद्भागवत महापुराण सनातन धर्म में महत्वपूर्ण ग्रन्थ है अतः इसका अनुवाद कतिपय निष्णात् विद्वानों ने किया है परन्तु निष्पक्ष तल-स्पर्शी विद्वद् वर्ग ने श्री सुबोधिनी टीका को ही प्रशस्त माना है क्योंकि इस टीका की विशेषता यह है कि इसमें निगमकल्पवृक्ष से गलित रसमय श्री मद्भागवत रूप फल के सामान्य प्रसंगो में श्रुति तत्व-भूत गूढ अर्थ को प्रकाशित किया गया है।

१५ वें अध्याय में प्रसंग है कि एक बार सनकादिक मुनि भगवान् के दर्शन करने के लिये वैकुण्ठ में गये जिसमें सात द्वारों में से छ द्वार वे पार कर गये परन्तु सातवें द्वार में दो द्वारपालों ने इनको प्रवेश नही करने दिया। सुबोधिनी जी में इसका गूढार्थ बताया गया है कि वे छ द्वार भगवान् के षड्गुण एश्वर्यादि रूप थे और ये मुनि आत्म-ज्ञानी अनासक्त वैराग्य गुण पूर्ण होने से छ गुण रूप द्वार पार कर गये। भगवद्धाम वैकुण्ठ के सातवें द्वार में प्रवेश करने का अधिकार दैन्य युक्त निरहंकार भगवद् भक्त को ही है अतः इनको रोक दिया गया क्योंकि इनमें अहंकार-भाव था।

ज्ञान मार्ग में चार मुख्य गुण होते हैं समान दृष्टि निर्भयता, मनन और आत्म ज्ञान जो गुण लौकिक दोषों की निवृत्ति तो करते हैं परन्तु भक्ति मार्ग में ये भगवान् के माहात्म्य ज्ञान के गुणों के साथ भगवद् गुणों का आदर हो तब ही उपयोगी होते हैं। आत्मा चिद्रूप ब्रह्म है आत्मा उसके ज्ञान में भी ये मुनि मनन पर्यन्त पहुँचे हुवे थे और मनन का भी अनुभव सदैव नही था। चिद्रूप और उसके धर्म के मध्य में एक बलिष्ठ सीमा अहंकार की है। आत्म (चिद्) स्वरूप का ज्ञान होना ही गुण रूप है। इन मुनियों में अहंकार था जिससे चार दोष इन से हुए अधिकारियों का उल्लंघन २ भगवद्-धाम को सामान्य स्थान समझना ३ बहिरंग एवं अन्तरंग को समान जानना ४ विशेष गुणों की अवहेलना करना। इन दोषों के कारण ही मुनियों के ज्ञान मार्ग के गुण भी तिरोहित हो गये और इसलिये इनने क्रोधित इनका होकर सातवें द्वार में प्रवेश निषेध करने वाले द्वारपालों को शाप दे दिया।

भगवद्-धाम में प्रवेशाधिकार केवल अहंकार रहित, दैन्य युक्त भगवद भक्त को ही है इस सिद्धांत की सम्पुष्टि स्वयं भगवान् ने बाहर पधार कर मुनियों को दर्शन देकर की ज्ञानियों को भगवद्दर्शन करनेका ही अधिकार है न कि भगवद धाम के अंतरंग कक्ष में प्रवेश करने का अधिकार है। यों सामान्य प्रसंग में वेदान्त को गूढार्थ बता देना इस टीका की महत्ता है मेरी श्याम मनोहर प्रभु से प्रार्थना है कि आप ऐसी कृपा करें कि इस उत्तमोत्तम रस काव्य के अध्ययन में हमारी रुचि हो, जिससे यह जीवन सार्थक बने।

गो. व्रजभूषणलाल

अध्यक्ष

✻ श्री सुबोधिनी ✻

।। श्री वृन्दावनेश्वर ।।

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ।।

श्री मद्वल्लभाचार्य

विनम्र निवेदन

श्री मद्भागवत महापुराण के १२ स्कन्ध हैं परन्तु श्री मद्वल्लभाचार्य चरण ने केवल प्रथम द्वितीय, तृतीय, दशम् और ग्यारहवें स्कन्ध के प्रथम चार अध्याय पूर्ण और पांचवें अध्याय के प्रथम दो श्लोकों की ही श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका की रचना की है। इनमें से दशम् स्कन्ध के सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित की १२ पुस्तकें सदस्यों को जिनके रु. १५०) प्राप्त हुए उन्हे भेंट कर दी गई। इस तरह प्रथम ग्रन्थमाला समाप्त हुई। तत्पश्चात् संस्था ने यह निर्णय लिया कि बचे हुए स्कन्धों की सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित की लगभग १० पुस्तकों का प्रकाशन करवा कर जिनसे रु १५१) प्राप्त होवे उन्हे भेंट कर दी जावे। तदनुसार ग्यारहवें स्कन्ध के प्रथम पांच अध्याय में उपलब्ध सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद तथा वृत्रासुर चतुःश्लोकी हिन्दी अनुवाद सहित की एक पुस्तक तथा तीसरे स्कन्ध के प्रथम आठ अध्यायों की सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित की दूसरी पुस्तक जिन सदस्यों से रु. १५१) प्राप्त हुए उन्हे भेंट कर दी। यह तीसरे ही स्कन्ध के नवमें से सोलहवें अध्यायों की सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित का दूसरा खण्ड है तीन मास पूर्व ही तीसरे स्कन्ध की सतरहवें से चोबीसवें अध्यायों की सुबोधिनी सहित हिन्दी अनुवाद की पुस्तक तीसरा खण्ड भेंट किया जावेगी क्योंकि उसका प्रकाशन थोड़ा बाकी रह गया है। इसके बाद तीसरे स्कन्ध के शेष अध्याय पच्चीस से तेंतीस तक की एक पुस्तक (चौथा खण्ड) भेंट करने पर वह स्कन्ध पूर्ण हो जावेगा उसके बाद में प्रथम व द्वितीय स्कन्ध की पांच पुस्तकें छपवा कर भेंट की जावेगी। संस्था के पहले के नियम के अनुसार यदि ये सात पुस्तकें किसी कारणवश संस्था सदस्यों को भेंट करने में असमर्थ रही तो सदस्यों से पुस्तक प्रकाशन अग्रिम की प्राप्त रकम रु १२० में से भेंट की गई तीन पुस्तकों का लागत मूल्य कम कर बाकी रकम उन्हें संस्था वापिस दे देगी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य पुष्टिमार्गीय साहित्य प्रचार है इसलिये पूर्व में भेंट की गई दशम स्कन्ध की पुस्तकें यदि सदस्यों के उपयोग में न आती हो तो वे १२ पुस्तकें संस्था को सहर्ष वापिस लौटाकर अपनी ग्रन्थ प्रकाशन अग्रिम की रकम रु. १२०) वापिस ले सकते हैं जिससे अन्य महानुभाव सम्पूर्ण सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित प्राप्त कर इस अलौकिक साहित्य का पूर्ण लाभ ले सकें। श्री मद्भागवत को महाप्रभुजी भगवत्स्वरूप मानते हैं तो सुबोधिनी जी स्वामिनीजी का स्वरूप है जिनका अंग भंग न कर सम्पूर्ण ही लेना अथवा बिल्कुल न लेना उचित है क्योंकि संस्था अंग भंग साहित्य देने का अपराध लेना नहीं चाहती है प्रकाशन की मुख्य सामग्री 'कागज' है जिसकी प्राप्ति की समस्या दिन प्रति दिन जटिल होती जा रही है इसलिये जिन सदस्यों के रु. १५१) प्राप्त हो जावेंगे। उनके लिये ही ये पुस्तकें छपवा कर भेंट कर दी जावेगी। अधिक पुस्तकें छपवा कर पुस्तक भंडार में रखने से उन्हे सुरक्षित रखने के अतिरिक्त उन पर खर्च की गई रकम के ब्याज की हानि संस्था को व्यर्थ में भुगतनी पडती हैं क्योंकि पुस्तकों का प्रकाशन का लागत मात्र सदस्यों से लेते हैं पुस्तक बेचने वाले की तरह दुगना मूल्य उनका नहीं लगाते हैं वरना कपड़े की पक्की जिल्द बढ़िया कागज सचित्र पुस्तक रु. १५ औसत में कहां मिल सकता है। वास्तव में हमारा कर्त्तव्य है कि परिवार के पालन पोषण के साथ उनको धार्मिक शिक्षण भी देवे इसलिये उनके लिये रु १५१) भेजकर यह सम्पूर्ण सुबोधिनी अनुवाद प्राप्त ही करना उचित है। संस्था सम्पूर्ण साहित्य ही भेंट करने के पक्ष में है क्योंकि भगवत्स्वरूप को अंग भंग देना व लेना दोनों ही वर्जित है।

चौथे सुमन में पुष्टिमार्ग के परमाराध्य इष्टदेव निकुंज नायक श्री गोवर्धन नाथजी (श्रीनाथजी) एवं श्री मद्विट्ठलेश प्रभुचरण के प्रथम पुत्ररत्न श्री गिरधर जी महाराज एवं उनके उत्तराधिकारी महानुभावों तथा उनके सेव्य स्वरूपों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण दिया जावेगा। इसी प्रकार अन्य (पुस्तकों) में श्री गोविन्दरायजी महाराज एवं अन्य पांच राजकुमार महोदयों के एवं उनके उत्तराधिकारी महानुभाव एवं सेव्य स्वरूपों का संक्षिप्त विवरण होगा क्योंकि पूज्य पाद गोस्वामि तिलकायत महाराज एवं सात गृहाधीश्वर महानुभावों तथा उनके सेव्य स्वरूपों का ज्ञान पाठकों को होना आवश्यक है कारण कि प्रत्येक वैष्णव इन ही के वंशज प्रवरगोस्वामि वर्य में से ही किन्ही के सेवक हैं और उनके सम्बन्ध में उन्हे जानने की उत्कंठा होना स्वाभाविक ही है।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण ने श्री मद्भागवत का सात प्रकार का अर्थ किया है जिनमें से चार प्रकार का श्री तत्त्वार्थ दीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में हैं तीन प्रकार का श्री सुबोधिनी टीका में है। पाठकों को सात ही प्रकार के अर्थ एक ही पुस्तक में मिल जावे तदर्थ भागवतार्थ प्रकरण की कारिकाओं (श्लोकों) के साथ उनका हिन्दी अनुवाद उन सम्बन्धित अध्यायों की पुस्तकों में दिया है। गो. वा. प. फतहचंद जी शास्त्री समयाभाव से दशम स्कंध तक के भागवतार्थ प्रकरण का हिन्दी अनुवाद ही कर सके अतः ११ वे स्कन्ध के प्रथम पांच अध्याय एवं तीसरे स्कन्ध के १६ वें अध्याय तक के भागवतार्थ प्रकरण के श्लोकों का अर्थ प. भ. श्री पुरुषोत्तमदासजी पुरोहित रिटायर्ड कलेक्टर जोधपुर ने सेवा भावना से किया उनके अस्वस्थ होने से यह कार्य पू. पा. तिलकायत महाराज के पुस्तकालयाध्यक्ष प. भ त्रिपाठी नारायण जी शास्त्री नाथद्वारा में सेवा भावना से कर रहे हैं अतः इन दोनों ही महानुभावों का आभार यह संस्था सादर स्वीकार करती है।

पूजनीय शरद प्रिया महोदया अध्यक्षा जय-यज्ञ समिति काशी ने पूजनीया नि. ली. कृष्ण प्रिया बेटी जी महोदया की स्मृति में पूजनीया अम्माजी की ओर से आशीर्बादात्मक रु ५०१) की राशि इस अलौकिक साहित्य प्रकाशनार्थ सेवा में प्रदान की है जिसके लिये यह संस्था आपका आभार सादर स्वीकार करती है और यह चरणरज किंकर साष्टांङ्ग दंडवत प्रणाम निवेदन करता है।

सदस्य महानुभावों को निवेदन है कि जो कार्य में अथवा आर्थिक सेवा की नामावली में भूल हो उसको जानकारी देवें भूल के लिए इस दास को क्षमा करें जिससे भूल ठीक कर ली जावे।

भवदीय कृपाभिलाषी
नन्ददास (रामचन्द्र)
मंत्री

।। श्रीहरिः ।।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

तत्त्वार्थदीप निबन्ध

श्री मद्भागवतार्थ प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित

तृतीय स्कन्ध

अध्याय ९ से १६

स्तोत्र की कारिकाओं की संख्या पच्चीस हैं वह भी ब्रह्मत्व के निर्णय के लिए हैं ।

कारिका—एकविंशतिभिर्नित्यं भजनं जन्मनः फलम् ।
चतुर्भिः प्रार्थ्यते तावत्संसारे तद्धि दुर्लभम् ।।७७।।

कारिकार्थ—इक्कीस कारिकाओं में नित्य भजन करना चाहिए जो जन्म का फल है इस का वर्णन है और चार में फल की प्रार्थना है वह फल ससार में दुर्लभ है ।।७७।।

इक्कीसवां पुरुष होता है—दस उसके हाथ की उँगलियां हैं और दस पैर की और इक्कीसवी आत्मा इससे क्या सिद्ध होता है इसकी आकांक्षा होगी उसका समाधान है नित्य भजन और वही जन्म उस फल का वर्णन चार कारिकाओं से है, वास्तव में तो भगवान् की प्रसन्नता ही प्रार्थना की जाती है। यही तो संसार दुर्लभ है। भजन की सिद्धि के लिए उसमें चार अर्थों की प्रार्थना की है। उसी भजन की सिद्धि होती है ।।७७।।

उन्ही चार प्रयोजनों को गिनाते हैं—

कारिका—सत्विकत्वं गुणासक्तिर्वाचकाविस्मृतिस्तथा ।
अनुद्वेगश्च सर्वत्र कृष्णतस्तद्धि नान्यथा ।।७८।।

कारिकार्थ—(१) सात्विकता (२) गुणासक्ति (३) वाचकाविस्मृत्ति (४) सर्वत्र अनुद्वेग, ये चार भगवान् कृष्ण के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। अन्य प्रकार से नहीं ।।७८।।

शंका हो सकती है कि इन चार का साधन प्रमाण से ही करना चाहिए उसका उत्तर है कि नहीं, ये भगवान् कृष्ण के द्वारा प्राप्त होते हैं ।।७८।।

शंका होती है कि जब प्रार्थना की तो सिद्ध की तरह फल क्यों नहीं दे दिया साधन का उपदेश क्यों किया उसका उत्तर देते हैं ।

कारिका—प्रेम्णा न सेवनं यस्मादुपदेशस्ततः कृतः ।
आद्ये तपस्ततो सात्वं तेनाऽन्यस्तत्फल ततः ॥७६॥
द्विरूपं हृदयोत्साहस्ते नवाऽविस्मृतिस्ततः ।७८½॥

कारिकार्थ—ब्रह्माजी ने प्रेम से सेवा नहीं की थी इसलिए उपदेश किया था सात्विकता की प्राप्ति हुई और उस ज्ञान के द्वारा भगवद्गुणों में आसक्ति हुई और उसके द्वारा वेदों का स्मरण और उसके अनन्तर उसका फल अनुद्वेग सिद्ध होता है और भगवल्लीला का परिज्ञान यह अन्य फल भी इनके द्वारा होता है। ये सब जब सिद्ध होंगे तब हृदय में उत्साह और वेद का अविस्मरण (याद) ये दोनों ही सिद्ध होंगें ॥७ ½ ।

भगवान् ने प्रार्थना के अनुसार तो उत्तर नहीं दिया किन्तु 'तुम फिर तप करो' ऐसा भिन्न ही उपदेश दिया इसका क्या कारण है और इस आशंका का उत्तर आद्येतय: से दिया है उपदेश तो साधन का ही दिया जाता है सात्विकत्व तप के द्वारा ही होता है और भगवद्गुणों में आसक्ति ज्ञान से होती है और ज्ञान के द्वारा हीं वाचक स्मृति (वेदों को नहीं भूलना) होती है। जब ये तीनों हो जाते हैं तो उनका फल अनुद्वेग सिद्ध होगा। और भी फल जैसे भगवल्लीला का परिज्ञान यह भी सिद्ध होता है उसके सिद्ध होने पर हृदय में उत्साह और वेदों की अविस्मृति भी ठीक तरह से सिद्ध हो जायेगी ॥७६॥

अनुद्वेग में दूसरा हेतु भी देते हैं।

कारिका—कृष्णासक्त्या त्वनुद्वेगः प्रीतो भक्त्या हरिः सदा ।
अतोऽष्टभिर्वचस्तेन तिरोभावाच्च नित्यता ॥८०½॥

श्लोकार्थ—कृष्ण में जब आसक्ति होती है और भगवान् भक्ति से जब प्रसन्न हो जाते हैं तो अनुद्वेग, (प्रसन्नता) होती है इसे आठ कारिकाओं से कहा है और उसी रूप से भगवान् का तिरोभाव होने से नित्यता भी है ॥८०॥

यदि भगवान् में आसक्ति हो और उनकी यदि प्राप्ति न हो तो और उद्वेग होगा उस उद्वेग की निवृत्ति कैसे होगी इसके लिए कहा है कि भगवान् भक्ति से सदा प्रसन्न रहते हैं तो उनकी अप्राप्ति का कोई कारण नहीं हैं इसलिए प्रीतियुक्त भक्ति से भगवान् प्रसन्न होकर अनुद्वेग (प्रसन्नता) को देते हैं। इसी बात को बताने के लिए आठ कारिकाओं से भगवान् के वचन का निरूपण हैं और उसी रूप से तिरोहित होने से उनकी नित्यता भी है। इस तरह नवम् अध्याय से ब्रह्मा के पिता की ब्रह्मरूपता सिद्ध है । ८०½॥

शंका होती है कि नवमे अध्याय में ही सगुण से सृष्टि कहनी चाहिये और उसका प्रश्न भी करना चाहिये तो फिर इस (नवम्) अध्याय में न कहकर कमल प्रकरण दशम अध्याय में इसका प्रश्न तथा उत्तर क्यों कहा—

कारिका—चरित्र पर चित्तत्वादग्रे पृष्ट न पूर्वतः ।।
अत एव गुरुः प्रीत क्रमेणैवाऽऽह नाऽन्यथा ।।८१½।।

कारिकार्थ--चरित्र में तन्मय होने के कारण उस चरित्र के पूर्ण न होने तक कोई प्रश्न नहीं किया उस के पूरे होने के अनन्तर ही आगे प्रश्न किया। इस से गुरु को प्रसन्नता हुई और उन्होंने क्रम से ही उत्तर दिया प्रश्न की अपेक्षा से उत्तर नहीं दिया ।।८१।।

उपोद्घातरूप से भगवच्चरित्र बीच में प्रस्तुत किया था किन्तु भगवच्चरित्र में तन्मय हो जाने से जब तक उसकी पूर्ति न हुई तब तक कुछ नहीं पूछा। जब प्रश्न पूछा ही नही तो उत्तर भी कैसे देते। आगे कहा जायगा वह भी पूर्वका ही अङ्ग हो जायेगा यह इसका आशय है। इससे यह सूचित होता है कि भगवद्भक्तों के लिये प्रसङ्ग से भी भगवत्कथा का वर्णन हो जाय तो अपने भवन उपक्रम के विषय में वे उदासीन हो जाते हैं तभी तो उनमें भक्ति होती है। इस की परीक्षा के लिये ही गुरु ने 'प्रीतः प्रत्याह' इस वाक्य से वैसा कहा। भगवच्चरित्र के अनन्तर प्रश्न करने से गुरु को प्रसन्नता हुई इसका गुरु शब्द से बताया, क्रम से कहना ही प्रसन्नता की पहचान है पूर्व सम्बन्ध रूप से ही प्रश्नोत्तर कहा भिन्न रूप से नहीं। यदि प्रसन्नता न होती तो पूर्व से ही सम्बन्ध रहित प्रश्नों का ही उत्तर देते ।।८१½।।

यदि एक ही पद्मकल्प होता तो 'अनेन लोकान् प्राग्लीनान्' ऐसा वाक्य कैसे कहते। अतः उसके समर्थन के लिये कहते हैं—

कारिका--पद्मकल्पाश्च बहवस्तेन ज्ञानं तथोदितम् ।।
पद्मतः सर्वसम्भेद ब्रह्मभेदं तथोक्तवान ८२½।

पद्मकल्प तो बहुत हैं इसलिये वैसा ज्ञान कहा गया है। सब कार्य में कमल का मिश्रण है अतः जिस तरह पद्मकल्प बहुत है उसी तरह ब्रह्म का भेद है ।।८२।।

पद्मकल्प बहुत हैं इस से क्या सिद्ध होता है उस का उत्तर है कि 'पद्मजः सर्वसम्भेदम्। सब कार्य में पद्म का मिश्रण है। कदाचित् शंका हो कि 'तस्यैव चाऽन्ते कल्पोऽभूत्' उस के अन्त में ही कल्प (पद्मकल्प) हुआ यह कथन विरुद्ध होगा यदि पद्मकल्प बहुत होते तो 'कल्पोऽभूत्' में कल्प में एक वचन का प्रयोग क्यों किया बहुवचन का प्रयोग करना चाहिये इस का उत्तर 'ब्रह्मभेदं तथोक्तवान् से देते हैं दूसरे ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड से भिन्न है इसलिये 'पूर्वार्ध' और 'परार्ध' पक्ष में दोष नही होता है। तथा ब्रह्मा का भेद भी इस से सूचित होता है ।।८२½।

अथवा 'तस्यैवचाऽन्ते का अन्त शब्द वर्ष के अभिप्राय से कहा है तब तीन सौ साठ ब्रह्मकल्प होते हैं इसी को कहते है-

कारिका– सामान्यतो विभागोयं सर्वेषामुक्तमेव हि ।
सृष्टिर्द्विधापि सम्पूर्णा कारणानामतः कथा ।।८३½।

कारिकार्थ--यह सामान्यरूप से सब का विभाग कहा हैं। सृष्टि दोनों ही प्रकार की अब सम्पूर्ण होती है अब यहां से कारणों की बात कही जा रही है अन्त का अर्थ अन्तिम दिवस नहीं है इससे अन्य कल्पों का विभाग भी सूचित होता है सो जानना चाहिये, अथवा सगुण ब्रह्म से सृष्टि विशेष प्रकार से क्यों नहीं कही इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये 'सामान्यतः' ऐसा कहा अर्थात् सामान्यरूप से सब विभाग कहा यह ही सारा जीवलोक है। 'अब सृष्टि द्विधापि' इससे उपसंहार करते हैं सृष्टि में यहां विभूति मुख्य है अब काल के द्वारा सृष्टि कही जाती है इसे 'कारण नामतः कथा से कहते हैं।।८३½।।

कारिका—कालोजीवश्चवें रूपे नाम्नि वैदिक मुच्यते ॥
कालस्य कार्य तो जन्म तदुपाधिवशादपि । ८४½।।
अव्यक्तत्वात्कृष्णभावान्नोत्पत्तिः कापि तस्य तत् ।
तथापि कारणत्वाद्धि प्रश्नो युक्तं तथोत्तरम् ।।८५½।।

कारिकार्थ—यद्यपि सर्ग के लक्षण में भूत आदि पदों से तत्व ही कहे गये हैं तो कारण सम्भूति वाक्य में भी उन्ही का ग्रहण होना चाहिए तो फिर काल और जीव की सृष्टि के कथन का क्या अभिप्राय है उसका उत्तर यह है कि काल और जीव नाम में और रूप में वैदिक कहे गये हैं। काल का जन्म कार्य से होता है अथवा कार्योपाधिवश से भी उसका (काल का) जन्म होता है। काल के अव्यक्त होने से तथा उसमें कृष्ण भाव होने से उसकी कोई उत्पत्ति नहीं है तथापि काल का कारणत्व अनुभव में आता है अतः उसके विषय का प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही उचित है

वहां काल का दो अध्यायों से निरूपण है यह कहते हुए भेद कहते हैं कि काल की कार्य से उत्पत्ति होती है। स्वभाव से उसका जन्म इसलिए नहीं होता कि काल अव्यक्त है। जन्म शब्द 'जनी प्रादुर्भावे' इस धातु से बनता है वह अर्थ यहां नहीं हैं और दूसरा कारण यह है कि काल भगवदवतार रूप है इसलिए उसमें दोनों प्रकार की उत्पत्ति नहीं है अर्थात् अव्यक्त होने से प्राकट्यरूपा उत्पत्ति नहीं है और भगवत्व होने से समागमरूपा उत्पत्ति भी नहीं है एवं अवतारता होने से उत्पत्तिरूपा उत्पत्ति भी नहीं है। तो फिर सृष्टि में उसकी बात क्यों कही इसका उत्तर यह है कि काल के कारणत्व अनुभव सिद्ध है, जिसके भय से वायु बहती है जिसके भय से सूर्य तपता है अतः उसका प्रश्न और उत्तर उचित ही है ।।८५½।।

कारिका—लक्षणं च स्वरूपं च तस्य कारणताऽपि च ।
स्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्परिच्छेदकरः स्वयम् ।।८६½।।

कारिकार्थ--काल का लक्षण और स्वरूप तथा उसकी कारणता भी और सब के ब्रह्मरूप होने से वह काल ही स्वयं परिच्छेद कहे गये अर्थात् काल से ही परिच्छिन्न (सीमित) है ।।८६½।।

काल कारण है इसमें निमित्त है उसे 'सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्' से कहा है काल ही से परिच्छिन्न (सीमित) है और काल ही से किया जाता है अर्थात् काल ही उपादान कारण है कर्तृ क्रिया व्याप्त समवायी कारण ही उपादान कारण कहा जाता है ।।८६½।।

काल को सामर्थ्य ऐसी क्यों है इसके लिए काल का स्वरूप बताया जाता है ।

कारिका--**इदं कालस्य कालत्वमाविर्भावादिकं स्वतः ।**
कार्यतः कालकथनात्सासान्येन निरूपणम् ।।८७½।।

कारिकार्थ--कालका कालत्व यही है कि काल के आविर्भावादि स्वतः ही होते हैं । कार्य के निरूपण से ही सामान्य रूप से कारण का निरूपण होता है ।

रस का अभिनय करने वाला नट जैसे केवल हाथ से ही सब पदार्थ चेष्टा विशेष से प्रदर्शित करता है । अतः काल ही ब्रह्म के सर्वभाव से आविर्भाव परिच्छेद का कारण है कुछ लोग काल को भगवान् के आविर्भाव का हेतु बताते हैं किन्तु ऐसा नहीं है आविर्भाव तो स्वतः होता है किन्तु काल उसका परिच्छेदक होता है । अब काल का निरूपण सामान्य और विशेष प्रकार से दो अध्यायों से किया जा रहा है । शंका हो सकती है कि कार्य के निरूपण का उपयोग कहाँ होगा उसके लिये कहते हैं कि कार्य निरूपण से सामान्य रूप से काल का निरूपण हो जाता है ।।८७½।।

शंका करते हैं इस प्रकार की गणना किसलिये की, सामान्य रूप से काल का कार्य होने से सारे जगत् का ही वर्णन करना चाहिये इसका समाधान करते हैं-

कारिका-**कश्चित्प्रकारमाश्रित्य बुद्धिसौकर्यसिद्धये ।।८८।।**
खगानां गणना प्रोक्ता भल्लूके लोमपक्षताः ।
पक्षि जाति विशेषो वा तच्छब्देन तथोदितः ।।८९।।

कारिकार्थ—इस प्रकार की गणना यदि न करते तो सम्पूर्ण कार्य ज्ञात नहीं हो सकता था इसलिये बुद्धि की सुकरता की सिद्धि के लिये गणना की गई है। पक्षियों की गणना से भालू (रीछ) की भी गणना की है उसका कारण यह है कि उस के बाल ही पंख की जगह मान लिये हैं अथवा यह भल्लूक कोई पक्षी जाति विशेष हो सकता है इसलिये उसे पक्षी कहा है ।।८८।।

गणना करने से ही सब कार्य जाना जा सकता है। इसलिये बुद्धि सौकर्य के लिये गणना की गई है । उस गणना में भल्लूक (भालू) को पक्षियों में गिना है परन्तु वह तो मृग विशेष है और लोक में प्रसिद्ध है तथा वह जाम्बवान् की जाति का है । अतः उसको पक्षियों में गणना उचित नहीं है उसका समाधान 'लोमपक्षता' से किया हैं उसके बाल पंख की जगह मान लिये हैं अथवा यह कोई पक्षी जाति विशेष हो सकती है ।।८९।।

शंका करते हैं कि 'अर्वाक् स्त्र तस्तुनवमः' से मनुष्यों की सृष्टि एक ही प्रकार की कही किन्तु मनुष्यों में तो उत्तम मध्यम आदि भेद गिने गये है यह बात 'मध्यमा मानुषा ये तु' इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है उसका समाधान करते हैं—

कारिका—अत्रिमनराणां च त्रैविध्यं गुणतोपि हि ।
ते जायस्व म्रियस्वेति मार्गीया एव कीर्तिताः ॥६०॥

कारिकार्थ—काल के कार्य रूप में कृत्रिम मनुष्यों की गणना है अकृत्रिम मनुष्य तो गुणों से तीन प्रकार के होते हैं। यहां तो जायस्व (जन्मो) और म्रियस्व (मरो) इस मार्ग के मनुष्यों का कथन है।

कारिकार्थ—काल के कार्यरूप कृत्रिम मनुष्यों की यहां गणना की गई है। अकृत्रिम अर्थात् सहज जो तीन प्रकार के हैं। सात्विक उत्तम है, वैज्ञाननिक अथवा भक्ति निष्ठ होते हैं। अन्यो को इसी तरह जानना चाहिये। वे कर्म के अधीन हैं उन्ही को यहाँ जायस्व म्रियस्व से कहा है अर्थात् जो कर्माधीन होते हैं वे तो जन्ममरण के चक्कर से छूटते हो नहीं है ॥६०॥

भगवान् स्वयं (आत्मा) की ही सृष्टि करते हैं इसका अभिप्राय बताते हैं—

कारिका—अनेकविधंसृष्टिं श्र्वेद्वैषम्यादि हरेभवेत्
आत्मानं हि स्वयं चक्रे तेन नाऽत्रोक्तदूषणम् ॥६१॥

कारिकार्थ—अनेक प्रकार की सृष्टि जब देखी जाती है अर्थात् कोई सुखी कोई दुःखी है ऐसा भेद दृष्टि गोचर होने से भगवान् में वैषम्य दोष आयेगा अर्थात् भगवान् ऐसी विषम (असमान) सृष्टि करते हैं तो भगवान् में विषमता है ऐसा दोष आ सकता है किन्तु जब स्वयं भगवान् ही अनेक प्रकार के हो गये हैं तो उस में वैषम्य कैसा ? जैसे भगवान् ही यदि चोर रूप में हो और भगवान् ही दण्ड देने वाले हैं तो विषमता कैसी ? सिर भी हमारा है और हाथ भी हमारा है यदि हम अपने हाथ का सिरहाना (तकिया) लगाकर सोते हैं तो क्या हमारे में विषमता हो जायेगी ? ॥६१॥

क्या इस प्रकार सर्वदा काल से उत्पन्न होते हैं अथवा एक ही बार उत्पन्न होते हैं ऐसी शंका करके एक ही बार कारणता से उत्पन्न हुए हैं इसे कारिका से बताते हैं

कारिका—तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वाद्भेदानां तत्कथा तता ।
कार्यनाशोऽणुपर्यन्तं परमस्तेन स स्मृतः ॥६२॥

कारिकार्थ—उन उनकी उत्पत्ति में हेतु (कारण) होने से भेदों में काल का वर्णन है। जब अणुपर्यन्त कार्य का नाश हो जाता है तब जो परम अणु रहता है वह परमाणु कहा जाता है ॥६२॥

तत्कथा का अर्थ है काल की कथा परमाणुपद का निर्वचन करते हैं कार्यनाशाऽणु-पर्यन्तम्' स्थूलता के अभाव में जो सूक्ष्मता है उस सूक्ष्मता का पर्यवसान (अन्त) जहाँ होता है अर्थात् जिससे कोई सूक्ष्म न हो उसे परमाणु कहते हैं ।।६२।।

कारिका—मानसोत्तर भूमेस्तु सोंशः सूर्यरथेन हि ।
यावता क्रम्यते काल परमाणुः स उच्यते ।
सर्वं नभो मण्डलं हि यावता क्रम्यते स तु ।।६३½।।

कारिकार्थ—मानस की उत्तर भूमि का वह अंश जो सूर्य रथ से जितने समय में पार किया जाता है वह परमाणु काल कहा जाता है, और सारे आकाश मण्डल को जितने समय में पार किया जाता है वह संवत्सर कहलाता है। उस संवत्सर की जब आवृत्ति होती हैं तो उस के साठ भेद होते हैं। बृहस्पति की बारह आरा वाला कालचक्र बारह वर्ष में भ्रमण करता है। साठ वर्ष में पांच बार घूमता है इसलिये वह पंचात्मा कहा गया है ।।६३½।।

काल की परमाणुता में युक्ति देते हैं—

कारिका—संवत्सरः पर प्रोक्तस्तदावृत्तिश्तः परम् ।
षष्टि भेदा द्वादशात्मा तेन पञ्चात्मकः स्मृतः ।।६४½।।

संवत्सर परिवत्सर आदि पांच भेदों की उपपति कहते हैं 'सृष्टि भेदाः' बार्हस्पत्यमान में प्रभव विभव आदि साठ भेद प्रसिद्ध हैं। वहा बृहस्पति में बारह अंश वाला काल चक्र बारह वर्षो में घूमता हैं। उस की साठ वर्षो में पाँच बार आवृति हो जाती है इसलिये संवत्सर परिवत्सर आदि होते हैं। ६४½।।

संख्या तो पराध्र्य पर्यन्त ही है उससे अधिक नहीं हैं इसलिये संवत्सर गणना से ब्रह्म का दिन गिनना अशक्य है इसलिये युग कल्पना की है इस को बताते हैं—

कारिका—यत्राऽऽवृत्तिर्न चैवास्ति परार्धानिधिकत्वतः ।
सङ्ख्यायास्तेन गणना युगादिभिरुदीर्यते ।।६५½।।

वर्षो की आवृति इसलिये नहीं की है कि संख्या परार्ध से अधिक नहीं हैं। इसलिये संख्या की गणना के लिये युग आदि कहे गये ।६५½।।

जहां धर्म का विधान किया जाता है इत्यादि का निरूपण काल निरूपण में व्यर्थ है इस आशंका के लिये कहते हैं —

कारिका—उत्पद्यमानसन्देहे धर्ममाह विभेदतः ।
दिन रात्रिव्यवस्थायां कार्याकार्ये तु सर्वतः ।।६६½।।

युगों से जो सन्देह उत्पन्न होता है उसकी निवृत्ति के लिये अलग अलग युगों के अलग अलग धर्म बताये हैं। दिन और रात्रि की व्यवस्था भी की। कार्य तथा अकार्य से बताई है अर्थात् कार्य दिन में होता है और रात्रि में कार्य नहीं होता है ।।९६।।

कृतयुग में प्रजा के लिये कोई कर्त्तव्य नहीं होता था अर्थात् प्रजा उस समय कृतकृत्य होती है। इस प्रकार युगों के धर्म बताने के लिये उन युगों के मनुष्यों का भी वर्णन करना चाहिये अनेक धर्म का भेद धर्म ही हो सकता है अतः धर्म का निरूपण किया। शंका होती है कि सत्ययुग आदि में दिन और रात्रि में भी धर्म की प्रवृत्ति होगी उसके लिये 'दिन रात्रि व्यवस्थायाम्' से उस का निरूपण किया है अहोरात्र के धर्म तो सब युगों में एक से ही होते है दिन में ही कार्य होता है रात्रि में नहीं ।।९६½ ।

कारिका—तत्राऽपिकार्यभेदान् हि वक्तु धर्मादिवर्णनम् ।
तत्सिद्धयं षड्विधत्वं हि ते हि भिन्ना यतः पृथक् ।।९७½।।

जिस तरह ऊपर युग विशेष की व्यवस्था धर्मकृत बताई गई थी अब कल्पविशेष व्यवस्था को बताते हैं कल्पों में भी कार्य भेद का वर्णन करने के लिये धर्मादि का वर्णन किया उन कल्पों में भेद सिद्ध करने के लिये उन में षड्विधता बताई है अतः वे अलग अलग हैं ।

रात्रि और दिन में कार्यों के भेद प्रतिकल्प में भिन्न हैं। अतः उनके धर्मों का वर्णन करना चाहिये। धर्मादि की सिद्धि के लिये ही मन्वन्तर का निरूपण है। छ अङ्गों के निरूपण करने के लिये ही मन्वन्तर छ प्रकार के हैं। क्यों कि छहों मन्वन्तर अलग अलग हैं। क्योंकि उनके देश आदि भिन्न रूप से स्थित हैं। इसलिये छहों के योग से धर्म होता है यह सिद्ध हुआ ।।९७½।।

कारिका—सर्वेषां स्थितिसिद्धयर्थं भगवत्कृतिवर्णनम्। ।९८।
तन्मूल एव प्रलयः शयने सर्वनिवृंतिः ।

कारिकार्थ—परस्पर अलग होने से उनका विनाश न हो अतः उनकी स्थिति की सिद्धि के लिये भगवत्कृति का वर्णन है अर्थात् भगवान् उनकी रक्षा करते है और भगवान् ही प्रलय करते हैं क्योंकि शयन (प्रलय) में सब को सुख प्राप्त होता है।९८½।।

जैसे तैसे उत्पन्नतो हो गये परन्तु परस्पर विरुद्ध गुण वाले होने से वे नष्ट हो जायेंगे ऐसी शंका न हो इसके लिये भगवान् के द्वारा इस का पालन कहा गया है अर्थात् भगवान् इस का पालन करते हैं। अतः नष्ट नहीं होते यदि भगवान् पालन करते हैं तब तो प्रलय होगा ही नहीं इस आशंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि प्रलय भी भगवान् के द्वारा किया जाता है। भगवान् तो परम दयालु है तो फिर प्रलय (सब का संहार) क्यों करते हैं इस आशंका का उत्तर देते है 'शयने सर्व निवृंत्तिः' निरन्तर उत्पत्ति और प्रलय (मरण) से

जीव पीड़ित हो जाते हैं तो भगवान् के शयन करने पर उन जीवों को भी विश्राम (संतोष, प्राप्त हो जाता है ।।६८½।।

भगवान् का शयन पद्मकल्प में ही होता है यद्यपि 'तस्यैवचान्ते' इस उपसंहार से ब्रह्म कल्प के निकट होने पर भी वहाँ जल में शयन कहा नहीं है अतः पद्मकल्प में हो शयन होता है—

कारिका— पद्मनुसारिशयनं ब्रह्मा चाण्डवपुः स्मृतः ।।६६।।
भोक्तृत्वं कर्तृता चैव भेदेन वर्ण्यते ।

कारिकार्थ —यहां शयन पद्मकल्पानुसारी कहा गया है ब्रह्माण्ड विग्रह ही ब्रह्मा कहा गया है। ब्रह्मा भिन्न रूप से भोक्ता तथा कर्त्ता कहा गया है ।।६६½।।

शंका होती है कि जब भगवान् शयन करते हैं उस समय तो तीनों लोकों का नाश हो जाता है तब 'स्तूयमानो जनालयैः' जनलोक के लोग भगवान् की स्तुति करते हैं इस वाक्य की संगति कैसे होगी। इसके लिये कहते हैं कि उस समय ब्रह्मा अण्डशरीर रूप होता है ऐसा होने से तीनों लोकों में कल्पादि व्यवस्था होती है। यदि ऐसा न होता है 'तस्यैवचान्ते' इस वाक्य की संगति नहीं होती। शका होती है कि नाभिकमल में कौनसा ब्रह्मा होता है और सत्यलोक में कौनसा होता है इसका उत्तर 'भोक्तृत्व कृर्तृताचेति' से देते हैं अर्थात् ब्रह्माण्डविग्रह जो ब्रह्मा है वह सत्यलोक में जन लोक के रहने वालों से स्तुति किया जाता है अभिमानी का अर्थ है रजोगुण का अभिमानी। इस से दो ब्रह्मा है यह सिद्ध होता है यदि ऐसा न माने तो ब्रह्मकल्प में उत्पन्न ब्रह्मा तो आधी आयु का ही भोग करता है इसलिये वह तो उस समय विद्यमान ही रहता है उसके लिये 'तस्यैवचान्ते' इस जगह कमल से जिसकी उत्पत्ति बताई गई है वहाँ कौन उत्पन्न होगा। अतः अन्यथा उत्पत्ति के द्वारा दो ब्रह्मा की कल्पना आवश्यक है एक ब्रह्मा तो विद्यमान रहता है और दूसरा तो कमल से उत्पन्न होता है। इस तरह रजोभिमानो ब्रह्माण्ड भोक्ता और लोकभय-कर्त्ता ऐसे तीन ब्रह्मा होते हैं ।।६६।।

दैनादिन प्रलय में कर्त्ता ब्रह्मा के शयन का उपाय कहते हैं-

कारिका—भोक्ता सत्ये द्वितीयस्तु पद्मे नोदरगः सुखी ।।१००।।
प्रलयोऽयं समाख्यातः सर्गः पद्मे पुनस्तथा ।।

कारिकार्थ--भोक्ता ब्रह्मा सत्यलोक में रहता है और दूसरा ब्रह्मा कमल में सुख से शयन करता है इसी को प्रलय कहा जाता है। पद्मकल्प में भी इसी प्रकार से सृष्टि का क्रम है ।।१००।।

ऊपर बताये गये वर्णन से एक ही ब्रह्मा है इस प्रकार अभेद से वर्णन करना यह पक्ष दूषित हो जाता है पद्मकल्प उसमें फिर उसो तरह सृष्टि होती है वाराहकल्प में इसके विपरीत होती है उस सृष्टि को आगे कहेंगे ।।१००½।।

जब एक ही सर्ग से भगवल्लीला की सिद्धि हो जायेगी तो अनेक सर्गों का वर्णन क्यों किया उसका उत्तर देते हैं—

कारिका—अस्मिन्नण्डे त्रयोऽप्याऽसन् कल्पाः सर्वकथोक्तये ।।१०१।।
तेषामुक्तिस्तथा चाद्ये नाम्ना रूपस्य वर्णनम् ।।
अन्यथा भगवानेव तेनाद्यो ब्राह्म उच्यते ।।१०२।।

कारिकार्थ—इस ब्रह्माण्ड में तीनों ही कल्प हुए सब कथा के कथन के लिये ही उनका कथन है तथा आद्यकल्प में नाम से रूप का वर्णन है यदि ऐसा न होता तो आद्यकल्प जो ब्रह्म कल्प कहा जाता है उसमें स्वयं भगवान् ही ब्रह्म शब्द कहे जाते हैं ।।१०२।।

यहां पुरुष अर्थात् विसर्ग विभूति रूप है वह इस अण्ड में जैसा है वैसा ही वर्णन करने योग्य है। इसलिये सबकी कथा सिद्धि के लिये कल्पों का कथन है प्रथम कल्प जो ब्रह्मकल्प है उस सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा को छन्दोमय निरूपित किया है वह युक्ति संगत नहीं है। इस शंका का समाधान करने के लिये 'तथाचाद्याः' यह कहा है आशय यह कि नाम सृष्टि का निरूपण भिन्न रूप से है परन्तु वह नाम सृष्टि रूप सृष्टि के अधीन है इसलिये कोई दोष नहीं है, अथवा आधिदैविक रूप हैं। इस के लिये 'व्यक्ताव्यक्तात्मनः' ऐसा वचन है, अन्यथा इसका व्याख्यान प्रकारान्तर से पूर्व से सम्बद्ध है। आधिदैविक रूप से होने से ब्रह्मकल्प में भगवान् ही नाम सृष्टि कर्त्ता हैं। क्योंकि आधिदैविक का शरीरित्वसंपादकत्व भगवान् में ही युक्त है अन्य वैसा कोई कर नहीं सकता है इस अर्थ को शब्द प्रसिद्धि से भी समर्थित करते हैं, अर्थात् आद्यकल्प को इसलिये ब्राह्मकल्प कहते हैं यहाँ ब्रह्मशब्द से भगवान् कहे जाते हैं ।।१०२।।

काल निरूपण प्रस्ताव में काल को सब का स्वामी बताया है तो क्या काल अक्षर का भी स्वामी होगा ऐसी आशंका कर के उसका उत्तर देते हैं आध्यात्मिक भेदों की वहाँ प्रवृत्ति नहीं हैं—

कारिका—अतोऽधिकस्य गणना नास्ति कालस्य पूरुषे ।
तत्रोपपत्तिकथनमेवं कालो निरूपितः ।।१०३।।

कारिकार्थ—काल यद्यपि सब का स्वामी है परन्तु पुरुष में काल की प्रवृत्ति नहीं है। इस विषय को युक्ति का कथन करके काल का निरूपण पूर्ण किया।

भेद में संख्या नियामक होती है और द्विपरार्द्ध से अधिक संख्या का अभाव है। काल की प्रवृत्ति पुरुष में नहीं है इसमें 'निमेष उपच्यति' ये युक्ति दी है। दो अध्यायों से काल के प्रकरण का निरूपण किया अब यहां 'कालो निरूपितः' से उसका उपसंहार किया है ।।१०३।।

कारिका—अतः परं जीवसर्गो मुक्तामुक्तविभेदतः ।
मुक्तानां कारणत्वं हि तदिच्छावशगा यतः ।।१०४।।

कारिकार्थ—अब यहाँ से मुक्तजीव तथा अमुक्तजीव के भेद से जीव सर्ग कहा जाता है। मुक्त जीव कारण भूत है और वे भगवान् की इच्छा के वशीभूत हैं।

इसके आगे एक अध्याय से जीवों का निरूपण हैं उन में अमुक्त जीव मुक्ति प्रकरण में कहने योग्य हैं। वे कारण भूत नहीं हैं। मुक्त जीव तो कारण भूत हैं वे एक अध्याय से कहे जाते हैं। मुक्त जीवों में कारणता कैसे हैं इसे बताते हैं मुक्त जीव भगवान् के सन्निधान में ही रहते हैं अतः जब भगवान सृष्टि करना चाहते हैं तब अपनी लीला की सिद्धि के लिये उन्हें प्रेरित करते हैं इसलिये वे भगवदिच्छा के वशीभूत और कारणभूत हैं॥१०४॥

उनमें मुक्तजीव दो प्रकार के हैं—

वहाँ मुक्त दो प्रकार के थे इसे कहते हैं—

कारिका--**लोकातीता लौकिकाश्च तत्राऽऽद्या नाऽधिकारिणः।**
उत्पत्तिर्दुर्घटा तेषामविद्या निर्मिता ततः॥१०५॥

कारिकार्थ—लोकातीत जीव मुक्ति में कारण भूत हैं। वह मुक्ति जीवों के लिये स्वरूप से आविर्भावरूपता है यह पहले कहा गया है। इन दोनों प्रकार के जीवों में जो लोकातीत हैं वे तो वैकुण्ठ में भी विरक्त ही रहते हैं। इसलिये उन्हें सृष्टि के अधिकारी नहीं माना हैं। उनको तो केवल मुक्ति के लिये ही उत्पन्न किये जाते हैं। वेज्ञानांश को ग्रहण करके अवतार लेते हैं। इसलिये उनको व्यामोहित करने के लिये अविद्या की उत्पत्ति है। १०५॥

कारिका--**अभिमानी देवतेयं यतः सर्वं भविष्यति।**
मूलाविद्यावृत्तिरूपाः पञ्चैका वाऽत्र देवता॥१०६।

कारिकार्थ--अविद्या आधिदैविकी अभिमानी देवता है। वह सब को व्यामोहित करेगी उसी से सब कार्य की सिद्धि होगी अविद्या दो प्रकार की है एक मूल अविद्या तथा दूसरी पञ्चपर्वा परन्तु इनका देवता एक ही है यह सिद्धान्त है उसकी उत्पत्ति लोकातीतों को उत्पन्न करने के लिये की है॥१०६॥

उस अविद्याने, ब्रह्मा के अतिरिक्त और किसी को बाहर नहीं देखा इसलिये उसने सबसे पहले ब्रह्मा को मोहित किया।

कारिका--**मूढस्तया चतुर्वक्त्रः कृष्णध्यानं चकार ह।**
लोकातीतास्ततो जाताः काये ध्यानं प्रतिष्ठितम्॥१०७॥

कारिकार्थ--उस अविद्या के द्वारा चतुर्मुख ब्रह्मा मोहित हो गये इसलिए उन्होंने कृष्ण का ध्यान किया। उससे लोकातीत उत्पन्न हुए वह ध्यान ब्रह्माजी के शरीर में ही स्थित रहा॥१००॥

अविद्या के देवता रूप होने से उसने ध्यान में कोई रुकावट नहीं डाली। लोकातीतों की उत्पत्ति के अनन्तर ब्रह्मा का वह ध्यान जो सृष्टि प्रकरण में हुआ था वह उनके ही शरीर में प्रतिष्ठित रहा उसका कार्य आगे होगा ॥१०७॥

बीच में सनकादिकों की उत्पत्ति के अनन्तर क्रोध हुआ उसे कहते ह--

कारिका--सर्गावेशात्सन्निधानादविद्याकार्यसम्भव ः।
तदुत्पत्तिविचारेण नियन्तुमुपचक्रमे।

कारिकार्थ--ब्रह्मा में सृष्टि करने का आवेश था और अविद्या उनके पास ही में थी इसलिए उस (अविद्या) का कार्य भी सम्भव ही है, (इसलिए ब्रह्मा जी को क्रोध आया) परन्तु क्रोध किस कारण से आया है इसकी उत्पत्ति का विचार करके उन्होंने उसे रोक दिया।

ब्रह्मा जी के हृदय में सृष्टि का आवेश था उस सृष्टि में रुकावट होने पर क्रोध का आना स्वाभाविक ही है, और दूसरी बात यह थी कि अविद्या भी समीप में ही थी इससे भी क्रोध आया जब ब्रह्माजी की इच्छा ही नहीं थी तो उन्हें क्रोध क्यों आया उसका उत्तर है कि क्रोध तो अविद्या का कार्य है इसलिए उस (अविद्या) से ही उत्पन्न होता है वह क्रोध आधिदैविक है। परन्तु ब्रह्माजी भ्रम से उसे आध्यात्मिक समझ गये जिससे उसका नियमन करने में प्रवृत्त हुए। ब्रह्मा जी ने सनकादिकों की उत्पत्ति का विचार किया तो उन्होंने समझा कि ये तो महान् हैं इनकी उत्पत्ति तो ज्ञान के लिए ही की है अतः क्रोध को रोक दिया ॥१०८॥

कारिका—क्रोधे हि ध्यानसंयोगात्कृष्णांशः प्रविवेश ह ॥
तेनोभयस्य निःस्तारो ह्यन्यथैकस्य संक्षयः ॥ १०९ ॥

कारिकार्थ--क्रोध में भी ध्यान का संयोग होने से उसमें कृष्णांश का प्रवेश हो गया। इसलिए दोनों का निस्तार हो गया अन्यथा उसमें से किसी एक का नाश हो जाता।

आधिदैविक क्रोध रोकने योग्य नहीं होता उसका नियमन करने लगे तो वह क्रोध ब्रह्मा के शरीर को ही जलाने लगा। परन्तु वहाँ तो पहले ही शरीर में ध्यान प्रतिष्ठित हो गया था अतः क्रोध का ध्यान के साथ सम्बन्ध हो गया तब ध्यानयुक्त क्रोध में कृष्णावतार का प्रवेश हो गया। उसके बाद जो हुआ उसे कहते हैं तब दोनों की अर्थात् सनकादिकों की और ब्रह्मा जी के शरीर की रक्षा हो गई ॥१०९॥

उस (रुद्र) का रोना अनुचित था। इस आशंका का उत्तर देते हैं

कारिका--उत्पत्स्यमानानखिलान् दृष्ट्वा रोदनमागतम्।
संश्लिष्टवचनं प्राह ब्रह्मप्रीत्यै स्वयं पुन ॥११०॥
संसारानुपयुक्तान् हि स्त्रक्ष्ये सर्वानिति स्मरन्।

कारिकार्थ—सब को उत्पन्न होते हुए देखकर रोना आ गया मैं ऐसी सृष्टि करूंगा जो संसार के लिए उपयुक्त नहीं होगी ऐसा स्मरण करके उनने ब्रह्माजी को प्रसन्नता के लिए श्लेषयुक्त वचन कहे ।।११०।।

यह अंश कृपा रूप है 'नामानि कुरु मे धातः'

ऐसा वचन रोदन के नाम आदि के करने में हेतु नहीं हो सकता इसलिए श्लेषयुक्त वचन कहे उस तरह के वचन का प्रयोजन दूसरा भी था अर्थात् आपकी आज्ञा हो तो मैं सृष्टि करूँ। क्योंकि ब्रह्माजी की आज्ञा के बिना सृष्टि कर नहीं सकता सृष्टि में ब्रह्माजी को ही अधिकार है ।।११०½।।

कारिका—अतः शीघ्रमने केषामुत्पत्तिः प्रतिकूलनः ।।१११।।
निवारणं तपोबोधः प्रतिबन्धनिवृत्तये ।

कारिकार्थ—ब्रह्माजी की आज्ञा प्राप्त होते ही शीघ्रता से प्रतिकूल रूप से अनेकों की उत्पत्ति कर दी तब ब्रह्माजी ने उसको सृष्टि करने से रोक दिया और यह विचार कर कि इसे सृष्टि करने से रोका है अतः यह मेरे कार्य में कोई बाधा न करे इसके लिए उनसे तप करने की आज्ञा दे दी ।।१११।।

ब्रह्माजी को यह ज्ञात नहीं था कि यह रुद्र किस प्रकार की सृष्टि करेगा इसलिए आज्ञा दे दी आज्ञा पाते ही उसने शीघ्र अनेकों की सृष्टि कर दी ब्रह्माजी ने देखा कि रुद्र की सृष्टि तो सृष्टि के कारण का ही क्षय कर रहा है तो आगे सृष्टि कैसे होगी अतः उसे सृष्टि करने से रोक दिया। रोकने से कहीं ये मेरे काम में प्रतिबन्ध (रुकावट) डालेगा इसलिए उसे तपस्या करने के लिए कह दिया ।।१११½।।

तपस्या के द्वारा क्रोध को उत्पन्न करने वाली अविद्या ही नष्ट हो जायेगी तब शुद्ध क्रोध यथोक्त कार्य को ही करेगा। इस तरह का ब्रह्माजी के कहने का आशय था—

कारिका—उपाधिविनिवृत्त्यर्थं कारणत्वान्न निर्गमः ।। ११२ ।।
अतोऽभिनन्द्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकार ह ।

उपाधिरूपा अविद्या की निवृत्ति के लिए ही महादेव को तप करने की आज्ञा दी थी कार्यभूत तप के द्वारा कारण का निर्गम नहीं होगा, अर्थात् तप के द्वारा क्रोध का कारणभूत अविद्या की निवृत्ति हो जायेगी। अतः प्रतिबन्ध की निवृत्ति ही हुई इसलिए उसका अभिनन्दन करके कृष्ण का ध्यान ही किया ।।११२½।।

शंका होती है कि ऐसा होने पर महादेव में क्रोध की कारणभूता अविद्या तप के द्वारा क्यों नहीं जली (नष्ट नहीं हुई) और यदि वह अविद्या जल गई तो फिर कारण के नष्ट हो जाने पर लय क्यों नहीं हुआ केवल प्रतिबन्ध की निवृत्ति क्यों हुई। ऐसी आशंका करके कहते हैं कि कारणत्वन्ननिर्गम वह अविद्या महादेव की कारणभूता है और तप कार्यरूप है इसलिए कार्य से (तप से) कारण (अविद्या) की निवृत्ति नहीं हुई। इसलिए प्रतिबन्ध निवृत्ति ही हुई अविद्या निवृत्ति नही हुई 'अतोभिनन्द्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकाराह' ऐसा कहा।

इस तरह लोकातीतों की उत्पत्ति कह कर लौकिकों को यदि स्वयं उत्पन्न करते तो अभीष्ट सिद्धि नहीं होती इसलिए उनके उत्पादन में जो प्रकार किया उसे कहते हैं—

कारिका—सृष्ट्यर्थं भगवद्धाना न्मरीच्याद्युद्भूव पृथक् ।।११३।
धर्मव्यवाय सिद्ध्यर्थमेका स्त्री पुरुषाः परे ।

कारिकार्थ—सृष्टि के लिए जब भगवान् का ध्यान किया तो अलग अलग अंगों से मरीचि आदि महर्षियों की उत्पत्ति हुई इनकी उत्पत्ति धर्मव्यवाय की सिद्धि के लिए थी तदनन्तर एक स्त्री (वाणी) की और अन्य पुरुषों की उत्पत्ति की ।।११३।।

अलग अलग स्थानों से सब महर्षियों को उत्पन्न किये उसका प्रयोजन था धर्मव्यवाय की सिद्धि। धार्मिक रूप से विवाह आदि के द्वारा सन्तानोत्पादन करना इस तरह सात्विकों और राजसों की उत्पति कह कर तामसों की उत्पत्ति जब करने लगे तो पुत्रों ने ब्रह्माजी को रोक दिया यहाँ यह शंका होती है कि ब्रह्माजी के द्वारा तामसों को उत्पति कैसे हुई उसका उत्तर देते हैं एक स्त्री 'पुरुषा: परे' एक वाणी ही स्त्री थी और अन्य सब पुरुष थे वाणी ब्रह्मा जी के मुख से उत्पन्न हुई ।।११३½।

इसके अनन्तर क्या हुआ वह कहते हैं —

कारिका—अविद्यासन्निनाद्वि सृष्ट्यावेशाच्च तद्धदि ।।११४।।
जातः कामो मतिं चक्रे तस्यां सर्गाय भूयसे ।

कारिकार्थ—अविद्या का सन्निधान था और ब्रह्मा के हृदय में सृष्टि का आवेश था इसलिये उनके मन में कामना हुई तब उस अविद्या में अत्यधिक सृष्टि करने की बुद्धि हुई ।।११४।।

तीनों दोषों के होने से उस अविद्या में सृष्टि करने की बुद्धि की, अविद्या के कारण सृष्टि का आवेश हुआ हृदय में कामना की उत्पति हुई ।।११४½।।

निवारण में हेतु कहते हैं—

कारिका—अधर्मे धर्मनाशः स्यादिति कृष्णेन वारणम् ।।११५।।
तद्भावस्य परित्यागे सा रिरंसाभवत्तनुः ।

कारिकार्थ—अधर्म में धर्म का नाश होता है इसलिये ऐसी सृष्टि से कृष्ण ने उनको रोका था। जब उस भाव का परित्याग किया तो वह शरीररमण की इच्छा वाला हो गया ।।११५।।

तामसी सृष्टि करने को भी यदि भगवान् अनुमति दे देते तो वह तामसी सृष्टि भी धर्मनाशिका नही होती। यदि ऐसा होता तो सात्विक और राजसी सृष्टि भी समाप्त हो जाती। इसलिये रोकना उचित था शरीर त्याग का अर्थ है उस भाग का परित्याग। शरीर की प्रकृति क्या होगी उसके लिये कहा है कि रिरसां रमणेच्छावाली होगी ।।११५½।।

कारिका—सृष्टिध्याने वाचकानां प्रकारस्य समुद्गमः ॥११६॥
तन्मूलस्य च शब्दस्य ब्राह्मणो रूपकीर्तनम् ।

कारिकार्थ--तृतीय सृष्टि के विषय में जब ध्यान किया तो वेदों की उत्पत्ति हुई और वेदों के वाचक शब्दों के प्रकार का उद्गम हुआ प्रकार का मूल है 'शब्द' अतः प्रकार भेद के लिये ब्रह्मा के चतुर्मुख का वर्णन किया ॥११६½॥

पूर्व दक्षिण आदि मुखों के कारण शब्द में प्रकार भेद हुआ। लौकिक और अलौकिक (शब्द) भेद से तीसरी सृष्टि हुई। उससे जीवों के रूप और नाम सिद्ध हुए नामों की अखण्ड प्रवृत्ति हो इसके लिये उसकी देवता को कहा ॥११६½॥

इस तरह गुण सृष्टि को कहकर केवल गुणों से प्रपञ्च के ब्रह्मभाव (मुक्ति) की आशंका करके सन्निपात (मिश्रित) सृष्टि को कहने के लिये प्रवृत्त हुए ऐसा कहते हुए सन्निपात विरोधी का परित्याग किया इसे कहते हैं—

कारिका--नामावेशं परित्यज्य रूपावेशात्तु पूर्ववत् ॥११७॥
इच्छाध्याने समुद्भूते द्विधा चक्रतुरङ्गकम् ।

कारिकार्थ—नामावेश का परित्याग करके रूपावेश से पहले की तरह और इच्छा व ध्यान उत्पन्न हुए अर्थात् अपने अङ्ग को दो प्रकार का कर लिया ॥११७॥

अब यहाँ से तृतीय कल्प कहा जाता है। तृतीय कल्प में सृष्टि विषय में तो पूर्व कल्पो से कोई विशेषता नहीं हैं। केवल पृथ्वी की स्थिति की इसमें विशेषता है उसे कही जाती है इसमें ध्यान रूप मन की उत्पत्ति है और क्षत्ता का प्रश्न तो पूर्ववत् ही है। पिता (ब्रह्मा) की आज्ञा से ही प्रजा का उत्पादन पृथ्वी का पालन यज्ञ करना इन तीन प्रकार के धर्मों का कथन है और इनकी ही कथा इसमें विस्तार से है।

ततोऽपरासुपादाये इत्यादि से नामावेश का परित्याग और रूपावेश का ग्रहण बताया है। वहां ब्रह्म का अन्तःकरण सन्निपात रूप नहीं है भगवान् की अपेक्षा में भगवान् की इच्छा से वह शरीर ही दो प्रकार से हो गया उसको इच्छाध्याने इस से कहा है ॥११७½॥

इस तरह चार की सृष्टि का निरूपण करके अब उपसंहार करते हैं।

कारिका—कारणत्वान्मुक्तजीवा एवमेके निरूपिताः ॥११८॥
नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा

कारिकार्थ—कारणरूप होने से मुक्तजीवों का निरूपण है ऐसा किन्ही का कथन है जीवोत्पत्ति में नाम की उत्पत्ति जीवोत्पत्ति तो का अङ्ग होने से वर्णित है ॥११८॥

अमुक्तों की उत्पत्ति तो पहले कही जा चुकी हैं। जीव प्रकरण में नाम उत्पत्ति का वर्णन अनुचित है ऐसी आशंका करके 'नामोत्पतिश्च तच्छेषा' अर्थात् नामोत्पत्ति अङ्ग रूप से वर्णित है अतः अयुक्त नहीं है ॥११८½॥

अब तृतीय कल्प कहा जाता है

कारिका-- तृतीयस्त्वधुनोच्यते
कल्पस्तत्र हि सृज्यानां न पूर्वस्माद्विशिष्यते ॥११९॥
भूमस्थानविशेषोस्ति तदेवात्रोच्यते परम् ।
ध्यानरूपो मनुर्जातः क्षतुः प्रश्नस्तु पूर्ववत् ॥१२०॥
पित्राज्ञयैव तद्धर्मस्त्रेधेत्येवं कथा तता ॥१२०½॥

कारिकार्थ— अब यहां से तृतीय कल्प कहा जाता है। तृतीय कल्प में सृष्टि के विषय में तो पूर्व कल्पों से कोई विशेषता नहीं है, केवल पृथ्वी की स्थिति की इसमें विशेषता है, जो कही जाती है। इसमें ध्यान रूप मनु की उत्पत्ति है और क्षत्ता का प्रश्न तो पूर्ववत् ही है। पिता (ब्रह्मा) की आज्ञा से ही प्रजा का उत्पादन पृथ्वी का पालन यज्ञ करना इन तीन प्रकार के धर्मों का कथन है और इन ही की कथा इसमें विस्तार से है।

काल जीव का निरूपण किया और उसी के लिये ब्रह्मकल्प और पद्मकल्प का निरूपण किया। अब भूमि का निरूपण किया जाता है वह भूमि भी सब का कारण है। उसी के लिये वाराह कल्प का निरूपण किया जा रहा है। इसमें आरम्भ से लेकर सब के निरूपण की आशंका करके उसका स्पष्टीकरण सृज्यानां से किया है अतिदेश धर्म से सब कल्पों में साधारण धर्म आ ही जाते हैं। केवल विशेष धर्म कहे जाते हैं। वे विशेष धर्म यदि किसी के स्थान में आ जाते है तो स्थानों का बाध होता है। पूर्व के कल्पों में भूसंस्थान तृतीय कल्प के सदृश नहीं था इसलिये उसे कहा जाता है। ब्रह्मकल्प में भूसंस्थान विराट के जघन रूप था और पद्मकल्प में नाभिरूप इन दोनों का यहां बाध है। पूर्व धर्मों की इस कल्प में अनुवृत्ति हुई है इसको जताने के लिये मनु का वर्णन प्रयोजक रूप से किया है उसका भाव यहां ध्यान रूपो मनुर्जात से किया है। पूर्वकारिका में इच्छा और ध्यान का निरूपण किया हैं उनमें इच्छा तो है शतरूपा और ध्यान है मनु यदि ब्रह्मा को विस्मृति हो जाय तो ध्यान उन्हे प्रेरित करता है यह इस का अभिप्राय है। विभूति के विस्तार के लियेही मनु की उत्पत्ति है। विभूति भगवल्लीला है मनुभगवद्भक्त है क्षत्ताने इसको जताने के लिये प्रश्न किया। प्रवृत्ति या तो कामना से होती है या विधि के द्वारा होती है। यदि कामना के द्वारा प्रवृत्ति हुई हो तो वाराहकल्प मोक्ष पर्यवसायी नहीं होगा अर्थात् अन्त में फल मोक्ष नहीं होगा। अतः चोदना (विधि) से ही प्रवृत्ति है इसे पित्राज्ञया से कहा है। पिता ने मनु को आज्ञा दी कि 'उत्पाद्यशास धर्मेण' तुम प्रजा को उत्पन्न कर उनकी रक्षा करो और यज्ञ करो ये तीन धर्म कहे। उन धर्मों का ब्रह्मा की आज्ञा से ही मनुने किये। मनु और ब्रह्माजी का संवाद प्रकार इसी बात को बताने के लिये है ॥१२०½॥

शंका करते हैं कि इस कल्प में कैसी व्यवस्था है। पूर्वकल्प में ब्रह्मा जी नाभिकमल में रहते हुए सृष्टि करते है नाभिकमल के अभाव में ब्रह्मा की सृष्टि है या नहीं इसमें भी सन्देह होता है। सृष्टि करने का पक्ष जब लेते हैं तो सृष्टि मनुने की है और की है तो कहां रह कर की है तो यहां रह कर की है उसके लिये कहते हैं—

कारिकार्थ--सत्यलोक में स्थित हो कर ही ब्रह्मा सृष्टि करते हैं। ऐसा अर्थ निरूपण करना चाहिये। स्थान को ढूंढ कर मनुने द्वितीय दिन प्रियव्रत आदि की सृष्टि का कथन प्रातः काल ही किया था। क्योंकि आदि वराहकल्प के दिनान्त में ब्रह्माजी दीखे नहीं थे अतः द्वितीय दिन (तृतीय कल्प के) प्रातः ही उन्हे सूचना दी ॥१२२॥

जब सृष्टि नहीं की तो 'सृजतो में क्षितिर्वार्भिः' ऐसा कहना असंगत होगा। इस कथन से ही यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा जी ने पहले स्वयं ह पृथ्वी का उद्धार किया। और उसी पृथ्वी पर मनु को प्रजापालन का उपदेश दिया। ऐसा होने प प्रियव्रत आदि की जो सृष्टि कही है वह आदि वराह कल्प में ही है ऐसा जानना चाहिये। मैं आप के आदेश के अनुसार ही कर रहा हूं इस प्रकार ब्रह्माजी को बताने का कारण तो यह था कि ब्रह्माजी दिन के अन्त में अर्थात् आदि वराह कल्प के दिन के अन्त में जब तक पृथ्वी आदि दिखाई न दिये तब तक ही ब्रह्मा जी सत्यलोक में चले गये और वहीं पर सृष्टि करने लगे इसलिये मनुने प्रातःकाल ही आदेश पालन करने की सूचना दी ॥१२२॥

कारिका--**विज्ञापनेऽतिनैकट्यात्तथा वचनमादरात् ॥**
सर्वेन्द्रियनिरोधेन ध्यायता परमात्मनः ॥१२३॥
प्रथमंश्वाससम्भेदस्तेन कृष्णस्तद्योद्गतः ।

कारिकार्थ—मनुने ब्रह्माजी से कहा कि यहां पृथ्वी जो समुद्र में डूब गई है इसके उद्धार का यत्न कीजिये ऐसी प्रार्थना अति निकट होने से की ब्रह्माजी ने देखा कि पृथ्वी का मैं उद्धार करूँ परन्तु फिर यह जल में डूब जाये तो इसलिये आदर के साथ सब इन्द्रियों को निरोध कर के परमात्मा का ध्यान किया और ज्यों ही ब्रह्माजी का श्वास प्रकट हुआ उसी के साथ अवतार रूपधारी कृष्ण का उद्गम हुआ ॥१२३½॥

शंका होती है कि इस समय कैसे तैरती हुई पृथ्वी जल में डूब गई इस का उत्तर देते हैं कि इस समय ऐसा कथन अतिनिकटता के कारण है। 'आदरात्' पद का सम्बंध ध्यायनः परमात्मः के साथ है ब्रह्माजी ने विचारा कि पुनः उद्धार करने पर भी पूर्व की तरह यह डूब जायेगी तो इसलिये भगवान् का ध्यान किया। ब्रह्माजी ने जिस प्रकार के भगवान् का ध्यान किया था उसी तरह का स्वरूप बिना किसी पूर्व सूचना के निकला उसको प्रथमं श्वाससम्भेदः' से बताया। भक्त के दुःख के निश्वास के पूर्व ही भगवान् प्रकट हो जाते हैं ये इससे जताया है। इस अवतार का स्वरूप बताते हैं 'कृष्ण स्तयोद्गतः अर्थात् वराहरूप से भगवान् कृष्ण प्रकट हुये ॥१२३½॥

उस प्रकार के रूप में हेतु बताते हैं।

कारिका—**यज्ञेन समता त्वस्य जलाद्धर्स्तूदवृतोक्षमो ।१२४॥**
बजो वा शूकरो वाऽपि यज्ञरूपेवंविधः पुनः ।

कारिकार्थ—जल से किसी वस्तु को निकालने में या तो हाथी या सूअर (वराह) ही समर्थ है इनमें भी वराह की यज्ञ के साथ समानता है और यज्ञ भी इसी प्रकार है। इसलिये वराह रूप से अवतीर्ण हुए ॥१२४½॥

यज्ञ को 'मन्यु शब्द से कहा है इसलिये वह पशुओं को मारता है वराह भी वैसा ही है। यह बात 'पशूनाँ वा एष मन्युः' इस श्रुति से कही है। वराह रूप में प्रकट होने का द्वितीय हेतु यह है कि जल में डूबी हुई पृथ्वी को निकालने में या तो हाथी या वराह इन दो रूपों में से कोई रूप करना चाहिये। उसमें गुणातीत कार्य यज्ञ से ही होता है इसलिये वराह रूप ही धारण किया हाथी रूप धारण नहीं किया ॥१२४½॥

यज्ञ जगत् का कारण है इस में युक्ति कहनी चाहिये उसे कहते हैं—

कारिका—सृष्टौ तत्कारणत्वं च कर्मरूपत्वतः स्फुटम्। १२५॥
ब्रह्मणोऽप्यवितर्क्यं हि रूपं भगवतो निजम् ॥१२५½॥

कारिकार्थ—यज्ञ कर्मरूप है अतः सृष्टि में उसकी कारणता स्पष्ट है भगवान् का यह निज (वराह) रूप ब्रह्मा की तर्क से भी परे है ॥१२५½॥

यदि यज्ञ क्रिया रूप है तो उसमें क्रियांशत्व मान लिया जाय उसमें अवतारता क्यों मानते हो उसका उत्तर दिया है कि भगवान् का यह रूप ऐसा है कि ब्रह्माजी भी इसको समझने में असमर्थ हैं इसलिये ऐसा रूप निज का ही हो सकता है ॥१२५½॥

उसका स्वरूप कहते हैं—

कारिका—एतदानन्दरूपं हि क्रियांशज्ञप्तये तथा ॥१२६॥
लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणेति मतिर्मम।

कारिकार्थ—यह स्वरूप आनन्द रूप था किन्तु क्रियांग की ज्ञप्ति के लिये वराहरूप में प्रकट हुए। इस जबु द्वीप की भूमि का प्रमाण प्रायः लक्षमात्र है ऐसी मेरी समझ है ॥१२६॥

जब यह स्वरूप आनन्द रूप है तो इसकी प्रतीति वराह रूप से क्यों हुई? उस में हेतु दिया है 'क्रियांशज्ञप्तये' यह अवतार भगवान् को क्रिया शक्ति का है इसको बताने के लिये यज्ञानुकारी (वराह) रूप का परिग्रह (स्वीकार) किया 'सलिले स्वखुराक्रान्ते' ऐसा कहने से ऐसी बात मन में आ सकती है कि यह पृथ्वी पचास करोड़ विस्तार वाली नहीं होगी इसलिये 'लक्षमात्रमियं भूमिः' ऐसा कहा जम्बुद्वीप ही कर्मक्षेत्र है अतः यह भूमि यज्ञ के लिये ही है मतिर्मम कहने का तात्पर्य है कि इसमें और किसी की सम्मति नहीं हैं केवल मेरी ही ऐसी समझ है। शंका होगी कि तब 'पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा' ऐसा क्यों कहा इसका उत्तर यह है कि यह कथन अन्य कल्प का है वराहकल्प का नहीं है। ज्योतिषी लोग इस का विस्तार पाँच हजार का मानते है यह भाग बीसवां हिस्सा

है उसे २० से गुणित करने पर एक लक्ष हो जाता है। यह भूमि ज्योतिश्चक्र में है ।।१२६½।।

ब्रह्माजी की स्तुति का प्रयोजन कहते है—

कारिका—**यज्ञत्वबोधकं स्तोत्रं कथञ्चिन्मारणं त्विह ।।१२६।।**
उद्धृतिः स्थापनं स्तोत्रं मारणं चेति तत्क्रम ।

वराह की यज्ञता बोधन के लिये स्तुति की है हिरण्याक्ष के मारण का तो यथा कथंचित कथन है। पहले पृथ्वी का उद्धार उसके अनन्तर उस की स्थिति फिर स्तुति और उसके पश्चात हिरण्याक्ष का मारण इस तरह का क्रम है। १२७½।।

इसमें हमारी श्रद्धा नहीं है । हिरण्याक्ष के मारने का वर्णन तो यथाकथञ्चित है। यदि विचार किया जाय तो यह प्रकरण पृथ्वी के उद्धार में ही समाप्त होता है, अर्थात् इसमें केवल पृथ्वी के उद्धार का ही वर्णन है। इसमें हिरण्याक्ष के मारने का वर्णन इष्ट नहीं है । यदि दोनों का वर्णन मुख्य रूप से होता तो वाक्य भेद हो जाता। इसलिये प्रधान के अनुरोध से ही अन्य का वर्णन कालादिस (संग्रहित) होने से वर्णित है इस कल्प में दैत्य आकिञ्चित्कर है क्योंकि यज्ञ दैत्यों को जलाने वाला है। इसलिये यज्ञरूप वाराह के आने मात्र से ही उसका मारण हो जाता है। जो दैत्य मारण को मुख्य मानते हैं उनके लिये इस प्रकार का क्रम है पहले पृथ्वी का उद्धार फिर उसकी स्थापना वाराह की स्तुति उसके अनन्तर हिरण्याक्ष का वध। स्तुति यद्यपि संदिग्ध है तो भी उत्कर्ष के वर्णन में उसको दुःख होता है इसलिये पहले स्तुति का वर्णन हैं ।।१२७½।।

शंका होती है कि कल्प के आदि में पृथ्वी का उद्धार हुआ तो फिर यह हिरण्याक्ष कहाँ था इसका उत्तर देते हैं—

कारिका—**पूर्वकल्पेऽस्य जननं रसायां प्रलये स्थितिः ।।१२८।।**
देवानामूर्ध्वगमनमन्येषां नाश एव हि ।
ऋषीणां तत्सुतानां च ब्रह्मसाम्यमबाधके ।।१२९।।

पूर्वकल्प में इस (हिरण्याक्ष) का जन्म हुआ था और प्रलय के समय इस की स्थिति रसा (पृथ्वी) में हुई थी। देवताओं का उर्ध्वगमन हुआ अन्यों (मनुष्यों) का नाश एवं ऋषियों और उनके पुत्रों का ब्रह्मसाम्य हो गया ।।१२९।।

महाकल्प में ही सृष्टि का नाश हो गया था अवान्तर कल्पों में तो त्रिलोकी में जो विद्यमान थे उनमें असुरों का अधोगमन (नीचे जाना) हुआ और देवताओं का उर्ध्वगमन (ऊपर जाना) तथा मनुष्यों का तो नाश हो गया। मनुप्रभृति भी देवता हैं इसलिये उनका तथा महर्षियों का भी उर्ध्वगमन हो गया। इसमें कुछ विशेषता भी है सत्यलोक में स्थिति हैं, अतः कश्यप जी का ऊर्ध्वगमन और दिति का अधोगमन हुआ ऐसा यहाँ विमर्श (विचार) है ।।१२९।।

यहाँ छ अध्याय हिरण्याक्ष के वध के प्रस्ताव में निरूपित हैं वे मतान्तर भाषासिद्ध हैं इसलिये भागवतार्थ के साथ उनका कोई विरोध नहीं है। यहाँ यह व्यवस्था है कि प्रकृतकथा में प्रासङ्गिक कथा यदि विशेषरूप से पूछी जाती है तो उसमें केवल उतना ही नहीं कहा जाता किन्तु जिस कल्प में वह प्रमेय उत्कृष्टता से सिद्ध हो वैसा ही कहना चाहिये। भक्ति को उत्पन्न करने में वह प्रयोजक होता है। इसलिये जिस कल्प में हिरण्याक्ष आदि का उत्कर्ष है तो उस का निरूपण किया जाता है। शंका होती है कि जो वैकुण्ठ में चले गये हैं वे पुन: लौटकर कैसे आते हैं यदि कहो कि कृत्रिम वैकुण्ठ में गये हुये ही लोटते हैं उसके उत्तर में कहते हैं।

कारिका—**कृत्रिमेपि हि वैकुण्ठे मुक्तिरेव तथापि तु।**
कृष्णेच्छया तु तज्जन्म नष्टानां गतिरीदृशी ॥१३०॥

कृत्रिम वैकुण्ठ में भी मुक्ति ही होती है, तथापि कृष्ण की इच्छा से उनका जन्म होता है जो नष्ट होते हैं उनकी गति ऐसी ही है ॥१३०॥

जो अनिमित्त या निमित्त धर्म से भगवान् की आराधना करते हैं इस कथन से (भगवान् की आराधना से) वैकुण्ठ में जाने वालों को पुनरावृत्ति से रहित पद प्राप्त होता है तथापि कृष्ण की इच्छा से जय विजय का जन्म हुआ। इस प्रकार की इच्छा का प्रयोजन है लोक ज्ञापनम् यह लोक ज्ञापन क्या है इसका स्पष्टीकरण 'नष्टानां गतिरीदृशी' से करते हैं तीनों लोकों में हिरण्याक्ष आदि को जो सुख था वह तो इन्द्र आदि के लिये भी दुर्लभ था वैकुण्ठ से जो च्युत (गिरते) होते हैं। उनको वह सुख मिलता है जो इन्द्र आदि को भी दुर्लभ है किन्तु वैकुण्ठ च्युति उनके लिये भयङ्कर आपत्ति है इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वैकुण्ठ में कितना सुख है ॥१३०॥

कारिका—**भूमावेव हि तद्युद्धमिच्छयाऽमुक्तिरस्य हि।**
मारणानन्तरं तस्य ह्युदरस्य विभेदनम् ॥१३१॥

हिरण्याक्ष से वराह भगवान् का युद्ध पृथ्वी पर ही हुआ और भगवान् की इच्छा से उसकी मुक्ति नहीं हुई मारने के अनन्तर उसके पेट को भगवान् ने चीर डाला ॥१३१॥

इस पक्ष में (दैत्य हननपक्ष में) पृथ्वी पर ही युद्ध हुआ और भगवान् की इच्छा से ही हिरण्याक्ष की मुक्ति नहीं हुई अथवा क्रिया शक्ति से हनन की क्रिया इसलिये मुक्ति नहीं हुई। यहाँ मुक्ति के लिये अवतार होने पर ही मुक्ति होती है। उसे पेट को चीर कर नहीं मारा किन्तु मारने के अनन्तर पेट को चीरा यदि ऐसा न करते तो प्राण भगवान् के मुख में प्रविष्ट हो जाते उसमें जो संस्कृत अंश थे जिनके कारण वह दैत्य न बन सके उन संस्कृत अंशों को प्रविष्ट करने के लिये पेट को चीरा हिरण्याक्ष के माहात्मय के लिये कहते हैं।

कारिका—**ब्रह्मणो दिनमेकं हि तद्युद्धमिति लक्ष्यते।**
अथवा देवदत्तस्य दिनं मेरुगतश्च सः ॥१३२॥

ब्रह्मा का एक दिन होता है उतने समय तक हिरण्याक्ष के साथ युद्ध हुआ ऐसा लक्षित होता हैं। अथवा देवताओं के दिन की तरह उसका दिन (छ महीने) युद्ध हुआ ब्रह्मा उस समय में पर्वत पर स्थित थे ।।१३२।।

ब्रह्माजी के एक दिन तक युद्ध हुआ इससे यह सिद्ध होता है कि वराह कल्प युद्ध में ही समाप्त हो गया। पीछे श्वेत वराह कल्प में सृष्टि हुई और हिरण्यकशिपु का राज्य हुआ ऐसा ज्ञात होता है। दूसरा पक्ष यह भी है कि उस समय छ महीने युद्ध हुआ। इस पक्ष के मानने पर ब्रह्माजी के वाक्यों की संगति लगाने के लिये उस समय अर्थात् पृथ्वी के स्थापन के अनन्तर ब्रह्माजी पूर्व की तरह ही मेरु पर स्थित थे ।।१३२।।

इससे क्या सिद्ध हुआ इस शंका पर कहते हैं—

कारिका - षड्भिः संसार कथनमुत्पत्तिर्मरणं च सः
उपाधिजननं पूर्वं स्थानभ्रंशश्च जन्म च ।।१३३।।

प्रादुर्भावः सर्वतश्च विनश्यता नशिस्तथा।
ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणं नान्यथा तु तत् ।।१३४।।

छ अध्यायों से संसार का कथन है वह संसार उत्पत्ति मरण स्वरूप वाला है। पहले उपाधि (बीज की उत्पत्ति फिर स्थान (वैकुण्ठ) से गिरना और तदनन्तर जन्म होना प्रादुर्भाव सब ओर से विनश्यता एवं विनाश इन छ की कारण भूता ईश्वरेच्छा है अन्यथा ये नहीं हो सकते ।।१३३।।

मुक्तजीवों को भगवान् की इच्छा से ही संसार होता है। वह इच्छा भगवद्रूपा है भगवान् षड्-गुणों से युक्त हैं इसलिये छ अध्यायों से संसार का निरूपण किया गया है। संसार का स्वरूप उत्पत्ति और मरणरूप है। तीन अध्यायों से उत्पत्ति का और तीन अध्यायों से मरण का वर्णन है। अनित्यजनम् इत्यादि से तीन प्रकार की उत्पत्ति का निरूपण किया है। 'कालद्रव्य गुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः' इससे मरण भी तीन प्रकार का है। उनमें बीजोत्पत्ति पहले अध्याय का अर्थ हैं। उस में जीव का संबन्ध होना दूसरे अध्यायों का अर्थ है। भगवद्विभूति का आवेश तीसरे अध्याय का अर्थ है ऐसा न हो तो वैसा महत्व उसमें उत्पन्न न होता। उसी को कहते हैं 'उपाधिजनम् बीजोत्पतिः'। स्थानभ्रंश वैकुण्ठ से अलग होना। जन्म और प्रादुर्भाव को एक अध्याय से कहा है। उत्कर्ष भी नाश रूपता है इसे जताने के लिये नाशाध्याय मे उस का निरूपण है वरुण के वाक्य से नाश-बीज के कथन से विनश्यता पञ्चम् अध्याय का अर्थ हैं। नाशबीज के दो भेद हैं विनश्यता और विनाश 'नाशबीज' विनश्यता विनाशश्चेति तद्भिदा' शंका होती है कि सुजीव के लिये छ प्रकार का संसार क्यों होता हैं। उसका उत्तर दिया हैं कि 'ईश्वरच्छेव षट्कस्य कारणम्' ईश्वर की इच्छा ही तीन प्रकार के जन्म और तीन प्रकार के मरण का कारण है ।।१३४।।

अन्यथा का बाधक कहते हैं।

कारिका— दक्षकन्या ऋषेः पत्नी सन्ध्यायामग्निहोत्रिणम्।
निर्लज्जा बोधिता स्थातुं क्षण न त्यक्तवत्यपि ॥१३५॥

यदि भगवान् की इच्छा कारण न होती तो यह कैसे सम्भव था कि दक्ष प्रजापति की कन्या दिति जो कश्यप ऋषि की पत्नी थी वह सन्ध्या के समय अग्निहोत्री ऋषि को उनके समझाने पर भी निर्लज्ज हो कर (पति समागम विना) एक क्षण भर भी ठहर न सकी ॥१३५॥

दक्ष कन्या का तात्पर्य है अच्छेकुल में उत्पन्न हुई अतिन्द्रिय अर्थात् भूत और भविष्यत् व्यवहित आदि के द्रष्टा ऋषि की वह पत्नी थी रतिदान दान देने में क्षण भर ठहरने के लिए उससे याचना भी की थी। परन्तु वह न मानी। इस तरह का होना भगवान् की इच्छा के बिना मर्यादा से कभी सिद्ध हो नहीं सकता है ॥१३५॥

स्त्री की बात तो रहने दीजिए मुनि में भी वैसी भावना ईश्वर इच्छा के बिना नही हो सकती थी—

कारिका— मौनत्यागस्तयोर्भाषा स्तोत्रं तद्वश्यता तथा।
अन्यत्रागमनं तत्र प्रतिकाराकृतिर्मुनेः ॥१३६॥
स्वभावविनिवृत्यर्थं संवादस्तादृशः पुनः।

मौन का त्याग करना आपस में पति पत्नी की बात होना फिर स्त्री की स्तुति करना, और उसके वश में हो जाना, दूसरी जगह न जाना, वहीं पर रहते हुए उसका प्रतिकार न करना और स्वभाव की निवृत्ति के लिए पुनः उस प्रकार का संवाद ॥१३६॥

मुनि में ६ अर्थ अनुचित हैं। पुनः धर्मरूप संवाद है वह भी इस बात को बताने वाला है। अर्थात् इनका ऐसा स्वभाव नहीं है किन्तु यह जो कुछ हुआ वह ईश्वर की इच्छा से ही हुआ। इस तरह प्रथमाध्यायार्थ अर्थात् १४ वें अध्याय के अर्थ की अयुक्तता सिद्ध की गई ॥१३६½॥

तथापि द्वितीयाध्यायार्थ १५ वें अध्यायर्थ की अयुक्तता कहते हैं—

कारिका—सङ्क्षोभो न क्वचिद्येषां काले देशे च वस्तुनि ॥१३७॥
ते कृष्णभावनायुक्ता वैकुण्ठे कृष्णभृत्ययोः।
सनन्दनादयः क्रुद्धाः शाप दुर्विषह ददुः ॥१३८॥

जिनको कभी भी किसी काल में किसी देश में और किसी वस्तु पर संक्षोभ नहीं होता कृष्ण भावना से युक्त उन्हीं मुनि सनन्दादिकों ने वैकुण्ठ के अन्दर कृष्ण के सेवकों को क्रोध में आकर असह्य शाप दे दिया ॥१३८॥

इस तरह मुनियों की अयुक्तता निरूपण करके जय विजय की अयुक्तता कहते हैं—

कारिका—भगवद्भावसम्पन्ना भगवद्गुणतत्पराः ।
लतापक्षिस्त्रियश्चापि निरहंमत्सराः शुभाः ॥१३९॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यं सर्वथा गतौ ।
वैकुण्ठे भक्त सन्दर्शविघ्नं चक्रुश्च गर्वितौ ॥१४०॥
स्वभावविनिवृत्त्यर्थमुभयोश्च तथा कृतिः ।

वैकुण्ठ में रहने वाले सब भगवद्भाव से सम्पन्न हैं भगवद्गुणगान में तत्पर रहते हैं यहाँ तक कि लता पक्षी स्त्रियां सब मात्सर्य से रहित हैं और शुभ हैं और सालोक्य, सृष्टि सामीप्य सारूप्य को प्राप्त हैं तथापि सनन्दनादि जो भक्त हैं उनकी गति में अर्थात् भगवान् के दर्शन के लिए जाते हुओं के लिए अभिमानी जय और विजय ने दर्शन में विघ्न डाला उनको जाने से रोक दिया तब सनन्दानादि ने उन दोनों को उनेक स्वभाव की निवृत्ति के लिए शाप दिया ॥१४०½॥

पूर्व की तरह ही यहां भी स्वभाव निवृत्ति के लिए शाप के अनन्तर की चेष्टा को कहा है ॥१३९-१४०½॥

तीसरे अर्थात् १६ वे अध्याय में दिया गया विषय भी श्री कृष्ण की इच्छा से ही सम्पन्न हुआ ।

—कारिका—मोहनं तदुपेक्षा च दुर्घटं पतनं तथा ॥१४१॥
द्वेषोत्पत्तिस्तयोः कृष्णे सर्वं कृष्णेच्छयाऽभवत् ॥१४१½॥

इस अध्याय में भगवान् सनकादिकों को मोह उत्पन्न करने वाले वचन कहते हैं और अपने भक्त जय और विजय ने जो उनका अपमान किया उनकी निन्दा करते हैं। जो वैकुण्ठ में चले गये हैं वे फिर संसार में जन्म लेवें यह अशक्य होने पर भी उन (जय और विजय) का वैकुण्ठ से पतन होता है। अतः इन दोनों का भगवान् के प्रति द्वेष होता है क्योंकि यदि द्वेष न हुवा होता तो भविष्य में भगवान् के प्रति द्वेष होने की बुद्धि न होती। इस प्रकार इन तीनों अध्यायों का विषय भगवान् कृष्ण की इच्छा न होती तो इस प्रकार होना अशक्य था ॥ १४१-४१½ ॥

इन आठ अध्यायों में मुख्य कथा जय-विजय की है जिसका अवगाहन निम्न सूरदासजी के पद से करें।

जय-विजय की कथा

हरि-गुन-कथा अपार, पार नहिं पाइयै ।
हरि सुमिरत सुख होई, सु हरि-गुन गाइयै ।
ब्रह्म-पुत्र सनकादि, गए बैकुंठ एक दिन ।
द्वारपाल जय-विजय हुते, बरज्यौ तिनकौं तिन ।

साप दियौ तब क्रोध ह्वै, असुर होहु संसार ।
हरि दरसन कौं जात क्यौं, रोक्यौ बिना बिचार ।
हरि-तिनसौं कह्यौ आइ, भली सिच्छा तुम दीनी ।
बरज्यौ आवत तुम्हैं, असुर-बुधि इन यह कीनी ।
तिन्हैं कह्यौ, संसार मैं असुर होहु अब जाइ ।
तीजे जनम बिरोध करि, मोकौं मिलिहौ आइ ।
कस्यप की दिति नारि, गर्भ ताकैं दोउ आए ।
तिनकैं तेज-प्रताप, देवतनि बहु दुख पाए ।
गर्भ माहिं सत वर्ष रहि, प्रगट भए पुनि आइ ।
तिन दोउनि कौं देखि कै सुर सब गए डराइ ।
हिरन्याच्छ इक भयौ, हिरनकस्यप भयौ दूजौ ।
तिन के बल कौं इंद्र, बरुन, कोऊ नहिं पूजौ ।
हिरन्याच्छ तब पृथी कौं, लै राख्यौ पाताल ।
ब्रह्मा बिनती करि कह्यौ, दीनबंधु गोपाल ।
तुम बिनु द्वितिय और कौन, जो असुर सँहारै ।
तुम बिनु करुनासिंधु और पृथ्वी उधारै ?
तब हरि धरि बाराह-बपु, ल्याए पृथ्वी उठाइ ।
हिरन्याच्छ लै कर गदा, तुरतहिं पहुँच्यौ जाइ ।
असुर क्रोध ह्वै कह्यौ बहुत तुम असुर सँहारे ।
अब लैहौं वह दाउँ, छाँड़िहौं नहिं बिन मारे ।
यह कहिकै मारी गदा, हरि जू ताहि सम्हारि ।
गदा-युद्ध तासौं कियौ, असुर न मानै हारि ।
तब ब्रह्मा करि बिनय कह्यौ, हरि, याहि सँहारौ ।
तुम तौ लीला करत, सुरनि मन परयौ खँभारौ ।
मारयो ताहि प्रचारि हरि, सुर-मन भयौ हुलास ।
सूरदास के प्रभु बहुरि गए बैकुंठ-निवास ।।११।।

श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका की सौरभ पूर्ण कुछ कलियां

भक्तक्लेशस्मरणेन भक्ते विवृद्धा भगवतः प्रीतिर्भवति ॥३-९-२५॥

भक्तों के क्लेश का स्मरण होने से भक्तों पर भगवान् का प्रेम बढ़ जाता है पृ ४३॥

स्नेहो माहात्म्यं च मिलितं भक्ति-र्भवति ॥३-९-३१॥

स्नेह और माहात्म्य दोनों के मेल से ही भक्ति होती है ॥ पृ. ५०॥

करोम्येवाहं सर्वमेव हितम्. परंमयि स्नेहा-भावात् जीवा स्तत्सुखं न गृह्णन्ति । अतो यदि मयि रतिं कुर्यात्, तदा स्नेहाद्गृह्णीयात् पश्चात् कृतार्थ एव भवेत् ॥३-९-४२

सर्व का सर्व हित मैं (भगवान्) ही करता हूँ किन्तु जीवों का मुझ में स्नेह न होने से वे उस सुख को ग्रहण नहीं करते हैं अतः यदि वे मुझमें रति (प्रेम) करें तो स्नेह से वह सुख ग्रहण करें और कृतार्थ भी हो जावें ॥ पृ. ६३ ॥

भगवद्विषयिणी या काचिन्मतिः, सैव सर्व-दुःखहर्त्री, तस्माद्या कापि भगवल्लीला श्रोत-व्यैव ॥१३-१०-१८॥

भगवत्सम्बन्धी जो भी मति है वह ही सर्व दुःखों का हरण करने वाली है, इसलिये कोई भी भगवान् की लीला हो वह श्रवण करने योग्य है ॥पृ८९ ॥

पुष्परहिताः सफला वनस्पतयः, रजोरहिता सफला वैष्णवाः ॥३-१०-१९॥

पुष्प रहित वनस्पतियाँ फल वाली होती हैं । इसी तरह रजो गुण रहित वैष्णव सफल हैं ॥ पृ ९०॥

शुश्रूषणं च तदेव; यन सेव्यस्य सुखं भवति परितुष्यति च ॥३-१३-६॥

सेवा वह है कि जिससे सेव्य को सुख हो और वह प्रसन्न हो । पृष्ट २०४ आभास

निष्कपटेन हृदयेन मामाज्ञापयेति यदात्मना सह सर्वस्वनिवेदनम्, तदेव शुश्रूषणम् । अनेनै-हिकं पारलौकिकमपि आत्मगामि सर्वं निवेदितम् तदेवात्मसमर्पणं नाम । न ततोऽन्यत्प्रभोः शुश्रूष-णमस्ति ॥३-१३-९॥

कपट रहित हृदय से आत्मा सहित सर्वस्व अर्पण ही सेवा है । इससे ऐहिक और पारलौकिक भी आत्मगामी है यों बताया है, इसको ही आत्म समर्पण कहते हैं इसके सिवाय कोई दूसरी प्रभु की सेवा नहीं है ॥ पृ. २०६ ॥

साधवो हि परदुःखनिवारकाः ॥३-१४-४॥

साधु ही दूसरों के दुःखों को मिटाते हैं॥पृ.२६६॥

अन्येषामाश्रमाणामन्नदाता गृहस्थ एव अभार्यस्त्वभोज्यान्नः ॥३-१४-१७॥

अन्य आश्रमों को अन्नादि से आश्रय देने वाला गृहस्थाश्रम ही है जो गृहस्थ नहीं है जिसके पास स्त्री नहीं है उसका अन्न ब्रह्मचारी आदि के लिए भोजन के योग्य नहीं है ॥२७६॥

भक्तद्रोहे वधः स्मृतः ।।३-१४-४०।।

भक्त के द्रोह करने पर परमेश्वर उसका वध करेंगे । पृ ३०१ ।

स्वामिनः सेवकवधः साक्षादनुचितः ३-१४-४०।।

स्वामी स्वयं सेवक का वध करे यह उचित नहीं है पृ ३०१।

गुरोः स्थाने धाष्टर्येन न गंतव्यम् नापि रिक्तहस्तादिना ।।३-१५-२६।।

गुरु के स्थान पर धृष्टता से (अभिमान से) नहीं जाना चाहिये और न खाली हाथ ही जाना चाहिये । पृ.३५० ।।

गर्वस्तु भगवत्प्रतिकूलो धर्मः, दैत्य धर्मत्वात् ।।३-१५-३०।।

गर्व (अभिमान) भगवान् के प्रतिकूल धर्म है अतः वह (गर्व) दैत्य धर्म है ।।पृ. ३५८ ।।

काम क्रोधलोभैर्नरक एव भवति, न संसारः मोहेन च संसारो भवति ।।३-१५-३६।।

काम, क्रोध और लोभ से नरक प्राप्त होता है न कि संसार वह (संसार) तो मोह से प्राप्त होता है । ३६६ ।।

इन्द्रियादीनामन्यार्थं जयो ज्ञानमार्गे, मदर्थं (भगवदर्थं) जयो भक्तिमार्गे ।।३--१६--२।।

ज्ञान मार्ग में इन्द्रियादि पर जय अन्य के लिये की जाती है । किन्तु भक्ति मार्ग में मेरे(भगवान के) लिए अंतकरण पर जय की जाती है ।।पृ ४०१।।

जीवाः स्वभावतो दासाः ।३-१६-१२।।

जीव स्वभाव से ही प्रभू के दास हैं पृ । ४१७।।

धनाभिनिविष्टचित्ता न भगवत्सन्मुखा भवन्ति । बाला एव ते स्तनपानव्यग्रा मातरमेव मन्यते ।।३०-१६-२०।।

जिनका चित्त धन में ही आसक्त है, वे भगवान् के सन्मुख नहीं होते हैं (उनसे विमुख ही रहते हैं) जैसे अज्ञ (छोटे बालक) को दूध-पान न मिलने से व्याकुल होकर माता को ही चाहते हैं । ।। पृ. ४२८ ।।

ब्रह्मशापस्य प्रायश्चितं कर्तव्यम् । प्रायश्चितानन्तरं हि पुरुषः शुद्धः शुद्धेनैव हि विहितं कर्तव्यम्, भगवद्भक्तानां च प्रायश्चितं भगवत्स्मरणमेव ।।३-१६-३०।।

ब्राह्मणों के दिये हुए शाप का प्रायश्चित करना चाहिए क्योंकि प्रायश्चित करने के बाद ही पुरुष शुद्ध होता हे, शुद्ध को ही वैदिक कर्म करना चाहिये भगवद्भक्तों के लिये प्रायश्चित भगवान् का स्मरण ही है । ४११ ।

॥ श्री हरि: ॥

भूमिका

नवमें अध्याय में ब्रह्माजीने भगवान् की स्तुति की है जो उन (भगवान्) के स्वरूप का निर्णय करने वालो है। स्तुति का सारांश है कि भगवान् का भजन करना चाहिये क्योंकि वह (भजन) ही फलरूप है। ब्रह्माजी ने इस प्रकार के भजन की प्रार्थना की। वास्तव में तो भगवान् की कृपा के लिये ही भगवान् की प्रार्थना करनी चाहिये क्योंकि संसार में वह दुर्लभ है। भजन करने के लिये ब्रह्माजी ने चार पदार्थों — (१) सात्विकत्व (ज्ञान) (२) भगवद् गुणों में आसक्ति अथवा भगवान् के चरित्र के कीर्तन में तल्लीनता (३) वाचक स्मृति अर्थात् वेद की स्मृति (४) अनुद्वेग उद्वेग शोक) का न होना के लिये प्रार्थना की। तब भगवान् ने आज्ञा करी कि 'तपस्या करो' ब्रह्माजी के मांगे हुए पदार्थ न देकर तपरूपी साधन करने की आज्ञा दी क्योंकि ब्रह्माजी ने भगवान् की प्रेम से सेवा नहीं की थी। तप करने का उपदेश इसलिए दिया कि तप करने से सात्विकत्व की प्राप्ति होती है। तप से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से भगवद् गुणों में आसक्ति होती है ज्ञान से ही वेद-विस्मृति नहीं होती है। इन तीनों की प्राप्ति होने पर भगवान् की अन्य लीलाओं का भी ज्ञान रूप फल मिलता है जिससे मन में उत्साह होने से उद्वेग (शोक) अपने आप मिट जाता है।

भगवान् श्री कृष्ण में आसक्ति होने से उद्वेग का न होना दूसरा कारण है क्योंकि भगवान् आनन्द स्वरूप हैं वे भक्त पर सदा प्रसन्न रहते हैं। भगवान् जब तक न मिलें तब तक उद्वेग (विरह) भले मालूम हो पर वह भी फलरूप ही है क्योंकि भगवान् भक्त को कभी दु:खी देख ही नहीं सकते हैं। इस प्रकार भगवान् ब्रह्माजी को उपदेश देकर अन्तरधान हो गये इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् नित्य हैं।

सगुणदेव से उत्पन्न हुई सृष्टि का वर्णन एवं प्रश्न नवमे अध्याय में न कर दशमें अध्याय में किया गया है इसका कारण है कि मैत्रेय जी ने विदुरजी के भक्त होने की परीक्षा लेने के लिये उनके पूछे हुए प्रश्न के उत्तर पूरे न देकर बीचमें भगवद्-प्रसंग कहना प्रारम्भ कर दिया, तो भी विदुरजी प्रसन्नता से उस प्रसंग को सुनते रहे और अपने पूछे हुए प्रश्न के उत्तर की भी अपेक्षा न रखी इससे मैत्रय जी बहुत प्रसन्न हुए और मान लिया कि विदुरजी भगवद्-भक्त हैं। इसके बाद में विदुरजी के पूछे सब प्रश्नों के उत्तर क्रमानुसार मैत्रेयजी ने दिये।

अध्याय ५ से प्रारम्भ कर अध्याय १० के श्लोक ६ तक गुणातीत देव और सगुणदेव की सृष्टि का वर्णन हुआ अब अध्याय १० और ११ में काल सृष्टि का वृत्तान्त है। काल सृष्टि से तात्पर्य है कि काल द्वारा तत्वों की ओर से जो जीव मुक्त नहीं हुए हैं उनको सृष्टि। इस काल सृष्टि में विभूति मुख्य होने से कारणों की कथा कहते हैं। 'रूप' (पदार्थ) की सृष्टि में 'काल' और 'जीव' ये दो कारण हैं और 'नाम' सृष्टि में वेद कारण कहा जाता है। अब दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में काल सृष्टि का वर्णन करते है। काल का जन्म कार्य (काल में उत्पन्न हुए पदार्थ) से होता हुआ मालूम होता है परन्तु वास्तव में तो काल अव्यक्त (दृष्टि में न आने वाला) है, भगवद्रूप भगवान का अवतार होने से प्राकट्य होता है। जीवों की तरह उसका जन्म नहीं होता है।

तो भी काल का अनुभव होने से उसे कारण माना गया है इसीलिए इस सम्बन्ध में विदुरजी का प्रश्न उचित है जिसका उत्तर मैत्रयजी ने दिया है जो काल के लक्षण स्वरूप और उसके उपादान कारण होने के विषय में है। सब (जगत्) ब्रह्मरूप है तो भी काल सब पदार्थों की सीमा बांधने वाला है इस प्रकार वह जगत का कारण है। इसलिए सब प्रदार्थों की रचना काल से ही होती है। उदाहरण से समझाते हैं जिस प्रकार नाटक की रंग भूमि में विविध पात्र हाथ से अमुक प्रकार की चेष्टा कर रस को प्रकट करते हैं उसी तरह ब्रह्मा के सब प्रदार्थ रूप से प्रकट होने पर काल भगवान् की चेष्टा रूप उसको सीमा बद्ध करता है।

दसवें अध्याय में काल के विविध प्रकार के कार्यों का सामान्ये वर्णन है जिस में दस प्रकार की सृष्टि रची गई है। दसवीं सृष्टि पक्षियों की है जिनकी खुराक की गति नीचे की तरफ ज ती है ऐसी ही मनुष्यों की सृष्टि एक प्रकार की कही है जब मनुष्य तो कई प्रकार के होते है फिर एक प्रकार ही कैसे कहा ऐसी शंका हो तो कहते हैं कि जिन मनुष्यों की यहां चर्चा हैं वे तो काल के कार्यरूप कृत्रिम मनुष्य हैं अकृत्रिम स्वाभाविक मनुष्य तीगुणों से तीनप्रकारके हैं सात्विक मनुष्यउत्तम हैं उनकी ज्ञान में या भक्ति में श्रद्धा है। दूसरों को भी उनके गुणों के अनुसार जानना चाहिये। वे मध्यम (राजस) और कनिष्ट (तामस) हैं वे तो जन्म लेते हैं और मरते हैं अर्थात वे जन्म-मरण के चक्कर में फांसे हुए हैं क्योंकि वे अपने-अपने कर्मो के आधीन हैं।

भगवान् कई प्रकार की सृष्टि रचते हैं जिसमें कोई सुखी और कोई दुःखी होते हैं,तो भगवान् के पक्षपाती और क्रूर होने की शका करना अनुचित है क्योंकि जब भगवान् स्वयं ही अनेक रूप से प्रकट होते हैं तो फिर कहीं अपना पक्षपात करें और कहीं अपने पर क्रूरता करें ऐसा सम्भव कैसे हो सकता है? सृष्टि के जो दस प्रकार है वे काल से एक बार उत्पन्न होते हैं बाद में अपने अपने प्रकार में से उस प्रकार की सृष्टि होती रहती है। इस प्रकार काल की कथा सब सृष्टिओं का मूल कारण होने से विस्तार पूर्वक कही गई है।

ग्यारहवें अध्याय में काल के विशेष करण का वर्णन है प्रत्येक कार्य (पदार्थ) का नाश होता है। प्रदार्थ को तोड़ने से उसका नाश होता है टूटते-टूटते सबसे छोटा भाग जो फिर न तोड़ा जा सके जब रहता है उसे परमाणु कहते हैं। काल के परमाणु गिनने की यह रीति है कि मानस पर्वत के ऊपर की भूमि के परमाणु जितने भाग को सूर्य के रथ के मार्ग में उस परमाणु को लांघने में जितना समय लगे उसे परमाणु काल कहते हैं। सूर्य का रथ जितने समय में सम्पूर्ण नक्षत्र मंडल को पार कर लेवे उतने लम्बे समय को संवत्सर कहते हैं। आकाश में बृहस्पति, बारह आरे (राशि) वाले काल चक्र की बारह वर्षो में परिक्रमा करता है इस प्रकार साठ वर्ष में पाँच बार परिक्रमा नक्षत्र मण्डल की करता है। ये ही संवत्सर के पांच भेद होते हैं। साठ वर्षों में पांच संवत्सर होते हैं। संख्या की गणना 'पर' तक ही होती है। संवत्सर की गणना से ब्रह्मा जी के दिन की गणना न हो सकने के कारण युग की कल्पना करते हैं जिससे ब्रह्मा जी के दिन की गणना युगों की गणना से की जाती है।

कृतयुग आदि युगों के नाम धर्म पालन के कारण ही रखे गये हैं किस किस युग में सामान्यतया किस किस धर्म(कर्त्तव्य)का कैसा पालन होता है प्रत्येक युग में दिन में धर्म करने और रात में उसे नहीं करना इसकी व्यवस्था है। प्रत्येक कल्प में दिन और रात्रि में करने के कार्य अलग अलग होते हैं इनको बताने को धर्मादि का वर्णन करना जरूरी है इसके लिये ही मन्वतरों का वर्णन किया गया है।

धर्म के छ अंगों को बताने के लिये मन्वन्तर छ अंग वाला है ऐसा कथन है क्योंकि वह मनु, मनु के पुत्र आदि के छ अलग अलग है कारण कि देश आदि छ साधन भी अलग अलग हैं इस लिये मनु आदि छ एकत्रित होय तब ही धर्म हो सकता है यह निश्चय किया गया है।

मनु किसी भी प्रकार उत्पन्न होते हों परन्तु आपस में विरोधी होने से उनका नाश होना सम्भव है सो उनकी प्रतिष्ठा रखने के लिए भगवान् के कार्य पालन का निरूपण किया गया है जब भगवान् सबके पालन कर्ता हैं तो प्रलय क्यों होता है ऐसी शंका के समाधान के लिये कहते है कि प्रलय का मूल कारण तो भगवान् ही हैं परन्तु जब आपकी शयन करने की इच्छा होती है जिससे जीवों को भी जन्म-मरण से कुछ विश्राम मिले तब आप शयन करते हैं और तब प्रलय होता है।

इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्म, पद्म और वराह तीन कल्प हुए हैं जिनमें ब्रह्मा विभूति रूप हैं। पहले ब्रह्म कल्प में सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा वेद रूप कहे जाते हैं। नाम सृष्टि का वर्णन भिन्न है। वह भी रूप सृष्टि पर आधार रखनेवाली है। आगे बारहवें अध्याय में शब्द ब्रह्म कोई समय स्पष्ट हृदय वाला और कोई अस्पष्ट हृदय वाला कहा गया है उस तरह से वह भगवान का आधिदेविक स्वरूप जाना जाता है। दूसरे प्रकार से नामसृष्टि से भी भगवान का ही वर्णन किया गया है। आधिदेविक को भी शरीर प्राप्त कराने का कार्य भगवान ही करते हैं। इसलिए पहले कल्प का नाम ब्राह्म कल्प है। ब्रह्म शब्द का अर्थ भगवान ही है।

काल का प्रभुत्व अब्रह्म ब्रह्मा पर नहीं है ब्रह्म की आयुदोपरिध की कही गई है वह अक्षर ब्रह्म का निमिष मात्र है। इस तरह भगवान पर काल का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार ग्यारहवें और बारहवें अध्याय में काल का वर्णन किया गया है।

अब बारहवें अध्याय में जीवसृस्टि का वर्णन करते हैं। जीव दो प्रकार के होते हैं। 'मुक्त' और 'अमुक्त'। मुक्त जीव ही सृष्टि का कारण है। क्योंकि मुक्त जीव भगवान् के समीप रहते हैं जब भगवान की इच्छा लीला करने की होती है तब भगवान् की इच्छानुसार उन जीवों की सृष्टि होती है। 'मुक्त' जीव भी दो प्रकार के होते हैं – 'लौकातीत' तथा 'लौकिक'। लौकातीत (लोक से पर जीव) मुक्ति के कारण हैं। क्योंकि वे जीव अपने स्वरूप से ही प्रकट होते हैं। वे वैकुण्ठ में भी वैरागी होकर रहते हैं इसलिए वे सृष्टि के अधिकारी नहीं होते हैं। वे तो लीला के लिए ही संसार में जन्म लेते हैं वे ज्ञान के अंश को लेकर ही उत्पन्न होते हैं इसलिए उनको मोह कराने के लिए अविद्या उत्पन्न की गई क्योंकि सब कार्य उसके द्वारा ही होने का था।

अविद्या के उत्पन्न होने से सर्व प्रथम ब्रह्माजी को ही मोह हुवा जिससे उन्होंने भगवान् कृष्ण का ध्यान किया जिससे 'लोक' से पर 'जीव' सनकादिक मुनि उत्पन्न हुए। उनको ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न करने की आज्ञा दी परन्तु उन्होंने वह आज्ञा पालन नहीं की इससे ब्रह्माजी को क्रोध हुआ क्योंकि अविद्या भी पास में ही थीं। ब्रह्माजी ने यह सोचकर कि सनकादिक ज्ञानी मुनि होने से जगत् को ज्ञान देंगे क्रोध को रोकने का यत्न किया गया परन्तु क्रोध का स्वरूप आधिदैविकहोने से वह नहीं रुका और इससे उनका शरीर जलने लगा तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान आरम्भ किया जिससे क्रोध का प्रभाव न हो सका और इससे वे स्वयं और सनकादिक मुनि जलने से बच गये। क्रोध और ध्यान के सम्बन्ध से श्रीकृष्ण अवतार रूप बालक प्रकट हुआ जो रोने लगा यह भगवान् की कृपा रूप अंश शंकर थे। रोने का कारण था कि मुझसे उत्पन्न प्रजा सृष्टि में उपयोगी नहीं होगी। ब्रह्माजी ने सनकादिक को जिस प्रकार प्रजा रचने की आज्ञा दी थी उसी प्रकार शंकर को भी आज्ञा दी आज्ञा प्राप्त कर उनने ऐसी प्रजा रची जो सृष्टि के कारणों का नाश करने वाली थी इन प्राणियों की रचना को देखकर ब्रह्माजी ने आज्ञा करी कि तुम तप करो जिससे अविद्या का नाश होवे और उन ब्रह्माजी की सृष्टि रचना में विघ्न न पड़े। इस आज्ञा से ब्रह्माजी का सृष्टि रचना में विघ्न टला और महादेवजी तप करने को चले गये। इस प्रकार लौकिकातीत 'मुक्त' जीवों की सृष्टि की रचना हुई। तब ब्रह्माजी ने फिर श्रीकृष्ण को लौकिक सृष्टि उत्पन्न करने के लिए ध्यान किया जिससे ब्रह्माजी के शरीर के विविध अंगों से मरीचि आदि ऋषि उत्पन्न हुए। ब्रह्माजी का आशय था कि धर्मानुसार स्त्री-पुरुष संयोग से प्रजा उत्पत्ति की जावे। इस प्रकार सात्विक और राजस जीवों की उत्पत्ति करने के बाद में ब्रह्माजी ने तामस जीवों की उत्पति करना प्रारम्भ किया परंतु तामस सृष्टि की रचना के लिए मरीचि आदि ऋषियों ने मना किया। जो अपने अंग से सृष्टि की रचना ब्रह्माजी ने की उनमें सब पुरुष थे, मुख से वाणी (स्त्री) उत्पन्न की। अविद्या तो ब्रह्माजी के पास में थी ही और सृष्टि करने की उनकी इच्छा भी थी इससे उनके हृदय में काम वासना प्रकट होने से उस स्त्री (सरस्वती) से भोग करने की उनकी बुद्धि हुई जो धर्म के विरुद्ध होने से भगवान् उस क्रिया को स्वीकार न करेंगे इसलिए भगवद् ने मरीचि आदि कीइच्छा सेधर्म-विरुद्ध तामसी प्रजा उत्पन्न करने के लिए मना किया। इस लज्जा के कारण ब्रह्माजी ने अपनी उस देह की मनोवृत्ति का त्याग किया। इससे तीसरी तामसी सृष्टि न हो सकी। तब ब्रह्माजी ने फिर भगवान का ध्यान किया तब वेदों की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी ने अपने चारों मुखों को चारों दिशाओं की तरफ किया जिससे अलौकिक व लौकिक शब्दों की उत्पत्ति हुई। इस लौकिक और अलौकिक भेद से तीसरी नाम सृष्टि की उत्पति हुई। जीव के रूप और नाम की सृष्टि हुई और नाम की अखंड प्रवृति रहे इसलिए इस सृष्टि का मूल होने का बताते हुए उसके स्वरूप का वर्णन किया।

इस प्रकार गुण सृष्टि का निरूपण कर ब्रह्माजी ने केवल गुण से रची हुई सृष्टि से प्रपंच ब्रह्मरूप हो जायेगा इसलिए मिश्रण सृष्टि रचने का विचार किया पहले जो नाम सृष्टि की रचना करने का विचार था वह छोड़कर पहले की तरह रूप सृष्टि रचने की मनोवृत्ति करी। ब्रह्माजी का

अन्तः करण मिश्रण रूप नहीं था इसलिए उन्होंने भगवान् का ध्यान किया तब भगवान् की इच्छा से ब्रह्माजी के शरीर के दो विभाग हो गये, इन दो भागों का मिथुन (जोड़ा) हुआ जिसमें ध्यान से पुरुष 'मनु' और इच्छा से स्त्री शतरूपा प्रकट हुए इससे पुरुष स्त्री संयोग से प्रजा बढने लगी जिसमें ब्रह्माजी को अन्य किसी की आज्ञा की आवश्यकता नहीं पड़ी। इस तरह चार प्रकार की सृष्टि कही (१-सनकादि मुनि, २-मरीचि आदि ऋषि, ३-नामसृष्टि, ४-मनु और शतरूपा) यह मुक्त जीवों की सृष्टि का वर्णन हुआ।

तेरहवें अध्याय में तीसरे कल्प (विराह्-कल्प) की कथा है। काल और जीव की सृष्टि का वर्णन करते हुए ब्रह्म कल्प और पद्म कल्प का भी निरूपण हुआ। भूमि भी सृष्टि का एक कारण है अतः इस अध्याय में भूमि के वर्णन के साथ वराह कल्प का भी निरूपण है। सृष्टि के पदार्थो को उत्पत्ति जो पहले कही वही यहां है। पहले कल्प के साधारण गुण सब कल्पों में रहते हैं पर कोई विशेष गुण हो वही कहा जाता है। वराह कल्प में भूमि की स्थिति पहले जैसी नहीं थी। इसलिए भूमि कमल में से अथवा भगवान् के जघन में से उत्पन्न होने के बारे में पद्म कल्प और ब्रह्म कल्प में कहा गया है। इस वराह कल्प में भूमि की स्थिति अन्य प्रकार की होने से ही उसका वर्णन इस अध्याय में है।

मनु की उत्पत्ति भगवान् की विभूतियों के विस्तार के लिए हुई जो उनकी लीला है। मनु लीला में उपयोगी होने से भगवान् के भक्त थे। मनु की जो प्रवृत्तियाँ थी कि लोक में सन्तान उत्पन्न करना धर्मानुसार प्रजा का पालन करना और भगवान् के यज्ञ करना ये पिता ब्रह्माजी की आज्ञानु-सार थीं।

पद्म कल्प में भगवान् की नाभि में से निकले हुए कमल में रह कर ब्रह्माजी ने सृष्टि रची। इस कल्प में कमल न होने से ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना करने के लिये मनु को आज्ञा दी। तब मनु ने देखा कि जहाँ सृष्टि रचना की जाएगी वह पृथ्वी जल में डूबी हुई है तब मनु ने ब्रह्माजी की प्रार्थना की कि पृथ्वी को जल से बाहर निकालने पर ही सृष्टि की रचना हो सकेगी। तब ब्रह्मा जी ने आदर पूर्वक भगवान् का ध्यान किया तब ब्रह्माजी के नाक से श्वास के साथ ही श्रीकृष्ण कीट रूप से निकल कर उसने वराह रूप धारण कर लिया। वह रूप इसलिए धारण किया कि वराह यज्ञ रूप है दूसरा यह कारण है कि जल में से वराह (शूकर) और हाथी ही पदार्थ निकाल लाने में समर्थ हैं। वराह रूप से प्रकट हुए तथा यज्ञ भी कर्म रूप है जिससे वह सृष्टि के कारण रूप हैं। कर्म से ही सृष्टि अथवा जन्म-मरण होता है। वराह रूप ब्रह्मा जी के लिये भी अचिन्तनीय था। यह भगवान् का आनन्द स्वरूप और क्रियाशक्ति युक्त था क्योंकि यज्ञ क्रिया से ही सम्पन्न होता है भूमि का विस्तार एक लाख योजन का था क्योंकि जम्बुद्वीप ही कर्म करने की भूमि है।

वराह ने भूमि को जल से निकाल कर उसका उद्धार किया और हिरण्याक्ष दैत्य को मारा इस प्रकार भगवान् का अवतार होने से ऋषियों ने स्तुति करी जो यह बताती है कि वराह यज्ञ रूप हैं।

वराह कल्प में हिरण्याक्ष-वध मुख्य कार्य था, वराह भगवान् ने भूमि का उद्धार किया फिर उसे स्थापित किया इसके बाद ब्रह्माजी ने उन भगवान् की स्तुति करी तब भगवान् ने हिरण्याक्ष का बध किया।

कल्प के आरम्भ में वराह ने भूमि का उद्धार किया जब हिरण्याक्ष युद्ध करने के लिये भूमि पर आया। हिरण्याक्ष का जन्म उससे पूर्व कल्प में हुआ था। जब प्रलय हुवा तब वह नीचे लोक में चला गया क्योंकि असुर प्रलय के समय वहां चले जाते हैं। मनुष्यों का नाश हो जाता है ऋषि देवता मनु आदि सब सत्य लोक में चले जाते है। इसलिए कश्यप ऋषि सत्य लोक में गये और उनकी पत्नी दिति और हिरण्याक्ष नीचे के लोक में चले गये। इस कथा में ऐसा प्रश्न होता है कि जय और विजय तो वैकुण्ठ में गये हुए वे संसार में क्यों आये ? क्योंकि वे तो मुक्त थे। इसका समाधान यह है कि इनका जन्म श्री कृष्ण की इच्छा से ही हुवा, क्योंकि भगवान् के सेवक अनुचित कार्य करे तो उनको भी दण्ड भोगना पड़ता है। ससार का अर्थ है जन्म और मरण और सनकादिक मुनियों के शाप से तीन जन्म तक जय विजय को संसार भोगना पड़ा।

इस कथा में स्पष्ट कथन है कि भगवद् इच्छा से ही सब कार्य होते हैं। दक्ष प्रजापति की कन्या दिति जो कश्यप ऋषि की पत्नी थी वह संध्या के समय अग्नि होत्री ऋषि के समझाने पर भी निर्लज्ज होकर पति समागम बिना एक क्षण भी ठहर न सकी। यह चौहदवें अध्याय का प्रसंग हुआ।

पन्दहरवें अध्याय के प्रसंग में भी भगवद् इच्छा से ही कार्य हुवा। सनकादिक मुनि जिनको किसी भी देश मे और किसी भी समय क्रोध नहीं आता है और कोई भी अयोग्यकार्य जिन से न होय वे भी जब भगवान् के दर्शन करने के लिये गये, ऐसी उत्तम अवस्था होते हुए भी भगवान् के सेवकों पर क्रोध कर उन को असह्य शाप दिया, ऐसा अनुचित कार्य उनसे होने का कारण केवल भगवान् की इच्छा ही थी।

वैकुण्ठ में लता, वृक्ष, पक्षी, और स्त्रीजन भी भगवद्-भाव पूर्ण, भगवद्गुणानुवाद में तल्लीन, अहंकार रहित और ईर्ष्या रहित रहते हैं। जो चार प्रकार की मुक्ति प्राप्त किये हुए हैं, वैकुण्ठ वासी होते हुए भी जय और विजय ने भगवान् के दर्शन करन आए हुवे मुनियों सनत्कुमारादिकों को अहंकार युक्त होकर रोकते हुए उनका अपमान किया जो कि एक अयोग्य कार्य था। शाप मिल जाने पर उनने मुनियों के चरणों पर गिर कर अपने अयोग्य कार्य के लिये उनसे क्षमा मांगी जिससे यही ज्ञात होता है कि उनका स्वभाव वैसा नहीं था फिर भी उनसे यह भूल हुई जिसका कारण भगवद् इच्छा ही थी।

सोलहवें अध्याय में, सनकादिक मुनियों के हृदय में मोह उत्पन्न करने वालेवचन भगवान् ने कहे और अपने सेवकों के अपराध को स्वीकार कर उनके कार्य की निन्दा की वैकुण्ठ में गया हुआ फिर संसार में जन्म लवे वह अशक्य होते हुए भी जय और विजय का वैकुण्ठ से पतन हुवा, जिससे इन दोनों को भगवान् के प्रति द्वेष हुवा यदि द्वेष न हुवा होता तो भविष्य में उनकी बुद्धि भगवान् के प्रति द्वेष रखने वाली न होती, इन सब का कारण केवल भगवद्-इच्छा ही है अन्यथा ऐसे अनुचित कार्य हो ही नहीं सकते थे।

श्री सुबोधिनी

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी मेघन

प० भ० श्रीदामोदरदासजी हरसानी

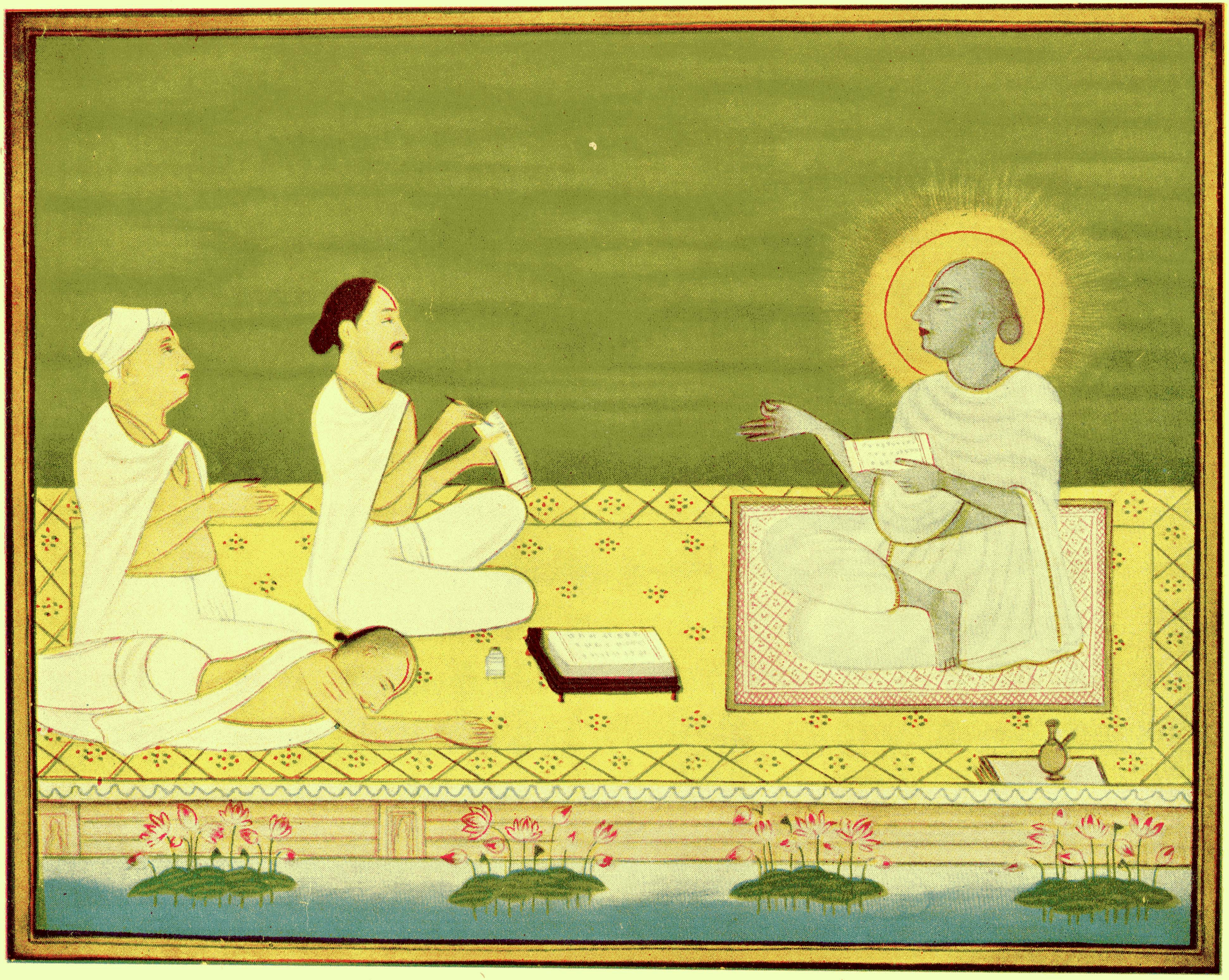

अखण्ड भूमण्डलाचार्य चक्र चूडामणी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

बन्ध सृष्टि (जीव सर्ग) प्रकरण

"अध्याय"—६

ब्रह्माजी द्वारा श्री भगवान् की स्तुति

कारिका—**जीवसर्गे भूतसृष्टौ ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते ।**
पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वरूपस्य च बोधतः ॥१॥

कारिकार्थ—जीव के लिये जो सृष्टि की जाती है उसमें प्रथम भूत सृष्टि कहनी है तदर्थ च्चीस तत्व और भगवान् के बोध से जो ब्रह्म ज्ञान होता है वह भूत जन्यत्व से कहा जाता है और विशेष जब तक समष्टि का ज्ञान नहीं होता है तब तक व्यक्ति का ज्ञान हो नहीं सकता है अतः उपजीव्य (आधार) होंने से पहले पुरुष का प्रकरण कहा अब नवम अध्याय से उपजीवक होने से जीव प्रकरण कहते हैं इसलिये उपजीव्य और उपजीवक भाव होंने से पुरुष और जीव की सङ्गति है—यह आशय है ॥१॥

टिप्पणी—आठवें अध्याय में ‘षस्य च संस्थानम्’ इस पङ्क्ति में किये हुए प्रश्न का उत्तर दिया, नवमाध्याय में तो ‘स्व वा परस्य च’ बाद में किये हुए प्रश्न का उत्तर देते हैं।

—नवमें अध्याय का विवरण करते हुए आज्ञा करते हैं कि, पूर्व प्रकरण की समाप्ति, दूसरे प्रकरण का आरम्भ, इन दोनों का जो पूर्व एवं अपर भाव है वह ही बीज है, इनकी सङ्गति को स्पष्ट करते हुए, अध्याय का अर्थ कारिकाओं द्वारा बताते हैं। ‘प्रकाश’

कारिका—**अतोऽत्र नवमेऽध्याये स्तुतिसंप्रार्थने पुरा ।**
ततः सर्वोपदेशश्च भगवत्कृत ईर्यते ॥२॥

कारिकार्थ—अतः इस नवमें अध्याय में प्रथम ब्रह्मा द्वारा की हुई स्तुति और प्रार्थना कह कर अनन्तर भगवान् ने जो सर्व को उपदेश किया है वह कहा गया है ।२॥

इस प्रकार शास्त्र की सङ्गति कहकर, विदुर तथा मैत्रेय के संवाद की सङ्गति 'ज्ञानमार्गस्य' कारिका ३ से कहते हैं—

कारिका—**ज्ञानमार्गस्य निर्द्धारः स्तोत्रेऽस्मिन् क्रियते स्फुटः ।**
विषयः, साधनं, रूपं बाधाभावस्तथैव च ॥
(**प्रकीर्णकं च स्तोत्रेऽस्मिन् ज्ञानार्थं विनिरूप्यते ॥३॥**

कारिकार्थ—इस स्तोत्र (स्तुति) में विषय[1], साधन, रूप बाध का अभाव तथा उसके उपयोगी जो प्रकीर्ण पदार्थ हैं, ये ज्ञान प्राप्ति के लिये निरूपण किये जाते हैं ॥३॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते 'ददर्श' इति यदुक्तम्, तद्भगवत्स्वरूपं सृष्टौ कुत्रोपयुज्यत इति निरूपणीयम् । यदीदं ब्रह्म भवेत्, तदा मूलकारणत्वेनोपयुज्येत । कर्ता च न भवति, स्वस्य तत्र विनियोगात् । अतः प्रथममयमेव भगवान् ब्रह्मेति । ब्रह्मज्ञानस्य जगत्कारणत्वात् ज्ञाननिरूपणार्थम्, स्वस्य जात एव साक्षात्कारो ज्ञानमिति निरूपयति—

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में 'ददर्श' पद से जो कहा गया है कि 'देखा' वह भगवान् का देखा हुआ स्वरूप, सृष्टि में कहाँ उपयोग में आता है, यों निरूपण करना है जो यह ब्रह्म है तो कर्ता न होकर मूल कारण ही होना चाहिए क्योंकि जगत् रचना का कार्य मुझे सोपा (दिया) है अतः प्रथम निश्चय है कि यह ही ब्रह्म है जगत् की रचना में ब्रह्म के ज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि वह ब्रह्म ज्ञान जगत् बनाने में कारण है, वह ज्ञान मुझे हुआ है क्योंकि भगवान् (ब्रह्म) का साक्षात्कार हुआ है यों इस निम्न श्लोक में ब्रह्मा स्वय कहते हैं—

१-ज्ञान का विषय स्तुति के प्रथम श्लोक से ७वें श्लोक तक, साधन, ८ से १३ तक भगवद्रूप का वर्णन १४ से २१ तक बाधा (विघ्न) का अभाव २२ से २५ तक इनमें जो उपयोगी प्रकीर्ण (विषय) हैं वह भी इन चारों में कह दिये हैं इस तरह शेष शेषि भाव स्तुति है ।
—'प्रकाश'

ब्रह्मोवाच—श्लोक—ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।
नाऽन्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥१॥

श्लोकार्थ— ब्रह्माजी कहते हैं कि हे भगवन् ! बहुत समय के बाद आज मैंने आप को जाना है, क्योंकि देहधारियों से भगवान् की गति जानी नहीं जाती है । यह देहधारियों में महान् दोष है । आपके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है । यदि माना जाय कि—है, तो भी वह शुद्ध नहीं है, माया के गुणों से मिले हुए होने से अनेक भासते हैं ॥१॥

सुबोधिनी—ज्ञातोऽसीति । हे भगवन् ! अद्यैव मे मया त्वं ज्ञातः, परं सुचिरात् । महताऽपि कालेन ज्ञात एव जन्मसाफल्यम्, नाऽन्यथेत्यज्ञान निन्दति—**नन्विति** । अत्रोभयत्र भगवानेव संमतिहेतुः । **नन्विति** कोमलसंबोधनम् । देहभाजां भगवतो गतिर्न ज्ञायत इति महदवद्यं महान् दोषः, **'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्'** इति श्रुति निषेधात् । भगवांस्तु केनचित् प्रकारेण ज्ञायत एव, गतिः परं न ज्ञायते; स केन प्रकारेण, कदा, कुत्र, कथम्, केन गच्छतीति । एतस्यां ज्ञातायां ज्ञातव्यं नाऽवशिष्यते । ननु गतिमात्रज्ञाने कथं कृतार्थता ? विवक्षितस्वरूपाज्ञानादित्याशङ्क्याऽऽह—**नाऽन्यत्त्वदस्तीति** । त्वत्तोऽन्यन्नास्त्येव, यज्ज्ञातव्यं स्यात्; त्वमेव परं तथा भवसि, अतस्तव गतिर्ज्ञातव्या । **भगवन्निति** संबोधनम् । तव षड्धर्मेषु त्वमिव सर्वं प्रतिष्ठितमिति ज्ञापितम् । ननु मध्ये मायया बुद्धिभ्रामिकयाऽन्यत्क्रियत इति नरूपितम्, तत्कथमुच्येते नाऽन्यदिति । तत्राऽऽह—**अपि तन्न शुद्धमिति** । मुख्यज्ञाने ब्रह्मवादे तत्राऽस्त्येव, तथापि दैवब्रह्मवादे तद्भवेत् । तत्र भगवच्छक्तिमाहात्म्यनिरूपणार्थं **'नतं विदाथ'** इत्यादिमन्त्रेषु सूचितम्, तत्र मुख्यब्रह्मवादो भवति । न च **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते'** इति, माध्यन्दिने सवने माहेन्द्रग्रहे महेन्द्रस्तोत्रपरत्वात् इन्द्रस्यैव मायास्ताः शक्तयः, अन्यथा बहुवचनं नोपपद्यते । उपनिषत्सु च तत्कीर्तनं सर्वसामर्थ्यं भगवत एवेति ज्ञापनार्थम् । इन्द्रेणाऽपि यत् क्रियते तद्भगवत्कृतमेवेति देवताब्रह्मवादसंग्रहार्थमित्येके । तस्माद्देवताऽस्त्येव मायया सृष्टिः । स्वप्नातिरिक्त । इति केचित् । तथापि भागवतसिद्धान्तेऽपि यद्यन्त रामायां कल्पयति, तन्न शुद्धम्; भ्रमस्य दोषस्य जनकत्वात् । नन्वेकस्य कथमनेकता ? न हि कारणे एकत्वविरोधादनेकसङ्ख्या संभवति । तत्राऽऽह—**मायागुणव्यतिकरादिति** । **मायागुणानां** सत्त्वरजस्तमोगुणानां **व्यतिकरादन्योन्यसंबन्धात्** ते परिच्छिन्नाः सन्तो, गृहा इव आतपे, नानात्वं संपादयन्ति, तदा त्वमुरुर्विभासि । अतस्त्वयि ज्ञाते न किञ्चिज्ज्ञातव्यम् ॥१॥

व्याख्या—हे भगवन् ! बहुत समय अनन्तर आज ही मैंने आपको जाना है, लम्बे समय के बाद भी जाना तो सही, जिससे जन्म सफल हुआ है । यदि न जानता तो जन्म की सफलता नहीं होती, यों कहने से अज्ञान की निन्दा की है 'ननु' पद से यह सूचित किया है कि निश्चय से दोनों जगह

भगवान् ही सम्मति में हेतु (कारण) है'। 'ननु' यह पद कोमल सम्बोधन को भी सूचित करता है। देहधारी भगवद् गति को नहीं जानते हैं, यह इनमें महान् दोष है। 'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्' इति श्रुति निषेधात् अर्थात देह के साथ सम्बन्ध करने से जीव भगवान् की गति को नहीं समझ सकता है। इसलिये भगवती श्रुति ने कहा है कि 'इस ऋषि (भगवान्)' को जानकर फिर नगर देह में प्रवेश नहीं करना चाहिये अर्थात् देह तथा देह सम्बन्धियों में ममता नहीं करनी चाहिये, जो करोगे तो मेरे ज्ञान से वंचित रहोगे।

भगवान् तो किसी तरह जाना भी जाय, किन्तु उनकी गति नहीं जानी जा सकती है। वह किस प्रकार से, कब, कहाँ, कैसे और किससे (किस साधन से) जाने जाते हैं, यह सब जाना नहीं जाता है। यदि यह जानने में आ जावे तो शेष कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है। केवल गति के ज्ञान से कृतार्थता कैसे होगी? जब तक विवक्षित स्वरूप का ज्ञान न हुआ है, ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं कि, 'नाऽन्य त्वदस्तीति' आपके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, जो जाना जाय। आप ही ये सब अन्य पदार्थ रूप होते हैं। इसलिये आपकी ही गति जाननी चाहिये। हे भगवन्! इस सम्बोधन को देकर यह आशय प्रकट किया है कि आपमें सब कुछ मौजूद है वैसे आपके गुणों (धर्मों) में भी सब कुछ मौजूद है।

बुद्धि को भ्रमित करने वाली माया मध्य में अन्य पदार्थों को बनाती है तो फिर कैसे कहते हो कि कुछ नहीं है, इस शंका के परिहार के लिये कहते हैं कि 'अपि तत्र शुद्धम्' है तो भी वह शुद्ध (सत्य) नहीं हैं। वास्तविक जो मुख्य ज्ञान ब्रह्मवाद है वह यह नहीं है तो भी देव ब्रह्मवाद वह उसमें होवे भी, क्यों? जिसका उत्तर देते हैं कि भगवान् की शक्ति के माहात्म्य का निरूपण करने के लिये यों दीखता है, जैसे कि 'न तं विदाथ' इत्यादि मन्त्रों से कहा है कि उस को आप नहीं जानते हैं इत्यादि वह मुख्य ब्रह्मवाद नहीं है।

'इन्द्र मायाओं से बहुत रूप वाला दिखता है' यह मध्याह्न में सोम निकालते समय में महेन्द्र के गृह में महेन्द्र की स्तुत्यर्थ है, जिसमें बताया है कि इन्द्र की ही ये मायारूप शक्तियाँ हैं। यदि यों न होवे तो बहुवचन न दिया जावे।

उपनिषदों में इसकी स्पष्टता की गई है कि सर्व सामर्थ्य भगवान् की ही है। यों ज्ञापनार्थ ही इन्द्र ने जो किया वा इन्द्र जो करता है वह भगवत्कृत ही समझना चाहिये। देवता ब्रह्मवाद संग्रह के लिये यों कहा है कि ऐसा किसी का मत है? तात्पर्य यह है कि यह सत् सृष्टि माया से बनी है, ऐसा वेद में कहीं भी नहीं है। स्वप्न के सिवाय अन्य कोई माया सृष्टि नहीं है,' यों कोई कहते हैं तो भी भागवत सिद्धान्त 'माया' मध्य में जो किसी पदार्थ की कल्पना कराती (दिखलादेती) है, वह शुद्ध (सत्य) नहीं है, क्योंकि भ्रम ही उसको उत्पन्न करने वाला है।

भगवान् जो एक है, वह अनेक कैसे होंगे ? क्योंकि जब कारण एक है, तो कार्य अनेक कैसे होंगे ? जिसमें (कारण में) एकत्व का विरोध आयगा। जिसका उत्तर देते हैं कि 'माया गुण व्यतिकरात्' माया के सत्व, रज और तमोगुणों का अन्योन्य सम्बन्ध के कारण वे परिच्छिन्नहो, आतप में जैसे ग्रह वैसे पृथक्-पृथक् पदार्थ सम्पादन करते हैं, वैसे आपभी अनेक भासते हैं अतः आप को जान लेने के बाद दूसरा कुछ भी जान लेने के लिये शेष नहीं रहता है ॥१॥

आभास—ननु ब्रह्मणि ज्ञाते न किञ्चिज्ज्ञातव्यमिति युक्तम्, नन्तु मयि ज्ञात इत्याशङ्क्य, त्वमेव ब्रह्मेति प्रमाणतर्काभ्यामुपपादयति श्लोकत्रयेण। तत्र प्रमाणं द्वयेन, प्रकृतसमर्थनार्थमतिरिक्तनिराकरणार्थं च; तत्र प्रकृतं समर्थयते—

आभासार्थ— ब्रह्मा के मन में यों संशय उत्पन्न हुआ कि यदि भगवान् कह दे कि ब्रह्म के जानने से शेष कुछ जानना नहीं रहता है यह तो उचित ही है, किन्तु मेरे जानने से सबको ज्ञान कैसे होगा ? इस पूर्व पक्ष के उत्तर में तीन श्लोकों से प्रमाण और तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि आप ही ब्रह्म है। इसलिये आपके ज्ञान से सर्व हो विदित हो जाता है—

श्लोक —**रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।**
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—जिससे तम (अज्ञानान्धकार) सदैव दूर है, ऐसा जो आपका स्वरूप है वह केवल अनुभव के निर्विषय रस से सत् पुरुषों (भक्तों) पर अनुग्रहार्थ ही प्रादुर्भूत हुआ है।

यह रूप आपका आदि में ही धारण किया हुआ है। उस वक्त एक शुद्ध ब्रह्म ही था उसके सिवाय कोई भी अन्य नहीं था, जो कि कारण बन सके। अन्य जो आपके सैकड़ों अवतार हुए हैं उन सबका वह ही एक बीज है जिसकी नाभि से उत्पन्न कमल रूप भवन में से मैं उत्पन्न हुआ हूँ ॥२॥

सुबोधिनी—रूपं यदेतदिति। यदेतत्त्वया रूपं गृहतिम्, तद्ब्रह्मैव, यतोऽवबोधरसोदयेन तज्जातम्। केवलानुभवेन, तत्रापि परमरूपेण निर्विषयेण, तत्रापि तस्योदयेन। सच्चिदानन्दरूपताऽप्युक्ता भवति। नन्वज्ञानमपि स्थास्यति देहग्रहणहेतुभूतम्। तत्राऽऽह-**शश्वन्निवृत्ततमस इति**। **शश्वत्सर्वदा** निवृत्तं तमो यस्य, तस्य तवैतद्रूपम्। 'अवबोधरसोपयेन' 'निवृत्ततमसः' इति ज्ञानाज्ञानाभावयोः कार्यकारणभावमाहुः, तन्निवृत्त्यर्थं शश्वदित्युक्तम्। (न हि) नित्यनिवृत्तानर्थस्य हेतु-

रपेक्ष्यते। साधननित्यत्वनैव तथात्वमिति चेन्न, कादाचित्कत्वेनैव साध्यसाधनभावस्य व्याप्तत्वात्। नन्वेवं ग्रहणे किं निमित्त तत्राऽऽह-**सदनुग्रहायेति**। अनेनाऽपि ब्रह्मातिरिक्तता निषिद्धा, न हि सताम्-ब्रह्मणा किञ्चित्कार्यं सिध्यति। किञ्च, आदौ गृहीतमेतद्रूपम्। आदौ शुद्धं ब्रह्मैवाऽस्ति, न ततोऽतिरिक्तं कारणं किञ्चित्, ब्रह्मैव तथा प्रादुर्भूतमित्यर्थः। किञ्च, **अवतारशतैकबीजमिति**। अवताराणां शतस्यैतदेवैकं बीजम्, अस्यैवांशा अन्येऽवतारा इति। अवताराश्च ब्रह्मरूपा इत्यग्रे वक्ष्यते, उक्ताश्च। अस्य कारणं ब्रह्म, कार्यं च मध्ये इदमेव कथं न ब्रह्म भवेत्? किञ्च, 'जगत्कारणं ब्रह्म' इति ब्रह्मलक्षणम्, तदत्रैव दृश्यत इत्याह-**यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासमिति**। भवनशब्देन पद्मस्य विशालता निरूपिता। **अहमिति** सगुणकर्ता। **आविरासमिति** समाप्यलौकिकं जन्म। अतः सर्वप्रकारेणेदं ब्रह्मैव ॥२॥

व्याख्या–यह जो रूप आपने धारण किया है, वह ब्रह्म ही है। कारण कि अनुभव रूप रस के उदय से वह प्रादुर्भूत हुआ है। केवल अनुभव से अर्थात् अनुभव के सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है। उस अनुभव का भी जो निर्विषय परमरूप है, उसके उदय से प्रकटा है। जिसमे इस रूप की सच्चिदानन्दता भी कही है, तब तो देह ग्रहण का हेतु रूप अज्ञानभी होगा। उसके उत्तर में 'शश्वनि वृततमसः' पद दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वहां से अर्थात् उस स्वरूप से अज्ञान तो सदैव दूर है। साराँश यह है कि इस स्वरूप के प्राकट्य में देह ग्रहण का हेतु रूप अज्ञान लेशमात्र नहीं है, क्योंकि जैसे जहाँ प्रकाश है वहां अन्धकार नहीं रहता है। वैसे ही जहाँ ज्ञान प्रकाश है वहाँ अज्ञानान्धकार किंचिन्मात्र भी नहीं होता है। उसका आपका ऐसा ही रूप है। 'अवबोध रसोदयेन' और 'निवृत्त तमसः' इन दो पदों से कितनेक ज्ञान और अज्ञान के भाव का कार्य कारण भाव कहते हैं–उसको निवृत्यर्थ शाश्वत् पद देकर समझाया है कि जिस वस्तु का सदैव के लिये जहां अभाव है, वहाँ कारण की अपेक्षा रहती ही नहीं है।

यदि कहो कि साधन के नित्यत्व से ही कार्य कारण अभाव है तो, वह अयुक्त है, क्योंकि जो (अज्ञान) नित्य दूर ही है, तदर्थ साधन की आवश्यकता नहीं है। कदाचित्कत्व होने से ही साध्य साधन भाव की व्याप्तता होती है अन्यथा नही। इस प्रकार स्वरूप धारण करने का क्या कारण है? जिसके उत्तर में कहा है कि 'सदनुग्रहाय' सत्पुरुषों (भक्तों) पर अनुग्रह करने के लिये स्वरूप प्रकट किया है। यों कहने से भी यह सिद्ध किया है कि यह रूप ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, अर्थात् ब्रह्मही है। कारण कि भक्तों का कार्य ब्रह्म के सिवाय अन्य से सिद्ध नहीं होता है, किन्तु यह रूप आदि में ग्रहण किया हुआ है, उस समय केवल शुद्ध ब्रह्मही था, अतः उसके सिवाय कोई अन्य कारण नहीं था। ब्रह्मही वैसे प्रकट हो गये, कहने का यों तात्पर्य है किन्तु सैकड़ों अवतारों का यह ही एक बीज है। अन्य अवतार इसके ही अंश हैं। अवतार ब्रह्म रूप है। यों आगे कहा जायगा और पहले कहा भी है। 'कारण' और 'कार्य' ब्रह्म हैं तो मध्य में ब्रह्म कैसे न कहा जावे। 'जगत्कारणं

ब्रह्म' ब्रह्म का लक्षण है कि जिस से जगत् उत्पन्न हो वह ब्रह्म है। वह यहाँ ही देखने में आता है। जैसे 'यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासमिति' जिनके नाभि में उत्पन्न कमल रूप भवन से मैं प्रकट हुआ हूँ। भवन पद से पद्म की विशालता दिखाई है 'अहं' शब्द से सगुण कर्तृत्व अपना दिखाया है 'अविरासम्' पद से बताया है मेरा जन्म भी अलौकिक है ॥२॥

आभास—ब्रह्मान्तरपक्षं निराकरोति—

आभासार्थ—यदि कोई कहे कि यह 'रूप' ब्रह्म नहीं है तो निम्न श्लोक में उस पक्ष का निराकरण करते हैं—

श्लोक—नाऽतः परं परम ! यद्भवतः स्वरूपमानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ।३।

श्लोकार्थ—हे परम ! आपका जो यह आनन्दमात्र, अविकारी, प्रस्फुट तेज-वाला रूप दीख रहा है उससे अन्य कोई रूप उत्तम नहीं है।

हे आत्म स्वरूप ! इस स्वरूप को मैं विश्व बनाने वाला एक विश्व से पृथक् (विश्व नहीं) भूत और इन्द्रियों की आत्मा देखता हूँ, मैं आपके इस रूप के शरण आया हूं अर्थात् आश्रय लेता हूँ ॥३॥

सुबोधिनी—नाऽतःपरमिति । अतः परमस्य द्रूपात् परं भिन्नमेतद्रूपनियामकं वा भवतः स्वरूपं न । **'आनन्दशरीरं ब्रह्म'** इति श्रुतेर्ब्रह्मण आनन्दरूपम्, तदेवैतत्; नत्वितोऽन्यदानन्दमात्रागुणकं रूपमस्ति । आनन्दस्तत्रोपादानमन्यच्च सहकारि भविष्यतीत्याशङ्क्य निवारयति । तर्हि तदेव विकृतं भविष्यति ? तत्राऽऽहअविकल्पम् । तर्हि तिरोहितेजो भविष्यति तत्राऽऽह—**अविद्धवर्च इति** । न विद्धं वर्चः केनापियस्य । अतिरिक्ताभावे प्रमाणमाह—**पश्यामीति** । ब्रह्मणोऽनुभवः प्रमाणम् । अस्य ब्रह्मत्वे तु सर्व एव ब्रह्मधर्माः सन्ति । तान ह—**विश्वसृजमेकमविश्वमिति** । विश्वकर्तृ ब्रह्म, **'यतो वा इमानि'** इति श्रुतेः । एकं ब्रह्म, **'ब्रह्मएकमेवाद्वितीयम्'** इति श्रुतेः । अविश्वं ब्रह्म, विश्वस्माद्व्यतिरिक्तम्, **योऽस्मात्परस्माच्च परः'** त श्रुतेः । एवं ब्रह्मधर्माणां बहूनां विद्यमानत्वाद् ब्रह्म वेदम् । **आत्मन्निति** संबोधनम् । ब्रह्मादिभिरात्मत्वेनोपास्य इति केचित् । **'अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः'** इति श्रुतेरनात्मत्वे ब्रह्मत्वं न स्यादिति । नन्वत्र चक्षुःश्रोत्रादीनां प्रतीयमानत्वादिन्द्रियवत्त्वेन कथं ब्रह्मत्वमत आह—**भूतेन्द्रियात्मकमिति** । भूतानामिन्द्रियाणामात्माऽयम्, **'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'** इत्यादिश्रुतेः । भूतेन्द्रियाणामात्वाद्भूतेन्द्रियत्वेन ज्ञायते, न तु तत्र भूतेन्द्रियाणि सन्तीत्यर्थः । नन्वप्रत्यक्षं ब्रह्म ? तत्राऽऽह

—**अद इति**। इदं प्रतीयमानमपि त्वदिच्छया **उपाश्रितोऽस्मीति** सम्बन्धः। **पश्यामिति** भिन्नं प्रतीतत्वात् **अद** एव, परोक्षमेवेत्यर्थः। **ते अद** वाक्यम्, अतो भवतस्त इति न पौनरुक्त्यम् ॥३॥

व्याख्या—इस स्वरूप से भिन्न अथवा इस स्वरूप का नियामक आप का कोई स्वरूप नहीं है 'आनन्द शरीरं ब्रह्म' इस श्रुत्यनुसार ब्रह्म का रूप केवल आनन्द निधि है वह यह स्वरूप ही है इसके सिवाय आनन्दमात्रादि गुणवाला कोई आपका रूप नहीं है वह स्वरूप जिसमें आनन्द उपादान होगा उसके (आनन्द के) सिवाय अन्य पदार्थ सहायक होंगे ? इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि यों माना जायगा तो वह (रूप) ही विकारी हो जायगा ? जिस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि 'अविकल्पम्' विकार रहित है, विकारी नहीं है यदि होगा तो तेज हीन अवश्य होगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अविद्धवर्चः' उसका तेज भी ढ़का हुआ क्षीण नहीं है। यों आप कैसे कहते हैं ? इसमें प्रमाण क्या है ? जिसका उत्तर देते हैं कि प्रमाण मैं हूँ जो प्रत्यक्ष ऐसे स्वरूप को देख रहा हूँ और अनुभव कर रहा हूँ। यह रूप ब्रह्म है क्योंकि इस रूप में ब्रह्म के सर्व धर्म मौजूद हैं। वे धर्म पंक्ति 'विश्वसृजमेकमविश्व' से बताते हैं, जो विश्वकर्ता हो वह ब्रह्म है जिसमें 'यतो वा इमानि भूतानि' श्रुति प्रमाण है। 'अविश्वं' जो विश्व से अन्य पृथक् भी है वह ब्रह्म है, जिसमें 'योऽस्मात्' परस्माच्च परः' श्रुति प्रमाण है। इसी तरह बहुत ब्रह्म धर्म इस स्वरूप में विद्यमान होने से यह स्वरूप ब्रह्म ही है।

हे आत्मन् ! यह सम्बोधन है जिस का आशय कितने ही यों करते हैं कि यह स्वरूप ब्रह्मादिकों को आत्म स्वरूप से उपास्य है किन्तु यह आशय पहले श्लोक में जो यह स्वरूप ब्रह्म है। यों सिद्ध किया है। उससे विरुद्ध होने से अप्रमाणिक है—'अयमात्मा' ब्रह्मविज्ञानमयः' यह विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है, इस श्रुत्यनुसार यह स्वरूप आत्मा न होवे तो ब्रह्म भी न हो सके, इसलिये आत्मन् शब्द से उसका ब्रह्मत्व सिद्ध किया है, इस स्वरूप नेत्र श्रोत्रादि इन्द्रियों के होने से यह स्वरूप ब्रह्म कैसे कहा जाय ? जिस के उत्तर में 'भूतेन्द्रियात्मकं' पद दिया है जिसका आशय है कि यह स्वरूप भूत और इन्द्रियों का आत्मा है जिसमें 'चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं' यह श्रुति प्रमाण है—भूत और इन्द्रियों का आत्मा होने से स्वरूप में जो भूत एवं इन्द्रियां दीखती हैं वे भौतिक नहीं हैं किन्तु अलौकिक कारण रूप (आत्म रूप) हैं। फिर शङ्का होती है कि ब्रह्म तो परोक्ष होता है फिर यह प्रत्यक्ष कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह अपनी इच्छा से ब्रह्मा को दर्शन दे रहे हैं, यों तो परोक्ष ही हैं। अन्त में ब्रह्मा कहता है कि ऐसे आपके शरण में आया हूँ, 'पश्यामि' यह वाक्य पृथक् है इस लिये 'भवतः' और 'तं' यों कहने से पुनरुक्ति दोष नहीं हैं ॥३॥

आभास—तर्कमाह।

आभासार्थ—अब निम्न ४ श्लोक में तर्क कहते हैं—

श्लोक—**तद्वा इदं भुवनमङ्गल ! मङ्गलाय ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।**
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥४॥

श्लोकार्थ—हे भुवनों के मंगलस्वरूप ! यह ही वह मंगलस्वरूप है, उपासना करने वाले हम लोगों को जो ध्यान में इस स्वरूप के दर्शन आपने दिये हैं वह हमारा मंगल करने के लिये ही दिये हैं, उस मङ्गल स्वरूप भगवान् को नमस्कार है, हम तो उन आपकी आज्ञा को सदैव शिरोधार्य करते हैं जिस मङ्गल स्वरूप आपकी हम प्राप्ति करना चाहते हैं। ऐसे मंगलस्वरूप का दुःसङ्गी और नरक में जाने वाले ही अनादर करते है ।।४।।

सुबोधिनी—**तद्वा इदमिति** । **हे भुवनमङ्गल !** त्रैलोक्यस्यैव मङ्गलरूप, **तदेवेदम्** । **वै** निश्चयेन । तत्र हेतुः-**नो ध्याने मङ्गलाय दर्शितम्** । किमतः ? **त उपासकानामिति** । वयं ब्रह्मसाक्षात्कारार्थे ध्यानं कृतवन्तः, यतस्ते उपासकाः । न हि परब्रह्मोपासकाः परब्रह्मव्यतिरेकेणाऽन्यद्धचायन्ति, न वा तादृशानां कल्पनार्थे भगवानन्यत्प्रदर्शयति, न हि तादृशानामन्येन पुरुषार्थो भवति, तस्मात्-कारणात् युक्त्याऽपीदं ब्रह्मैव । एवं तस्य ब्रह्मत्वं विनिश्चित्य तन्नमस्करोति-**तस्मै नम इति** । तद्रूपं भगयानेवेति **भगवत** इत्युक्तम् । नमनमात्रमुदासीनेनाऽपि क्रियत इति स्वस्य मुख्यसेवकत्वख्यापनाय **तुभ्यमनुविधेमे**त्याह । त्वत्प्राप्त्यर्थमनुविधानं कुर्म इत्यर्थ: । **नमोऽनुविधेमेति**पक्षे छान्दसत्वादुपपद-विभक्तिरेव बलीयसी, नमस्कुर्मो नृसिंहायेतिवत् । नन्वेवं सति वादिनः कथमत्र सन्देहं कुर्वन्ति, कथं वा न भजन्ते ? इत्यत आह-**योऽनादृत इति** । येषां नरकपातोऽवश्यम्भावी दैत्यानाम्, तैरयं नाऽऽदृतः। नन्वनादरणमात्रेण कथं नरकपातः ? निषिद्धाचरणाभावादित्यत आह—**असत्प्रसङ्गैरिति** । असद्भिः सह प्रकृष्टाः सङ्गास्तैः । न हि स्वभावत एवकश्चिद्भगवन्तं न मन्यते आत्मत्वादानन्दमूर्तित्वच्च, किन्तु असतां सङ्गेन बुद्धिरन्यथा जाता, अतस्तत्संसर्गिदोषात् सोऽपि पञ्चमो महापातकी। सचेद्भगवन्तं मन्येत, पूर्वपुण्यबशात्, अन्यथा वा, तदा नरको न भवेत् । अतो नरकस्याऽवश्यम्भावात् तादृशैर्भगवान्नाऽऽदृतः ।।४।।

व्याख्या—हे भुवन मङ्गल ! तीनों लोकों का जो आपका मंगल रूप है निश्चय है कि यह स्वरूप जिसका हम दर्शन कर रहे हैं वह ही तीनों लोकों का मङ्गल रूप है । जिसमें कारण यह है कि ध्यान करते समय हमारे मङ्गल के लिए इस ही स्वरूप का हमको दर्शन दिये हैं. यों कहने का भावार्थ क्या है ? इसका उत्तर देते हैं। 'ते उपासकानाम्" ऐसे स्वरूप के दर्शन, आप अपने उपासकों को ही देते हैं। हम ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिये ध्यान करने लगे, क्योंकि आपके सेवक हैं, परब्रह्म के उपासक परब्रह्म के सिवाय दूसरे का ध्यान नहीं धरते हैं, इसलिए ऐसे अनन्योपासकों के ध्यान में अपने परब्रह्म स्वरूप के सिवाय दूसरा स्वरूप नहीं दिखाते हैं, क्योंकि ऐसे अनन्यों का पुरुषार्थ दूसरे से सिद्ध नहीं होता है। इस कारण से तर्क द्वारा भी सिद्ध है कि यह स्वरूप ही परब्रह्म है।

इस प्रकार इस स्वरूप का परब्रह्मत्व निश्चय से सिद्ध कर उसको नमस्कार करने के लिये

कहते हैं 'तस्मैनमः' इस पद से यह सूचित किया है कि जिस परब्रह्म ने मेरे मङ्गलार्थ इस स्वरूप से दर्शन दिये हैं उस भगवान् को नमस्कार है, यदि कहो कि नमन तो उदासीन भी करते है नमनमात्रसे कौनसी विशेषता प्रदर्शित की है जिस आशङ्का को मिटाने के लिये 'तुभ्यमनुविधेम' पद कहा है, जिस पद से यह दिखाया है कि मैं उदासीन नहीं हूं किन्तु आपका मुख्य सेवक हूं। इसलिये आपकी प्राप्ति के लिये आपकी आज्ञा शिरोधारण करता हूँ 'नमोऽनुविधेम' इस प्रकार अन्वय कर अर्थ किया जा सकता है क्योंकि छान्दस होने से उपपदविभक्ति ही बलवती होती है जैसे 'नमस्कुर्मो नृसिंहाय' पद है यदि यों है तो वादी इसमें (इस स्वरूप में) सन्देह करते हैं ? क्यों न इनका भजन करते हैं ऐसी शंका होय तो योऽनादृतः' कहा है। जिन आसुरी जावों (दैत्यों) का अवश्य नरक पात होना है, वेही इस स्वरूप का अनादर करते हैं। केवल अनादर करने से ही नरकपात कैसे होगा ? केवल अनादर ही किया है कोई निषिद्ध आचरण तो नहीं किया है ? इस पर कहते हैं 'असत्प्रसङ्गः' ऐसे जीवों का दुष्टों के साथ सङ्ग होता है जिससे उनकी बुद्धि विपरीत होती है।

यों तो कोई भी जीव स्वभाव से भगवान् को नहीं मानता है ऐसा नहीं है क्योंकि भगवान् अपनी आत्मा है और आनन्द स्वरूप है किन्तु असत् पुरुषों के सङ्ग से बुद्धि दुष्ट हो जाती है अतः उनके सङ्ग से उत्पन्न दोषों के कारण वह पाँचवाँ महापातकी हो जाता है, यदि वह पूर्वोपार्जित पुण्यों के कारण भगवान् को माने अथवा सत्संग के प्रताप से भगवान् का भजन आदर से करे तो नरक में न गिरे, यों नहीं होने से अवश्य दुःसङ्गी नरक में गिरते ही (पड़ते ही) हैं वैसे पुरुष भगवान् का निरादर ही करते हैं ।।४।।

आभास—एवं प्रमाणतर्काभ्यामिदमेव ब्रह्मस्वरूपमित्यवधृत्य, एतत्साक्षात्कार एव ब्रह्मसाक्षात्कार इति, 'भक्त्या **मामभिजानाति**' इति वाक्यात्, तत्साक्षात्कारार्थं भक्तिमाह। साधनमुखतयाऽपि ब्रह्मत्वं साधयति—

आभासार्थ—इस तरह प्रमाण और तर्क से यह स्वरूप ही, ब्रह्म है यह स्थिर कर इसका साक्षात्कार ही ब्रह्म का साक्षात्कार है, 'भक्त्यामाम भिजानाति' इस भगवद्गीता के वाक्यानुसार उसके साक्षात्कार के लिये भक्ति को ही साधन रूप इस श्लोक में कहते हैं तथा साधनमुखता से भी इसका ब्रह्मत्व सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।**
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां नाऽपैषि नाथ! हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ।।५।।

श्लोकार्थ—हे नाथ ! अभक्त एवं पुरुषार्थ रहित मनुष्यों के सिवाय जो पुरुष वेदरूप वायु द्वारा आपके चरण कमल की कली की गन्ध को कर्ण छिद्रों से सूँघते

हैं तथा जिन्होंने अन्तिम भक्ति द्वारा आपके चरणों को दृढ़ पकड़ लिये हैं, उन अपने पुरुषों (भक्तों) के हृदयरूप कमल से आप थोड़े भी नहीं खिसक सकते हैं ।।५।।

सुबोधिनी—ये त्विति । तुशब्देन चरणोपासनारहितान् पुरुषार्थविमुखान् व्यावर्तयति । **ये त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं कर्णविवरैजिघ्रन्ति तेषां हृदयात् त्वं नाऽपैषीति** सबन्धः । तत्र हेतुः–**भक्त्या गृहीतचरण इति** । त्वदीयानां चरणेषु भगवत इव रेणवो न सन्ति, किन्तु स्वभक्तरक्षकत्वात् कोशत्वम्, तद्धर्मो गन्धश्च वर्तते। त्वदीयमेव वा चरणाम्बुजम् । भगवदीयत्वसम्पादकशरीरहेतुभूतानि संस्कृतानि भूतानि चेत्ते प्राप्नुयुस्तदाऽस्मिन् जन्मनि त्वदीया एव भवेयुः । अथेदानीं तादृशशरीराभावेऽपि शरीरान्तरेऽपि श्रुत्यादिपर्यालोचनया महात्म्ये ज्ञाते भक्तिर्भवति तत्रेन्द्रियाणां भगवदीयविषयग्रहणार्थमन्यथात्वं जायते । गन्धो हि चित्तक्षोभकः, अन्तःप्रवेशसमर्थत्वात्; शब्दस्तु न तथा । ततः श्रवणेऽपि गन्धानुभवत्वमुच्यते, अन्तः प्रविश्य क्षोभार्थम् । भगवदीयानां पदार्थानां सर्वधर्मवत्त्वम्, श्रुतीनां च गन्धवाहकत्वम्, ईषत्स्पर्शात् । अत्र यशोवाची गन्धशब्दः, पुण्यस्य कर्मणो गन्ध इव । भगवन्माहात्म्यश्रोतॄणां श्रवणं देवतारूपमिति गन्धोऽप्यस्ति । एवं माहात्म्यप्रतिपादनार्थमेवं कथा । **कर्णविवरैरिति** तूष्णीम्भूतानां गुणानां प्रवेशः । प्राणेनैव भक्तिः प्रेमलक्षणा, चकारात्साधनरूपा च । तदा ते स्वपुमांसो भवन्ति । तदा हृदयाद्भगवान्नापगच्छति, तदा नियतः साक्षात्कारः प्रवेशश्च भवतीत्यर्थः । इदं ब्रह्मण एव कार्यं नाऽन्यस्येति कार्यद्वारापि ब्रह्मत्वं समर्थितम् ।।५।।

व्याख्या 'तु' शब्द देने का आशय यह है कि जो चरणों की उपासना नहीं करते हैं और पुरुषार्थ से विमुख हैं उनको त्याग दिया है ।

जो आपके चरण कमल की कली की गन्ध को कर्ण के छेदों से सूंघते हैं उनके हृदय से आप हटते नहीं हो, क्यों नहीं हटते हो ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उन्होंने आपके चरणों को भक्ति से पकड़ रखा है, यहां केवल चरण कहकर यह सिद्ध किया है कि भक्तों के चरणों में भी भगवान् के चरणों की तरह परागादि न होकर उनके चरणों के समान कली होती है जो कोश (कली) भक्तों के रक्षक हैं, उसका धर्म गन्ध है अथवा आप के ही चरणाम्बुज (कलो) है ।

यदि वे भगवदीयत्व के सम्पादक शरीर के हेतु भूत संस्कार वाले भूत प्राप्त कर लेवें तो इस जन्म में ही आपके हो जाने चाहिये, लेकिन अब वैसे शरीर की प्राप्ति न होने पर भी दूसरे शरीर में भी श्रुति आदि के विचार करने से माहात्म्यज्ञान जान लेने पर भक्ति हो जाती है, भक्ति प्राप्त हो जाने पर भगवदीय विषयों के ग्रहणार्थ लौकिक इन्द्रियां बदलकर अलौकिक हो जाती हैं, गन्ध भीतर जाकर चित्त में क्षोभ करती है, क्योंकि गन्ध भीतर जाने में समर्थ है । शब्द को भीतर जानने की सामर्थ्य ही नहीं है, इस कारण भगवत्कीर्ति के श्रवण को भी गन्ध का अनुभव कहा है,

क्षोभ के लिये ही गन्ध का भीतर प्रवेश होता है, भगवदीय पदार्थों में सर्व धर्म रहते हैं वेद ईषत् (स्वल्प) स्पर्श से गन्धवाहक हैं यहां 'गन्ध' पद का भावार्थ 'यश' है जैसे पुण्य कर्म का यश फैल रहा है अर्थात् पुण्य कर्म करता है उसकी सर्वत्र गन्ध (यश) फैलती ही है।

भगवान् के माहात्म्य श्रोताओं का भगवद्गुण कीर्तिरूप श्रवण देवता रूप है यों उसको गन्ध को भी कहा जाता है, इसी प्रकार माहात्म्य प्रतिपादन के लिये इस प्रकार की कथा कही गई है, 'कर्ण विवरैः' कर्ण के छिद्रों से कहने का भाव है कि शान्त होकर जो सुनते हैं भगवान के गुण (धर्म) प्रवेश करते हैं घ्राण से हो प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति होती है 'च' पद से समझना चाहिये कि साधन रूप भी प्राप्त होता है, जब इस प्रकार भक्ति सिद्ध होती है तब वे अपने पुरुष (भक्त) होते हैं ऐसी अवस्था होने पर भगवान् हृदय से हटते नहीं हैं। तब नियत साक्षात्कार तथा प्रवेश होता है यों तात्पर्य हैं। यह कार्य भगवान् का ही है न कि दूसरे का, यों कार्य द्वारा भी इस स्वरूप का ब्रह्मत्व समर्थन किया है॥५॥

आभास—धर्मान्तरेणापि समर्थयते।

आभासार्थ—इस स्वरूप के ब्रह्मत्व की सिद्धि का धर्मान्तर अर्थात् अन्य गुणों से श्लोक में समर्थन करते हैं—

श्लोक—**तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।**
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥६॥

श्लोकार्थ—जब तक लोक आपके निर्भय चरण का वरण नहीं करते हैं तब तक धन, देह, मित्र आदि के कारण भय, शोक, इच्छा, परिभव और लोभ होता है तथा तब तक ही दुःख की मूल (जड़) ये मेरे हैं ऐसी ममता का झूठा आग्रह नहीं मिटता है॥ ६॥

सुबोधिनी—**तावद्भयमिति**। '**अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि**' इति श्रुतेर्ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरमेवाऽभयमिति, भगवदीयत्वेनाऽभयत्वं निरूपयन् ब्रह्मत्वं निरूपयति। **यावत्ते अभयमङ्घ्रि लोको न वृणीत, तावद्भयमिति** संबन्धः। न विद्यते भयं यस्मादिति। उभयथाऽपि तस्मान्न भयमात्मत्वात्, '**द्वितीयाद्वै भयं भवति**' इति श्रुतेः। अन्यदपि भयं निवर्तते, समर्थत्वात्। तत्सामर्थ्यमलौकिकमिति भयविशेषान्निर्दिशतिद्रविणनिमित्तं मुख्यं भयम्, सर्वस्यैव तदाकाङ्क्षत्वात्; ततो देहनिमित्तम्, 'देहो गमिष्यति' इति; ततः पुत्रादिनिमित्तम्। भार्यापुत्रौ देहत्वेन वा गृहीत्वा पश्चादन्ये सुहृदो गृहीताः। विद्यमाने भयम्, गते शोकः। देहैकदेशो वा देहत्वेन ग्राह्यः, अन्यथा शोको न स्यात्। पुत्रादिर्वा। **गेह इति** पाठे स्पष्टमेव। पुनः प्राप्तव्यमिति स्पृहा; ततो जनानु-

धावने तैरेव परिभवः; अथ दैवगत्या कथञ्चित् प्राप्तौ विपुलो लोभः । **तावदिति** सर्वत्र संबन्धः । किञ्च, अहं ममेति देहादावसदवग्रहो मिथ्याग्रहस्तावदेव । इदमप्येकं ब्रह्मत्वसाधकम्, ब्रह्म त्वम्भाव एव तन्निवृत्तेः । असदवग्रहस्य लौकिकप्रतीत्या सुखहेतुत्वमाशङ्क्य तस्य दुःखहेतुत्वमाह— **आर्तिमूलमिति** । मूलमिति नियतलिङ्गम् । '**तद्विष्णोः परमं पदम्**' इति श्रुतेर्भगवत्पदमेव ब्रह्म अतो न ब्रह्मज्ञानेन व्यभिचारः । **वृणोतेति**, यथा कन्या वरं वृणोते, स्वेष्टपूरकत्वेऽपि स्वयमेव तदीया भवति, न तु स स्वकीयः । **लोक** इति विशिष्टाधिकारी ॥६॥

व्याख्या—'अभयंवैजनक ! प्राप्तोऽसि' "हे जनक ! तुमने निश्चय अभय प्राप्त किया है" इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म प्राप्ति के अनन्तर ही 'अभय प्राप्त होता है, भगवदीय को तो तब तक भय है जब तक आपके निर्भय[1] (भयरहित) चरण कमल का वरण (आश्रय) नहीं किया (लिया) हैं, भगवदीय के अभयत्व का निरूपण करते हुए, यह स्वरूप ब्रह्म है यों निरूपण किया है, दोनों प्रकार से आपके चरण से भय नहीं है क्योंकि आत्मरूप है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इस श्रुत्यनुसार दूसरे से ही भय होता है, चरण आत्मरूप होने से उससे भय नहीं होता है तथा चरणाश्रय से दूसरों से भी भय नहीं होता है । सारांश कि दूसरे भय भी निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि चरणों में अलौकिक सामर्थ्य है । चरण के वरण करने से जो दूसरे भय निवृत्त हो जाते हैं उनका वर्णन करते हैं—धन और सम्बन्धी भय सबसे मुख्य है कारण सब उसकी चाहना करते हैं, उसके बाद देह निमित्त (देह के कारण) भय है जैसे कि यह देह व्याधिग्रस्त होगी जिससे भय उत्पन्न होता है, अनन्तर पुत्रादि के कारण भय होता है अथवा स्त्री और पुत्र देह से ही ग्रहण किये हैं, अतः वे न कहकर सुहृद कहे हैं, भय तब होता है जब देह विद्यमान होगी, जो देह नाश हो जायेगी तो शोक होगा भय न होगा, इसलिए यहाँ देह शब्द से देह का एक देश समझना चाहिए अन्यथा शोक न होवे अथवा देह का आशय पुत्रादि भी है । यदि 'देह' के स्थान पर 'गेह' पाठ हो तो आशय स्पष्ठ ही है वह (गृह) जाने के बाद फिर प्राप्त करना चाहिए यों इच्छा होती है, उस इच्छा को पूरा करने के लिए मनुष्यों को प्रार्थनाएं करनी पड़ती हैं । यदि वे प्रार्थनाएं स्वीकृत नहीं होती हैं तो पराभव (हार) मानना पड़ता है, यदि बाद में दैवगति के कारण कैसे भी गेहादि प्राप्त हो जावें तो फिर ज्यादा लोभ होने लगता है । 'तावत्' पद से यह भाव है कि धन आदि का भी लोभ बढ़ जाता है । 'मैं' और 'मेरा' यह मिथ्या आग्रह भी तब तक ही रहता है । यह भी एक ब्रह्मपन का साधक है । उन सब दुःखों के मिटने का कारण ब्रह्मात्मभाव ही है । देहादि में जो असत् (झूठा) आग्रह है वह लौकिक प्राप्ति से सुख का कारण दीखता है किन्तु वास्तव में दुःख का हेतु है अतः कहा है 'आर्तिमूलम्' दुःख की जड़ है अर्थात् निश्चित् चिन्ह है । 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इस श्रुति के प्रमाणानुसार

१—जिस चरण से भय नहीं है, ऐसे और भय को मिटाने वाले चरण हैं—'प्रकाश'

भगवच्चरण ही ब्रह्म है, इसलिए ब्रह्मज्ञान से इनका व्यभिचार[1] नहीं होता है। 'वृणीत' इस पद का आशय दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे कन्या वर (पति) का वरण करती है तब वह कन्या उसकी (वर की) हो जाती है। वर, कन्या की सर्व अभिलाषा पूर्ण करता है किन्तु वह कन्या का नहीं होता। 'लोक' शब्द से यह बताया है कि जो विशिष्ट अधिकारी है वह यों करता हैं॥ ६॥

आभास—नन्वेवं सति सर्वे कथ न भजन्त इत्याशङ्क्य, पूर्वं रूपविशेषेण असत्प्रसङ्गैरिति परिहृत्याऽपि, पुनः सामान्यतः परिहरति।

आभासार्थ—यदि यों है तो इस भगवान् का भजन सब क्यों नहीं करते? यद्यपि पहले, रूप विशेष के कारण तथा असत्पुरुषों के संग से नहीं भजते हैं यों कहकर शंका का निवारण किया है तो भी फिर सामान्य प्रकार से इस श्लोक द्वारा उस शंका का परिहार करते हैं—

श्लोक—**दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये।**
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्॥७॥

श्लोकार्थ—सकल अशुभों को नष्ट करने वाले आपके चरित्र विषयक प्रसङ्ग से जिनकी इन्द्रिया विमुख रहती हैं, वे लोभवश मन वाले अल्पमात्र (थोड़े से) काम सुख के लिये दीन हो निरन्तर अकल्याणकर (अशुभ) कर्मों को करते हैं क्योंकि देव ने (पूर्व जन्मकृत दुष्कर्मों ने) उनकी बुद्धि भुलावे में डालदी है॥७॥

सुबोधिनी—**दैवेनेति**। **ते दैवेन** प्राचीनकर्मणैव हता धीर्येषाम्, भवतः प्रसङ्गाद्ये विमुखेन्द्रियाः। विषयस्य सर्वोत्तमत्वेऽपि, प्रमातुः सर्वेष्टदातृत्वेऽपि, आत्मत्वेऽपि ये न भजन्ते, तत्रेन्द्रियबुध्द्योरेव ग्राहकप्रेरकयोर्दोषोऽवसीयते अग्रहणे। तत्र प्रेरिका बुद्धिर्दैवेन हता। दैवं तस्या एव बुद्धेराधिदैविकं भगवदिच्छारूपमिति केचित्। प्रवाहनियामकस्य **कर्मण** एव तथात्वमिति ब्रह्मवादे। अधिकृतः कालः स्वाधिकारे पतितं तं जीवं भगवत्प्रसङ्गेनान्यथा मा भवत्विति तद्बुद्धिं नाशयति। काल एवेत्यपरे। पक्षत्रयेऽपि तेषां स्वतो दोषाभावः। पूर्वं तु तेषाँ दोष उक्तः। इमं हेतुत्वेन निर्दिश्याऽग्रे स्वदयामुपपाद्य, तेषु भगवत्कृपां प्रार्थयिष्यत्यर्थात्। **प्रसङ्गो** वार्ता। प्रासङ्गिकीं कथां सर्वेऽपि बह्वीं शृण्वन्ति। ततोऽपि विमुखाः। अन्यकथायां भगवत्कथा प्रसङ्गाच्चेत्समायाति, ततो गच्छन्ति; निद्राणा वा, अन्यचित्ता वा भगवन्तीत्यर्थः। तेषां बुद्धेर्दैवहतत्वोपपादनार्थं भगवत्प्रसङ्गस्य गुणानाह—**सर्वाशुभोपशमनादिति**। ते खलु

---

[1]—कठोउपनिषद में 'अक्षर ब्रह्म को विष्णु का चरण कहा है यहाँ केवल चरण कहा है यों नाम भेद से स्वरूप में किसी प्रकार व्यभिचार (अन्यथा विचार) नहीं होता है— 'प्रकाश'

अन्यप्रसङ्गाद्बह्वेव पापं कृतवन्तः, प्रसङ्गात्तत्सर्वं गच्छेत्; प्रारब्धकर्मणोऽप्यशुभं जायमानमुपशाम्यति, अविद्या, चाऽऽत्मनि विद्यमाना महाग्रावार्द्रकाष्ठमिव आत्मन्येव शान्ता भवति। **इन्द्रियपदा**त्तेषां निर्दुष्टत्व इन्द्रियाणामपि संमुखीभावो न स्वाभाविकः। तस्मादेते प्रवाहपतिताः कामलोभव्याप्ता इत्याह—**कुर्वन्तीति**। कामितस्य सुखस्य लेशस्य लवार्थं दीनाः स तोऽकुशलानि कुर्वन्ति। पञ्चेन्द्रियाणामुपभोग्यं कामसुखं पूर्णम्, तस्य लेश एकेन्द्रियसुखम्, तस्य लवोऽत्यल्पो भागः क्षणमात्रभोग्यः। यथा कामिनीप्रसादार्थं भूयानेवाऽनर्थः क्रियते। ननुसुखार्थं तथाकरणं युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— **दीना इति**। दैन्यं भोक्तृविशेषणम्। अतो दैन्ये विद्यमाने भोगेस्वातन्त्र्याभावात्, तस्मिन्नपि क्षणे दुःखं सिद्धमिति न भोगः सिध्यति। ननु तथाप्याभिमानिको भोगः सिद्धयेत्। तत्राऽऽह—**लोभाभिभूतमनस इति**। लोभेन मनसोऽभिभवात् वृथैव द्रव्यं व्ययितमितिपश्चातापान्नाऽऽभिमानिकसिद्धिः। **अकुशलपदेन**, न विद्यते कुशलं यस्मादिति योगेन, विद्यमानमपि कुशलंगच्छतीति सूचितम्॥७॥

व्याख्या—आपके चरित्रविषयक प्रसङ्गों से जिनकी इन्द्रियां विमुख हो रही हैं उनकी बुद्धि दैव (पूर्वजन्म कृत दुष्कर्मों) ने नष्ट कर डाली है जिससे सर्वोत्तम विषय होने पर भी एवं उसमें विचार करने वाले को सर्व प्रकार का इष्टफलदातृत्व (मनोरथ सिद्ध करने वाले) होते हुए भी, और अपनी आत्मा रूप होते हुए भी वे भजन नहीं करते हैं। इसमें दोष इन्द्रियों और बुद्धि का ही है। जैसे बुद्धि प्रेरणा करती है वैसे इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण करती हैं। इसलिए भगवद् भजन में रुकावट डालने का दोष इन (इन्द्रियों और बुद्धि) का ही है।

इसमें प्रेरणा करने वाली बुद्धि दैव ने नष्ट कर दी है। कितनों ही का मत है कि उस ही बुद्धि का ही आधिदैविक रूप भगवदिच्छा (दैव) है किन्तु श्रौत ब्रह्मवाद का सिद्धान्त है कि प्रवाह के नियामक कर्म ही ऐसा करते हैं। जीव को भगवत्सम्बन्धी सत्संग प्राप्त हो जायेगा तो वह भगवद्भक्त बन जायेगा, ऐसा (भगवदीय) न बने, तदर्थ अधिकारी काल अपने अधिकार में आये हुए जीव की बुद्धि को भ्रष्ट कर देता है, दूसरे कहते हैं कि 'काल' ही यों करता है क्योंकि काल ही दैव है। अतः तीन प्रकार के मत होते हुए भी जीव दोषरहित है। यद्यपि पहले जीवों का दोष कहा है किन्तु अब जीवों का दोष नहीं है यह युक्तियों से सिद्ध कर आगे अपनी दया प्रतिपादन की है अर्थात् भगवत्कृपार्थ प्रार्थना करेंगे, 'प्रसङ्ग' पद का आशय है हरि कथा। वह हरि कथा सर्व लोग प्रायः सुनते हैं किन्तु जिनकी बुद्धि देव ने नष्ट करदी है वे उस कथा को सुनने से विमुख होते हैं, विमुखता के रूप बताते हैं, किसी स्थान पर लौकिक कथाएँ होती हों वहाँ बैठकर तो वे कथाएँ प्रेम से सुनते हैं। कदाचित प्रसङ्गवश उसमें भगवत्कथा आजाती है तो वे उठकर चले जाते हैं अथवा उनको नींद आने लगती है अथवा चित्त दूसरी बातों के परायण होता है, ऐसे जीवों की बुद्धि दैव ने नाश कर डाली है नहीं तो सर्व अशुभों को शान्तकर अपरिमित (अपार) आनन्द

देने वाली कथाओं से विमुख कैसे हों ? भगवत्कथा किन-किन अशुभों को नाश करती है उनका स्पष्ट वर्णन करते हैं जिन जीवों ने अन्य प्रसङ्ग मे जो भी बहुत पाप किये हैं उनके सर्व पाप भगवत्कथा श्रवण से नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म (पूर्वजन्मकृत दुष्कर्म) द्वारा जो अशुभ होने वाला है वह भो नहीं होता, अन्तःकरण में रही हुई अविद्या भी जैसे अग्निपुंज में आर्द्रकाष्ठ[1] वहाँ ही शुष्क[2] होकर भस्म हो जाता है वैसे ही अविद्या वहाँ ही लुप्त[3] हो जाती है।

'इन्द्रिय' पद से उनकी निर्दुष्टता प्रतिपादन की है अर्थात् सदोष होने से इन्द्रियाँ स्वभाव से भगवत्सम्मुख स्वतः नहीं होती है, इसीसे ये लोग प्रवाह में पतित होकर काम लोभ से व्याप्त हो रहे हैं। इसलिए काम द्वारा प्राप्त लेश सुख मात्र के अर्थ दीनवत् उलटे कर्म करते हैं।[4] पाँचों इन्द्रियों से भोगा हुआ काम सुखपूर्ण होता है। एक ही इन्द्रिय द्वारा प्राप्त काम सुख अपूर्ण, अल्प एवं क्षण-मात्र भोग्य है और उसमें कामिनी को प्रसन्न करने के लिए अनेक अर्थ करने पड़ते हैं, यदि कहो कि सुख भोग के लिए यों करना उचित नहीं है तो वह भी युक्त नहीं है क्योंकि उन कामियों को कामिनियों के आगे दीन बनना पड़ता है, दीनता से भोग में स्वतन्त्रता नहीं होती है जिससे उस समय भी हृदय में दुःख का अनुभव होता रहता है जिससे सुख पूर्वक भोग सिद्ध नहीं होता है। यों भोग न भी सिद्ध हो तोभी अभिमानिक भोग तो सिद्ध होगा ही। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'लोभाभिभूत-मनसः' वह अभिमानिक भोग भी दुःखप्रद होता है क्योंकि मन में लोभ व्याप्त है जिससे वह कामी मन में पश्चाताप कर दुःख का ही अनुभव करता है कि हाय ! इतने पैसे गमा दिये, सर्व व्यर्थ ही किया, अकुशल पद से यह जताया है कि जो कुछ सुख विद्यमान होता है वह भी नाश हो जाता है ॥ ७ ॥

आभास—तादृशेषु कृपां प्रार्थयितु स्वस्य दयामाह—

आभासार्थ—ऐसी जीवों पर कृपा हो इस प्रकार की प्रार्थना करने के लिये निम्न श्लोक में अपनी दया प्रकट करते है।

श्लोक—**क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च।**
कामाग्निनाऽच्युत ! रुषा च सुदुर्भरेण संपश्यतो मन उरुक्रम ! सीदते मे।८।

श्लोकार्थ—हे उरुक्रम ! प्रभो ! क्षुधा तृष्णा तथा वात, पित्त और कफ इन तीन धातुओं से दुःखो एवं परस्पर द्वेषादि से और कामाग्नि तथा असह्य क्रोध से पुनः पुनः पीड़ित प्रजा को देखने से ही मन दुःखी होता है ॥८॥

१–गीली लकड़ी २–सूख कर ३–अदृश्य, गायब ४–जैसे अजामिल ने किये थे–'प्रकाश'

सुबोधिनी—क्षुत्तृडिति। **इमाः** प्रजा अस्वतन्त्रा मत्सृज्यत्वेनोपस्थिताः, तासां स्वरूपं सम्यक् **पश्यतः हे उरुक्रम मे मनः सीदते**। परदुःखं दृष्टवा दुःखितं भवतीत्यर्थः। संबोधनेन तन्निवारणसामर्थ्यं सूचितम्। इयमेव प्रार्थना। द्वादशविधः पुरुषो द्वादशधा रोगैर्व्याप्तः, न केनाऽप्यंशेन सुखी भवति। तान् द्वादशदोषाननिवार्यानाह—क्ष**ुधादिपदैः**। क्षुत्तृषोरसह्यत्वं स्वानुभवसिद्धम्। **त्रिधातवो** वातपित्तश्लेष्माणः, तेऽपि तथा। **मुहुरर्द्यमाना इति** बहुधाकृतप्रतीकारा अपि। शीतादयोऽपि चत्वारस्तथा। अन्योन्यतोऽपि क्लेशः। इतरेतरादिशब्दा निपाताः, अतो नैकशेषः, नाऽपि सर्वनामता। चकारात् तत्संबन्धिशस्त्रादिभिरपि। कामस्याऽनलत्वेनाऽग्नित्वम्। अग्निना स्वरूपनाश एव भविष्यतीत्याशङ्क्य **अच्युतेति** संबोधनं स्वरूपरक्षार्थम्। **अच्युतो** रोष इति केचित्। न कदाचिदपि च्युतो भवति यो रोषः। **चकाराल्लोभा**दिभिः। **सुदुर्भरेणेति** क्षणमात्रमपि तत्सहनमशक्यम्, सर्वदा प्रतीकारश्चाऽशक्यः; अतो दुःखित्वम्। **सीदत इति** अर्थस्याऽलौकिकत्वादात्ममेपद छान्दसम् ॥८॥

व्याख्या—मुझसे उत्पन्न हुई ये प्रजाएं स्वतन्त्र नहीं हैं उनका स्वरूप जो मैं जानता हूँ वह बताता हूं सावधान हो के सुनो, हे उरुक्रम ! मेरा मन काँप रहा है दूसरों का दुःख देख दुःखी होता है। उरुक्रम सम्बोधन देने से यह सूचित किया है कि आपमें दुःख निवारण करने की सामर्थ्य है, यह भी प्रार्थना है। यह पुरुष (जीव) जैसे द्वादशविध है वैसे ही (उतने ही १२) रोगों से व्याप्त है किसी तरह से सुखी नहीं है। वे द्वादशदोष (रोग) अनिवार्य हैं (मेटे नहीं जा सकते) हैं वे दोष बताते हैं क्षुधा और तृष्णा दोनों असह्य हैं यह अनुभव सिद्ध है, तीन (वात, पित्त तथा कफ) धातुएं भी वैसी ही हैं। बहुत प्रकार से उपाय करने पर भी नष्ट नहीं होती हैं। शीत आदि चार दोष भी ऐसे ही है परस्पर एक दूसरे से क्लेश होता है। "इतरे तरादिशब्दा निपाताः" होने से यह एकशेष समास नही हैं और न उसकी सर्वनामता है और 'च' शब्द का आशय है एक दूसरे के शस्त्रों से पीड़ित भी होते हैं, काम तृप्त नहीं होता है इसलिए वह अग्नि रूप होने से सदैव जलता रहता है किन्तु 'अच्युता !' सम्बोधन से यह सूचित किया है कि शरीर भस्मीभूत होकर स्थित ही रहता है। कितनेक अच्युत का सम्बन्ध क्रोध से कर अर्थ करते हैं कि क्रोध की च्युति (नाश) नहीं होतो है। 'च' पद से बताया है कि लोभ से भी पीड़ा पाते हैं, इस प्रकार के ये द्वादशविध दुःख ऐसे हैं जो क्षण मात्र भी सहे नहीं जाते हैं और उसका उपाय भी असक्य है, अतः दुःखीपन है, 'सदिते' पद आत्मनेपद इसलिये दिया है कि अर्थ का अलौकिकत्व है ॥८॥

आभास—तर्हि ज्ञानोपदेशेन ताः प्रजाः कथं न कृतार्थाः क्रियन्ते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यदि यों है तो ऐसी प्रजाओं को ज्ञानोपदेश देकर क्यों नहीं कृतार्थ किया जाता है ? इसका उत्तर निम्न श्लोक से देते हैं।

**श्लोक—यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थमायाबलं भगवतो जन ईश ! पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत व्यर्थाऽपि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥९॥**

श्लोकार्थ—हे ईश ! जब तक भगवान् की इन्द्रियार्थ रूप माया के बल से आत्मा का पृथक्पन भासता है जिससे इस ब्रह्म रूप विश्व को 'इदम्' (यह) शब्द कहकर पृथकत्व प्रकट किया जाता है तब तक कर्ममूल दुःखों को देने वाला संसार प्रवाह व्यर्थ होते हुए भी नाश नहीं होता है ॥९॥

सुबोधिनी—यावदिति । यावदात्मनः पृथक्त्वं पश्येत्, तावदुपदिष्टेऽपि ज्ञाने संसृतिर्न प्रतिसंक्रमेत । **यावदित्यवधिरुक्तः** । मध्ये दुःखनिवृत्त्यर्थं प्रार्थना । आत्मनः पृथक्त्वं निरूपयति—**इदमिति** । यावदिदमिति मन्यते यत्किञ्चित् तावत् । पृथकत्वम् । अस्याऽवधिर्भगत्वसायुज्यमेव । ब्रह्मभावोऽपि स एव । अन्यस्तु पक्षो देहग्रहणाग्रहणाभ्यां सर्वथाऽनुपपन्नः । इदम आत्मभेदकत्वं निरूपयति—**इन्द्रियार्थमायाबलमिति** । भगवत इन्द्रियार्थरूपाया मायाया बलं यत्र । अन्तरोत्पन्नाः पदार्था मायिका एव, इन्द्रियाणामेवाऽर्थे निष्पादिताः । भगवत इवेन्द्रियाणि यदा लोकहितार्थं प्रवृत्तान्यहङ्कारेण, तदा भगवदाज्ञया भगवन्मायया स्वरूपभूताः पदार्था निष्पादिताः, अतो विशेषणमपि भगवदीयमिति सविशेषणे भगवत्संबन्ध उक्तः । सा ह्यधिष्ठानज्ञाने निवर्तते, परं तद्यथा न भवति, तथा बुद्धिशास्त्रादिव्यामोहेन महदेव बलं करोति । तस्या बलस्येदमेव निदर्शनम्—यदीदं प्रतीयते, तदाऽस्ति बलमिति । भगवदीयत्वात् भगवत्कृपयैव निवर्तत इति ज्ञापितम् । दर्शने हेतुः—**जन इति** । यदा जायते—शरीरं गृह्णाति—तदेदं पश्यतीति नियम एव । ननु किमिति जायते ? तत्राऽऽह—**ईशेति** । यदा भगवत ईशोऽहमितीच्छा, तदा ईशितव्यस्याऽपेक्षणात् जननामित्यर्थः । **संसृतिः** संसरणम्, बहुधा देहत्यागग्रहणे । **असाविति** परिदृश्यमाना । **प्रतिसंक्रमो** विपरीतप्रवाहः । स भगवत्सयुज्यं प्रापयिष्यति, **'अन्ने प्रलीयते मर्त्यः'** इत्यादिना । स तावन्न भवति । ननु संसृतेः किं मूलम्, किं वा प्रयोजनम्, कथं व न प्रतिसंक्रमते ? तत्राऽऽह—संसृतेः कर्म मूलम् । तदाह—**क्रियार्थेति** । **प्रयोजनम्**, तु नाऽस्त्येव । तदाह—**व्यर्थापीति** । विः कालः, स वा अर्थः । कालार्था संसृतिर्मध्ये दुःखनिवहं वहती दुःख प्रवाहसिध्यर्थमेव स्थिता कुत्रोऽपि न निवर्तते । अतो बीजप्रयोजनावान्तरप्रयोजनानां विद्यमानत्वात् कदापि न निवर्तत इत्यर्थः ॥९॥

व्याख्या—जब तक आत्मा को पृथक् देखा जाता है तब तक ज्ञानोपदेश देने पर भी संसार नष्ट नहीं होता है 'यावत्' पदसे संसार नाश की अवधी (हद) बताई है । परन्तु जब तक वह अवधि का समय आवे तब तक जो दुःख प्राप्ति होती है उसके निवृत्यर्थ मध्य में प्रार्थना की है, आत्मासे पृथकत्व का निरूपण 'इदम्' पद से दिखाते हैं, जब तक आत्मा न कहकर 'यह' पद से

जोकुछ अन्य है समझा जाता है तब तक पृथकत्व (द्वैत) है, इस पृथकत्व (द्वैत) की अवधी (हद) भगवत्सायुज्य ही है ब्रह्मभाव भी वही है, अन्यपक्ष[1] जो यों मानता है कि देह का त्याग और ग्रहण ही पृथकत्व (संसार) का सिद्धान्त अवधी है वह आयुक्त[2] है । 'इदम' कह करही आत्मासे भेद निरूपण किया जाता है कैसे ? इस पर कहते हैं 'इन्द्रियार्थ मायाबल' यों भेद करने में भगवान् के इन्द्रियार्थरूप माया का बल है, भगवान् की तरह जब इन्द्रियाँ अहङ्कार से लोकहितार्थ प्रवृत्ति करने लगी तब भगवदाज्ञा से भगवान् की माया से स्वरूपभूत पदार्थ उत्पन्न हुए, अतः विशेषण भी भगवदीय हैं; जिससे भगवत्सम्बन्ध कहे है। वह माया तब निवृत्त होती है जब अधिष्ठान का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। किन्तु वह (अधिष्ठान का ज्ञान) जैसे नहीं हो वैसे वह माया बुद्धि-शास्त्र (तर्कों से) दिये उस पर अपना कठोर बल चलाती है, उसके बल का यह ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि 'इदम' की प्रतीति हो रही है। जब तक वह प्रतीति है तब तक माया का बल है यों समक्षना चाहिये। इस माया का भगवत्सम्बन्ध है अतः यह भगवत्कृपा होने पर ही मिटती है अर्थात् भगवत्कृपा होने पर ही इसका बल हट जाता है।

इस प्रकार की दृष्टि होने में कारण बताते हैं कि यह देखने वाला जन है 'जायते इतिजन' जो जन्म लेता है अर्थात् देह धारण करता है वह जन है, जो जब शरीर ग्रहण करता है तब यह (दृश्यमान् जगत्) ही देखता है यह नियम ही है। इस प्रकार किसलिये वा क्यों उत्पन्न होता है ? इस शङ्का की निवृत्ति करने के लिये कहा है कि ईश, जब भगवान् की स्फूर्ति हुई कि मैं ईश हूँ तब उस ईशपन की ईशव्यता कला सिद्ध करने के लिये शासन पदार्थों की आवश्यकता देख उत्पन्न किये। यह दृश्यमान संसार रचा अर्थात् देह लेना फिर उसका त्याग यों बार बार करने वाला विश्व (नाटक) रचा, फिर उसका प्रवाह जब विपरीत होता है तब वह भगवत्सायुज्य को प्राप्त कराएगा (करता है) जैसे 'अन्ने प्रलीयते मत्स्यः' इस श्रुति में कहा है जब तक पृथकत्व दीखता है तब तक संसार नष्ट नहीं होता है, संसार की जड़ क्या है ? और वह रुकता क्यों नहीं ? इन प्रश्नों के उत्तर में कहते हैं कि 'संसृते कर्ममूलम' संसार की जड़ 'कर्म' है। इसका प्रयोजन तो कोई नहीं है किन्तु काल के अर्थ हो संसार होने से मध्य में दुःखों को देने वाला है अर्थात् दुःखों

१—जीव एक ही है, जो यों मानते हैं, उस पक्ष में पृथकत्व की अवधि ग्रहण और त्याग ही है फिर आप सायुज्य को ही कैसे कहते हो ? वह यहां सर्वथा अयुक्त है।

२—जीव एक ही है। यह मत श्रुति तथा सूत्र विरुद्ध है तथा प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है क्योंकि जीव जब देह से निकलता है तब वह देह निकम्मी हो जाती है किन्तु अन्य देह से सर्व क्रिया करती रहती हैं अतः जीव एक ही है यह सिद्धांत असत्य है।

के प्रवाह को सिद्ध करने के लिये ही स्थित है कैसे भी इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः बीज प्रयोजन (कर्म) तथा अन्य अवान्तर प्रयोजनों के विद्यमान होने से कभी भी (बिना भगवत्सायुज्य हुए निवृत्त नहीं होता है ॥९॥

आभास—ननु ब्रह्मात्मभावेऽधिकारिणो गुरुकृपया, वाक्यसहकृतमनसा भाते, कथमिदं न निवर्तते? सर्वत्रैवाऽहंबुद्धेर्गतत्वात्, 'आत्मैवेदं सर्वम् ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इति। तत्राऽऽह—

आभासार्थ—अधिकारी को गुरु कृपा से वाक्य के साथ सहकार वाले मन में आत्मा (जीव) ब्रह्म का ही रूपान्तर है ऐसा भान हो जाने पर यह संसार क्यों नहीं दूर होगा (होता है क्योंकि उस अधिकारी की सर्वत्र अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है। वह समझता है कि यह सर्व आत्मा ही है' 'यह सर्व ब्रह्म है' इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहा है।

श्लोक—**अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।**
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव ! युष्मत्प्रसादविमुखा इह संसरन्ति।१०।

श्लोकार्थ—पूर्व जन्म के ब्रह्मभाव चिन्तनपरायण ऋषि भी यदि भगवत्कृपा से विमुख होते हैं तो वे भी इस संसार में ही भटकते रहते हैं। कैसे भटकते हैं ? वह वर्णन करते हैं दिन के समय में लौकिक कार्यों में इन्द्रियों को व्याप्त करने से वे अति दुःखीं होते हैं और रात्रि में उनको अच्छी तरह नींद भी नहीं आती है क्योंकि मन में अनेक मनोरथ करते हैं जिससे क्षण-क्षण में नींद खुल जाती है, दैव ने उनके अर्थ की रचना भी तोड़ डाली है ॥१०॥

सुबोधिनी—**अह्न्यापृतार्तकरणा इति**। ये पूर्वजन्मनि **ऋषयो** ब्रह्मात्मभावचिन्तनपराः-तथाचिन्तनेनैव प्राप्तदेहावसानाः-तेऽपि युष्मत्प्रसादविमुखा इहैव संसरन्ति। संसारेऽपि तेषां विशेषः-**अह्नि** दिवसे **आपृतानि** व्यापृतानि, अत **एवाऽऽर्तानि** करणानीन्द्रियाणि येषाम्। **निशि** रात्रौ च नितरां शयाना महामोहग्रस्ता भवन्ति। एवं व्यर्थकालाः। निद्रया जनितमानुषङ्गिकं सुखमपि नास्तीत्याह-**क्षणभग्ननिद्रा इति**। क्षणमात्रेणैव भग्ना निद्रा येषाम्। भङ्गे हेतुः-**नानामनोरथधियेति**। नाना मनोरथविषयिणी या बुद्धिः मनोरथानुसारेण स्वप्नं पश्यति, तस्मिन् स्वप्ने भयादिदर्शनाद्दिष्टवियोगाद्वा स्वाप्निकस्याऽस्थिरत्वात् व्याकुलस्य निद्राभङ्गः स्पष्टः। दैवेनैव आहता अर्थरचना येषाम्, तेषां क्रियाऽपि व्यर्थेति सूचितम्। यदि ते भोगार्थं गृहादिकमपि कुर्वन्ति, तदपि कालेन व्यर्थं नश्यतीत्यर्थः। ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। भगवांस्तादृशेभ्यः प्रसन्नो

भूत्वा, सत्यादिलोकेष्विह वा, किञ्चित्प्रसादं प्रयच्छति, स्वोक्तनिवृत्तिमार्गकरणात् । तदा नेदमस्माकमपेक्षितमिति यदि ततो विमुखाः, तदेह संसरन्ति । ते हि बाला वाक्यार्थमेव विचारयन्ति, न तस्योपपत्त्यादिकम्, कथमस्य जीवस्य ब्रह्मभावो भवतीति । वाक्यानाँ तात्पर्याज्ञानात् । अत्र ब्रह्माण्डे तेषामानन्दांशः प्रकटो न भवत्येव, सर्वार्थे मायाजवनिकायाः प्रसारितत्वात् । तथा भगवत्सायुज्यमपि भगवत्प्राकट्याभावात् ज्ञानमार्गस्य भगवतो वश्यत्वापापकत्वाभावात् । याऽपि सद्योमुक्तिरुक्ता, **इहैव समवनीयन्ते प्राणाः' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति'** । तदपि स्वतन्त्रभक्त्या भगवत्सायुज्ये । अत एव वेदव्यासः सकलवेदार्थाभिज्ञो ज्ञानफलत्वेन सद्योमुक्तिं नोक्तवान्, किन्तु ब्रह्मविदोऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोके स्थितिरेव फलत्वेनोक्ता, अपुनरावृत्तिश्च । तदेव फलं भगवद्दत्तम् । तदनङ्गीकारे मनसा योगेन वा संसृतिरेव भवति, अतो ब्रह्मभावनायामपि न संसारनिवृत्ति। ।।१०।।

व्याख्या—जो पूर्व जन्म में ब्रह्मभाव चिन्तन परायण ऋषि थे, उस चिन्ता के कारण ही उनको यह अन्तिम जन्म प्राप्त हुआ है, किन्तु यदि वे इस अन्तिम जन्म में भी, हे भगवन् ! आपकी कृपा से विमुख है तो यहां ही (संसार में) भटकते रहते हैं. संसार में भी उनके भीतर विशेष गुण (दोष) उत्पन्न हो जाते है, जैसे कि दिन के समय में लौकिक कार्यों में इन्द्रियों को लगाने से अति (दुःखी) रहते हैं। रात्रि को सोने के समय महामोह में मग्न रहते है, इस तरह उनका काल व्यर्थ जाता है । निद्रा से जो प्रासङ्गिक सुख प्राप्त होता है वह भो उनको नहीं मिलता है, क्योंकि मनोरथों के विचारों से क्षण-क्षण में निद्रा टूट जाती है कारण कि अनेक मनोरथों वाली बुद्धि रात्रि को नींद में मनोरथानुसार ही स्वप्न देखती है, उस स्वप्न में कभी भय आदि देने वाली घटना होती है, कभी प्रिय का वियोग देखने में आता है । स्वप्न पदार्थ स्थिर नहीं होने से उस समय व्याकुलता होती है, जिससे निद्राभङ्ग होती है अर्थात् निद्रा टूट जाती है । विपरीत दैव उसकी अर्थ योजना भी नष्ट कर देती है । इसी से उनकी क्रिया भी व्यर्थ होती है । यह सूचित किया यदि सुखभोगादि के लिये घर बनाते हैं तो वह भी स्वल्प थोड़े समय में ही यों ही नाश हो जाता है । 'ऋषयों मन्त्रद्रष्टारः' जो मन्त्र दिया है वे ऋषिक हो जाते हैं । उन पर भगवान् प्रसन्न होकर सत्य आदि लोकों में वा इस लोक में ही कुछ कृपा करनी चाहते हैं । क्योंकि प्रभु देखते है कि ये मेरे कहे हुए निवृत्ति मार्ग के आचरण करने वाले थे इस समय वे भगवान् के दिये हुए को ग्रहण नहीं करते हैं अतः भगवद विमुख होने से संसार में ही भटकते रहते हैं । वास्तव में वे बालक ही हैं शब्दों के अर्थ का विचार करते हैं । उनके भाव व उपपत्ति का विचार नहीं करते हैं कि इस जीव को ब्रह्मभाव कैसे प्राप्त होगा ? वाक्य के तात्पर्य का उनको ज्ञान नहीं है । इस ब्रह्माण्ड के भीतर उनमें आनन्दांश प्रकट नहीं होता है कारण कि सर्व पदार्थों पर भगवान् ने माया का पर्दा डाल दिया है, वैसे भगवत्सायुज्य भी उनको नहीं प्राप्त होता है । कारण कि ज्ञान

में यह शक्ति नहीं है जो भगवान् को वश कर सके अतः ज्ञान मार्ग द्वारा भगवत् प्राकट्य भी नहीं हो सकता है तो फिर सायुज्य प्रप्ति कैसे हो ? 'इहैव समवनीयन्ते प्राणाः' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति' इन श्रुत्यनुसार जो सद्योमुक्ति कही गई है वह भी तब प्राप्त होती है जब स्वतन्त्रभक्ति से भगवत्सायुज्य अधिकारी जीव होता है, इस कारण से ही सकल वेदों के अर्थ का ज्ञाता व्यास देव ने ज्ञान फल 'सद्योमुक्ति' नहीं कही है, किन्तु ब्रह्म वेत्ता की अचिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में स्थिति होना फल कहा है पुनः आवृत्ति का निषेध किया है। वह फल भी भगवान् के प्रसन्न होने से मिला समझना चाहिये। यदि यों न माना जायेगा तो मन से वा अन्य के योग से संसार ही होता है अतः ब्रह्मभावना होते हुए बिना भगवत्कृपा के संसार की निवृत्ति नहीं होती है ॥१०॥

आभास—नन्वेवं सति भक्तानामपि संसारो न निवर्तेत; उत्तमानामपि विष्णुलोकप्राप्तिः, कृत्रिमवैकुण्ठगमनं वाभवेत्; मायाजवनिकायाः सिद्धत्वात्। योगेन ब्रह्माण्डभेदस्तु (?) फलप्रकारोऽयं निरूपितः, न तु तत्राधिकारी कश्चित्संभवति। ब्रह्मणा सह तु ब्रह्माण्डनाशे। तस्मान्मुख्यभक्तिमार्गोऽपि न शीघ्रं पुरुषार्थसाधक इत्यतशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—यदि यों होवे तो भक्तों का भी संसार नाश नहीं होगा उत्तमों को भी विष्णुलोक की प्राप्ति वा कृत्रिम वैकुण्ठ में जाना होगा, क्योंकि माया का पड़दा लगा हुआ ही है। योग से ब्रह्माण्ड भेद होता है। यह केवल फल का प्रकार दिखाया है उसके लिये कोई अधिकार नहीं उत्पन्न होता है। ब्रह्मा के साथ के समग्र ब्रह्माण्ड नाश होते हैं। जब फल प्राप्त हुआ तो भक्ति मार्ग मुख्य शीघ्र फल दाता है यों कहना युक्त नहीं है। ऐसी शङ्का होने पर उत्तर में निम्न श्लोक कहा है।

श्लोक—त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ! पुंसाम्
यद्यद्धिया त उरुगाय ! विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।११।

श्लोकार्थ—हे नाथ ! जिन जीवों ने श्रवणेन्द्रिय द्वारा आपके मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर लिया है उनके हृदय कमल में ही आप विराजते हैं। हे उरुक्रम भगवन् ! आप प्रेमी भक्त जब जिस-जिस बुद्धि से जैसे रूप के दर्शन की इच्छा करते हैं, तब विशेष प्रकार का अनुग्रह करने के लिए वैसे स्वरूप से प्रकट हो उनको दर्शन देते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—त्वं भावयोगेति। भावः प्रेमलक्षणा भक्तिः, रतिर्देवादिविषयिणी भावः, इति समुदायार्थत्वात्। प्रीतिस्तु माहात्म्यज्ञानादेव। स एव **योगो** विहित उपायरूपो भवति।

अन्यस्त्वनुपायः कामादिना जातः। तत्र प्रमेयबलमिति वक्ष्यते। प्रमाणबले त्वेषैव व्यवस्था; अतो भवयोगेन परिभावितं परितः शोधितम्—भगवद्विषयकमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो यदि हृदये सहजो धर्मो भवति, तदा तद्धृदयं सरोजं भवति। प्रेमजले तदेवोद्गतं भवदासनौपयिकं कमलं भवति। तस्य च निदर्शनम्, यदि वैषयिकाः केऽपि न स्फुरन्ति। तदपि चेत्प्रेम्णा पूर्ववत्पुनर्भावितं भवति, तदा भगवांस्तत्र तिष्ठति। **श्रुतेन** गुणश्रवणेन, श्रवणसहितेन्द्रियेण वा, ईक्षितो मार्गो येन। यदैव श्रवणं रिक्तं भविष्यति, तदा भगवता निर्गमनार्थं मार्गो दृष्ट एव **नन्विति** कोमलंसम्बोधनं निश्चयार्थम्। **नाथेति** युक्तिः। भगवांस्तेषां प्रति, स तु भार्यागृहे तिष्ठत्येव। परमेतावा विशेषः, पुंसामयं पतिः। ननु तेषां ब्रह्मसायुज्ये आक्षिप्ते, हृदये भगवत्स्थितिः कुत्रोपयुज्यते? तत्राऽऽह—**यद्यद्धियेति**। **हे उरुगाय,** उरुभिर्गीयत इत्यनेकप्रकारेण निरूपितानन्तमूर्ते! ते तव **यद्यद्वपुं भक्ता विभावयन्ति, तत्तद्वपुर्ब्रह्म**रूपम्, वैकुण्ठरूपम्, अवताररूपं वा; तदेव प्रकटीकरोषि। तत्र हेतुः—**सदनुग्रहायेति**। संश्चासावनुग्रहश्च। ज्ञानिष्वनुग्रहमात्रम्, अत्र सन्ननुग्रहोऽबाधितोऽनुग्रहः तदाऽत्रैव भगवति सायुज्यादिकं सर्वमेवोपपद्यते भक्तेच्छानुसारेण ॥११॥

व्याख्या देवादि में जो प्रेम (रति) है उसे **भाव** कहते हैं अर्थात् भगवान् में प्रेम लक्षणा भक्ति भाव' है वह प्रीति (प्रेम) तो भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से उत्पन्न होती है, वह प्रेम ही भगवान् से सम्बन्ध कराता है। इसलिए वह प्रेम ही भवागन् से मिलने का सत्य उपाय है, कामादि से उत्पन्न योग उपाय नहीं है किन्तु वहाँ भगवान् का प्रमेय बल ही साधन (उपाय) बनता है, प्रमाण मार्ग में तो यह हो व्यवस्था है, अतः प्रेम योग से शुद्ध किया हुआ, भगवद्विषयक माहात्म्य ज्ञान पूर्वक स्नेह यदि हृदय में स्वाभाविक धर्म बन जाता है तब वह भक्त हृदय कमल रूप हो जाता है। जिसका प्रमाण यह है कि उस हृदय में किसी प्रकार की विषय वासना का स्फुरण भी नहीं होता है। ऐसी दशा में भी यदि चित्त को पूर्व की तरह प्रेम से फिर शुद्ध किया जाता है तब भगवान् उसमें विराजते हैं - भगवदगुणानुवाद श्रवण से जिसने मार्ग देख लिया (जानलिया) है, जब श्रवण (कान) भगवद्गुणानुवाद से रिक्त (खाली) होंगे तो भगवान् ने निकलकर बाहर जाने का मार्ग देख ही लिया है। 'ननु' पद निश्चयार्थ कोमल सम्बोधनवत् दिया है, हे नाथ! यह पद युक्ति के लिये दिया है अर्थात् यह नाथ है इनका (भक्तों का) भगवान् ही पति है, जिससे वह भार्या स्त्री) के गृह में विराजते ही हैं। किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि यह (भगवान्) पुरुषों (जीवों) का पति है।

भगवत्सायुज्य होने पर हृदय में भगवत् स्थिति कैसे रहेगो? जिसके उत्तर में श्लोक का उत्तरार्ध कहा है—हे उरुगाय! बहुतों से बहुत प्रकार से गाये हुए अनन्त मूर्ति भगवन्! आपके जिस-जिस रूप के दर्शन की भक्तभावना करते हैं वह, वह रूप वैकुण्ठ रूप वा अवतार रूप

आदि प्रकट करते हो, कारण कि आप भक्तों पर ही उत्तम विशेष अनुग्रह से भक्तजन यहाँ ही अपनी इच्छानुसार भगवान् में सायुज्यादि जो चाहते हैं वे पाते हैं ।।११।।

आभास--एवं ज्ञान भक्तिमार्गौ निरूप्य साधननिरूपणे भक्तिसाधनापेक्षया ज्ञानमार्गसाधनं भगवत्तोषहेतुरुत्तममित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञान तथा भक्ति मार्ग का निरूपण कर अब साधन निरूपण करते हुए इस श्लोक में बताते हैं कि भक्ति मार्ग के साधनों की अपेक्षा ज्ञान मार्ग का साधन (सर्व भूतों पर दया करनी) भगवान् के प्रसन्न करने का उत्तम हेतु है—

श्लोक—**नाऽतिप्रसीदति तथोपचितोपचारैराराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदयया सदलभ्ययैको नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ।।१२।।**

श्लोकार्थ--जो दया दुष्टों के हृदय में उत्पन्न ही नहीं होती ऐसी सर्वभूत-दयासे प्रभु अतिशय प्रसन्न होते हैं. किन्तु जिन देवों ने हृदय में अनेक कामनाऐं धारण कर बहुत बड़े-बड़े उपचारों से भगवान् की पूजा की है, उस पूजा से वे प्रसन्न नहीं होते हैं । कारण कि भगवान् पृथक् सर्व जीवों के हृदय में उनके सुहृद एवं अन्तारात्मा बन के सावधान रहते हैं ।।१२।।

सुबोधिनी--**नाऽतिप्रसीदतीति**। साधनभक्तौ देवा मुख्ययाधिकारिणः, दिव्यानि च पुष्पादीनि साधनानि, तैर्न प्रसीदति। प्रसन्नोऽपि तेभ्यः कमितं फलं प्रयच्छन्नपि, अत्यन्तं न प्रसीदति। तत्र हेतुः—**हृदि बद्धकामैरिति** । प्रसादस्तु, यदि भगवांस्तद्धृदये समागत्य तिष्ठति, तांश्च स्वकीयान् मन्यते, तदा भवति। तत्र तैर्हृदये भगवत्स्थाने काम एव बलाद्बद्धो वर्त्तते। सहजश्चेत्कामो भवेदन्ततो भगवानपि दूरीकुर्यात्। स च बद्धः कामः कस्य चिन्नाशं कृत्वा निवर्त्तते, बद्धो हि स्वकीय सर्वस्व प्रयच्छति। अतो दैत्यानां वधेच्छया पूजितो भगवान् दैत्यवधं कृत्वाऽपि न प्रसन्नो भवति। तत्र हेतुः- **नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मेति**। तर्हि केन प्रसदितीत्याशङ्कयाऽऽह- **यत्सर्वभूतदययेति** । यद्यथा सर्वभूतदयया भगवान् परितुष्यति । सर्वभूतेषु साधारणी दया, न तु विशिष्टा; अशक्यत्वात् स्वचिते तेषां हितभावनम्, भगवत्कृपाप्रार्थना, अयिषिद्धो वा दैहिकः; यदेवैकं कार्यं सर्वेषामेव हितं भवति तद्भगवत्तोषहेतुः । तर्हि सर्वे तदेव कथं न कुर्वन्ति, सुलभत्वाच्चेत्याशङ्कयाऽऽह— **असदलभ्ययेति** । इयं सर्वभूतदया असतामलभ्यैव, न कदाचिदपि तेषां हृदये दयोत्पद्यत इत्यर्थः । एतदेवाऽसल्लक्षणम् । उभयत्र हेतुत्रयम् । यतोऽयं भगवान् **नानाजनेषु** सात्त्विकादिनानाभेदभिन्नेषु **अवहितः** सावधानो भूत्वा तत्र स्थितः । स

भगवांश्चेत् **क्वचिदेव** तिष्ठेत्तदा क्वचित्पूजया संतुष्टो भवेत् **क्वचिद**पराधे क्वचित्पूजायां तु **न** संतुष्यति । नहि **पादे** ताडितः शिरसि पूजितस्तुष्यति । **किञ्च**, अयं सर्वेषां सुहृत्, अतः क्वचिदपराधेऽपि **न** संतुष्यति । किञ्च, **अन्तरात्मा** चाऽयम् । अन्तःकरणकृतैरेव पूजासाधनैः संतुष्यति, न बहिःकरणैः । अतो येनैव प्रकारेण भगवान् परितुष्यति, तदेव साधनम्; अन्यत्तु परम्परया । अपरितोषहेतुस्त्वसाधनमेवेति निश्चयः ॥१२॥

व्याख्या—साधन भक्ति करने के मुख्य अधिकारी देव हैं। उनकी पूजा के साधन भी दिव्य पुष्प हैं। उनमें **प्रभु** प्रसन्न नहीं होते हैं। साधारण रूप में प्रसन्न हो के भी तथा उनका काम्य फल देते हुए भी अत्यन्त प्रसन्न नहीं होता है, क्यों अतिशय प्रसन्न नहीं होते हैं? जिसका कारण बताते हैं कि '**हृदि बद्ध** कामैः' उन्होंने अपने हृदय में कामनाओं को बांधकर रख छोड़ा है। भगवान् हृदय में तब पधारते हैं जब उन (भगवान्) को अपना समझते हैं। इन्होंने तो भगवान् से विशेष को अपना समझ उनको भगवान् के विराजने के स्थान हृदय पर दृढ़ स्थान दे दिया है। यदि हृदय में कामनाओं को साधारण रीति से स्थान दिया होता तो उनको भगवान् दूर भी कर देवें, किन्तु ये कामनाएं जो दृढ़ मूल हो के किसका नाश कर निवृत्त होती है जो बद्ध होता है वह निश्चय से अपना स्वकीय दे देता है। अतः दैत्यों का वध करने के लिए पूजे गए भगवान् दैत्यों का तो वध कर इनकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं, किन्तु इन पर प्रसन्न नहीं होते है। जिसका कारण बताते हैं कि 'नानाज ने ह्यवहितः सुहृदन्तरात्मेति भगवान् सर्व प्रकार के जीव में उनको सुहृत एवं अन्तरात्मा होकर सावधानता से विराजते है। इस लिये जो अपने हितार्थ दूसरो को दुःख देते हैं,सब में समबुद्धि रख दया नहीं करते हैं, उन पर प्रभु विशेष प्रसन्न होकर कृपा नहीं करते हैं, जैसे देवों पर। तब भगवान् क्या करने से प्रसन्न हो कृपा करते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि सर्वभूतों पर दया करने से ही जैसे विशेष प्रसन्न होते हैं वैसे उस बाहर की पूजा से प्रसन्न नहीं होते हैं। सर्वभूतों पर प्रत्येक को साधारण दया तो करनी चाहिये, क्योंकि जीव के लिये विशेष दया करना अशक्य है। वह दया कैसे करनी वह उपाय बताते है कि अपने चित्त में उन (भूतमात्र) के हित की भावना करनी और उनके लिये भगवान् की प्रार्थना करनी कि हे प्रभु दयानिधे ! इन भूतों पर कृपा कीजिये, जिसका शास्त्र में निषेध न हो। इस प्रकार देह सम्बन्ध रखता, भगवान् को प्रसन्न करने का कारण एक ही वह है, जिस एक से सबका हित होता हो। वह है दया यदि इतना सरल उपाय है तो, सब दया क्यों नहीं करते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि सरल होते हुए भो आसुरी जीवों के हृदय में दया कभी भी उत्पन्न नहीं होती है—इसके तीन हेतु हैं जिस कारण से यह भगवान् सात्विक आदि समस्त जनों में जब सावधान होकर विराजते हैं तब सर्व का हित समान ही चाहते हैं। यदि कहीं हों, कहीं न हों तो जहाँ पूजा होती हो वहाँ प्रसन्न हो जाते, किन्तु सर्वत्र सावधान विराजने से कहीं पूजा और कहीं अपराध हो तो प्रसन्न नहीं

होते है। लोक में भी जिसको पेर पर चोट लगाकर सिर में पूजन किया जाय तो वह प्रसन्न नहीं होता है—वैसे हो प्रभु सर्वत्र विराजते हैं एवं सब प्रभु के ही शरीर हैं अतः किसी को सुख किसी को दुःख देने वाले पर कभी भी प्रभु प्रसन्न नहीं होते हैं कारण कि सर्व के सुहृत हैं—इसलिये क्वाचित् (कोई थोड़ा) अपराध करने पर भी प्रसन्न नहीं होते हैं, किन्तु आप सब की अन्तरात्मा है। अतः अन्तः करण से किये पूजा के साधनों से प्रसन्न होते हैं, न कि बाहर के दिखावटी साधनों से प्रसन्न होते हैं अतः जिस प्रकार से भगवान् प्रसन्न होते हैं वह ही साधन है–दूसरे तो परम्परा से रूढ़िगत साधन हैं जिनसे भगवान् वास्तव में प्रसन्न नहीं होते हैं यह निश्चय है ॥१२॥

आभास—एतदेव वदन् पूर्वोक्तनिरूपणमुपसंहरति—

आभासार्थ—इस ही आशय को कहते हुए पूर्व कहे हुए निर्णय का उपसंहार निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यैर्दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।**
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्म्रियते न यत्र॥१३॥

श्लोकार्थ—अतः पुरुष जो यज्ञ, दान, उग्रतपस्या और व्रतचर्या से आपका (भगवान् का) आराधन करते हैं। यह ही क्रिया (कर्म) का सदर्थ है (सच्चा आशय है) क्योंकि वह सर्व आपको ही वहां अर्पण किया जाता है जिससे वह धर्म (आराधना) कभी भी नाश नहीं होता है ॥१३॥

सुबोधिनी—**पुंसामिति**। **अतो** हेतोः **पुंसा** मयमेव **सत्क्रियार्थो**, **यद्भगवतस्तवाराधनम्**। **विविधकर्मभि**र्लौकिकैर्वैदिकैः; **अध्वराद्यै**र्यागपूर्त्तादिभिः देवताप्रीतिहेतूनि निरूपितानि। **दानेनेति** मनुष्यप्रीतिहेतुः; **उग्रतपः** स्वस्यैव प्रीतिहेतुर्देहस्य वा; **व्रतचर्या** अन्तःकरणस्य। एवं लौकिकालौकिकभेदेन सर्वाण्येव कर्माणि तवाराधनरूपाणि, तद्धेतवो वा भवन्ति, तदा **सत्क्रियार्थो** भवति, विहितक्रियाणां फलरूप भवति। ननु धर्मः स्वतन्त्रं फलम्; पुरुषार्थत्वात्, अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वाद्वा। तत्कथमुच्यते सर्वैर्भगवदाराधनं चेत्तदा फलमिति। तत्राऽऽह-**धर्मोऽर्पित इति**। **यत्र** भगवत्यर्पितः समर्पितो **धर्मः**, कदा चिदपि **न म्रियते** न विदीर्णो भवति। फलार्थं कृतो धर्मः, स्वतन्त्रो वा। '**धर्मः क्षरति कीर्तनात्**' **हन्ति पुण्यं पुराकृतम्**' '**अब्दपुण्यं विनश्यति**' इत्यादिवाक्यैस्तस्य नाशः श्रूयते। तेन चेद्भगवानाराधितो भवति, तदा भगवत्कार्ये निरूपितो भगवत्संबन्धेन नित्यतां प्राप्तोऽक्षयफलदानार्थे तस्यापेक्षितत्वात् कदापि न म्रियते ॥१३॥

व्याख्या—आप (भगवान्) का आराधन ही मनुष्यों के सत्कर्म का अर्थ (फल) है वह आराधन लौकिक, वैदिक दोनों प्रकार से किया हुआ हो। यज्ञ, कूप आदि बनवाने, ये कर्म देवों को प्रसन्न करने वाले हैं, 'दान' कर्म मनुष्यों को प्रसन्न करने वाले हैं. 'उग्र तपस्या' कर्म अपने एवं देह की प्रसन्नता करने वाला है, 'व्रतचर्या' व्रत करने से अन्तःकरण को प्रसन्नता (शुद्धि) होती है। इसी तरह लौकिक, अलौकिक भेद से सर्व कर्म आप (भगवान्) की आराधना के रूप हैं अथवा उनके हेतुरूप हैं – यों ये सत् क्रिया के मूल रूप होते हैं। धर्म तो पुरुषार्थ होने से स्वतन्त्र फल रूप है अथवा अभ्युदय एवं निःश्रेयस का हेतु होने से यों है, तो फिर कैसे कहते हो कि सर्व को भगवदाराधना ही फल देने वाली है ? इसका उत्तर देते हैं कि यह सर्व प्रकार का आराधन प्रभु को अर्पण किया जाने से धर्म है और वह भी ऐसा धर्म बन जाता है जो कदापि नाश नहीं होता है। यदि धर्म, फल के लिये, वा स्वतन्त्र किया हुआ हो तो, वह धर्म कीर्तन से अर्थात् धर्म अन्यों को बताने से नाश होता है। ढोंग किया हुआ पुण्य भी नाश हो जाता है। धर्म को किये हुए वर्ष हो जावे तो गृह भी नाश होता है; किन्तु नाश क्यों होता है इसलिए कि वह भगवदर्पण नहीं किया गया है—भगवदर्पित होने से उस धर्म का भगवान् से सम्बन्ध हो जाता है जिससे अक्षय फलवान होके नाश नहीं होता है। १३॥

आभास—एवं सर्वशास्त्रार्थं निरूप्य भगवन्तं नमस्यति षड्भिः—

आभासार्थ—इस प्रकार शास्त्रों का सकल अर्थ निरूपण कर अब निम्न ६ श्लोकों से भगवान् को प्रणाम करते हैं—

श्लोक—**शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेदमोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै।**
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीलारासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय॥१४॥

श्लोकार्थ—जिस प्रभु ने निरन्तर अपने स्वरूप के तेज से भेद और मोहान्धकार को नाश कर डाले हैं, जो प्रभुज्ञान बुद्धिवाले हैं एवं विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय की निमित रूप लीला ही जिसकी रास (क्रीड़ा) है, ऐसे आप प्रभु को नमस्कार है कारण कि आप ही नियामक पर उत्तम स्वरूप हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—शश्वदिति। भगवतो नमस्यरूपाणिषट् भवन्ति, अस्मात् ब्रह्मणः पूर्वतराणि। तत्रैतदेवैकं रूपम्, शेषशायी नारायणः, पुरुषो द्वितीयः, सर्वतत्त्वसहितः प्रकृतिभर्ता पुरुषस्तृतीयः, कालश्चतुर्थः, यज्ञः पञ्चमः, पुरुषोत्तमः षष्ठः। तत्रैतध्दृदये परिदृश्यमानं तदावश्यकधर्मकीर्तनेन नमस्यति। कदाचिदिदं शयानं रूपं मोहात्मकं भवेदित्याशङ्क्य, तस्य मोहाद्यभावं निरूपयति।

अथवैतदक्षररूपम् । इयानं तु श्लोकद्वयेनाऽग्रे वक्ष्यति । शश्वत्सर्वदा **स्वरूपमहसैव** निरन्तरं स्फुरता स्वप्रकाशेनैव नितरां पितौ भेदमोहौ येन । द्वयमेव जीवत्वसाधकम्, भेदो मोहश्च । भिन्नश्च जीवो भवति, मुग्धश्च । अतो जीव-वैलक्षण्यं दोषाभावेन । गुणेन वैलक्षण्यमाह— **बोधधिषणायेति** । बोध एव धिषणा बुद्धिर्यस्य । जीवानां तु जडरूपा बुद्धिः । अत एव **परस्मै** सर्वनियामकाय । नियामकत्वमत्र नमने हेतुः । एवं स्वरूपमुक्त्वा कार्यमाह—विश्वस्य उद्भव-स्थितिलयेषु निमित्तायमाना या लीला, तया **रासः** क्रीडा यस्य; तस्यां वा रससमूहो यस्य । सोऽक्षरात्मको भवानेव नाऽन्य इति वदन् नमस्यति —**ते इदं नमश्चक्रमेति** । नमस्कारं साष्टाङ्गं कुर्वन्निदमा निर्दिशति—**इदमिति** । **चक्रमेति** स्वान्तर्गतैः सर्वैरेव जीवैः सहितो नमस्करोमीति ज्ञापयति । शिक्षार्थं चैतन्नमनमिति ज्ञापयितु-माह—**ईश्वरायेति** । स एव सर्वसमर्थः, अन्यथा तत्कृपाव्यतिरेकेण जीवस्तत्कार्यं कथं कर्यात् ? ॥१४॥

व्याख्या—भगवान् के नमनीय रूप ६ हैं जो ब्रह्मा (चतुर्मुख वाले) से पहले के हैं, उनको पृथक् पृथक् गिनकर दिखाते हैं—'(१) शेषशायी नारायण, (२) पुरुष, (३) सर्व तत्व सहित जो प्रकृति है उसका पति पुरुष, (४) कालरूप, (५) यज्ञस्वरूप भगवान् एवं (६) पुरुषोत्तम (क्षराक्षरातीत) इनमें से इस हृदय में दर्शन देने वाले को अनेक आवश्यक धर्म कीर्तन करते हुए नमन करते हैं-यदि कदाचित् यह पौढ़ा हुआ स्वरूप मोहात्मक हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिए इनको मोहादि का अभाव निरूपण करते हैं, अथवा यह अक्षरूप ब्रह्म है, पौढ़े हुए स्वरूप का वर्णन आगे दो श्लोकों में कहेंगे ।

यह स्वरूप ऐसा है जिसने अपने स्वरूप के निरन्तर प्रकाशमान तेज से ही भेद तथा मोह का नाश कर डाला है, मोह और भेद ये दो ही गुण जीवत्व के साधक हैं, अतः जीव, भेद एवं मोह गुण वाला होने से इस स्वरूप से दूसरा स्वरूप है, अर्थात् यह स्वरूप जीव स्वरूप नहीं है, क्योंकि इस स्मरूप में जीव के दोष रूप भेद एवं मोह नहीं है तथा जीव के गुणों से भी इसमें विलक्षणता है । जैसे कि जीव की बुद्धि अज्ञान वाली होने से जड़ है । इस स्वरूप की बुद्धि ज्ञान-मयी है, अतएव (इस कारण से) ही यह स्वरूप 'पर' होने से नियामक है इसलिये ऐसे स्वरूप को प्रणाम है ।

इस प्रकार स्वरूप का वर्णन कर अब इसके कार्य का वर्णन करते हैं । विश्व की उत्पत्ति स्थिति और लय में 'निमित्त' जो लीला है वह जिसकी 'रास' अर्थात् क्रीड़ा है । अथवा इस क्रीड़ा में जिसको रस समूह प्राप्त होता है वह अक्षरात्मक आप ही हैं न कि दूसरा है । अतः नमस्कार करते हैं । 'ते नम इदं चक्रमेश्वराय इदम्' पद से साष्टाङ्ग नमस्कार सूचिन किया है । 'चक्रम' बहुवचन से यह बताया है कि अपने भीतर जो भी जीव हैं उन सबके साथ नमस्कार करता हूँ । यह प्रणाम शिक्षार्थ है । यह समझने के लिये 'ईश्वराय' पद कहा है, अर्थात् वह स्वरूप सर्व समर्थ है । यदि

वह सर्व समर्थ न होवे तो बिना उनकी कृपा सम्पादन करने के जीव (ब्रह्मा) कार्य कर ही न सके, अर्थात् उस सर्व समर्थ की कृपा से हो ब्रह्मा उनका बताया हुआ कार्य कर सकता है ।१४।

आभास—पुरुषं नमस्यन् पुरुषावतारान् सर्वानेव नमस्यति । अथवा, पूर्व-श्लोके सामान्यभगवद्रूपकीर्तनेन नमनम्, विशेषास्तु षट् । तत्र प्रथममवतारा: पुरुषादय:, ते जाता इति कस्यचिद्भ्रमो भवेत्, तन्निवृत्त्यर्थं तस्य दोषान् परिहरन्नमस्यति—

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में पुरुष रूप को नमस्कार करते हुए सकल पुरुषावतारों को नमस्कार कहते हैं अथवा पूर्व श्लोक में सामान्य प्रकार से भगवद्रूप के कीर्तन से प्रणाम किया विशेष तो ६ रूप हैं, उनमें प्रथम पुरुषादि अवतार हैं, वे जन्मे हैं ऐसा किसी को भ्रम हो तो उसको मिटाने के लिये उनके दोषों का परिहार करते हुए नमस्कार करते हैं—

श्लोक—**यस्याऽवतारगुणकर्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।**
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ।।१५।।

श्लोकार्थ—जिसके नाम अवतारों के गुण तथा कर्मों के अनुकरण करने वाले वा परिचायक हैं, जिनको मनुष्य प्राण जाने के समय विवश होते हुए भी लेते हैं तो अनेक जन्मों के पापों. को शीघ्र ही त्याग, खुले हुए द्वार वाले ब्रह्म रूप अक्षर को पाते हैं उस अजन्मा प्रभु की शरण में जाते हैं ।।१५।।

सुबोधिनी—**यस्येति** । अवतारा गुणा: कर्माणि च विडम्बयन्ति अनुकुर्वन्तीति, देवकीनन्दन ! दयालो ! गोवर्द्धनोद्धरणधीर ! इति यानि नामानि, **ये** प्राणिनोऽ**सुविगमे** प्राणोत्क्रमणसमये विवशा अपि भूत्वा गृणन्ति ते पूर्वोपार्जितानेकशमलमपि तत्क्षणमेव हित्वा, **अपावृतमु**द्घाटितकपाटम्, **ऋतं** ब्रह्मरूपं संयान्ति । एवं सर्वेषां सर्वपुरुषार्थहेतुकर्तारं नमामीत्याह-**तमिति** । **अजमिति** जन्माभाव: । **तमिति** गुणकर्माभाव: । सजातीया: सजातीयं मन्यन्ते, अत उत्पन्नानां सगुणानां कर्मकर्तॄणां स्वसदृश एव रोचत इति तादृशानि जन्मगुणकर्माणि प्रदर्श्य तान्मोचयति न तु तस्य तादृशं जन्म गुणा: कर्माणि वा; अतो निर्दोषपूर्णगुणविग्रहं तं **प्रपद्ये** शरणं गच्छामीति नमनप्रपत्त्योरेकार्थता ।। १५ ।।

व्याख्या—परमात्मा के अवतार गुण तथा कर्मों का केवल अनुकरण करते हैं। जिससे उसके 'देवकी नन्दन ! दयालो ! गोवर्द्धन धरणधीर ! ये नाम प्रसिद्ध हुए हैं इन नामों को जो प्राणी, प्राण त्याग समय में विवश (लाचार) होते हुए भी लेते हैं, वे पूर्व जन्म में इकट्ठे किये हुए अनेक अपने पापों का त्याग कर खुले हुए द्वार वाले ब्रह्म (अक्षर) को पाते हैं इस प्रकार सर्वों के

सर्व पुरुषार्थ हितकर्ता को नमन करता हूँ। 'तमित्ति अज' पद से यह सूचित किया है कि जन्मरहित हैं। 'तं' पद से बताया है कि गुण कर्म उसमें सहज नहीं हैं। सजातीय-सजातीय को ही मानते (चाहते) हैं। अतः उत्पन्न हुए सगुण कर्म कर्ताओं के अपने सदृश रुचता है, इसलिये प्रभु वैसे ही जन्म, गुण और कर्म दिखला कर, अपनी तरफ खेंच कर जीवों को बन्धन से छुड़ाते हैं। यह ही आपकी दयालुता है। वास्तव में आप के जन्म कर्म ऐसे नहीं हैं किन्तु अलौकिक हैं। अतः निर्दोष पूर्ण गुणविग्रह, उस आपकी शरण लेता हूँ यो कहकर प्रणाम एवं उत्पत्ति की एकता सूचित की है ॥१५॥

आभास— एवं पुरुषं नत्वा सर्वतत्वहितं प्रथम पुरुषं नमस्यति—

आभासार्थ—इस प्रकार पुरुष को अर्थात् अक्षरात्मक द्वितीय पुरुष को नमस्कार कर अब इस निम्न श्लोक में सर्व तत्व सहित प्रथम पुरुष को नमस्कार करते हैं—

श्लोक—**यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।**
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहस्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥१६॥

श्लोकार्थ—आत्ममूल अर्थात प्रकृति को भेदकर, उत्पति, स्थिति और प्रलय के कारण रूप मैं (ब्रह्म) महादेव और स्वयं विष्य तृण रूप होके बढ़े, एक होते हुए भी बहुत प्रकार हुए वैसे भुवनद्रुमरूप भगवान् को नमस्कार है ।

सुबोधिनी—**यो वा अहमिति । यो भगवान् त्रिपाद्ववृधे, तस्मै भुवनद्रुमाय नम** इति संबन्धः । पादत्रयमाह **अहं** ब्रह्मा, **चकारात्तपः** प्रभृतयः; **गिरिशो** महादेवः, चकारादधर्मादयः; **विभुः** समर्थः; **स्वयं** पालको विष्णुः । एतेषां कार्यमाह- **स्थित्युद्भवप्रलयहेतव इति** । एते त्रयः, । **वै** निश्चयेन । यः पुरुष एव त्रिपादात्मनो **मूलं** प्रकृतिं भित्त्वा ववृधे, महदादिरूपेण मरीच्यादिरूपेण वा । **उरवो**ऽधिकाः प्ररोहा यस्य । अधश्चोर्द्ध्वं च **तस्य प्ररोहाः** । अधो ब्रह्माण्डमध्ये पृथिव्यादयः, कश्यपादयश्च; उपर्यावरणानि । एवं भुवनद्रुमात्मकः सर्वशब्दवाच्यो भगवान् कल्पवृक्षः, तस्मै नमः ॥१६॥

व्याख्या—जो भगवान् तीन पाद हो अर्थात् तीन रूप हो बढ़े उस भुवनद्रुम (वृक्ष) रूप भगवान् को नमस्कार है, यों सम्बन्ध है। तीन पाद को स्पष्ट करते हैं—मैं ब्रह्मा, 'च' पद से तपस्या आदि, शङ्कर, दूसरे 'च' से अधर्म आदि, विभु पद से समर्थता बनाई है स्वयं पालक विष्णु, यों तीन पाद का तात्पर्य समझाकर अब उनके कार्य बताते है—उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय इन तीनों कार्यों के कारण (कर्ता) निश्चय से, ये रूप हैं—जो एक ही पुरुष अपनी मूल प्रकृति

को भेदकर बढ़ा। कैसे बढ़ा ? उसकी स्पष्टता करते हैं, महदादि तत्वों के रूप से या मरचियादि रूप से बढ़े, जिसकी अधिक (अनन्त) वृद्धि हुई है, नीचे और ऊपर उसकी वृद्धि हुई हैं, नीचे ब्रह्माण्ड के मध्यम में पृथ्वी आदि से और कश्यपादि ऋषियों से, ऊपर आवरणों से ऐसे भुवनद्रुम (वृक्ष) रूप, 'सर्व' शब्द वाक्य (सर्व शब्द से जिसका वर्णन किया जाता है) भगवान् कल्पवृक्ष हैं। उनको नमस्कार है ।।१६।।

आभास—कालात्मकं नमस्यति—

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में कलात्मक भगवान् को नमन करते हैं।

श्लोक—**लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।**
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ।।१७।।

श्लोकार्थ—मनुष्य विकर्मों में आसक्त बन उन कर्मों को करता है और जो सत् कर्म करने के लिये आपने कहे हैं जैसे कि आपकी सेवा आदि उनसे विमुख रहता है। लौकिक कर्मों के कराने के लिये जीने की आशा रखता है, किन्तु बलवान काल इसके जीने की आशा को शीघ्र ही तोड़ देता है, उस काल रूप भगवान् को नमस्कार है ।।१७।।

सुबोधिनी—**लोको विकर्मनिरत इति।** विकर्म निन्दितं कर्म, तत्र निरतः स्थितः, तदेकप्रवण इत्यर्थः। **शले** धर्मे प्रमत्तोऽसावधानः। सुतरां त्वदुदिते कर्मणि, '**मन्मना भव मद्भक्त**' इत्यादौ। **भवदर्चने** तव पूजारूपे स्वे स्वधर्मरूपे सर्वथा प्रमत्तः। तस्य यो जीविताशामपि छिनत्ति। **ताव**दिति नरकादर्वाक्। पश्चान्नरकमपि प्रयच्छतीत्यर्थः। इहेति **नंलस्थे**। भगवदपराधं कृत्वा यो महानपि भवति, तमपि मारयतीत्येतदर्थमाह–**बलवानिति**। तथोपायं **करोति**, यो जीवन्नेव जीविताशां त्यजति। **एवमलौकिककालात्मने** नमः। १७॥

व्याख्या—विकर्म (निन्दित कर्म) करने में लोक आसक्त हो रहा है और जो कल्याणकारी कर्म हैं उनको करने में आलस्य वश असावधान रहता है। आपके बताये हुए कर्म–'मनाना भव मद्भक्त' (मेरे में मन लगा, मेरे भक्त हो) इत्यादि में, 'भवदर्चने आपकी पूजा, पूजा रूप कर्म में तथा आपने धर्म रूप कर्म करने में सदा आलस्य करता है। जब तक जीवित रहता है तब तक जीवन की आशा का वह (काल) नाश करता है और मरने के बाद उसे (लोक को) नरक में डालता है यह आशय है। निकट में ही भगवान् का अपराध कर जो बड़ा आदमी बन जाता है उसे भी मार

डालता है यह बताने के लिये विशेषण 'बलवान्' कहा है ऐसा उपाय जो (काल भगवान्) करता है कि जीवन काल में भी वन की आशा को छुड़ाता है ऐसे अलोकिक काल भगवान् को नमस्कार है ।।१७।।

आभास—यज्ञरूपं नमस्यति—

आभासार्थ—नीचे के श्लोक में यज्ञरूप भगवान् को नमस्कार करता है ।

श्लोक—**यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्यमध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।**
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समानस्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ।।१८।।

श्लोकार्थ—जिनको सब लोक नमस्कार करते हैं वैसे दो पदार्थ (वर्ष) तक आसन पर बैठा हुवा मैं भी जिनसे भयभीत हूं (डर रहा हूं) और जिनको प्राप्त करने के लिये बहुत यज्ञ कर तपस्या की है उन आप यज्ञ के स्वामि (अधिष्ठाता) (भगवान्) को मैं नमस्कार करता हूं ।।१८।।

सुबोधिनी—यस्मादिति । काले द्विविधे:, यज्ञादिप्रवर्तको यज्ञात्मा, लौकिकश्च । तत्र लौकिक: पूर्वमुक्त:, यज्ञात्मक इदानीमुच्यते । **इदधर्मनिष्ठ: शतजन्मभि: पुमान् । विरञ्चितामेति तत: परं हि माम्**' इति वाक्यात्, येनैव यज्ञात्मकेन सहस्राश्वमेधरूपेण ब्रह्मापदे अहं निवेशित: इदानीमपि बहुभिर्यागैस्तपोभिश्च तमेवाऽऽरोढुमिच्छामि, तत्सायुज्यमेव वाञ्छामि । एवं यद्यपि ममाऽभीष्टकर्ता, तथापि तस्मादहं बिभेमि मारयिष्यतीति । यद्यपि द्विपरार्द्धधिष्ण्यमास्थित: । द्वे परार्द्धे तस्याऽऽसनस्य स्थितौ कालपरिच्छेदके । यस्याऽऽसनस्यापि नियतकालत्वम्, अहमपि नियतकालस्तादृश:; तथापश्चिरगतिर्ज्ञातुमशक्येति बिभेम्येव । यद्यपि ममाऽऽसनस्य महत्त्वं, सर्वलोकनमस्कृतत्वात्; तथापि मह निति न त्यक्ष्यतीति भयम् । स्वभावत एवाऽत्र **बहुसवो** बहुयज्ञकर्ता, तथापि तपस्तेपे । एवमतिदुर्धर्षाय मखाधिष्ठातृदेवाय तुभ्यं नम इति ।।१८।।

व्याख्या—काल दो प्रकार का है (१) यज्ञ की प्रवृत्ति कराने वाला यज्ञ रूप (२) लौकिक ! लौकिक कर्म पहले कहा अब यज्ञात्मक कर्म कहे जाते हैं । 'स्वधर्म निष्ठ शत जन्मभि: पुमान् विरञ्चतामेति तत: परं हिमाम्' पुरुष सौजन्यों में स्वधर्म में निष्ठा वाला होकर उसका पालन करे तब ब्रह्म पद पाता है । अत: मैं सहस्त्र अश्व मेध यज्ञों के करने से ब्रह्मा बना हूँ । अब भी बहुत यज्ञों से एवं तपस्याओं द्वारा उससे भी उपर जाने की इच्छा कर रहा हूँ, अर्थात् प्रभु का सायुज्य ही चहाता हूँ, इस प्रकार यद्यदि यज्ञ पुरुष मेरा अभीष्ट कर रहा है तो भी उस (काल) से मैं भी

डर रहा हूं, क्योंकि यह मार डालेगा। यद्यपि मैं इस पद पर दो परार्द्ध वर्ष के लिये स्थापित हुआ हूँ। इस आसन को दो परार्द्ध वर्ष आयु निश्चित है इसलिये मेरे आसन का काल नियत है तो भी ईश्वर की गति जानी नहीं जाती है इसलिये डर रहा हूं।

यद्यपि मेरे आसन का बड़ा महत्व है, क्योंकि सर्व लोक उनको पूजते एवं नमन करते हैं, तो भी वह काल महान् बलवान् है। मुझे भी नहीं छोड़ेगा, इसलिये मैं डरता हूं। स्वभाव से मैं बहुत यज्ञ करता हूं, तो भी तपस्या कर रहा हूं। एवं अतिदुर्धर्ष यज्ञों के अधिष्टाता देव जो आप हैं उस आपके स्वरूप को नमस्कार है ॥१८॥

आभास—पुरुषोत्तमं नमस्यति—

आभासार्थ - इस श्लोक में पुरुषोत्तम को प्रणाम करते हैं—

श्लोक—**तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनिष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः।**
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेहस्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥१९॥

श्लोकार्थ—विषयों में रति न होते हुए भी अपनी इच्छा से अपनी बनाई हुई मर्यादा के परिपालनार्थ सब तरह के तामस राजस एवं सात्विक जीवों की देहों में जो रमण करतें हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तम को नमस्कार है ॥१९॥

सुबोधिनी—तिर्यगिति। तिर्यङ्मनुष्यविबुधास्तामसराजससात्विका देहाः, तदादयोऽन्येऽपि त्रिविधाः। **जीवयोनिषु** जीवस्योत्पत्तिस्थानेषु। **आत्मेच्छया** स्वेच्छयैव, **अवरुद्धदेहः** सन्, स्वीकृतलीलाविग्रहो भूत्वा, **आत्मकृतसेतुपरीप्सया** स्वकृतमर्यादारक्षार्थम्, **यो रेमे**। मनुष्यादीन स्वतुल्यन् विधाय स्वकृतधर्मरक्षार्थमेव कृष्णरूपो भूत्वा, तिर्यगादिषु कुत्रचिदपि निरस्तरतिरपि रेमे, एतादृशाय। अक्षरादप्युत्तमः, लोकप्रतीत्या बोधनार्थमेवं देहग्रहणकथा। अवरुद्धा निरुद्धा वा देहा येन। इच्छापि नास्ति, देहोऽपि नास्ति, तथापि स्वरूपानन्दभूत एव रेमे ॥१९॥

व्याख्या—साधारण प्राणी, मनुष्य और देव अर्थात् तामस, राजस, सात्विक देहधारी तथा उनकी तरह के दूसरे भी तीन प्रकार के जीव हैं। इस प्रकार की सर्वजीव योनियों में विषयों में रति (आसक्ति) वाले न होते हुए भी अपनी इच्छा से लीला विग्रह धारण कर, अपनी बनाई हुई मर्यादा की रक्षार्थ जो रमण करते हैं, मनुष्यादि को अपने तुल्य बनाकर अपने धर्म की रक्षार्थ ही कृष्ण रूप बन तिर्यङ्गादि किसी भी योनि में विषय विहीन होके भी रमण करने लगे, ऐसे को प्रणाम है, अक्षर से भी जो उत्तम है, लोक प्रतीति से समझने के लिये ही देह ग्रहण की कथा है अथवा 'अवरुद्ध

देहः', जिसने देह धारण को रोक रखा है, देहादि धारण करने की इच्छा मात्र भी नहीं है। देह भी नहीं है, तो भी स्वरूप से ही आनन्द रूप बनकर ही रमण करते हैं ॥१९॥

आभास—नारायणं नमस्यति, कारणकार्यावस्थारूपद्वयनिरूपणेन श्लोकद्वयेन—

आभासार्थ—निम्न दो श्लोकों से कार्य और कारण रूप दो अवस्थाओं का निरूपण करते हुए नारायण स्वरूप को नमन करते हैं—

श्लोक—**योऽविद्ययाऽनुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।**
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥२०॥

श्लोकार्थ—जो पञ्च पर्वा अविद्या से उपहित (स्थापित) नहीं होते हुए भी, लोक समूह को उदर में रख कर, मनुष्यों को सुख का स्वरूप समझाते हुए, भयंकर तरंगों की माला वाले जल के भीतर, सर्प की कोमल शैय्या के स्पर्श अनुकूल सुख पुर्वक निद्रा ले रहे, हैं (उस प्रभु नारायण को प्रणाम् है ॥२०॥

सुबोधिनी—**योऽविद्ययेति** । **यो दशार्द्धवृत्त्या** पञ्चवृत्त्या अविद्यया अनुपहतोऽपि निद्रामुवाह । न हि कश्चित्स्वात्मविस्मरणव्यतिरेकेण निद्रतु (?) मर्हति । पञ्चवृत्त्येति वक्तव्ये दशार्द्धवृत्त्येतिवचनं विद्याविद्ययोः समभागार्थम् । यथा विद्यया अनुपकृतोऽपि जागर्ति, एवमविद्यया अनुपहतोऽपि निद्रामुवाहेति विद्याविद्याकार्यं भगवति नास्ति, किन्तु तत्सदृशी लीला वर्तत इति ज्ञापनार्थम् । किञ्च, जठरीकृता लोकयात्रा येन । सर्वानेव लोकान् स्वोदरे निवेश्य शेते, यथा लोकस्य स्वप्नस्तथाऽस्मिन्निदानीं लोकाः । अद्यमेव स्वप्नकर्ता निद्रासहितः । अतः स्वप्ने कार्यं कुर्वन्नपि मायिकमेव कार्यं करोति । यदीदानीमपि निद्रित एव कार्यं करिष्यति, तदा अग्रे उत्पत्स्यमानमपि कार्यमसदेव स्यात्, मूलस्य तथात्वात्, निर्बीजफलवृक्षवत् । किञ्च, **अन्तर्जले भीमोर्मिमालिनि अहिकशिपुस्पर्शानुकूलां निद्रामुवाह** । न हि कश्चिज्जलमध्ये शेते, तत्रापि तरङ्गाकुले, तत्रापि सर्पभोगे शयनं तामस्यवस्था । जलमध्येशयनं सर्वथाऽनुपपन्नम्, व्याकुलाधिकरणशयनमतिश्रमसूचकम्, सर्पे च शयनं मृत्युहेतूनप्यविगणय्य शयनसूचकम् । एवं शयनं किमर्थं करोतीत्याशङ्क्याऽऽह—**जनस्य सुखं विवृण्वन्निति** । जनस्य जायमानस्यैवमवस्था चेत्तदा सुखं भवतीति लोके विवृण्वन् ज्ञापयन् । अत एवमेव स्थिते यदि सृष्टिर्भवेत, तदोत्पन्नानां मोक्षादिवार्ता न भवेदित्येतदवस्थापरिहारं प्रार्थयिष्यन्निमामवस्थामेव वर्णितवान् ॥२०॥

व्याख्या—जो नारायण पञ्चपर्वा अविद्या से स्थापित न होते हुए भी निद्रा ले रहे हैं कोई भी अविद्या द्वारा आत्म विस्मरण हुए बिना नींद नहीं ले सकता है। पञ्चपर्वा अविद्या स्पष्ट

न कह कर जो दशार्धवृत्त्या' पद दिया है जिसका आशय है कि जैसे विद्या के पांच पर्व हैं वैसे ही अविद्या के पाञ्च पर्व हैं, दोनों समान पर्व वाले हैं। भगवान् जैसे विद्या के किये हुए उपकार के बिना जगते रहते हैं वैसे ही अविद्या से स्थापित न होते हुए भी स्वतः स्वेच्छा से नींद ले रहे हैं। यों कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् का जगना, नींद लेना, विद्या एवं अविद्या के कार्य नहीं हैं यों जताने के लिए मात्र वैसी लीला करते हैं। किञ्च निद्रा समय लोक समूह को उदर में समा लिया है। जैसे लोक को स्वप्न आता है, वैसे ही अब इसमें लोक समूह है, यह ही स्वप्न का कर्त्ता नींद सहित है अर्थात् नींद ले रहे हैं, अर्थात् ऐसी लीला कर रहे हैं, अतः स्वरूप में कार्य करते हुए भी वह कार्य मायिक ही करते हैं। जो अभी भी नींद लेते हुए कार्य करेंगे तो आगे पैदा हुआ कार्य भी असत् ही होगा, क्योंकि मूल ऐसा है। बिना बीजवाले फलों के वृक्ष की तरह किञ्च—भयानक तरंगों की माला वाले जल के भीतर सर्प की कोमल शय्या के स्पर्शानुकूल सुख निद्रा ले रहे हैं, कोई भी जल के मध्य में नहीं सोता है। उससे भी वह जल तरंगों से विक्षिप्त हो तो कदापि नहीं सोता है। उस दशा में भी सर्प शय्या पर सोना तो तामसी अवस्था है। इस प्रकार जल के मध्य सोना सर्वथा अनुचित है। खलबल वाली शय्या पर सोना बहुत परिश्रम का सूचक है, जिसमें भी सर्प पर सोना तो मृत्यु के कारणों की परवाह न कर सोये हैं। इसका सूचक है, यदि यों है तो फिर ऐसे शयन क्यों कर रहे हैं? इस पर कहते हैं कि 'जनस्य सुखं विवृण्वन्निति' जगत् में उत्पन्न होने वालों को सुख स्वरूप समझाने के लिए यों शयन किये हैं, अर्थात् मनुष्य को ऐसी अवस्था प्राप्त हो तब सुख मिलता है। अतः इस प्रकार की स्थिति होते ही, यदि सृष्टि उत्पन्न होगी तो उद्भूत होने वालों का मोक्ष होगा नहीं—इस प्रकार अवस्था का वर्णन ब्रह्मा ने इसलिए किया है कि इस अवस्था के परित्यागार्थ प्रार्थना करेंगे ॥२०॥

आभास—सृष्टयादौ तस्य कार्यावस्थामाह—

आभासार्थ—सृष्टि के आदि में प्रभु ने काय किस प्रकार किया उस अवस्था का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य ! लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।**
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योगनिद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे स्तुति करने योग्य सर्वेश्वर जिस आपके नाभि कमल रूप भवन से मैं उत्पन्न हुआ, एवं जिस आपकी कृपा से तीन लोक रूप गृहोपकरण (सामग्री) वाला हुआ हूं उन आप को नमस्कार हैं आपके ही उदर में समग्र जगत् रहा हुआ है, तथा योग निद्रा के अन्त समय में आपके नेत्र कमल खिल जाते हैं, अतः आप स्तुत्य भी हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—यन्नाभिपद्मभवनादिति । यस्य नाभिपद्मभवनादहं ब्रह्मा आसम्, तस्मै नम इति संबन्धः। ननु पितृत्वात् नमनमेव कर्तव्यम्, स्तुत्या किमित्याशङ्क्याऽऽह—**हे ईड्येति** । स्तुत्योयः, तं स्तुत्वैव किञ्चित्कर्तव्यम् । लोकत्रयमुपकरणं यस्य, यथा पुरुषस्य घटपटादयः । एतादृशत्वं तत्कृपयैव जातमित्याह—**यदनुग्रहेणेति** । यदनुग्रहेण लोकत्रयोपकरण इति संबन्धः । तस्मै ते तुभ्यं नमः। नमने प्रयोजनमाह—**उदरस्थभवाणेति** । विश्वमेव तदुदरे स्थितम्, तच्चेत् प्रयच्छेत् तदा सृष्टिर्भवेदिति । तर्हि निद्रिताय नमस्कारोऽनुचित इत्याशङ्क्याऽऽह—**योगनिद्रावसान विकसन्नलिनेक्षणायेति** । योगनिद्राया अवसाने विकसन्नलिनवदीक्षणे यस्य। योगनिद्रा काचिच्छक्तिः, यथा सृष्टिः । उभे भगिन्यौ तुल्यकाले । सा भगवति प्रलयकाले । आदिक्षणे तस्या प्रथमोऽशः संबध्यते, प्रलयान्ते त्वन्तिमोंऽशः । इदमेव तस्याऽवसानम् । अतो निद्रावसानक्षणोऽयमतो नमनमुचितमित्यर्थः । एवं नत्वा स्वाभीष्टान् पदार्थान् । प्रार्थयते—**यन्नाभिपद्मभवनादिति-चतुर्भिः** ।।२१।।

व्याख्या—जिसके नाभि कमल रूप भवन से मैं (ब्रह्मा) उत्पन्न हुआ हूँ, उसको नमस्कार है, यों सम्बन्ध है । यदि कोई शङ्का करे कि जब वे आपके पिता हैं तो केवल नमन करना चाहिये, स्तुति की आवश्यकता नहीं है । इसके उत्तर में है 'ईड्यः' पद दिया है, कि यद्यपि पिता के संबंध से नमन ही करना है, किन्तु आप केवल पिता ही नहीं हैं बल्कि सर्व के लिये स्तुति करने योग्य भी हैं, अतः आपको स्तुति करने के बाद में ही कोई भी कर्म करना चाहिए।

जिस आपके अनुग्रह से ही मैं तीन लोकरूप उपकरण (गृह वस्तुओं) वाला हुआ हूँ । वैसे लोक में मनुष्य की गृह वस्तु (घर वस्त्र) आदि होतो हैं, वैसी मेरी भी तीन लोक गृह वस्तु हैं । इस प्रकार के उपकरण आपके अनुग्रह से ही प्राप्त हुए हैं। अतः वैसे अनुग्रहकर्त्ता आपको प्रणाम है । प्रणाम का प्रयोजन बताते हैं कि सकल लोक आपके उदर में स्थित है । अतः आप कृपा करके देवो तो सृष्टि हो सके अन्यथा नहीं हो सके । निद्रा के समय तो नमन करना उचित नहीं है । इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'योगनिद्रावस्पनविकसन्नलिनेक्षणायेति' जब सृष्टि करने का समय होता है तब योग निद्रा का अवसान (अन्त) हाता है उस समय आपके कमल नेत्र रिवल जाते है । अर्थात तब आप निद्रित नहीं होते हैं, उसके सिवाय आपकी निद्रा, स्वरूप विस्मृति रूप नहीं है, किन्तु आपकी निद्रा भी अन्य अपनी शक्तियों के समान एक शक्ति है । जिससे योग निद्रा लेते हुए भी आपका स्वरूप विस्मृति नहीं होता है । इसलिये निद्रित आपको नमस्कार किया जावे तो भो अनुचित नहीं है, किन्तु मैं सृष्टि के आरम्भ में जब प्रणाम करता हूं । तब आपके कमल नेत्र खिले हुवे होने से आप जागृत ही है ।

जैसे 'सृष्टि' एक प्रकार की आपकी शक्ति है, वैसे ही योगनिद्रा भी आपकी ही शक्ति है । दोनों बहिनें हैं, और दोनों समान काल में रहने वाली हैं। वह (योग निन्द्र) भगवान् में प्रलय

के समय में रहती है। प्रलय के आरंभ समय में उसके प्रथम अंश का सम्बन्ध होता है और प्रलय के अन्त में अन्तिम अंश का भगवान् से सम्बन्ध होता है। जिससे प्रलय का अन्त हो जाता है। अतः ऐसे समय में नमन उचित ही है, क्यों कि यह निद्रा के अवसान (अन्त) का समय है। इस प्रकार प्रणाम कर अपने इच्छित पदार्थों के लिये चार श्लोकों से प्रार्थना करते हैं ॥२१॥

आभास—सृष्टचर्थं भगवतोत्पादित इति नाऽन्यत्र तस्याऽधिकारः; सृष्टौ च पदार्थज्ञानमपेक्ष्यते; ज्ञानबुद्धि संयोगोऽन्यथा कर्तुमेव न शक्यते। ज्ञात्वा च कर्तव्यम्, चित्तस्य भगवच्चरित्रपरता चाऽऽवश्यकी, भगवदुपयोगिसृष्टिकरणात्। वेदाविस्मरणं चाऽपेक्ष्यते, तथा सति पातकिकृतं कार्यं पुरुषार्थोपयोगि न स्यात्। सन्तोषपूर्वकं विषाददूरीकरणं चाऽपेक्ष्यते, कार्योपयोगाय। अतो वरचतुष्टयप्रार्थना। तत्र प्रथमं सृष्टिसामर्थ्यस्य पूर्वं विद्यमानत्वेऽपि, बुद्धेरुद्वेगात्तदस्फूर्तिर्विषमकरणं च स्यात्, अतो भगवतो ज्ञानसंबन्ध प्रार्थयते—

आभासार्थ—ब्रह्मा को भगवान् ने सृष्टि रचना के लिये उत्पन्न किया है, अतः इसका अन्य कार्य करने में अधिकार नहीं है, किन्तु सृष्टि करने के लिए पदार्थ ज्ञान चाहिए। ज्ञान बुद्धि का संयोग न होवे तो सृष्टि कर नहीं सकते, अतः पदार्थ ज्ञान प्राप्त कर पश्चात् सृष्टि करनी चाहिए। इसलिए चित्त अवश्य भगवत्परायण होना चाहिए क्योंकि भगवान् के उपयोग में आवे ऐसी सृष्ठि करनी है। वेदों की भी विस्मृति नहीं होनी चाहिये यदि वेद का ज्ञान नहीं होगा तो पातकीपन प्राप्त होगा जिससे पातकी को किया हुआ कार्य पुरुषार्थों के उपयोगी नहीं बनता है। कार्य उपयोगी हो तदर्थ विषाद त्याग संतोषधारण की आवश्यकता रहती है। अतः चार प्रकार के वेदों की प्रार्थना करते हैं। उनमें से पहले भगवान् से ज्ञानपुर्वक सम्बन्ध होने की प्रर्थना करते हैं। यद्यपि सृष्टि करने की सामर्थ्य पहले से विद्यमान है, तो भी बुद्धि में उद्वेग होने से उस सामर्थ्य की स्फूर्ति नहीं है। जिससे सृष्टि विषम हो जावेगी अतः ज्ञानपुवक भगवत् सम्बन्ध अवश्य चाहिए।

श्लोक—**सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान्भगेन।**
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥२२॥

श्लोकार्थ—सकल जगतों का मित्र एक आत्मरूप जो भगवान् है वह अपने सत्त्वरूप 'भग' (गुण) से जगत को सुखी करते हैं। उस प्रभु से ही चाहता हूँ कि जैसे मैंने पहले सृष्टि को अब भी वैसे ही कर सकूं तदर्थ मेरी दृष्टि का स्पर्श करो अर्थात् मेरी वैसी दिव्यदृष्टि करो, ये प्रभु प्रणत प्रिय हैं—अर्थात् जो आपकी शरण ले आपको प्रणाम करते हैं वे आपको प्रिय हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—सोऽयमिति । सोऽयं भगवान् येन **सत्त्वेन जगन्मृडयते, तेनैव मे दृशमनुस्पृशता-**दिति संबन्धः । सर्वेषां हितकारित्वात्, औदासीन्याभावात्, आवश्यकत्वाच्च भगवतो ज्ञानं सृष्टावपेक्षितम् । तदर्थं **विशेषणत्रयमाह—समस्तजगतां सुहृत्, एकः, आत्मेति** । एकत्वास-वत्र तुल्य एकस्वभाव इत्यर्थः । **आत्मवादावश्यकः** । **सत्त्वेनेति** ज्ञानसुखकारणभूतसत्त्वगुणेन **यद्यस्मात्कारणात् मृडयते** सुखयति, य इति प्रसिद्धं वा । जगत्कर्मणः स्पष्टत्वादवचनं वा । **भगेनेति** तत्सत्त्वं भगात्मकमैश्वर्यादिषड्गुण रूपम् । **तेन मे दृशमनुस्पृशतादिति षड्गुणा ऐश्वरादयः प्रार्थिता भवन्ते** । **ततः किमत आह–यथाऽहंस्रक्ष्यामि पूर्ववदिति** । उद्वेगाज्ञानवैषम्यानि यदा गमिष्यन्ति, तदा पूर्ववदेव करिष्यामि । नन्वेतावत्कथं दास्यतीत्याशङ्कयाऽऽह-**प्रणतप्रियोऽसाविति** । असौ प्रणतप्रियः, प्रणतः प्रियो यस्येति । प्रियाय हि सर्वमेव दीयते । असावेवेतादृशो नाऽन्य इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्या—वे येही भगवान् हैं जो अपने सत्व से जगत् को सुखी करते हैं उनसे ही मेरी दृष्टि का स्पर्श (सम्बन्ध) हो भववान् सबके हितकारी हैं, उदासीनता रहित हैं । अतः सृष्टि रचने में भगवान् का ज्ञान आवश्यक होने से अपेक्षित है । इसके लिए तीन विशेषण हैं १. समस्त जगतों के मित्र । २. एक ही (अकेले) और ३. आत्मा, दिये हैं । अकेला होने से सर्वत्र आप समान एक ही स्वभाव वाले हैं । सबकी आत्मा होने से सबके लिये आपकी आवश्यकता है । ज्ञान पूर्वक सुख के कारण भूत सत्व गुण से सकल को सुखी करते हैं, यह विषय प्रसिद्ध ही है, सृष्टि रचने का कार्य प्रसिद्ध हो है, इसलिये कहा नहीं है । 'भगेन' पद से सूचित किया है कि वह सत्त्वात्मक भग (गुण) ऐश्वर्यादि गुणों का उपलक्षक (रूप) है । उससे मेरी दृष्टि का स्पर्श (सम्बन्ध) हो ऐसी प्रार्थना की है । उससे क्य होगा ? इसलिये कहते है कि जैसे मैंने आगे सृष्टि रची वैसे अब भी रच सकूँगा । इस स्पर्श से उद्वेग, अज्ञान) और विषमता नष्ट हो जायेगी, तब पूर्व की तरह सृष्टि बनाऊंगा । ऐसी शक्ति कैसे देंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते है कि 'प्रणत प्रियोः सौ' इस भगवान् को वे प्रिय हैं, जो शरण पूर्वक प्रणाम करते हैं, अतः इन प्यारों को सब कुछ दे देते हैं, यह ही वैसे दयालु प्रभु हैं, अन्य ऐसे नहीं हैं ॥२२॥

आभास—चित्तस्य भगवच्चरित्रपरतां प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस श्लोक में ब्रह्मा भगवान् की प्रार्थना करता है कि मेरा चित्त सदैव आपके चरित्रों के परायण रहे -

श्लोक—**एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः ।**
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम्॥२३॥

श्लोकार्थ—यह शरणागतों को वर देने वाले भगवान् गुणावतार धारण कर अपनी रमा शक्ति से जो जो कार्य करते हैं (करेगें), उसमें यदि जगत् रचते हुये

मैनें अपना पराक्रम समझावो कर्म करने से पाप लगेगा । वह पाप न लगे, तदर्थ मेरा चित्त 'आपमें ही पिरोया हुआ हो, अर्थात् रचने में अपना पराक्रम न समझ आप द्वारा की हुई लीला है, यों समझूँ ।।२३।।

सुबोधिनी—एष प्रपन्नवरद इति । यदि चित्तं भगवच्चरित्रपरं न स्यात्तदाऽहङ्कर्तृत्वाद्गर्वः स्यात्, प्रमादाद्विषमकृतिजनितदोषो नाशश्च । चरित्र सत्त्वांशेन कृतम्, चित्सहितेन वा विशिष्टेन वा भेदेन, तादृशमानन्दं न जनयति । अतो ब्रह्मानन्दरूपया **रमया** लक्ष्म्या, भेदाभावाय आत्मशक्त्या, प्रपन्नानां वरदानार्थं **यद्यत्करिष्यति** । तत्राऽपि स्वाधिकारानुसारेण ग्रहणार्थम्—**गृहीतगुणावतारः** । गृहीता गुणावतारा येन । गुणानां धर्माणामवतारा: पूर्वमुक्ताः, '**यत्रोद्यतः**' इत्यादिना । अथवा, गुणा भगवदीयाः सर्वे पुरुषस्थिता अभिव्यक्ता जाताः, ते गुणावताराः; तानादाय यद्यत्करिष्यतीति बहव एवं पादार्था भगवदीया भवन्ति कालकर्मस्वभाकृतातिरिक्ताः । सामान्यतोऽधिकृतत्वात् तत्राप्यहमेव कर्त्ता । अतस्तस्मिंस्तव चरित्रे **इदं** तव पराक्रमरूपं जगद्भगवदीयं **सृजतोऽपि मे यथा युञ्जीत**, त्वच्चरित्र एव चित्तं सर्वदा युक्तं भवेत् । यद्यपि कालादिकृतसृष्टौ चरित्रपरता चित्ते युक्ता, गर्वाभावार्थं भगवत्स्मरणार्थं च; भगवदीयसृष्टौ तु नोपयुज्यते, पूर्वोक्तदोषासम्भवादित्याशङ्क्य, अत्रापि दोषद्वयं सम्भवतीति तन्निराकरणार्थं चरित्रपरता युक्तैव । अत्र सृज्यानां भगवदीयत्वादणुमात्रेणाऽपि भगवदिच्छावैपरीत्येन कृतिर्भवेत्, तदा भगवद्द्रोहः स्यात्, सृज्यानां चाऽऽक्रोशः । तदुभयनिराकरणार्थं **स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीत** । किञ्च, कर्मणा जायते सर्वथा शमलम्, सृज्यानां सर्वथा हिताकरणात् । तच्च शमलं **यथा** विजह्याम् ।।२३।।

व्याख्या—यदि मेरा चित्त भगवच्चरित्रों के परायण न होगा तो मैं जगत का करता हूं ऐसा अभिमान मुझे उत्पन्न होगा, इस प्रकार के प्रमाद (मूल) से विषम कृति से उत्पन्न दोष लगेगा तथा नाश होगा । यह चरित्र (जगत् रचने की लीला) भगवान् ने ही सत्त्वांश से किया है । अथवा ज्ञान सहित अंश से किया है । अथवा किसी विशेष प्रकार के भेद से किया है, किन्तु यों करने से वह कृति (लीला) वैसा आनन्द नहीं देती है, जैसे होना चाहिये । अतः प्रभु अपनी आत्म शक्ति ब्रह्मानन्द रूपा रमा (लक्ष्मी) द्वारा भेद को मिटाने के लिये ही शरणागतों के वरदानार्थ जो जो लीला करते हैं, वे भी अपने अधिकारानुसार गुणावतार धारण कर, ये गुणावतार यत्रोद्यतः) इत्यादि श्लोकों से (२-७-१) कहे हैं । अथवा जो सर्व भगवदीयगुण पुरुष में स्थित थे वे प्रकट हुए । वे गुणावतार उन प्रकट गुणों को धारण कर जो पदार्थ (सृष्टि) बनायेंगे वे भगवदीय होंगे । काल कर्म और स्वभाव से बने हुए पदार्थों से पृथक् प्रकार के होंगे । सामान्य रीति से वह रचने का अधिकार मुझे मिला है । उसके भी कर्त्ता मैं ही हूं, किन्तु उस आपके किए इस चरित्र (सृष्टि रचना) में आपका पराक्रम होने से यह भवगदीय जगत् बनाते हुए भी मेरा चित्त आपके चरित्र

में ही सदा लगा रहे, यह ही **उचित** है। यद्यपि कालादि के द्वारा की हुई सृष्टि के समय चित्त भगवच्चरित्र में आसक्त रहे यह उचित है। क्योंकि चरित्र परायण होने से चित्त में न गर्व होगा और न भगवत् विस्मृति होगी। भगवदीय सृष्टि में उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवदीय सृष्टि में उपयुक्त दोष उत्पन्न नहीं होते हैं। इस पर कहते हैं कि इसमें दो दोष होते हैं। उनके निराकरण करने के लिए चरित्र परायण होना उचित ही है।

ये भगवदीय सृष्ट पदार्थ हैं। अतः यदि इनसे अणु मात्र भी भगवदिच्छा से विपरीत कृति हुई तो भगवान् का द्रोह हो जायेगा और सृष्ट पदार्थों का शाप लगता है इन दोनों दोषों को मिटाने के लिए भगवान् के पराक्रम से इस जगत् को रचते हुए भी चित्त भगवान् में लगा रहना चाहिए। यही युक्त (योग्य) है. किञ्च कर्म से सर्वथा पाप ही लगता है। क्योंकि रचना में रचे हुए सकल पदार्थों का पूर्व हित हो नहीं सकता है। वह पाप न लगे यदि पाप लगे तो भी छूट जावे, इस प्रकार मेरा चित्त सदैव आपके चरित्र परायण रहे ॥२३॥

आभास—वेदविस्मरणं यथा न स्यात्, रूपसृष्टेर्नामाधीनत्वात् कर्मबोधनार्थं च वेदोऽपेक्ष्यत इत्याह—

आभासार्थ—रूप सृष्टि, नाम सृष्टि के आधीन है अतः करने का ज्ञान हो तदर्थ वेद वे ज्ञान की अपेक्षा (जरूरत) है। इसलिये जैसे वेदों को भूल न जाऊं ऐसी प्रार्थना इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥२४॥

श्लोकार्थ—यहाँ जल में निवास करने वाले जिस पुरुष के नाभि कमल से विशेष ज्ञान शक्ति वाला जो मैं उत्पन्न हुआ हूं उस अनन्त शक्ति के विचित्र रूप (सृष्टि) का विस्तार करते हुए उस मुझ वेद वाणी का आचरण (ज्ञान) नष्ट न हो ॥२४॥

सुबोधिनी—**नाभिह्रदादिति इहाऽम्भसि सतो यस्य पुंसो नाभिह्रदात् अहम समं**, तस्यैवाऽनन्तशक्ते विचित्र रूपं विवृण्वतो मे गिरां विसर्गो वेदो मा रीरिषीष्ट नाशं माऽऽगच्छतु। **इह सत** इत्यग्रे तिरोभावात् प्रश्नानुपपत्तिः। त्वत्त एवोत्पन्नत्वात् अन्योऽपृष्टः **विज्ञानशक्तित्वाद्वि**स्मरणानौचित्यम्। **विचित्रं रूपमिति**। विस्मरणे हेतुः। **नाभिह्रदादित्यन्वेषणक्लेशसूचनम्**। **अनन्तशक्ते**रित्यविस्मरणादानसामर्थ्यम्। अहमिति यत्कृपया एतावत्त्वम्, सा कृपा ह्यग्रेऽपि निर्वाह्येति सूचितम्। अस्य रूपमिति वचनात् '**हलान्तं ब्रह्मवर्चसम्**' इति न्यायेन वेदस्फुरणहेतु-

धर्मनाशः **सूचितः**। **च**काराद्भगवदपराधश्च। विशेषेण **परित्यागः** सवासनम्, न प्रायश्चित्तवत्। **'रिष हिंसायाम्'** इति धातोः सन्नन्ताल्लुङ्, (अडभावश्च माङ्योगात्) **'ऋगतौ'** इत्यस्याऽऽशीर्लिङि रीङादेशे कृते वा रूपम् (?)। **सर्वथा** छान्दसाश्रयणं केनाऽप्यंशेन **'आभ्यस्तयोः'** इति (?) ह्रस्वेऽपि छान्दस ईकारादेशे **'झलोझलि'** इति षलोपः (?)। विविधः सर्गो वेदे, ब्रह्मणः सवमेव वाक्य वेदरूपमिति वा। **निगमस्य** वेदस्य गिरामिति देवताशब्दान्तरव्यावृत्त्यर्थमुक्तम्। **मा** वेदो विस्मृतो भवत्विति वक्तव्ये यत् प्रकारान्तरेण कथनम्, वरेण स्मरणमात्रव्यावृत्त्यर्थम्, यथाऽन्यदीयमपि स्मरति। अत एव मा लुप्यतामिति प्रश्नः ॥२४॥

व्याख्या—यहाँ जल में विराजमान जिस पुरुष के नाभि कमल से (नाभिरूप ह्रद से) विशेष ज्ञान शक्ति वाला में उत्पन्न हुआ हूं। उस ही अनन्त शक्ति वाले पुरुष के विचित्र रूप का विस्तार करते हुए मुझ से वेदों की स्मृति नष्ट न होवे 'इह सतः' पद से यह ध्वनि (आशय) निकलतो है कि आगे इसका तिरोभाव होने वाला है। यदि यों है तो फिर प्राथना करने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है। ऐसी अवस्था में दूसरे से पूछिये ? इस पर कहते हैं कि आपसे उत्पन्न होने के कारण आपसे ही पूछना उचित है। दूसरे से पूछना अनुचित है। जब आप विज्ञान शक्ति वाले हैं तो आप को विस्मृति कैसे होगी। इस पर कहते हैं कि इस सृष्टि का विचित्र रूप विस्मृति में कारण है 'नाभिह्रदात्' (नाभि की गहराई) पद से ढूढने के परिश्रम का सूचन किया है। भगवन्! आप अनन्त शक्ति हैं अतः वेदों को भूलूँ नहीं ऐसे दान देने की शक्ति वाले है 'अहम्' पद से यह सूचित किया है कि, जिस आपकी कृपा से मैंने इतनी पदवी प्राप्त की है। वह कृपा आगे भी निभानी (करनी) चाहिए। 'अस्यरूपम्' पद से 'हलान्त ब्रह्मवर्चसम्' वत् अर्थात् जैसे ब्राह्मण हल नहीं लेता है तब तक उसका ब्रह्मवर्चस रहता है इस न्यायानुसार इस विचित्र सृष्टि करने से वेद स्फूर्ति का कारण रूप जो धर्म है उसके नाश की सम्भावना है और 'च' पद से भगवदपराध होने की भी सूचना की है। 'विसर्ग' कातात्पर्य है वासना सहित परित्याग, प्रायश्चित की तरह त्याग नहीं। 'रीरिषीष्ट' पद का व्याकरणानुसार विवरण करते हैं[1]

वेद में अनेक प्रकार का कहा हुआ सर्ग एवं ब्रह्मा के वाक्य सर्व वेद रूप हैं। 'निगमस्य (वेदस्य) गिरां' कहने का आशय है कि सिवाय वेद के अन्यों के स्मरण की मुझे आवश्यकता नहीं है। अन्य प्रकार से जो वेद विस्मृत न होवे कहा है, जिसका आशय है कि, आपके वरदान से मुझे

१—रिष् धातु हिंसा अर्थ वाला है। उसकी धातु के इच्छार्थक अद्यतन भूतकाल का रूप 'रीरिषष्टि' बनता है। 'मा' शब्द का सम्बन्ध होने से अद्यतन भूतकाल में 'अ' नहीं रहता है अथवा 'ऋ' धातु गत्ति अर्थ वाला है जिससे आशिर्लिङ में 'ऋ' के बहले में 'री' करने से यह रूप बना है। इसमें थोड़े अंशों में अनियमितता है। प्राप्ति नि ८-२-२६ के अनुसार 'रिष' धातु का रूप बनाने में 'ष' कर लोप हो जाता है।

केवल वेद का सदा स्मरण रहे ही, कदापि वेद भूलूं नहीं। 'अतएव मालुप्यताम्' इस कारण से वेद स्मृति का लोप नहीं। ऐसी प्रार्थना है अथवा प्रश्न रूप में इसका यों आशय हो सकता है कि ब्रह्मा अन्त में प्रार्थना करने के बाद निश्चय के लिऐ भगवान् से प्रश्न करते हैं कि आपके वर के मिलने के बाद यह वेद भूल तो न जाऊंगा ।।२४।।

आभास—संतोषपूर्वकं विषाददूरीकरणं प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस श्लोक में सन्तोष प्राप्ति और विषाद दूर करने की प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—**सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्धप्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।**
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं माध्व्या गिराऽपनयतात्पुरुषः पुराणः ।२५।

श्लोकार्थ—वह यह अतिशय दयावान् पुराणपुरुष भगवान्, बढ़े हुए प्रेम से नेत्र कमल को विकसाते हुए मधुर वाणी से विश्व में मेरी विजय हो, तथा सर्व प्रकार की अनुकूलता प्राप्त हो, तदर्थ उठकर हम लोगों के शोक को मिटा देवें ।।२५।।

सुबोधिनी—**सोऽसाविति । असौ उत्थाय मे विषादं माध्व्या गिरा अपनयतादिति** संबन्धः । प्रार्थितदानसामर्थ्यनिरूपणार्थं **स** इति पूर्वोक्तनिर्देशः । अदभ्रा करुणा यस्य, दयैव प्रार्थितदाने हेतुः । **भगवानिति** प्रार्थनीयत्वम् । **विवृद्धप्रेमस्मितेन** । भक्तक्लेशस्मरणेन भक्ते विवृद्धा भगवतः प्रीतिर्भवति । क्लेशाभावार्थं शास्त्राग्रहव्यावृत्तये किञ्चिन्मोहनमपि करोति । तदा भगवतो ज्ञानशक्तिः रूक्षत्वाभावाय अम्बुनि शीतले विषयसुखे संयुक्तेति जीवोऽपि विषयसुखस्पृष्टो भवति । तदाह—**नयनमेवाऽम्बुरुहमिति** । तस्य विजृम्भा विशिष्टो विकाशः । ज्ञानशक्तिरतिविलसिता सर्ववस्तुयाथात्म्यं बोधयन्ती क्लेशं सर्वथैव दूरीकरोति । विशिष्टश्च विकाशः कार्येऽपि तथोद्गमपरः । उत्थिता जगत्सृष्टिरनलसा भवतीत्युत्थायेत्युक्तम् । **विश्वविजयाय चेति** । विश्वस्मिन् विजयः स्वभावादिव्युदासेन स्वाभिप्रेतविधित्सा, तत् विश्वस्मिन्नेव । **चकाराद्वि**श्वस्य स्वानुगुणतायै । **नो विषादं** पूर्वोक्तमस्मद्विषादम् । न इति स्वान्तस्थितभूतसहिताभिप्रायम् । **माध्व्या गिरेति** स्नेहप्रतिपादकेन वचनेन ईश्वराज्ञायाः कठिनत्वशङ्कयोक्तम् । **पुराणः पुरुष इति** पितामहत्वेन समत्वाय नयनाम्बुरुहविजृम्भणं विश्वविजयरूपेष्टसिद्धौ विषादनिराकरणे च हेतुः, वाणी च । परमेकं कर्तृ प्रविष्टमलौकिकद्वारा तदुभयकर्तृ, एकं तु लौकिकद्वारा । एतत्सर्वं कार्याभिनिविष्टः करिष्यति नवेति संदिह्य पुरुषोत्तमभावं तत्र निरूपयति **पुराण इति** ।।२५।।

व्याख्या—यह (भगवान्) उठकर (खड़े होकर) मेरे शोक को मधुर वाणी से दूर करें, यो

सम्बन्ध है। 'स:' पद से यह सूचित किया है कि उस प्रभु में (जिसका पूर्व में निर्देश किया गया है) जिस प्रकार की भी प्रार्थना की जाय। उस प्रार्थनानुकूल इच्छाओं के दान करने (पूर्ण करने) की सामर्थ्य है। प्रार्थित पदार्थ का दान क्यों करते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं। अतिशय दयालु हैं, अर्थात् दान में आपकी दया ही कारण है। 'भगवान्' विशेषण से बताया है कि वे प्रार्थना करने के योग्य हैं। विवृद्ध प्रेमस्मितेन' पद से यह सूचित किया है कि आपको जब भक्तों के क्लेश का स्मरण होता है तब भक्तों पर आपका प्रेम बढ़ जाता हैं। जिससे मुस्कराते हैं। उस मुस्कान से भक्तों का क्लेश मिटाते हुऐ उनका शास्त्राग्रह भी छुड़ा देते है एवं अपने लिए उनमें मोह उत्पन्न कर देते है।

तब रूक्षता न रहे, इसलिऐ भगवान् की ज्ञानशक्ति (नेत्र) शीतल जल में अर्थात् विषय सुख में सम्बन्धित होती है, जिससे जीव भी विषयसुख से स्पष्ट होता (छुआ जाता) हैं। इसको समझाने के लिए 'नयनाम्बुरुहं' पद दिया है। जिसका तात्पर्य है, नेत्र (ज्ञानशक्ति) ही कमल हैं। उसका विकास होने से (खिलने से) ज्ञानशक्ति बहुत विकास को प्राप्त सकल वस्तुओं का जैसा है वैसा सत्य स्वरूप दिखा देती है। जिससे क्लेश सर्वथा ही दूर हो जाता है। तथा उत्तम विकास, कार्य में (व्यक्ति समूह में) भी इसी तरह ज्ञान कराता है। 'उत्थाय' पद का आशय है कि उठकर कार्य करने से जगत् में उत्पन्न सकल सृष्टि आलस्य वाली न होगी 'विश्वविजयाय' पद का भावार्थ है कि स्वभावादि को अपने वश में कर अपनी इच्छानुसार जगत् रचना कर सकूँ वह विश्व में हो हो। 'च' पद से यह आशा प्रकट की है कि विश्व अपने अनुकूल रहे। प्रथम वहां हुआ विषाद् (शोक) न रहे। न:'बहुवचन देने से यह आशा व्यक्त की है कि केवल मेरा शोक नहीं किन्तु अपने भीतर स्थित प्राणियों का भी शोक दूर हो जावे। शोक कैसे दूर करो, इसलिए प्रार्थना करता है कि प्राय: ईश्वर की आज्ञा कठिन होती है। बह काठिन्य न हो केवल स्नेह संयुक्त वचनों से उस (शोक) को दूर कीजिऐ। आप 'पुराणपुरुष' होने से पितामह के समान हैं। नेत्र रूप कमल का विकास और मधुर वाणी विश्वविजयरूप इष्ट सिद्धि में तथा विषाद (क्लेश) मिटाने में कारण हैं, किन्तु एक (प्रथम) कारण ही कर्त्ता (ब्रह्मा) में प्रविष्ट हो अलौकिक प्रकार से दोनों (इच्छित की प्राप्ति और शोकनाश) कार्य करता है। और दूसरा कारण (वाणी) लौकिक तरह कार्य करती है। यह सर्व वे भगवान् करेगें व नहीं ? क्योंकि कार्य में प्रविष्ट है। ऐसे उत्पन्न सन्देह को मिटाने के लिए कहते हैं कि भगवान् पुरुषोत्तम है, क्योंकि 'पुराण:' सबसे यह प्राचीन (सबकी आदि) है, अत: करेगें ही ॥२५॥

आभास—स्वार्थं सर्वं प्रार्थितमिति ब्रह्मकल्पवृद्धिप्रह्वीभावात्, बहुकाल-भोगेन मध्येऽपराधसम्भवाद्गुणत्रयस्य व्यवधायकं बोधयन् चिरकालेनोत्तरं दत्तवा-नित्याह—त्रिभि:—

आभासार्थ—ब्रह्मा ने अपने लिए सर्व प्रकार की प्रार्थना की जैसे ब्रह्मकल्प में भक्ति के कारण नम्र भाव से बहुत समय तक भोग भोगने से मध्य में अपराध होने के सम्भव से तीन गुणों द्वारा हुई रुकावट को बताते हैं। भगवान् ने बहुत समय के बाद उत्तर दिया, यह तीन श्लोकों में कहते हैं।

श्लोक—**मैत्रेय उवाच—स्वसंभवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः ।**
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ।।२६।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी कहते हैं कि—तपस्या, विद्या और समाधि से अपने पिता को यों बता कर जव तक मन और वाणी का बल चला तब तक स्तुति कर वह ब्रह्मा खेद प्राप्त की तरह अर्थात् उदास जैसे होकर शान्त चुप हो गया ।।२६।।

सुबोधिनी—स्वसंभवमिति । यावज्ज्ञानं ब्रह्मणो भगवद्विषक जातम्; तपसा, उपासनया, समाधिपर्यन्तयोगेन च । **स्वसंभवं** स्वपितरम् । **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण **निशाम्य** ज्ञात्वा । **स्वस्य** यावन्मनः सामर्थ्यं तावत् कल्पयित्वा, यावद्वांचा वक्तुं शक्यं तावत् स्तुत्वा, तूष्णीं स्थिते भगवती-त्यनवसरोऽयं वेति संदिह्य स्वयमपि तूष्णीं स्थितः । भगवन्तं प्रसन्नवदनं दृष्ट्वा पूर्वखेदस्या-ऽप्यनुवृत्तत्वात् **खिन्नवदित्युक्तम्** । यथा यथा स्तुयते तथा तथा ज्ञात इति ज्ञानमप्यन्ते निरूपितम् ।।२६।।

व्याख्या—तपस्या से, उपासना से और समाधि पर्यन्त योग से ब्रह्मा को भगवत्सबन्धी जितना ज्ञान हुआ, वह अपने पिता के पूर्व कहे हुए प्रकार से जान कर अपने मन की जितनी सामर्थ्य थी, उतनी कल्पना कर, जितनी वाणी से कह सके उतनी स्तुति कर, भगवान् के भी मौन धारण करने से मन में शंकित हुए कि अब विशेष कहने का अवसर नहीं हैं। अतः स्वयं (ब्रह्मा) भी खिन्न की तरह शांत चुप हो गये खिन्न की तरह इसलिए कहा कि एक तरफ भगवान् को प्रसन्न वदन देखा, दूसरी तरफ पूर्व खेद की विस्मृति होने से खिन्न नहीं हुआ, किन्तु उसके सदृश दीखने लगा। जैसे-जैसे स्तुति की वैसे वैसे भगवान् का ज्ञान हुआ, यों अन्त में ज्ञान भी कहा ।।२६।।

आभास—मध्ये भगवद्विचारोऽपि कालविलम्बहेतुर्जात इत्याह—

आभासार्थ—मध्य में भगवान् का विचार भी काल के विलम्ब में कारण हुआ। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अथाऽभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः ।**
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ।।२७।।

श्लोकार्थ—फिर ब्रह्मा के अभिप्राय को जानकर उस कल्प का नाश करने वाले जल से खेद-युक्त चित्त वाले ब्रह्मा को मधुसूदन (भगवान्) ने देख(देखा) ।।२७।।

सुबोधिनी—अथेति । आनन्तर्यं कालविलम्बात् । **अभिप्रेतं** स्वसमानज्ञानैश्वर्यं प्रार्थयत इति । **अन्वीक्षणं** निश्चयः, तस्मिन् दत्ते वा कालान्तरे अपकारो न भवेदित्यन्वीक्षा । **ब्रह्मण** इत्यधिकारित्वम्, तेन तथा प्रार्थनायामपि नाऽपराधः । **मधुसूदन इति** तद्धिताचरणं भगवतः स्वाभाविकम् । यथा अनिष्टं निवर्तयति तथेष्टं संपादयतीत्यर्थः । **विषण्णचेतसमिति** दया । अधिकारित्वात्, तस्य शक्यत्वाच्च साधनोपदेश एव । **तेनेति** पूर्वोक्तेन भगवद्रहितेन । भगवदीयत्वे तु तस्योद्वेगो न स्यात्, भगवदीयकार्ये चानुगुण्यं स्यात् । अभगवदीयत्वार्थमाह—**कल्पव्यतिकराम्भसेति** । कल्पस्य व्यतिकरो नाशः, तत्साधकेनाऽम्भसा । तस्मादग्रिमभगवच्चरित्रं तस्य दुःखनिवारकमपीत्येतदुक्तम् ।।२७।।

व्याख्या—काल विलम्ब से अनन्तरता बताई है । ब्रह्मा अपने समान ज्ञान तथा ऐश्वर्य प्राप्ति की प्रार्थना करता है । 'अन्वीक्षण' पद का आशय है कि प्रार्थनानुसार देने का भगवान् ने निश्चय किया है । जिससे उसके देने में विलम्ब होने पर भी अपकार (बुराई) न होगा । 'ब्रह्मणः' पद से बताया है कि इनके लेने का यह अधिकारी है । इससे ऐसी प्रार्थना करने पर भी कोई अपराध नहीं होता है । 'मधुसूदन' नाम देने का भाव यह है कि उसका हित करना भगवान् का स्वाभाविक धर्म है । जैसे जैसे भगवान् अनिष्ट निवृत्त करते जाते हैं वैसे-वैसे इष्ट सम्पादन करते रहते हैं । 'विषण्णचेतसं' पद से दया का पात्र है और सूचित किया है कि अधिकारी होने से उसको साधनोपदेश देना शक्य है । 'तेन' पद से जल का भगवद्-रहितत्व बताया है । यदि जल भगवदीय होता तो उसको उद्वेग न होता और भगवत्सम्बन्धी कार्य में सलंग्न हो जाता । कल्पव्यतिकराम्भसा' पद से सूचित किया है कि कल्प के नाश करने का साधक यह जल है । अतः यह भगवदीय नहीं है । इसलिए ब्रह्मा का चित्त खिन्न सा हुआ । इससे आगे का भगवच्चरित्र इस (ब्रह्मा) का दुःख निवारण कब होगा यों कहा है ।।२७।।

आभास—स्वार्थं चैतद्दुःखम् । भगवत्कार्यार्थं तु यद्दुःखं तत्साक्षादेव निवारयतीत्याह—

आभासार्थ—ब्रह्मा को जो यह दुःख था अपने दोष के लिए था । भगवान् के कार्य के लिए जो दुःख है वह भगवान् स्वयं दूर करेगे । इस श्लोक में यह वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः ।**
तमाहाऽगाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ।।२८।।

श्लोकार्थ--ब्रह्मा **इस** लिए खेद पा रहा था कि लोकों की यथोचित देह में स्थिति कैसे होगी ? **इसका** ज्ञान मुझे कैसे होगा ? ऐसी स्थिति वाले ब्रह्मा का मानों खेद शान्त करते हुए **भगवान्** अगाध वाणी से उसे कहने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—**लोकसंस्थानविज्ञान इति ।** लोकानां सम्यक् स्थानं यथोपयोग देहादौ स्थितिः, तद्विषयकज्ञानार्थं **परिखिद्यतः** परितः खेदं प्राप्नुवतो ब्रह्मणः । **आत्मन** एव हेतोः, ज्ञायत एव साधनेन साध्यमिति । साधनमकृत्वैव साध्यप्रेप्सुः खिन्नो भवत्येव । तपोऽपि शीघ्रमेव निवर्तितमिति भगवतो विलम्बः । तदर्थमेवशयान एव भगवानाविर्भूतः । स तु तदकृत्वैव उत्तालो भूत्वा, स्तोत्रं प्रार्थनां च कृत्वा, तूष्णीं स्थितः । एतादृशमपि तं भगवानाह । **अगाधा** वाणी भगवतः, अभिप्रायाज्ञानात् । **कश्मलमुभयविधम्, शमयन्निवेति** साधनोपदेशात् ॥२८॥

व्याख्या—लोकों की देह में यथोचित स्थिति हो उस विषय की ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्रह्मा को यह खेद अपने दोष के लिए हुआ है, क्योंकि यह विदित है कि कोई भी साध्य (कार्य) साधन से ही सिद्ध होता है । अतः जो साधन न कर साध्य (कार्य) की सिद्धि चाहता है, वह दुःखी होता ही है । तपस्या से भी शीघ्र निवृत्त हो गये, इसमें भगवान् ने विलम्ब की किन्तु फिर भी दयालु होने से ऐसे ब्रह्मा के लिए सोये हुए ही भगवान् प्रकट हो गये । ब्रह्मा तो तपस्या न कर बिना विचारे ही शीघ्र उस समय स्तुति तथा प्रार्थना कर चुप हो गया । ऐसे उस (ब्रह्मा) को भगवान् जिसके अभिप्राय का ज्ञान न हो ऐसी वाणी से दोनों प्रकार के दुःखों को शान्त करते हुए साधन का उपदेश देने लगे ॥२८॥

आभास—तत्र प्रथमं ज्ञानबुद्धिसंयोगे उत्तरमाह—**मा** वेदेतिदशभिः । वाक्यैरेव चतुर्थोत्तरं भवति, द्वितीयं तु वरदानादेव, तृतीये स्वल्पः प्रयासः, अतः सपरिकरं प्रथममेवोत्पादयति—

आभासार्थ ब्रह्मा ने प्रार्थना कर भगवान् से चार पदार्थ मांगे थे । उनमें से ज्ञान और बुद्धि के संयोग सम्बन्धी पहली प्रार्थना का उत्तर २९ वें श्लोक से लेकर ३९ वें श्लोक तक में देते हैं । चौथी प्रार्थना का उत्तर वाक्यों से देते हैं, जिनसे शोक दूर होता है । दूसरी प्रार्थना 'चित्त भगवान में पिरोया हुआ रहे इसका उत्तर वरदान से हो मिल जाता है । तीसरी प्रार्थना वेदों का विस्मरण न हो, इसमें बिलकुल अल्प प्रयास है । इस प्रकरण से पहले यदि परिकर सहित पहली प्रार्थना का उत्तर देते हैं, अर्थात् वह प्राप्त कराते हैं ।

कारिकाः—आलस्याभावतपसो भगवज्ज्ञा नसाधने ।
सर्वत्राऽन्वीक्षणं चैव ज्ञानेनैव मलक्षतिः ॥१॥

कारिकार्थ—पहली इस कारिका में—आलस्य न करना, यह २९ वें श्लोक का आशय है और तपस्या करो यह ३०वें श्लोक का आश्य है। ये दो ही उपाय भगवान् का ज्ञान प्राप्त कराने वाले हैं। सर्वत्र भगवान् का पूर्ण रीति से ईक्षण करना (देखना), यह ३१ वें श्लोक का भाव बताया है, ये ही साधन हैं। भगवत् प्राप्ति में रुकावट करने वाले जो मल (दोष) हैं, उनका इस भगवत् ज्ञान से नाश हो जाता है ॥१॥

कारिका:—चरित्रपरता हेतुर्मलाभावे विचारित :।
स ज्ञानेनैव संसिद्धो ह्यतस्तत्फलमीर्यते ॥२॥

कारिकार्थ—मल (दोष) न रहे इसका साधन, भगवान् के चरित्रों में तत्पर रहना ही है, यों विचार हुआ है, वह (भगवच्चरित्र में तत्परता) ज्ञान से ही सिद्ध होती है। अतः ज्ञान का फल इसको कहा है—इस कारिका में जो वर्णन किया है वह ३३ वें श्लोक का आशय हैं ॥२॥

कारिका:—सुखे हेतुश्च तज्ज्ञानं स्वसंबन्धविशेषणात् ।
गर्वाभावे वरदानान्नाऽन्यथेति निरूपितम् ॥३॥

कारिकार्थ—वरदान से अभिमान का नाश हुआ है। वरदान व्यर्थ नहीं गया है। इससे जो ज्ञान प्राप्त हुआ हैं वह ज्ञान भगवत्सम्बन्ध बताने वाला होने से सुख का कारण है। इस कारिका में ३४ वें श्लोक का भाव बताया है। भगवान् ने ब्रह्म कल्प में ब्रह्मा को वर दिया था। वह निष्फल नहीं हुआ है, यह भगवान् की विशेष कृपा का ही फल है ॥३॥

कारिका:—स्वाभाविकस्य दोषस्य निवृत्तिश्चाप्यनुग्रहात ।
मत्स्वरूपस्य विज्ञानं जातमेव तदेव तत् । ४॥

कारिकार्थ—भगवत्कृपा से स्वाभाविक (रजो गुण) दोष की भी निवृत्ति हो गई। मेरे (भगवान् के) स्वरूप का ज्ञान हुआ ही है। वह ज्ञान नहीं है, अर्थात् बुद्धि सम्बन्ध कराने के लिये जिस ज्ञान की प्रार्थना की थी, मैंने उस ज्ञान का बुद्धि के साथ सम्बन्ध करा दिया है। इस कारिका में ३५ वें श्लोक का आशय प्रकट किया है ॥४॥

कारिका:—मया तथैव च कृतमाविष्कारः स्तुतौ कृतः ।
ममैवाऽनुग्रहात्सर्वमित्येषा ह्युपसंहृतिः ।५॥

कारिकार्थ—मैंने (भगवान् ने) वही किया, जो तुमने स्तुति में कहा था। अर्थात् मैं प्रकट हुआ। मेरी कृपा से सब कुछ होता है, इस प्रकार यह उपसंहार किया है। जो कुछ ३६ वें श्लोक में कहा है—उसको सिद्ध करने वाला विषय ३९ वें श्लोक में है। वह इस कारिका के पूर्वार्द्ध में

कहा। उत्तरार्द्ध में ३८ वें श्लोक का भाव बताया है कि ज्ञान के साथ बुद्धि सम्बन्ध विषय का यहां उपसंहार किया है ॥५॥

कारिका:—द्वितीयस्योत्तरं वेदैश्चतुर्थोऽप्युक्त एव हि ।
भवेदिति कृतं स्तोत्रं चरित्रं भक्तिहेतुकम् ॥६॥

कारिकार्थ—दूसरी प्रार्थना का उत्तर चार (३६ से ४२) श्लोकों में दिया है। चौथी प्रार्थना का उत्तर तो कहा ही है जिसके लिये भक्ति की उत्पत्ति का कारण स्तोत्र कहा है—इस कारिका में (३६ से ४२) श्लोकों का भावार्थ दिया है।

कारिका:—नाऽन्यत्र विनियोक्तव्यं भक्तिर्नित्या न साधनम् ।
वेदाविस्मरणे हेतुर्देह एव कृतः पुरा ।
तदाहैकेन तेनैते कला श्लोका निरूपिताः ॥७॥

कारिकार्थ—भक्ति साधन नहीं है, किन्तु फल रूप होने से नित्य कर्त्तव्य है, अतः इस (भक्ति) का दूसरे किसी के लिये विनियोग नहीं करना चाहिये। वेदों का विस्मरण न हो तदर्थ ही पहले ही देह बनाई है। वह अर्थ एक श्लोक से कहा है, इसलिये ये १५ श्लोक कहे हैं ॥७॥

आभास— तत्र प्रथममालस्याभावमाह–

आभासार्थ—पहले इस श्लोक में आलस्य नहीं करना चाहिये। श्री भगवान् यों कहते हैं—

श्लोक—**श्री भगवानुवाच । मा वेदगर्भ ! गास्तन्द्रीं सर्गे चोद्यममावह ।**
तन्मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भगवान् ।२६।

श्लोकार्थ—हे वेद गर्भ (ब्रह्मा) ! तू आलस्य न कर सृष्टि रचने में उद्यम कर, क्योंकि जिसके लिए तू मेरी प्रार्थना करता है वह मैंने पहले ही तैयार कर दिये हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—हे वेदगर्भ तन्द्रीं मा गाः आलस्यं मा कुर्वित्यर्थः। **सर्गे उद्यमं चाऽऽवह** सर्गकरणार्थमुद्युक्तो भव। **चकारात्साधने** मतिः कर्त्तव्या। साधनमेव न जानामीति चेत्तत्राऽऽह—**तन्मयाऽऽपादितमिति**। **यन्मां** त्वं साधनं प्रार्थयसे, तन्मया पूर्वमेवाऽऽपादितम्। हि युक्तोऽयमर्थः, अन्यथैतावद्दूरे साधनपरम्परा न भवेत् अतः साधनस्य सिद्धत्वादालस्यं त्यक्तव्यमिति भावः ॥२६॥

व्याख्या—हे ब्रह्मन् ! आलस्य का त्याग कर, सृष्टि की रचना के लिए उद्यम कर । 'च' पद से यह उपदेश दिया है कि साधन में बुद्धि को लगाइये । यदि कहो कि साधन ही नहीं जानता हूँ तो उसमें बुद्धि कैसे लगा सकूंगा ? इस पर भगवान् कहते हैं कि वे साधन मैंने पहले से ही तैयार कर रखे हैं । जिनके लिए तू अब प्रार्थना करता है । 'हि' पद से कहते हैं कि यह अर्थ योग्य ही है । यदि यह उचित न होवे तो इतने समय तक, अर्थात् जब तक मैंने प्रकट हो दर्शन दिए, साधन परम्परा स्थिर न रहे, अतः साधन सिद्ध ही है, यों समझ; आलस्य त्याग देना चाहिये ।।२९।।

आभास—ज्ञानार्थं च तपः कुर्वित्याह—

आभासार्थ—ज्ञान प्राप्ति के लिए 'तप' कर यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् ।**
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् ! लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान् ।।३०।।

श्लोकार्थ—तू फिर तपस्या करके मत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर । हे ब्रह्मन् ! इन दोनों से आवरण रहित लोकों को हृदय के भीतर देखोगे ।।३०।।

सुबोधिनी—भूयस्त्वमिति । यथा पूर्वं तपः कृतम्, तथैव ततोऽपि भूयस्तपः कर्त्तव्यम् । पुनः पदादिपरित्यागेन भूयःपदप्रयोगेण अर्थद्वयमभिप्रेतमिति ज्ञायते । तपसि आस्था कर्त्तव्या, विद्या मदुपासनायै कर्त्तव्या । सा चोपासना मद्विषयैव । **ताभ्यामुपासनातपोभ्यां** हृदयमध्य एवं **अपावृतान् लोकान् द्रक्ष्यसि** । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं तदधिकारद्योतनार्थम् । न हि ब्रह्मभावव्यतिरेकेण कश्चित्तस्मिन् लोकान् द्रष्टुमर्हति । **अपावृतान्** मदीयान्, अन्ये तु त्रिविधा जीवाः कालादिभिरावृता एव भवन्ति । सर्वेषामेव जीवानामपावृतत्वे तु त्रैविध्यं न स्यादिति केचित् । परमार्थतो वा अपावृताः सर्व एव ।।३०।।

व्याख्या—जैसे पहले तप किया, वैसे ही उससे भी विशेष तप करना चाहिऐ । पुनः न कह कर 'भूयः' यह कहने से दो भावार्थ हैं । एक तो तपस्या में श्रद्धा रखनी चाहिए । तथा मेरी उपासना कर सको इसलिए ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, यह उपासना मेरे सम्बन्ध वाली ही हो यों करने से उपासना और तप करने से) हृदय के मध्य में ही आवरण रहित लोकों को तू देखेगा । हे ब्रह्मन ! सम्बोधन देकर यह प्रकट किया है कि तुम इसके अधिकारी हो । ब्रह्मभाव से रहित कोई भी अन्य हृदयों में लोकों को नहीं देख सकता हैं । आवरण रहित कहने का आशय है कि यह लोक मेरे है । दूसरे जीव तो तीन प्रकार के हैं जो कालादि से आवृत नहीं रहते हैं । कितनेक कहते हैं कि यदि सर्व जीव आवरण युक्त हों तो उनका त्रैविध्य हो नहीं सकता है, अथवा वास्तविकता तो यह है कि सर्व जीव आवरण रहित ही हैं ।।३०।।

श्लोक——तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः ।
द्रष्टाऽसि मां ततं ब्रह्मन्! मयि लोकांस्त्वमात्मनः ।।३१।।

श्लोकार्थ–हे ब्रह्मा ! अनन्तर (बाद में) आत्मा में (अपने में) और लोक में भक्तिवाला तूं सावधान होकर देखेगा कि मैं सर्व में व्याप्त हूं और आत्मा के सम्बन्ध वाले मुझमें लोकों को देखेगा ।।३१।।

सुबोधिनी—ततो भवानात्मानं प्रजावदन्तरतमान् लोकांश्च दृष्ट्वा (?) आत्मत्वेन ज्ञानात् स्वस्मिन् लोके च भक्तिर्भविष्यति । स्नेहांशोऽस्त्येव, माहात्म्यस्य दृष्टत्वात् । स्नेहो माहात्म्यं च मिलितं भक्तिर्भवति । लोके च अपावृतत्वदर्शनान्माहात्म्यज्ञानम्, स्वान्तरत्वात्स्नेहः, एवमुभयत्र भभियुक्तः । तत्रैको दोषः सम्भवति, भगवत्तस्तुल्यता । तदभावार्थं समाहितो भवेत् । एतदुभयात्मज्ञानं भक्तिश्च न स्वतन्त्रा, किन्तु भगवज्ज्ञानार्थमिति, तज्ज्ञान कदा भविष्यतीति सावधानः । तदा मां द्रक्ष्यसि । स्वमध्ये लोकान् लोकमध्ये च मामिति, यत्रैव भक्तिस्तन्मध्ये स्थिताः प्रकाशन्ते । अतः तत्त्वमस्याद्यपि बोधनं स्वरूपे ब्रह्मणि भक्त्यर्थम् । ततः स्वस्मिन्नेव स्थितं भगवन्तं द्रक्ष्यतीति । ननु स्वस्मिन् लोके च कथं भगवत्साक्षात्कारः ? तत्राऽऽह–**ततमिति** । सर्वत्र व्याप्तम् । पुन**र्ब्रह्मन्निति** संबोधनं प्रकृतोपयोग्यधिकारसूचकम् । तदा मयि भक्तिरस्त्येव । तदा तानेव मद्गतानपि द्रक्ष्यसीत्याह–**आत्मसम्बन्धिनि मयि लोकानिति** ।।३१।।

व्याख्या—पश्चात् तूं अपने को तथा भीतर रहे हुए लोकों को प्रजा के समान देखेगा तो आत्मपन के ज्ञान होने से, अपने में और लोक में भक्ति होगी, स्नेह का अंश तो है ही और माहात्म्य भी देखा जिससे स्नेह और माहात्म्य दोनों के मेल से ही भक्ति होती है । लोक में बिना आवरण के सर्व पदार्थों के दर्शन से भगवान के माहात्म्य का ज्ञान होता है । लोक अपने अन्दर (भीतर) है । जिससे उनमें स्नेह तो है ही इस प्रकार दोनों (अपने में और लोकों) में भक्ति वाला तूं होगा । यों होने पर एक दोष होने का सम्भव है । वह दोष है भगवान् से समानता यह दोष न होवे इसके लिए तूं सावधान रहना । ये दोनों आत्म रूप हैं ऐसा ज्ञान और भक्ति स्वतन्त्र (अर्थात् अपने लिए) नहीं हैं । किन्तु भगवान् का ज्ञान होने लिए के है, वह ज्ञान कब होगा तदर्थ सावधान रहना चाहिए । जब इस प्रकार सावधान रहेगा अर्थात अपने को भगवान् के तुल्य (समान) न समझेगे तब मेरे दर्शन होंगे, किस प्रकार होंगे ? वह बताते हैं कि अपने भीतर लोकों को और लोकों के भीतर मेरे दर्शन होंगे । जहां ही भक्ति है अर्थात जिसमें भक्ति है उसके भीतर ही लोक स्थित हो प्रकाशित होते हैं. अतः वह तूं हैं इस वाक्य का ज्ञान भी ब्रह्म स्वरूप में भक्ति होने के लिए है, ऐसी भक्ति होने के बाद अपने में ही भगवान् स्थित है । यों दर्शन करोगें अपने में और लोक में भक्त

होने पर भगवान् का साक्षात्कार (दर्शन) कैसे होगा ? इस शंका के निवारण के लिए कहते हैं कि (ततं) मैं सर्वत्र व्याप्त हूं। सर्व में फैला हुआ हूँ। फिर 'अमन्' सम्बोधन देने का आशय यह है कि प्राकृत विषय में (चालू प्रसंग में) भी आपका अधिकार है। इसकी सूचना देने के लिए है। तब मुझमें भक्ति है हो यह सिद्ध हो जायेगा उस वक्त मेरे में गये (रहे) हुए भी उनको ही देखोगे, इसलिए 'आत्म सम्बन्धिनिमयि लोकानिति' कहा है। आत्म सम्बन्ध वाले मेरे भीतर लोकों को देखोगे ॥३१॥

आभास—नन्वेवं ज्ञानस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्कच खण्डशो ज्ञानप्रयोजनान्याह। तत्र लोके विततं भगवज्ज्ञानं सर्वदोषनिवर्तकम्, भगवदधिष्ठानत्वेनैव सर्वस्य ज्ञातत्वान्न कोऽप्यग्रे दोषः संभवति। **'यो मामजमनादिं च'** इति वाक्यात् भगवज्ज्ञाने सर्वपापक्षयः सिद्धः। अतो विततज्ञानं यादृशमपेक्ष्यते, कश्मलनिरसने, तादृशं रूपमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने से कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए निम्न श्लोकों में क्रमशः ज्ञान का प्रयोजन बताते है इसमें पहले बताते हैं कि लोक में सर्वत्र व्याप्त भगवत् स्वरूप का ज्ञान सर्व दोषों को मिटा देता है। सर्व पदार्थों का अधिष्ठान भगवान् ही है। ऐसा ज्ञान हो जाने पर फिर आगे कोई भी दोष हो, ऐसा सम्भव नहीं रहता है। 'योमामजमनादिंच' इस भगवद्गीता के वाक्यानुसार भगवत् ज्ञान होने पर सकल पापों का नाश हो जाता है। अतः इस प्रकार के व्याप्त ज्ञान की अज्ञान निवृति में जिस रूप की अपेक्षा है वह रूप कहते हैं।

श्लोक—**यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।**
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जैसे काष्ठों में अग्नि व्याप्त है वैसे मैं सर्व भूतों में स्थित हूं यों जब **लोक** मुझे देखते हैं तब पापों (अज्ञान) से छूट जाते हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—यदा त्विति। सर्वभूतेषु यथा दारुष्वग्निस्तथा चेदात्मानं विततं पश्यति, नत्वाकाशवत्। स हि लौकैरावृतस्तदपगममात्रेण प्रकाशते, न तु मथनेनाऽग्निरिव। घर्षणेन चाऽयमभिव्यक्तो भवति। तथा योगेन, निरन्तरभावनया वा, मनसाऽऽत्मधर्षणेन बहिरार्द्रतानिराकरणार्थं तपसा च तदभिव्यक्तं भवति, **स्थितं प्रथमत** एव। सर्वेष्वपि दारुष्वेकस्मिन्नपि सर्वावयवे निर्गतोऽग्निस्तुल्य एव। एकश्च सः, भेदकप्रमाणाभावात्। एवं सर्वत्र विचारं कृत्वा योगेन भगवन्तं पश्यति। **प्रतिचक्षणं** परीक्ष्य दर्शनम्। तदेव सर्वेषां लोकानां सर्वकश्मलनिरसनं भवति। **अतो** लोकेऽप्ययमर्थः सिद्ध इति तव कश्मलनिरसने कः सन्देह इत्यर्थः। **तर्ह्येवेति** मध्ये कश्मलनिरसनं बाधितम् ॥३२॥

व्याख्या—जैसे काष्ठ (लकड़ी) में अग्नि व्याप्त है वैसे भगवान् सर्वभूतों में व्याप्त है यों जब लोक भगवान् को देखते हैं तब पापों से छूट जाते है अर्थात् उनके पाप स्वत: नाश हो जाते हैं किन्तु यदि भगवान् को आकाश की तरह व्याप्त देखते है तो पापों से छूटते नहीं है अर्थात् उनका अज्ञान नष्ट नहीं होता है कारण कि आकाश लोकों से आच्छादित है वह लोकों के दूर हो जाने से दीखता है, परन्तु अग्नि जैसे मन्थन करने से प्रकट हो दर्शन देती है वैसे आकाश नहीं, किन्तु प्रभु भी काष्ठ में अग्नि की तरह सर्वत्र व्याप्त होने से योग एवं भक्ति द्वारा नित्य मन से चिन्तन करने से बाहर की आर्द्रता (गीलापन) तप द्वारा निवृत करने आदि मन्थन से प्रभु प्रकट हो दर्शन देते हैं, स्थित तो पहले ही हैं ।

जो अग्नि सर्व काष्टों में व्याप्त है वह एक काष्ट के मन्थन करने से उसके सर्व अवयवों से जो अग्नि प्रकट होती है वह अग्नि सर्वत्र व्याप्त अग्नि का ही रूप है, क्योंकि अग्नि एक ही है, वह प्रकट अग्नि दूसरी है इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार विचार कर योग द्वारा भगवान् को सर्वत्र देख सकता है, वह देखना भी परीक्षा पूर्वक होता है । तब सर्व लोकों का सर्व कश्मल (पाप और अज्ञान) नष्ट होता है अत: लोक में भी जब यह अर्थ सिद्ध ही है तो तुम्हारे कश्मल नाश होने में कौनसा संदेह है ? कोई नहीं है । तब ही कहा है कि जब तक भगवदर्शन नहीं हुआ है तब तक साधन और साध्य प्राप्ति के बीच वाले कश्मल नाश होने में रुकावट रहतो है ।।३२।।

आभास—अन्यद्यज्ज्ञानद्वयमस्ति, स्वस्य ब्रह्मत्वेन ज्ञानम्, स्वस्मिन् प्रजाज्ञानं च । भगवति प्रजाज्ञानं सर्वेषामेवाऽस्तीति न तदत्र निर्दिश्यते, अन्ययो: फलं स्वाराज्यम् । तदाह–

आभासार्थ—दूसरे जो, दो ज्ञान है – १. मैं ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान । २. अपने भीतर है । ऐसा ज्ञान । भगवान् में प्रजाएं हैं ऐसा ज्ञान सर्व को है, इसलिए उस ज्ञान का यहाँ निर्देश नहीं किया दूसरे दोनों का फल स्वाराज्य है, यों निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः ।**
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति ।।३३।।

श्लोकार्थ—जब भूत, इन्द्रियां, गुण और अन्त:करण रहित केवल स्वरूपमात्र आत्मा को मेरे अन्दर देखता है तब स्वाराज्य प्राप्त करता है ।।३३।।

सुबोधिनी—**यदा रहितमिति** । भूतेन्द्रियगुणाशयैः रहितमात्मानं **स्वरूपेण** चिद्रुपेण औडुलोमिमतवत् **मयोपेतमात्मानं पश्यन्** । **स्वाराज्यं** स्वरूपानन्दानुभवम्, स्वस्मिन् विद्यमानेषुवा आधिपत्यम्, प्राप्नोति ।।३३।।

व्याख्या—यह कथन औडुलौमि के मतानुसार है। महाभूत, इन्द्रियाँ, गुण एवं अन्तः करण बिना वाले आत्मा को चेतन रूप स्वरूप से, मेरे अन्दर रहे हुवे आत्मा को देखता है तब स्वाराज्य (भगवत्स्वरूप के आनन्द) का अनुभव करता है अथवा अपने में विद्यमान जीवों पर अधिपत्य प्राप्त करता है ॥३३॥

आभास—स्वस्मिन् विद्यमानान् लोकान् पुत्रानिव चेत्स्रक्ष्यसि, तदा त्वद्धृदये न कोऽपि दोष आलस्यादिरुद्गमिष्यतीत्याह—

आभासार्थ—अपने भीतर विद्यमान् जीवों को जब सन्तति को तरह उत्पन्न करोगे तब तुम्हारे हृदय में आलस्यादि कोई दोष उत्पन्न न होगा यों निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः ।**
नात्माऽवसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः ॥३४॥

श्लोकार्थ—तुझ पर मेरी विशेष कृपा है, जिस कारण से, अनेक कर्मो का विस्तार करते हुए जो विविध प्रजाएँ उत्पन्न करोगे तो भी तेरा अन्तः करण अप्रसन्न न होगा अर्थात् खेद को प्राप्त न होगा ॥३४॥

सुबोधिनी नानाकर्मवितानेनेति। यथा बहुकार्यकर्ता बहूनि काष्ठादीनि प्रसार्य यथोपयोगं सर्वं करोति, तथा देवतिर्यङ्मनुष्यादिभावजनकं कर्म प्रसार्य यथायोग्यं चेत्प्रजाः स्रक्ष्यसि, तदा कर्मानुसारेण करणात् ते **आत्मा** अन्तःकरणं **नावसीदति** न खिन्नं भविष्यति। इदं ज्ञानमात्रेण न भविष्यतीति सहकार्यन्तरमाह-**अस्मिन्** कार्ये ते तुभ्यं **वर्षीयानेव ममाऽनुग्रहो** वर्तत इत्यर्थः ॥३४॥

व्याख्या—जैसे बहुत कार्य करने वाला बहुत काष्टादि उपकरण को पहले प्रसारता (इकट्ठा करता) है फिर उन सबका यथोचित उपयोग करता है उसी तरह तू भी देव, तिर्यक्, मनुष्यादि की उत्पत्ति करने वाले कर्म (उपकरण) को इकट्ठा कर जो यदि यथायोग्य प्रजाओं को रचोगे तो कर्मानुसार करने से तेरी आत्मा अर्थात् अन्तः करण खिन्न न होगा। यह केवल ज्ञान से न होगा। दूसरे सहकारी की भी इसमें आवश्यक्ता होती है। वह सहकारी क्या है? उसको 'ते वर्षीया ने चमदनुग्रहः' पद से कहता है इस कार्य करने में तुझ पर मेरी अनुग्रह वर्षा हुई ही है। ब्रह्म कल्प में दिया हुआ वर अब तक स्थिर है अर्थात् चालू है ॥३४॥

आभास—स्य स्वरूपं वदन् तत्कार्यमपि विशदयति—

आभासार्थ –उस कृपा का स्वरूप तथा उसके कार्य का भी निम्न श्लोक में स्पष्टीकरण करते हैं।

श्लोक—**ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः ।**
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ।।३५।।

श्लोकार्थ—पापी रजोगुण, तुम आद्यऋषि का बन्धनकर्त्ता नहीं होगा प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए भी तुम्हारा जो मन है वह मुझ में ही लगा हुआ होगा इस कारण से पापी रजोगुण का प्रभाव तुम पर नहीं चल सकेगा ।।३५।।

सुबोधिनी—ऋषिमाद्यमिति । आद्यमृषिं ब्रह्माणं **त्वां पापीयान् रजोगुणो** गर्वजनकः, उत्पत्त्यादिविक्षेपकर्ता वा, **न बध्नाती**त्यनुग्रहः । तत्र हेतुः–**यद्**यस्मात्कारणात् तत्र **मयि मनो** निर्बद्धम् । भगवति निर्बद्धं मनः, गुणातीते शुद्धसत्त्वे वा, रजसा व्याप्तं न भवति । कर्म निर्दिशति–**प्रजाः संसृजत इति** । सम्यगभिप्रायपूर्वकं प्रजाः सृजतो मनो रजोगुणव्याप्तं न भवत्येव, कर्मस्वभावात् । कूपद्वहिः स्थितस्य स्थिरस्य कूपे लम्बमानः पादः कदाचिदपि न पतति, तथा मयी निर्बद्धं मनः कदाचिदपि रजोव्याप्तं न भवतीत्यर्थः ।।३५।।

व्याख्या—अत्यन्त पापी रजो गुण जो गर्व उत्पन्न करने वाला है और प्रजा उत्पन्न करने आदि में विक्षेप (उद्वेग) करने वाला है वह आद्यऋषि जो तुम ब्रह्मा हो उसका बन्धन कर्त्ता नहीं हो सकेगा, इस प्रकार मेरा अनुग्रह तुम पर है। क्योंकि तुम्हारा मन सतत् मेरे परायण है। भगवान् में लगा हुआ मन अथवा गुणातीत शुद्ध सत्त्व रूप में तत्पर मन, उस मन पर रजोगुण अपना प्रभाव नहीं डाल सकता है। पूर्ण अभिप्राय पूर्वक प्रजाओं की रचना करने वाले का मन रजोगुण से प्रभावित होता ही है, क्योंकि कर्म का वैसा ही स्वभाव है जो मनुष्य कूप से बाहर स्थिर खड़ा है तो उसका पैर कूप में लटकता हुवा होने पर भी वह मनुष्य कूप में कभी भी नहीं गिरता है। वैसे ही मुझमें जिसका मन स्थिर-स्थित है उसका रजोगुण से व्याप्त (प्रभावित) कदापि नहीं होता है ।।३५।।

आभास— ननु एतत् ज्ञाने भवति, मम तु यत् त्वद्विषयकं ज्ञानं जातम्, तत् प्रतीकज्ञानमाहोस्वित् स्वरूपज्ञानमिति सदेहे निराकरणार्थमाह–

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञान होने पर रजोगुण से मुक्त आपका दर्शन होता है। मुझे जो आपके सम्बन्ध का ज्ञान होने पर दर्शन हुआ है वह साक्षात् स्वरूप का दर्शन हुवा है या प्रतीक की

प्रतीति हुई है ? ऐसा ब्रह्म को यदि संशय हो तो उसका निराकरण करने के लिए निम्न श्लोक भगवान् कहते हैं।

श्लोक—ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् ।
यन्मां त्वं मन्यसे युक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥३६॥

श्लोकार्थ - यद्यपि देहधारियों को मेरा ज्ञान होना कठिन है, तो भी तूने मुझ से ज्ञान लिया है । पहले तो तू मुझे महाभूत, इन्द्रियां और गुणों से युक्त जानता था ॥३६॥

सुबोधिनी—ज्ञातोऽहमिति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । **अद्येति** पूर्वज्ञानं व्यावर्तयति । पूर्वं हि बहिःस्थितं भगवन्त ज्ञात्वा क्रियया प्राप्तव्य इति ज्ञातवान्, **तदद्येति** व्यावर्त्यते । अन्तःस्थितो भगवान्, तपसा भक्त्या च आविर्भूतं भगवन्तं दृष्ट्वा, विचारपूर्वकं यत् ज्ञातवान्, एतज्ज्ञानम् । तदाह **ज्ञातोऽहमिति** । ननु किमाश्चर्यम्, बहव एव ब्रह्मविदस्त्वां जानन्ति । तत्राऽऽह-**दुर्विज्ञेय इति** । देहिनामहं दुर्विज्ञेय एव देहाभिमानिनः स्वदेहं पश्यन्तो मामपि पश्यन्तः कदाचिदपि न मां ब्रह्मत्वेन ज्ञातुं शक्ष्यन्ति । न ह्यन्तः कामे स्थिते कामिनीस्पर्शः कामोद्बोधको न भवति, तदभावे तु कामिन्यपि पुरुषान्तरवत्प्रतिभाति । एवं भगवानपि सच्चिदानन्दविग्रहः, प्राकृते विग्रहे विद्यमाने, तदभिमानवता अन्यत्र विनियोगात् नाऽऽत्मत्वेन दृश्यते । स्वविनियोगाद्भगवन्तमपि परं देहिनमेव मन्यन्ते, अतो देहिनां दुर्विज्ञेयः । किञ्च, यस्मात्कारणात् त्वमेव पूर्वं मां **भूतेन्द्रियगुणात्मभिर्युक्तं मन्यसे** । **भूतानि** पृथिव्यादीनि देहारम्भकाणि, **इन्द्रियाण्यु**भयविधानि, **गुणा** विषयाः, **आत्मा** अन्तःकरणचतुष्टयम् । सर्वैरेव तत्त्वांशैर्युक्तम्, अन्यथा बहिरन्वेषणं न संभवति ॥३६॥

व्याख्या—'तु', पद से यह सूचित किया है कि तुम मुझे जैसा मानते थे वैसा मानना सत्य नहीं था । 'अद्य' पद का भी यही आशय है तुम्हारा पूर्व का ज्ञान सत्य नहीं था । पहले भगवान् को बाहर स्थित जान कर, समझता था कि यह क्रिया (साधन) से प्राप्त करने योग्य हैं । आज तो उससे विपरीत जानने लगे हो कि भगवान् तो सर्व में भीतर व्याप्त हैं । तप से भक्ति से प्रकट हुए उस भगवान् को देख कर, विचार पूर्वक जो अब समझे हो वही सत्य ज्ञान है । इसलिये कहा है कि 'ज्ञातोऽहम्' मैंने जाना इसमें कौनसा आश्चर्य है । क्योंकि बहुत ही ब्रह्मवेत्ता आपको जानते हैं, इस पर कहते हैं कि देहधारियों को मैं दुर्विज्ञेय ही हूं । देह के अभिमानी जैसे अपनी देह को देखते हैं वैसे ही मेरी देह को पाञ्च भौतिक का समर्थक समझते हैं न कि मुझे अर्थात् मेरी देह (स्वरूप) को ब्रह्म रूप (व्यापक व अलौकिक दिव्य (स्वरूप) समझते हैं ।

जैसे जिस पुरुष के भीतर काम वासना नहीं है जो कामिनी के स्पर्श होते हुह भी उसमें काम जाग्रत नहीं होता है। काम के अभाव में नारी भी पुरुष जैसी ही मालूम होती है। इसी तरह सच्चिदानन्द स्वरूप वाले भगवान् प्राकृत देह के अभिमानी को आत्म स्वरूप से देखने में नहीं आते हैं, क्योंकि उसका लौकिक विषयों के सुखों में ही विनियोग होता रहता है। अपना इसी तरह विनियोग होने से भगवान् की भी अपने समान देह ही मानते हैं। अतः प्रभु का ज्ञान देहाभिमानियों को होना कठिन है। किञ्च जिस कारण से तुम भी पहले मुझे महाभूत,[1] इन्द्रियाँ,[2] गुण[3] और अन्तः[4] करण चतुष्टय युक्त समझते थे। यदि यों नहीं समझते तो बाहर नहीं ढूंढता ॥३६॥

आभास—अत एव मया तुभ्यं मत्स्वरूपं न प्रदर्शितमित्याह—

आभासार्थ—इस लिये ही मैने अपने स्वरूप का उस समय दर्शन नहीं कराया था। यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा में दर्शितो बहिः।**
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥३७॥

श्लोकार्थ—मेरे जानने की इच्छा से तुम जल में कमल की नाल की मूल में मुझे ढूंढ़ रहे थे, इस कारण से मैंने तुम्हें बाहर अपना स्वरूप नहीं दिखाया ॥३७॥

सुबोधिनी—**तुभ्यमिति। मद्विचिकित्सायां** मत्स्वरूपज्ञानेच्छायां **मे आत्मा** मया **बहिर्न प्रदर्शिताः**, अन्यथा तवोत्पन्नमन्यथाज्ञान त्वद्बुद्ध्या संवादि जातमिति तव स्वरूपज्ञानमेव न स्यात्। अतोऽन्तर्बहिः स्थितोऽप्यहं तव तथा ज्ञानं मा भवत्विति बहिः स्वात्मानं न प्रदर्शितवान्। न च वक्तव्यम्, मया न भ्रान्तमिति; अन्यथा जले अन्वेषणार्थं न गच्छेः। तदाह—**नालेनेति**। नालद्वारा सलिलस्य मध्ये पुष्करस्य मूलं विचिन्वतस्ते तुभ्यमिति संबन्धः ॥३७॥

व्याख्या—तुम्हें मेरे स्वरूप के जानने को चित्त में इच्छा थी। इसी कारण से मैंने अपने स्वरूप का दर्शन तुम्हें बाहर नहीं कराया। यदि दर्शन कराता तो तुम्हें उस समय जो असत् ज्ञान था वह तुम्हारी बुद्धि में स्थिर हो (ठस) जाता, जिससे मेरे स्वरूप का सत्य ज्ञान नहीं हो सकता

१—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पांच तत्व जो देह को बनाने वाले हैं।
२—दोनों तरह की कर्म और ज्ञान इन्द्रियाँ।
३—विषय। ४—मन चित्त बुद्धि और अहंकार।

था। इसलिये यद्यपि मैं तुम्हारे अन्दर और बाहर स्थित था तो भी तुम्हें वैसा असत् ज्ञान न हो, इसलिये अपना आत्म स्वरूप बाहर न दिखाया।

मैंने जो इस प्रकार लीला की वह भ्रान्त होकर की थी। यों तुम नहीं कह सकोगे। क्योंकि यदि मैं दर्शन देता तो तुम जल में कमल नाल में भीतर ढूढनें न जाते। तुम भीतर भी मुझे समझ-कर ढूंढने जाओ इसलिये बाहर दर्शन नहीं दिया ॥३७॥

आभास—तर्हीदानीं मया ज्ञातमिति किं प्रमाणम् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—तो अब मैंने जान लिया इसमें क्या प्रमाण है? इस पर यह श्लोक कहते हैं

श्लोक—**यच्चकर्थाऽङ्ग ! मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।**
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! (हे पुत्र) तुमने मेरी कथा (स्तोत्र) मेरे अभ्युदय के लक्षण युक्त कहीं, अर्थात् इस स्तोत्र से अपना ज्ञान प्रकट कर दिखाया, एवं तपस्या में निष्ठा सिद्ध कर दिखाई यह सर्व मेरा अनुग्रह ही है, जिससे कहते हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—यच्चकर्थाऽङ्गेति। यद्यस्मात्कारणात् हे अङ्ग, मत्स्तोत्रं चकर्थ। ननु स्तोत्रमात्रेण कथं स्वरूपज्ञानम् ? तत्राऽऽह—**मत्कथाभ्युदयाङ्कितमिति**। मम कथा, अभ्युदयश्चोभाभ्यामङ्कितम्। स्तोत्रेण भवता स्वज्ञानं सर्वं प्रकटितम्। तत्स्तोत्रं मत्कथया संबद्धम्, मदीयैव वार्ता तत्र कथिता। **मत्कथेति** वचनादन्यकथा तस्मिन् समारोप्य न कथितेति सूचितम्, किन्तु या कथा सा मदीयैव। विशेषतोऽपि तव ज्ञान जातम्, यतो मदभ्युदयेनाऽपि अङ्कितम्। अभ्युदयो नाम सर्वोत्तमरूपं चरित्रम्। ननु कथं पूर्वं मम ज्ञानं न जातम्, पश्चाद्वा जातमिति। तत्राऽऽह—**यद्वा तपसि ते निष्ठेति**। **यद्वेति**वचनात् पूर्वार्द्धं पुनरप्यनुषज्जते। यत्त्वया एतादृशं स्तोत्रं कृतम्, यद्वा ते तपस्येवं निष्ठा, एष सर्वोऽपि ममाऽनुग्रह एव। अतः पूर्वमनुग्रहाभावाददर्शनं पश्चादनुग्रहाद्दर्शनमिति। न तु तपसा दर्शनम्, तपस्त्वनुग्रहसूचकम् ॥३८॥

व्याख्या—हे अङ्ग ! तुमने मेरा स्तोत्र (स्तुति) किया है। यदि कहो कि केवल स्तोत्र से स्वरूप ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि वह स्तोत्र, मेरी कथा गुणानुवाद) तथा सर्व से उत्कर्ष दिखाने वाला था, जिसके द्वारा तुमने मुझ सम्बन्धी सर्व ज्ञान प्रकट कर दिखाया है। उस स्तोत्र में मेरी ही कथा (गुणानुवाद) है। इसके सिवाय दूसरा अन्य किसी का उसमें सम्बन्ध मात्र नहीं है, जो कुछ उसने कहा वह मुझ सम्बन्धी ही था। इस स्तोत्र से यह भी समझने में आ गया कि तुमको मेरा विशेष ज्ञान है। जिससे इसमें मेरा सर्वोत्तम स्वरूप, और चरित्र कहा हुआ है। ऐसा ज्ञान मुझे पहले क्यों न हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि तुम्हारे तप में निष्ठा

भी हुई, तब ज्ञान पूर्णतः सिद्ध हुआ। 'यद्वा' पद से यह सूचित किया है कि पूर्वार्द्ध का तात्पर्य फिर उत्तरार्द्ध में प्रकाशित करते हैं।

जो तुमने इस प्रकार का स्तोत्र किया और तपस्या में तुम पूर्ण निष्ठा-वान हुए। यह सर्व मेरा ही अनुग्रह है। इससे पहले मेरा अनुग्रह नहीं था। जिससे दर्शन नहीं हुए पीछे अब अनुग्रह हुआ तब दर्शन हुए।

तपस्या से दर्शन नहीं हुए हैं। तपस्या तो केवल अनुग्रह सूचक है 'दर्शन तो वास्तव में अनुग्रह से ही हुए हैं ॥३८॥

आभास—एवं तस्य ज्ञानबुद्धिसंयोगः पूर्वं जात एवेत्युक्त्वा तदुपपादितम्। इदानी चित्तस्य भगवच्चरित्रपरता या प्रार्थिता, तत्राऽऽह—प्रीतोऽहमिति चतुर्भिः—

आभासार्थ—ब्रह्मा को ज्ञान और बुद्धि का संयोग पहले हुआ ही है। यों कह कर उसका प्रतिपादन किया है। अब भगवच्चरित्र परायणता के लिए जो प्रार्थना की है, उस प्रार्थना की सिद्धि को कारण प्रीतोऽहमिति श्लोक से ४ श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया।**
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं माऽनुवर्णयन् ॥३९॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार मैं प्रसन्न हुआ हूं, वैसे हो तथा तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि लोकों पर विजय प्राप्त हो, ऐसी इच्छा से निर्गुण एवं सगुण प्रकार से मेरा वर्णन करते हुए तुमने मेरी स्तुति की है ॥३९॥

सुबोधिनी—चित्त भगवच्चरित्र परं तदैव भवति, यदि भगवान् प्रीतो भवति। प्रीतः केन जायत इति सन्दिग्धम्। तत्र भगवानाह—**अस्त्विति**। भगवांश्चेच्छुभाशंसनं करोति, तदा प्रीतो भवति। शुभाशंसनं परमेष्टः करोति। अतः सर्वथा आराधितः परमेष्टश्चेद्भवति, तदा कृत्या प्रीत्यनुसारेण व्यापारे क्रियमाणेऽपि तस्य कालादिवशात् केनाऽप्यंशेन तदानुगुण्यं चेन्न भवेत्, ततोऽपि भजने पुनरेवं करणे, पुनर्भजने, अशक्यमिव भगवान् मन्यमानःसत्यवाक् सत्यसङ्कल्पस्तस्येष्टमाशंसते। तदा तस्य सत्यवाक्त्वात् सर्वप्रतिबन्धकनिवृत्त्या भगवत्प्रसादौपयिकमेव तस्य सर्वं सिध्यति, तदा प्रसन्नो भवतीति नाऽन्योन्याश्रयः। **ते भद्रमस्त्व**-तियोजनायामपि अयमेवाऽर्थोऽपेक्ष्यते। अनुवादे तु अस्त्विति प्रार्थना नोपपद्येत। प्राप्तकालेऽपि लोटोऽनुवाद एव स्यात्। अतस्ते भद्रमेव, त्वद्बुद्धेश्चरित्रपरता भविष्यतीत्यर्थः, लोकानां स्वाधीनकरणं त्वदभिलषितं सेत्स्यतीति। ननु चरित्रपरतैव ममाऽभीष्टा, न तु लोकानां विजय इति चेत्तत्राऽऽह—**यदस्तौषीरिति**। यदि लोकविजयेच्छा न स्यात्, तदैतावत्स्तोत्रं न कृतं स्यात्, एवं प्रकारेण च न कृतं स्यात्। गुणमयम् नन्तगुणपरि-

पूर्णम् । **निर्गुणं** सत्त्वादिभिः प्राकृतैर्गुणैस्तीतम् । निर्दोषपूर्णगुणविग्रहप्रकारेण मामनुवर्णयन् यदस्तौषीः, अतो ज्ञायते साभिलाषस्तादृशेषु गुणेष्विति ॥३९॥

व्याख्या—जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब ही चित्त भगवान् के चरित्रों में तत्पर हो जाता है। भगवान् कैसे प्रसन्न हों ? इसके लिए निश्चय नहीं है। इस पर भगवान् स्वयं कहते हैं कि जब मैं शुभ होने की इच्छा करता हूं, तब समझना चाहिए कि मैं प्रसन्न हूआ हूं। जो परमप्रिय हैं वह शुभ की इच्छा प्रकट करता है। अतः सर्व प्रकार से आराधन किये हुए प्रभु जब परमप्रिय होते हैं, तब कृति से प्रीति अनुसार कार्य करते हुए भी उसका कालादि वश होने से किसी भी अंश से कार्य अनुकूल नहीं होता हो तो भी फिर भजन करने पर भी भगवान् को प्रसन्न करना अशक्य समझता है, तो भी सत्य वादी एवं सत्यसंकल्प वाले प्रभु उसको इच्छित ही चाहते है तो भगवान् के सत्यवादो पन सर्व प्रति बन्धों को निवृत्ति होने से भगवान् को प्रसन्न करने में वह उपयोगी हो जाने से उसके सर्व कार्य सिद्ध हो जाते हैं, जिससे उनको प्रसन्नता प्रकट होती है। इस प्रकार होने से अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं लगता हैं। 'ते भद्रं अस्तु' इस पद को योजना से भी यह ही अर्थ अपेक्षित होता हैं। अर्थात् प्रभु शुभेच्छा प्रकट करे, यह अपेक्षा ही रहती हैं।

अनुवाद में 'अस्तु' यह प्रार्थना उत्पन्न नहीं होती हैं, जो प्रार्थित देने का समय होने पर भी 'अस्तु' यह लोह लकीर (निश्चित) अनुवाद ही है। अतः तेरा कल्याण ही हो। अर्थात् तेरी बुद्धि भगवान् के चरित्र परायण होगी। लोकों को अपने आधीन करना यह तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि कहो कि मुझे तो चरित्र परायणता ही इच्छित हैं, न कि लोक मेरे आधीन हो, यह अभीष्ट है। इस पर उत्तरार्द्ध कहते हैं। 'यदस्तौषीरिति' यदि लोक पर विजय करने की इच्छा न होती तो इस प्रकार का अनन्त गुणों से पूर्ण निर्गुण स्तोत्र (स्तुति) न करते निर्दोषपूर्णगुणविग्रह कह कर जो मेरा वर्णन कर स्तुति को हैं जिससे जाना जाता है कि ऐसे गुणों की तुमको अभिलाषा है ॥३९॥

आभास—तर्हि स्तोत्रमात्रेण कथमेतावत्फलं भविष्यति ? न हि स्वाभिलषितकीर्तनमात्रेण अभिलषितं प्राप्यते । तत्राऽऽह—

आभासार्थ—तो केवल स्तोत्र से कैसे इतना फल प्राप्त होगा, अपने अभिलषित के कीर्तन मात्र से ही अपना अभिलषित प्राप्त नहीं होता है। इस पर निम्न श्लोक कहा है।

श्लोक—**य एतेन पुमान्नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् ।**
तस्याऽऽशु संप्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः ॥४०॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष इस स्तोत्र से नित्य मेरी स्तुति कर मेरा भजन करे तो सर्वकामेश्वर, मैं उस पर भी शीघ्र प्रसन्न हो जाता हूं ॥४०॥

सुबोधिनी—य एतेनेति। अनेन स्तोत्रेण यद्यन्योऽपि स्तोत्रं कुर्यात्, तस्याऽप्यहं प्रसन्नः, किमुत तुभ्यम्। **एतेन** स्तोत्रेण **पुमान्** स्वतन्त्रः **नित्यं नियमेन मां भजेत्।** भगवत्परिचर्यायां पूजायां वेदं स्तोत्रं स्वयं कुर्वन्निवाऽर्थानुसन्धानपूर्वकं, त्वमिव, यः स्तूयात्; स्तुत्वा च परिचर्यां कुर्यात्; तस्य शीघ्रमहं प्रसन्नो भवामि। स्तोत्रं न परिचर्याङ्गम्। प्रसादः परिचर्याफलम्, शैघ्र्यं स्तोत्रफलम्। कालकृतदोषनिवृत्तकमिति फलित। तेन किं भवेदित्याशङ्क्याऽऽह—**सर्वकामवरेश्वर इति।** सर्वे ये कामवरा अभिलषितपदार्थसिद्धयः तेषामीश्वर इत्यतो मयि प्रसन्ने सर्वे कामास्तस्य स्वतः सिद्धा इत्यर्थः ॥४०॥

व्याख्या—यदि इस स्तोत्र से दूसरा कोई भी स्तुति करे तो उस पर भी जब मैं प्रसन्न होता हूँ तो कौनसी बड़ी बात है। इस स्तोत्र से स्वतन्त्र पुरुष नित्य मेरा भजन करे भगवत्सेवा व पूजा में यह स्तोत्र अर्थ के अनुसन्धान पूर्वक मानों स्वयं बताता हुआ तुम्हारे समान स्तुति करे और स्तुति कर सेवा करता रहे तो उस पर मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूं। परिचर्या सेवा का अंग स्तुति नहीं है, किन्तु प्रसाद (अनुग्रह) सेवा का फल है। स्तुति का फल शीघ्रता है, अर्थात् स्तोत्र से मैं जल्दी प्रसन्न होता हूं।

शीघ्रता का आशय है कि स्तोत्र से कालकृत दोष जिससे देरी होती है, वह निवृत हो जाता है, उससे क्या हो ? इस शंका पर कहते हैं कि 'सर्व कामेश्वरः' जितनी भी लोक में कामनाओं की सिद्धियाँ हैं, उनका ईश्वर मैं हूँ। इसलिए मैं जिसपर प्रसन्न हुआ उसकी कामनाएँ स्वतः (अपने आप) सिद्ध हो जाती हैं। यह ही कहने का अर्थ (तात्पर्य) है ॥४०॥

आभास—ननु किं परम्परया ? स्तोत्रेण कामा एव फलिता भवन्तीति कुतो नोच्यते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—स्तोत्र से कामनाओं की सिद्धि होती है यों क्यों नहीं कहते हो ? परम्परा कहने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका पर यह श्लोक कहा है।

श्लोक—पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना ।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—कूपादि खुदवाने से तपसे, यज्ञों से, दान देने से, योगों से और समाधि से पुरूषों का मोक्ष होता है। यह ही मेरी प्रीति (प्रसन्नता) है। इस प्रकार तत्त्व जानने वालों का मत है ॥४१॥

सुबोधिनी—पूर्तेनेति। पूर्तं खातादि, **तपः** कृच्छ्रादि, **यज्ञा** अग्निष्टोमादयः, साधनत्वेन कृताः, **दानानि** तुलापुरुषादीनि, **योगा** आत्मसंयमादयः, **समाधिश्चित्त**कारणम्। एवं **बाह्य-**

धर्मेण केवलं भोगनिरोधेन क्रियाभावरूपशारीरेण, वैदिककायवाङ्भनः कृतेन, लोकोपकाररूपेण इन्द्रियान्तःकरणनिरोधेन च सर्वप्रकारेणाऽपि धर्मेण यत्फलं सिध्यति । नितरां च श्रेयोरूपं मोक्षरूपमपि । तत्र विचारे क्रियमाणे किं फलमिति, तदेव फलं यत्फलमेव, न साधनम्, नाऽप्यफलम । तत्र मोक्षस्याऽपि **सर्वाभिलषितत्वाभावात्** वैषयिकसुखनिवर्त्तकत्वेन न तत्फलमेव । यथा वैषयिकाणां गाथा—**'अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति : न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम !'** इति । अतः सर्वसाधारणमेकं निर्णेतव्यम्, यत्सर्वेषामेव सर्वफलरूपं भवति । तत्र सतामयं निर्द्धारः – **मत्प्रीतिरिति** । तस्या एव तथात्वात् । ते हि खलु तत्त्वविदः **सर्ववस्तूनां** याथात्म्यं जानन्ति अतस्तेषां संमतम् ॥४१॥

व्याख्या— पूर्त' पद से जीवों को जल प्राप्ति के लिए कूप (कूए) आदि खुदवाना कहा है । 'तप' शब्द कष्ट आदि देकर शरीर शोषण कहा है । 'यज्ञ' पद से अग्निष्टोमादि को साधन समझ कर करना कहा है । दान' पद से तुला पुरुष आदि दान करना कहा है । 'योग' शब्द से आत्मसंयम कहा है, समाधि पद से चित्त की एकाग्रता बनाई है इसी तरह बाहर के धर्मों से तथा केवल विषय भोग के न करने से और कार्य के अभाव रूप (कर्म न करना) शरीर के धर्म से, और काया वाणी और मन से किये हुए वैदिक कर्मों से लोकोपकारक कर्मों के करने से, इन्द्रियां एवं अन्तःकरण के विरोध से, तथा इसी तरह सर्व प्रकार के धर्म करने से भी फल सिद्ध होता है और नितरां श्रेयो रूप मोक्ष का भी फल मिलता है, इन सब फलों का विचार किया जाय तो वास्तविक फल कौनसा है, उसको ही फल कहा जा सकता है, जो साधन न होवें, किन्तु फलस्वरूप हो, एवं अफल भी जो न हो वही वास्तव में फल है । मोक्ष भी सकल पुरुष नहीं चाहते हैं क्योंकि मोक्ष, केवल सर्व विषयों की निवृत्ति करना मात्र है अतः वह भी फल ही नहीं है) जैसे वैषयिकों की एक गाथा (कथा) है —

'अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वंस इच्छाति:
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ! ॥

अर्थ–हे गौतम ! जन रहित वृंदावन में वह शृगाल बनना पसन्द करता है किन्तु विषय रहित मोक्ष पसन्द नहीं करता है ।

अतः सर्व साधारण को एक ही ऐसा निर्णय करना चाहिए जो सर्व को उपयोगी होवे, अर्थात् सब के लिए फल रूप हो । इस विषय में सत्पुरुषों का निर्णय यह है कि मेरी **प्रसन्नता ही** फल है । वे सत्पुरुष सर्व वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप जानने वाले हैं । अतः उनकी यही सम्मति है कि भगवत्प्रसन्नता ही फल है । ४१ ।

आभास—ननु बहूनां प्रीतिहेतूनामुक्तत्वान्मुख्यं तव प्रीतिसाधनं किमित्याशङ्क्याम् स्वयं हेतुपूर्वकं जीवसम्मत्यर्थमाह–

आभासार्थ—आपने अपने में प्रीति होने के बहुत कारण (साधन) बताये हैं। उनमें से आपको प्रसन्न करने वाला मुख्य साधन कौनसा है ? इस प्रकार की आकांक्षा होने पर भगवान् स्वयं हेतु सहित अपने प्रसन्नता का साधन जीव सम्मत्यर्थ (अर्थात् जो जीव को भी योग्य लगे वह) इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अहमात्माऽऽत्मनां धातः ! प्रेष्ठ सन् प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे धाता ! लोक में जो भी प्रिय हैं, उनसे भी अधिक प्रिय मैं हूं, क्योंकि आत्माओं का भी आत्मा मैं हूं। इसलिए जिस (आत्मा) के लिए देह आदि प्रिय होते हैं, उन आत्माओं के आत्मा, मुझमें प्रेम करना चाहिए ॥४२॥

सुबोधिनी—अहमात्मेति। सर्वेषामात्मनामहमात्मा। यथा सर्वस्यैव गङ्गाजलस्य गङ्गा, यथा वा सर्वस्या अपि मृदपृथिवी स्थूला, यथा वा पत्रशाखादीनां वृक्षः; एवमहं सर्वेषामात्मनामात्मा। **धातरिति** सावधानतया करणार्थं संबोधनम्। नन्वात्मत्वनिरूपणे किं फलम् ? तव तु तदात्मत्वे हानिरेव पूर्णत्वात्, तेषां च क्लिष्टत्वात्। तेषामपि नोपकारः, स्वत एव दुःखितत्वात्। यद्वस्तुतो न भवति हितकर्तृ, स्वयं चेतनरूपम्, स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपम्, सत्, तत्किं ज्ञानं भवेत् ? यथा लोके स्वतोऽदाता ज्ञातोऽपि न दाता भवति। तस्मादनुवादार्थ एव सर्वोऽपि भगवद्वाद इत्याशङ्क्याऽऽह—**प्रेष्ठः सन् प्रेयसामिति**। प्रेयसामप्यहं प्रियः, अतः प्रीतिविषयत्वात् मयि रतिं कुर्यात्। देहादौ च रतिं न कुर्यात्, देहादिरवात्मसंबन्धात्प्रियः। करोम्येवाऽहं सर्वमेव हितम्, परं मयि स्नेहाभावात् जीवास्तत्सुखं न गृह्णन्ति। अतो यदि मयि रतिं कुर्यात्, तदा स्नेहात् गृह्णीयात्, पश्चात् कृतार्थ एव भवेत्। ज्ञानमप्येतदर्थमेव, मत्कृतं गृह्णीयादिति। भिन्नतयाऽपि भजने भजनेफलत्वेन गृह्णीयात्। तत् तस्याऽज्ञानात्: तद्विचारेणेष्टमपि मद्विचारेण न भवतीति नोच्यते। ज्ञानापेक्षयापि प्रीत्या शीघ्रं गृह्णतीति प्रीतिरेवोच्यते। तेभ्यः स्वकीयं सर्वमेव दीयत इति स्वातन्त्र्यमपि दत्तमिति **कुर्यादिति** बोध्यते। अतः प्रीत्यादिकमपि प्ररोचनार्थमेवोच्यते वस्तुतस्तु मयि रतमेव कुर्यात्, मत्कृतग्रहणार्थम्। प्रीतस्त्वहं सर्वदा स्वभावतः; अग्रहणादप्रीत एव, यथा स्वयमात्मानमेवाऽऽक्रोशति। तन्निवृत्त्यर्थं रतिरुच्यमाना नित्यप्रीतिपरत्वेनोच्यते। अनयैव भगवच्चरित्रपरता भवति। भगवत्कृतमेव चरित्रम् ॥४२॥

व्याख्या—समस्त आत्माओं का आत्मा मैं हूं। जैसे सफल गङ्गाजल की आत्मा गङ्गा है, जैसे सर्व मृतिकाओं की आत्मा स्थूल पृथ्वी है और जैसे पत्रशाखादि की आत्मा वृक्ष हैं। इसी तरह मैं सर्व आत्माओं की आत्मा हूँ। इन तीन दृष्टान्तों से यह सूचित किया गया है कि जीव एवं

परमात्मा का अंशांशी सम्बन्ध ही है, न कि कोई अन्य सम्बन्ध है। धात ! सम्बोधन ब्रह्मा को सावधान करने के लिए है। अपने को सर्व की आत्मा कहने से क्या फल है ? आपको उनका आत्मा बनने से हानि ही है कारण कि आप पूर्ण हैं। वे क्लिष्ट-क्लेश संयुक्त (दुःखी) हैं, यों (आत्मा) कहने से उनका भी उपकार नहीं, क्योंकि वे स्वतः दुःखी हैं जो वास्तव में हित कर्त्ता नहीं होता है, स्वयं चेतन रूप नहीं और न स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप हैं. एवं न सत् है, उसके ज्ञान से क्या लाभ ? जैसे लोक में जो पुरुष स्वतः स्वयं दानी नहीं है, उसको जान लेने से वह दानी बन जायेगा क्या ? नहीं बनेगा। इसलिए यह भगवान् का कथन केवल अनुवाद रूप ही है। ऐसी शका होने पर कहते हैं 'प्रेष्ठःसन् प्रेयसामिति' लोक में जो भी प्रिय पदार्थ हैं, उनमें सबसे प्रिय मैं हूँ। अतः प्रेम का विषय 'मैं' होने से मुझमें ही 'इति' प्रेम करना चाहिए। देह आदि में रति (प्रीति) नहीं करनो चाहिए। देह आदि तो आत्मा के सम्बन्धी होने से प्रिय है। सर्व का सर्व हित मैं ही करता हूँ, किन्तु जीवों का मुझमें स्नेह न होने से वे उस सुख को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः यदि मुझमें रति (प्रेम) करें, तो स्नेह से वह सुख ग्रहण कर कृतार्थ हो सकें। ज्ञान भी इसलिए है कि मेरा किया हुआ ग्रहण करें। यदि भिन्नता से भी भजन हो तो भी भजन के फलरूप में सुख को ग्रहण कर सकते हैं। भिन्नता समझ जो पूजन होता है, वह पूजन अज्ञान के कारण होता हैं। यह अज्ञान कृत पूजन, उस कर्ता के विचार से इष्ट (प्रिय) है, किन्तु मेरे विचारानुसार वह श्रेष्ट (इष्ट) नहीं हैं। इसलिए नहीं कहा। ज्ञान की अपेक्षा भी प्रीति से शीघ्र मेरा कहना मान लेता है, जिससे प्रीति हो कही गई है। प्रेमियों को अपना सब कुछ ही दिया जाता है। विशेष क्या कहा जाय, स्वतन्त्रता भी उनको दे दी इसलिए कहा गया है कि कुर्यात प्रेम करना चाहिए। प्रीति आदि करने को जो कहा है वह भी उनको प्रसन्न करने के लिए जिससे वे प्रेम करे। वास्तव में तो मेरे किये हुए को ग्रहणार्थ मुझमें प्रेम ही करना चाहिए। मैं सर्वज्ञ स्वभाव से प्रसन्न ही हूँ। मेरा कहा ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिए मैं अप्रसन्न ही होता हूँ। जैसे कोई अपनी स्वयं ही अपकीर्ति कराते अप्रसन्न होता है वैसे मेरे कहे हुए का ग्रहण न होने से अप्रसन्न होता हूँ। मैं अप्रसन्न न हो जाऊं अर्थात् प्रसन्न होऊं इसीलिए मुझसे प्रेम न कर सके, ऐसी शिक्षा देता हूं कि नित्य प्रेम करना चाहिए। इसो तरह प्रेम करने से ही चित्त भगवान् में सदैव लगा रहता है जो कुछ भगवान् करे वह भगवच्चरित्र हो है।४२॥

आभास—एवं द्वितीयं प्रश्नमुपपाद्य वेदादिविस्मरणलक्षणं तृतीयमुपपादयति—

आभासार्थ—इसी तरह दूसरे प्रश्न का उपादान कर (समझाकर) अब वेद विस्मरण रूप तृतीय प्रश्न को समझाते हैं।

श्लोक— **सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना।**
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते ॥४३॥

श्लोकार्थ—आत्मा मैं से उत्पन्न तू वेदमय इस देह से जैसे पहले प्रजाओं को रचि थी, वैसे अब भी मुझसे जो प्रजा सम्बन्धित हो रही है, उन सब को प्रकट कर ।।४३।।

सुबोधिनी--**सर्ववेदमयेनेति** । अयं तव देहो वेदमय एव, तेन देहाविरोधेन देहेनैव करणेन सर्वं कुरु । तावतैव वेदाः स्थास्यन्तीति भावः । ननु केवलवेदरूपस्य कथं करणत्वम् ? न हि देहमात्रं करणम् किन्तु प्रयत्नाविष्टम् । अतः स्वप्रयत्नमन्यत्र व्यापारयित्वा करणत्वेन दण्डादिर्व्यपदिश्यते,वस्तुतस्त्वात्मैव करणम् । तत्राऽऽह-**आत्मनेति** । आत्मसहितेन देहेन एकभावापन्नेनोभयेन । **आत्मा** त्वम् । अनेन मद्गतमपि सामर्थ्यं तत्रैव दत्तमिति **सर्वं त्वया** कर्तुं शक्यमित्युक्तम् । ननु जीवा यथा आत्मानस्तथा अहमपीति, कथं मम सामर्थ्यं भवेत्तत्राऽऽह—**आत्मयोनिनेति** । आत्मा योनिः कारणं यस्य । मदुत्पन्नत्वात् तव सर्वसामर्थ्यं सिद्धमिति भावः । अतो **यथापूर्वं प्रजाः सृज** । **याश्च प्रजा मय्यनुशेरत** इति भगवदीयानामपि सृष्टयाज्ञा । एवं चतुर्विधा अपि जीवास्त्वया स्रष्टव्या इति ।।४३।।

व्याख्या— यह तेरी देह वेदमय ही है । अतः रचने में वह तेरी (देह) विरोधी नहीं होगी । इसलिए इस करणरूप देह से सब पदा कर । तब तक ही वेद रहेंगे, अर्थात् वेद विस्मरण नहीं होगा । यदि कहो कि वेद रूप करण (साधन) कैसे होगे ? इसका उत्तर देते हैं कि देह मात्र करण (साधन) नहीं है किन्तु जिस देह के साथ प्रयत्न भी जुड़ा हुआ है, ऐसी देह करण है । जैसे अपने प्रयत्न का दूसरे में उपयोग करा कर चक्र डण्डे आदि को घड़े की रचना में साधन कहा जाता है, किन्तु वास्तव में मुख्य साधन अपनी देह ही है । वैसे वास्तव में आत्मा ही कारण है । इसलिए 'आत्मना' पद से कहा है कि आत्मा सहित देह से यों कह कर आत्मा एवं देह का एकीभाव बताया है । तू आत्मा है, इससे मेरे में रही हुई सामर्थ्य तुझमें रखी है । इससे तू सब कुछ कर सकता है जीव जैसे आत्माऐं हैं वैसे मैं भी हूँ, तो फिर मुझमें सामर्थ्य कैसी होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मयोनिना' तू आत्मा से उत्पन्न हुआ है, मुझसे उत्पन्न होने से तुझमे सर्व सामर्थ्य सिद्ध ही है । अतः जैसे पहले सृष्टि की थी, वैसे अब भी कर और जो प्रजा मुझमे सम्बन्ध वाली अर्थात् भगवदीय है उनकी भी सृष्टि कर ऐसी आज्ञा की है- इस प्रकार चारों प्रकार के जीवों की सृष्टि तुझे करनी चाहिए ।।४३।।

आभास--एतावदुपदिश्य भगवानन्तर्हित इत्याह--

आभासार्थ--इतना उपदेश ब्रह्मा को देकर भगवान् अन्तर्हित हो गये । यों मैत्रेयजी इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक--**मैत्रेय उवाच । तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः ।**
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ।।४४।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे कि कमल नाभि भगवान् जो प्रकृति तथा पुरुष दोनों के ईश्वर हैं, वे प्रभु जगत् की रचना करने वाले उस ब्रह्मा को अपने स्वरूप से जगत् प्रकट कर दिखाने के अनन्तर अन्तर्हित हो गये (छिप गये) ॥४४॥

सुबोधिनी—**तस्मा इति**। जगत्स्रष्टृत्वादेव तस्मै नाधिकं किञ्चिद्देयम्। ननु तत्साधनानि चेत्तदनुगुणानि न भवेयुः, तदा किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—**प्रधानपुरुषेश्वर इति**। प्रधानं पुरुषश्च, तयोरीश्वरः। भगवदाज्ञया तावपि ससामग्रीकौ तदनुगुणौ भवतः। तावताऽपि तस्याऽज्ञानमाशङ्क्य एकवारं सर्वमेव जगत्प्रदर्शयामास, एवं कुर्विति ज्ञापनार्थम्। तदाह **व्यज्येदमिति**। इदं जगत् प्रकटं कृत्वा। स्वेनैव रूपेणाऽभिव्यक्तिकरणे न हेत्वन्तरमुत्पत्त्यादिकमपेक्ष्यते, किन्तु स्वस्मिन्नेव शरीरे विद्यमानं जगत् साधारणं प्रकाशितवान्। **स्वेन रूपेणेत्यग्रेऽपि** संबध्यते, न तु तद्रूपं स्थापयित्वा गतः, किन्तु तेनैव रूपेण तिरोहितवान्। **कञ्जनाभ इति** तदतिरोधाने जगत्कर्तुं न शक्यत इति सूचितम्, न हि कश्चिद्भगवदीयो भगवत उपरि सृष्टिं कर्तुं शक्नोतीति ॥४४॥

इति श्री भागवत् सुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मण भट्टात्मज श्री वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीय स्कन्धे नवमाध्याय विवरणम्।

व्याख्या— जगत् का ही सृष्टा होने से उस (ब्रह्मा) को विशेष कुछ देने की आवश्यकता नहीं थी। जगत् रचने के साधन यदि उसके अनुकूल न बने, तो फिर ब्रह्मा कैसे जगत् रच सकेगा? इस पर कहते हैं कि 'प्रधानपुरुषेश्वरः' आज्ञा देने वाले कमल नाभ भगवान् प्रकृति तथा पुरुष के ईश्वर हैं। जिससे प्रकृति और पुरुष दोनों सामग्री सहित ब्रह्मा की सहायता करेंगे। यों होने पर यदि ब्रह्मा को जगत् रचने का ज्ञान न आवे तो दयालु प्रभु ने एक बार समग्र ही जगत् जो आपके स्वरूप में ही स्थित था, उसको अपने स्वरूप से प्रकट कर ब्रह्मा को दिखा दिया कि इस प्रकार का जगत् बना दें। यों जगत् प्रकट कर दिखाने के अनन्तर दूसरे उत्पत्ति आदि अन्य हेतुओं की अपेक्षा नहीं रही। 'स्वेनरूपेण' इस पद का आगे भी सम्बन्ध है।

वह (कमलनाभ) स्वरूप यहां धर कर नहीं अन्तर्हित हुए, किन्तु उस स्वरूप को अन्तर्हित कर दिया, क्यों कि यदि आप विराजते तो ब्रह्मा जगत् रच नहीं सकते थे कोई भी भगवदीय भगवान् के सामने जगत् रचने का साहस नहीं कर सकता है। इसलिए सर्वज्ञ प्रभु अन्तर्हित हो गये। इस अध्याय में यह सिद्ध किया है कि जीव भगवान् के समान नहीं है। अतः मुख्यतः ईश्वर ही साधन (जगत्कर्ता) है ॥४४॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध नवम् अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

———

॥ ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की उत्पति ॥

सनकादिक—अवतार **राग बिलावल**

ब्रह्मा ब्रह्मरूप उरधारि । मन सों प्रगट किए सुत चारि ।
सनक, सनन्दन, सनतकुमार । बहुरि सनातन नाम ये चार ।
ये चारों जब ब्रह्मा किए । हरि कौ ध्यान धरयो तिन हिये ।
ब्रह्मा कह्यौ, सृष्टि विस्तारौ । उन यह वचन हृदय नहीं धारौ ।
कह्यौ यहै हम तुम सौं चहैं । पाँच बरष के नित हीं रहैं ।
ब्रह्मा सौं तिन यह बर पाई । हरि-चरननि चित राख्यौ लाइ ।
सुकदेव कह्यौ जाहि परकार । सूर कह्यौ ताही अनुसार ॥६-३८७॥

रुद्र उत्पति **राग बिलावल**

सनकादिकनि कह्यौ नहीं मानौ । ब्रह्मा क्रोध बहुत मन आन्यौ ।
तब इक पुरुष भौंह तें भयौ । होत समय तिन रोदन ठयौ ।
ताकौं नाम रुद्र विधि राख्यौ । तासौं सृष्टि करन कौं भाख्यौ ।
तिन बहु सृष्टि तामसी करी । सो तामस करि मन अनुसरी ।
ब्रह्मा मन सो भली न भाई । सूर सृष्टि तब और उपाई ॥७-३८८॥

सप्तऋषि, दक्ष प्रजापति तथा स्वायंभुव मनु की उत्पति **राग बिलावल**

ब्रह्मा सुमिरन करि हरि नाम । प्रगटे रिषय सप्त अभिराम ।
भृगु, मरीचि, अंगिरा, बसिष्ठ । अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, अतिसिष्ठ ।
पुनि दच्छादि प्रजापति भये । स्वायंभुव सो आदि मनु जए ।
इतनें प्रगटी सृष्टि अपार । सूर कहाँ लौं करै विस्तार ॥८-३८९॥

सुर—असुर उत्पति **राग बिलावल**

ब्रह्मा रिषि मरीचि निर्मायौ । रिषि मरीचि कस्यप उपजायौ ।
सुर अरु असुर कस्यप के पुत्र । भ्रात बिमात आपु मैं सत्रु ।
सुर हरि-भक्त, असुर हरि-द्रोही । सुर अति छमी, असुर अति कोही ।
उनमें नित उठि होइ लराई । करैं सुरनि को कृष्न सहाई ।
तिन हित जो-जो किये अवतार । कहौं सूर भागवतऽनुसार ॥९-३९०॥

बाराह अवतार **राग बिलावल**

ब्रह्मा सौं स्वयंभु मनु भयौ । तासौं सृष्टि करन कौं कह्यौ ।
तिन ब्रह्मा सौं कह्यौ सिर नाइ । सृष्टि करौं सो रहै किहिं भाइ ।
ब्रह्मा हरि-पद ध्यान लगायौ । तब हरि बपु-बराह धरि आयौ ।
ह्वै बराह पृथ्वी ज्यौं ल्यायौ । सूरदास त्यौं ही सुक गायौ ॥१०-३९१॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित

बन्ध सृष्टि (जीव सर्ग) प्रकरण

"अध्याय"—१०

दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन

कारिका—**जगतो भूतसर्गस्तु ब्रह्मा सोऽत्र निरूपितः ।**
भगवत्कृपया युक्तस्तादृशाऽस्य निदानता ॥१॥

कारिकार्थ—जगत् के महाभूतों की सृष्टि का रूप ब्रह्मा है, यों यहां निरूपण किया है। वह स्वरूप भगवत्कृपा से युक्त होने के कारण जगत् का कारण है ॥१॥

कारिका—**मात्राणि सर्वरूपाणि दश सृज्यान्यतोऽत्र वै ।**
दशमे विनिरूप्यन्ते मात्रात्वं चापि कालतः ॥२॥

कारिकार्थ—इस दसवें अध्याय में निश्चय से सकल रूपों वाली दश मात्राएं ही यहां सृज्य हैं जिनका निरूपण हुआ है, मात्रात्व भी काल से होता है। अर्थात् काल के कारण हुआ है ॥२॥

कारिका—**कालेनैव गृहीतास्ते भोग्याः, भोक्ताऽन्यथा तु सः ।**
भूतानामत्र संबन्धो रूपणार्थं कृतिः पुरा ॥
ब्रह्मणा निर्मिता, प्राह, द्वयं मात्रेति रूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—काल ने ही जब मात्राओं को ग्रहण किया तब वे भोग्य बनी काल से गृहीत नहीं होती तो भोक्ता ही रहती, इनका यहां भूतों के साथ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध बताने के लिये, ब्रह्मा ने जो प्रथम कार्य किया वह यहां कहा है। मात्रा दो रूपों से हैं यह मैत्रेयजी ने कहा है।३।

आभास--प्रथमतो ब्रह्मनिर्मितमात्रानिरूपणार्थम्, भगवदाज्ञया ब्रह्मा कथंकृतवानिति भगवत्सेवकधर्मज्ञानार्थम् विदुरः स्वयमुल्लासेन पृच्छति--

आभासार्थ--पहले ब्रह्मा के निर्मित मात्राओं के निरूपण के लिये भगवदाज्ञा से ब्रह्मा ने जगत् किस प्रकार रचा, यह भगवत्सेवक के धर्म का ज्ञान जानने के लिये विदुरजी स्वयं उल्लास से निम्न श्लोक द्वारा पूछते हैं--

श्लोक--विदुर उवाच--**अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः ।**
प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ॥१॥

श्लोकार्थ--विदुर जी कहने लगे (पूछने लगे)--भगवान के अन्तर्हित हो जाने के बाद लोकों के पितामह समर्थ ब्रह्मा ने कितने प्रकार की दैहिकी एवं मानसी प्रजा उत्पन्न की ॥१॥

सुबोधिनी--**अन्तर्हिते भगवतीति** । भगवति धर्मिण्यन्तर्हिते तद्धर्माणामप्यन्तर्भाव आवश्यक इति, ब्रह्मणा कथं जगत्स्रष्टुं शक्यत इति प्रश्नः । **लोकपितामहत्वात्** जनकस्याऽपि जनकत्वात् तज्जनितकार्यदर्शनेन स प्रपञ्चो जात एवेति सन्देहः । उत्पादने करणद्वयम्, देहो मनश्च । वाक् तु वैदिकसृष्टौ प्रविशति, अतः करणद्वयमेव । **कतिधा प्रजाः ससर्जेति** । प्रकारभेदे भगवदीयं ज्ञानमपेक्ष्यत इति तथोक्तम् । ननु देहेनैव करणमुचितम् अतो मानस्यः कथं पृच्छ्यन्ते ? तत्राऽऽह--**विभुरिति** । सर्वप्रकारेण करणसमर्थः ॥१॥

व्याख्या--जब भगवान् ने धर्मी स्वरूप को अन्तर्हित कर लिया तो उसके धर्म भी अवश्य अन्तर्हित हो गये होंगे ऐसी दशा में ब्रह्मा जगत् कैसे बना सके होंगे ? जिसका उत्तर देते हैं कि

प्रकाश कार का सार--गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज के विवेचन पूर्वाध्याय में प्रथम ब्रह्मा कृत स्तुति तथा भगवान् की प्रसन्नता को 'भूत' कहा अनन्तर ब्रह्म ज्ञान को भूत कहा फिर ब्रह्मा को पुरुष की बुद्धि का रूप कहा, अब फिर ब्रह्मा को भूत रूप कहा है यह सर्व परस्पर विरुद्ध हैं, इनकी सङ्गति कैसे होगी ? इस विरोध को मिटाकर इनकी सङ्गति बनाने के लिये कहते हैं कि 'भगवत्कृपा युक्तः' पद कह कर सिद्ध करते हैं कि यह सर्व भगवत्कृपा के ही पृथक पृथक रूप हैं इसलिये विरोध नहीं है ।

'काल' कहने का तात्पर्य है कि यदि मात्राओं को काल ग्रहण न करता तो वे भोक्ता ही रहती । काल के ग्रहण से वे भोग्य बनी है । मात्राऐं द्रव्य रूप शक्ति उत्पन्न करने वाली है । वैसी शक्ति तब धर सकती है जब उनमें भोक्तापन की शक्ति भी होवे, अतः मैत्रेयजी कहते हैं कि दोनों शक्तियाँ जिनमें हैं वे मात्राऐं हैं । 'प्रकाश'

लोक का पितामह होने से अर्थात् जनक का भी जनक होने से रच सके किन्तु फिर सन्देह होता है कि भगवान् ने स्व-स्वरूप ले जगत् प्रकट कर दिखाया था जिससे जगत् तो पैदा हो ही गया था तब क्यों कहा जाता है कि ब्रह्मा के जगत् उत्पन्न करने में हो साधन है। पहला देह दूसरा मन, वाणी का उपयोग तो वैदिक सृष्टि रचने में हो जाता है। अतः शेष दो (देह और मन) करने रहते हैं।

कितने प्रकार की सृष्टि बनाई ? यह प्रश्न रहता है। प्रकारों के भेद के लिये भगवान् के ज्ञान की अपेक्षा (आवश्यकता) रहती है। इसलिये यों कहा है। देह से ही बनाने का कार्य करना उचित है। तो फिर 'मानसो' मन से उत्पन्न करने का प्रश्न क्यों किया ? इस पर कहते हैं कि ब्रह्मा (विभु) सर्व समर्थ हैं, इसलिये विदुरजी ने मानसी सृष्टि का भी प्रश्न किया है ॥१॥

आभास—अग्रे निरूप्यमाणस्योऽपि जगतो भगवदीयत्वबोधार्थं पूर्वोक्तानपि प्रश्नान् स्मारयति—

आभासार्थ—अनन्तर जिस जगत् का निरूपण करना है उसका भगवदीयत्व बताने के लिए पहले कहे हुवे प्रश्नों का स्मरण कराते हैं।

श्लोक—**ये च मे भगवन् ! पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम !।**
तान् वदस्वाऽऽनुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ॥२॥

श्लोकार्थ—हे बहुत जानने वालों में भी श्रेष्ठ भगवन् ! मैंने जो भी अर्थ आप से पूछे है, उनका क्रमशः उत्तर देकर मेरे सर्व संशय दूर करो (मिटा दो) ॥२॥

सुबोधिनी—**ये च मे भगवन्पृष्टा इति**। **भगवन्निति** संबोधनमविस्मरणे हेतुः। **त्वयीति** त्वत्समीपे। **अर्था इति** ते प्रश्नाः प्रयोजनरूपाः, अतः सर्वथा ज्ञातव्याः। **बहुवित्तमेति** संबोधनमुत्तरदाने हेतुः। तेषामानुपूर्व्येण कथनप्रार्थनं स्वबुध्या ग्रहणार्थम्। उत्तरं च यथा निःसंदिग्धं भवति, तथा वक्तव्यम्। तदाह—**छिन्धि नः सर्वसंशयानिति**। न त्वयं पृथक्प्रश्नः ॥२॥

व्याख्या—हे भगवन् ! यह सम्बोधन देने से सूचित किया है आपको वे प्रश्न विस्मृत नहीं हुए होंगे, 'त्वयि' पद से यह स्पष्टता की है कि वे अर्थ (प्रश्न) प्रयोजन वाले हैं। यों आप सर्वथा जानते ही हैं, 'बाहुवित्तम' ! सम्बोधन से जताया है कि आप उत्तर देने में समर्थ हैं। उन प्रश्नों का उत्तर क्रमशः पहले से ही दे देने की प्रार्थना इसलिए की है कि आप उनको अपने ज्ञान से उत्तर दोगे तो मैं भी समझ सकूंगा क्योंकि वे उत्तर जैसे सन्देहरहित हों वैसे आप को कहने चाहिए। इसलिए कहा है कि 'छिन्धिनः सर्वसंशयान्' हमारे सर्व संशयों को मिटा दो—यह प्रश्न पृथक नहीं है ॥२॥

आभास—पृष्टं द्वयमपि आदरेणाऽऽहेत्याह—

आभासार्थ—पूछे हुए दो प्रश्नों का उत्तर आदर से कहा है यों इस श्लोक में सूतजी कहते हैं—

श्लोक–सूत उवाच–**एवं संचोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः ।**
प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव ! ॥३॥

श्लोकार्थ—सूतजी ने कहा है। भार्गव उस संयमी (विदुर) ने इस तरह उत्तर देने के लिए कौषारव मुनि को जब प्रेरणा की तब वह प्रसन्न होकर, उन प्रश्नों का तथा जो हृदय में स्थित थे उनका सादर उत्तर देने लगा ॥३॥

सुबोधिनी- **एवं संचोदित इति** । **प्रीतः प्रत्याहेति** प्रथमप्रश्नोत्तरम् । पूर्वोक्तान् प्रश्नांस्तु अविस्मृतान् हृदिस्थानेव । **अथेति** भिन्नक्रमेण, न तु प्रथमप्रश्नशेषतया । **भार्गवेति** संबोधनं भगवच्छेषतया सर्वनिरूपणमिति ज्ञानार्थम् । बहुधा व्याख्यातानि तु पदानि पुनर्न व्याख्यायन्ते विशेषार्थाभावे ॥३॥

व्याख्या—मैत्रेयजी (कौषारव मुनि) ने प्रसन्न होकर आदर से पहले प्रश्नों का जो भूले हुए नहीं थे हृदय में स्थित थे अर्थात् स्मरण ही थे उनके उत्तर दिये; 'अथ' पद से यह सूचित किया है कि इनका उत्तर भिन्न प्रकार से दिया जावेगा न कि पहले प्रश्नों के शेषपन से, भार्गव यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो सर्व निरूपण किया है वह सर्व भगवच्छेषतया (अङ्ग रूप) है। इसका ज्ञान कराने के लिए बहुत प्रकार से जिन पदों की व्याख्या की गई है उनकी फिर व्याख्या नहीं की जाती है। कारण कि यों करने में कोई विशेष अर्थ नहीं है ॥३॥

आभास—तत्र प्रथमप्रश्ने अन्तर्हितोऽपि भगवान्, स्वकीयान् षड्गुणान् ब्रह्मणि स्थापयित्वा गत इति, ब्रह्मकृतानर्थान् षड्भि, श्लोकैराह । तत्राऽपि निर्दुष्टेनकर्त्तव्यमिति दोषाभावर्थं श्लोकत्रयम् । प्रथमं भगवदाज्ञा यथा जाता, तथा ब्रह्मा कृतवानिति धर्ममाह—

आभाषार्थ—यद्यपि प्रथम प्रश्न होने का सम्बन्ध होते भगवान् अन्तर्हित हो गये तो भी अपने षड्गुण (ऐश्वर्यादि) ब्रह्मा में स्थापित करने के अनन्तर अन्तर्हित हुए।

ब्रह्मा ने जो कार्य किये वे निम्न छः श्लोकों से कहे हैं। उनमें भी जो कार्य करना है वह निर्दोष हो। फिर करता है। अतः प्रथम निर्दोष होने के लिए तीन श्लोक कहे हैं।

कारिका—**तपो ज्ञानं कृतिश्चैव दोषाभावश्च वर्ण्यते ।**
आलोचनं कृतिश्चैतदुपपादनमेव च ॥१॥

कारिकार्थ—१–तपस्या, २–ज्ञान, ३–कार्य तथा दोषाभाव वर्णन किया है अनन्तर, ४–आलाचना, ५–क्रिया एवं जगत् का उत्पादन कहा है ॥१॥

पहले ब्रह्मा ने भगवदाज्ञानुसार कार्य किया, यों इस श्लोक में मैत्रेयजी 'धर्म' को कहते हैं--

श्लोक–मैत्रेय उवाच–**विरञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः ।**
आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः ।।४।।

श्लोकार्थ--मैत्रेय जी कहने लगे ब्रह्मा ने भी जैसे अजन्मा भगवान् ने आज्ञा दी थी वैसे ही भगवान् को अन्तःकरण में धारण कर देवों के दिव्यशतवर्ष तपस्या की ।।४।।

सुबोधिनी-विरञ्च्योऽपीति । भगवानन्तर्हितः विरञ्च्योऽपि तथा भूत्वा, तत्रान्तर्हितः सन्, यथा भगवदाज्ञा जाता तथा कृतवान् । अन्तस्तथावस्थातिरोधानाभावे बहिर्जगत्कर्तृत्वं न सम्भवतीति, तदुक्तमपीति । **दिव्यं वर्षशतमिति** संध्यांशे कृतयुगस्य चतुर्थो भागो निरूपितः पूर्वं च चतुर्थः, तपसि अन्वेषणे च । चतुर्थे भागे तु सर्वपदार्थनिर्माणं भविष्यति । तत उत्पन्नेषु सर्वेषु युगप्रवृत्तिः । एतत्सर्वं सूचयितुं दिव्यं वर्षशतमित्युक्तवान् । केवलं तपोधर्मो भगवदीयो न भवतीति तपसि विशेषमाह—**आत्मन्यात्मानमावेश्येति** । भगवत्यन्तः करणमावेश्य तपःकरणं भगवदुक्तमित्येव कृतवान् । तदाह—**यदाह भगवानजइति** ।।४।।

व्याख्या—भगवान् के अन्तर्हित होने के बाद ब्रह्मा भी वहां ही अन्तर्हित हो गये और जैसे भगवान् ने आज्ञा दी थी वैसा ही किया यदि भीतर वैसी अवस्था का तिरोधान न होवे तो बाहर जगत् की रचना न हो सके, इसलिए भगवान् ने जैसा कहा वैसा ही ब्रह्मा करने लगे दिव्य शत वर्ष कह कर बताया है कि वह समय संध्या शमे कृतयुग का चतुर्थ भाग था । यह चतुर्थ भाग तो पहले तपस्या एवं भगवान् को ढूंढने से समाप्त हो गया शेष चौथे भाग में सर्वपदार्थों की रचना होगी । अनन्तर सर्व पदार्थ जब उत्पन्न हो जायेंगे तब युग प्रारम्भ होगा । इन सब की सूचना देने के लिए दिव्य शतवर्ष कहे हैं । केवल तप किया जावे तो वह भगवत्सम्बन्धी (भगवदीय) नहीं होता है, अतः तपस्या में भी विशेष कर्तव्य करना पड़ता है । तब तपस्या भगवदीय होती है । वह है भगवान् को अन्तःकरण में धारण कर 'तप' करना भगवदाज्ञा भी ऐसी थी इसलिए भगवदाज्ञानुसार यों तप किया ।।४।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह-

आभासार्थ—उसके बाद जो कुछ हुआ वह निम्न श्लोकों में कहा है—

श्लोक--**तद्विलोक्याब्जसंभूतो वायुना यदधिष्ठितः ।**
पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ।।५।।

श्लोकार्थ--ब्रह्मा, जिस कमल पर बैठा था वह कमल और जल दोनों प्रलय

के समय की तेज वायु से कम्पायमान हो रहे थे यह देखकर ६ श्लोक से अन्वय (सम्बन्ध) है ।

सुबोधिनी—तद्विलोक्येति । तपसा तस्य ज्ञानं जातम्, तज्ज्ञानविषयमाह—**अब्जसंभूतो** ब्रह्मा **यदधिष्ठितः** यत्पद्ममधिष्ठाय स्थितः, तत्पद्मं दृष्टवान् । तस्य **विलोकनं** विशेषप्रकारेण, अतस्तद्गतं सर्वमेव ज्ञातवानित्यर्थः । **तत्काल कृतवीर्येण वायुना पद्ममम्भश्च कम्पितम्** । वायुना कम्पितत्वज्ञानम्, वायोश्च प्रलयकालीनत्वम् । दैत्यांशित्वेन, वायोः परिज्ञानम्, तस्मिन्ननुपसंहृते कार्यं कारणं च **न स्वस्थं भवेत्** । कालेनाऽपि दैत्येभ्यो बलं दीयते ॥५॥

व्याख्या—ब्रह्मा ने तपस्या की जिससे उसको यह ज्ञान हुआ कि मैं जिससे उत्पन्न हुआ हूँ उसी ही कमल पर बैठा हूं । यों वह कमल देखा, वह देखना भी साधारण नहीं था किन्तु विशेष प्रकार का था जिससे उसके भीतर जो कुछ था उस सब का ज्ञान ब्रह्मा को हो गया यह भी समझ गया कि यह कमल और जल जो वायु से कम्पित हो रहे हैं वह इसलिए हो रहे हैं कि प्रलय काल ने इस (वायु को ऐसी शक्ति दी है क्योंकि यह वायु दैत्यांश वाली है, यह सर्व ज्ञान होने से ब्रह्मा ने निश्चित किया कि इसका जब तक उपसंहार न किया जायेगा तब तक कार्य तथा कारण स्वस्थ न होंगे क्योंकि काल भी दैत्यों को बल दे रहा है ॥५॥

आभास—ततो धर्मज्ञानाभ्यां यत्कृतम्, तदाह—

आभासार्थ—बाद में धर्म ज्ञान से जो किया वह निम्न श्लोक में कहा है—

श्लोक—**तपसा ह्येधमानेन विद्यया चाऽऽत्मसंस्थया ।**
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद्वायुं सहाऽम्भसा ॥६॥

श्लोकार्थ—बढ़ी हुई तपस्या से, अन्तःकरण में स्थित विद्या (उपासना) से ब्रह्मा का ज्ञान विशेष बढ़ गया जिससे सर्व समझ गये, अतः अपने कार्य कारण को स्वस्थ रखने के लिए जल सहित वायु को पान कर गये ॥६॥

सुबोधिनी तपसेति । **एधमानेन तपसा विद्यया च विवृद्धं विज्ञानस्य बलं** यस्य, स इत्थोऽम्भसा सह वायुं पीतवान् । ननूपासना पूर्वमेव निवृत्तेति कथमस्या ज्ञानबलजनकत्वम्? तत्राऽऽह—**आत्मसंस्थयेति** । अन्तःकरणे सा नित्यतया स्थिता । मनसा ब्रह्मा नित्यमेव भगवत्परिचर्यां करोतीत्युक्तम् ॥६॥

व्याख्या—बढ़ी हुई तपस्या और विद्या से विशेष विज्ञान का बल प्राप्त करने से ब्रह्मा जल सहित वायु का पान कर गये उपासना (विद्या) तो पहले निवृत (बन्द) हो गई थी तो उसने ज्ञान बल को कैसे पैदा किया (बढ़ाया) ? इस पर कहते हैं कि आत्मसंस्थया' वह उपासना भीतर

अन्त:करण में स्थित होने से नित्य स्थित है अतः ब्रह्मा नित्य मन से भगवत्परिचर्या (भगवान् की सेवा) करते रहते हैं । ६।।

आभास—एवं दोषाभावं निरूप्य भयकम्पादिहेतौ वायावम्भसि च निवृत्ते, ततो यत्कृतवान्, तदाह श्लोकत्रयेण । तत्र प्रथमं पूर्वज्ञानं तस्य प्रबुद्धमित्याह—

आभासार्थ—यों जब ब्रह्मा निर्दोष हुए एवं भय और कम्प के कारण रूप वायु तथा जल की भी समाप्ति कर दी बाद में जो कुछ ब्रह्मा ने किया वह तीन श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं । उनमें से पहले (७ वें) श्लोक में कहते हैं कि ब्रह्मा को पूर्व ज्ञान की स्फूर्ति (जागृति) हो आई ।

श्लोक—**तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम् ।**
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ।।७।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने जिस कमल को अपना आसन बनाया था उसको आकाश में व्याप्त (अथवा आकाशवत् व्यापि) देखकर विचार किया कि मैंने आगे भी पूर्व कल्प (अपने दिन) में लीन हुए लोकों को इस कमल से उत्पन्न किया था अब भी यों ही (**इससे**) उत्पन्न करूँगा ।।७।।

सुबोधिनी—**तद्विलोक्येति** । **यत्** स्वेनाऽधिष्ठितं **पुष्करं वियद्व्यापि विलोक्य, प्राक्** पूर्वदिवसे **अनेनैव** प्रकारेण **अनेनैव** च पद्मेन **लोकान् कल्पितास्मि** कल्पयितास्मीत्यचिन्तयत् । कल्पितास्मीति लुट् । **अत्र** चिन्तनं विमर्शः । ब्रह्मणः शतवर्षे शतं कल्पा भवन्तीति कल्प्यते । '**प्रत्यब्दं वृक्षवत् कल्पाः**' इति वृक्षसाम्यात् तस्य वर्षान्तर एवाऽन्यथात्वं स्पष्ठम् । तेनैकैकः कल्पः संवत्सराहोरात्रसङ्ख्यापरिमितः । मध्ये त्वतिसूक्ष्मभेदं आकलयितुं न शक्यत इति न नामान्तरापादकत्वम् । तथा सति पद्मकल्पा अपि षष्ट्युत्तरशतत्रयपरिमिता भवन्ति । तदा पूर्वकल्पेऽपि पद्मेनैव जगन्निर्माणं कृतमिति '**अनेन लोकान् प्राग्लीनान्**' इति विमर्शः संगच्छते ।।७।।

व्याख्या--जिस कमल पर आप (ब्रह्मा) बैठे थे उसको आकाश व्यापी (फैला हुआ) देखकर विचारा कि पूर्व कल्प में भी इस (कमल) से ही इस प्रकार से लोकों को उत्पन्न किया था; चिन्तन पद का तात्पर्य यहां विचार करना है, ब्रह्मा के सौ वर्ष में सो कल्प होते हैं हर एक वर्ष में वृक्ष की तरह कल्प होते हैं, वृक्ष की समानता दिखाने से उसका दूसरे वर्ष में अन्य प्रकार हो जाना स्पष्ट ही है । इससे प्रत्येक कल्प वर्ष के अहोरात्र का होता है रात्रि एवं दिन के मध्य में जो स्वल्प (थोड़ा) समय का अति सूक्ष्म भेद होता है वह समझ में नहीं आने से गिना नहीं जाता है इसलिए उस सूक्ष्म भेद को दूसरा नाम नहीं दिया है यों होने से पद में कल्प भी तीन सौ साठ होते हैं । तब पूर्व कल्प में भी पद्म से ही जगत् का निर्माण किया था इससे 'लोकान्

प्राग्लीनान' में जो कहा है कि पहले कल्प में लीन हुए थे उनको ही फिर जैसे प्रकट किया था वैसे अब भी करूंगा ॥७॥

आभास—तदा पूर्वदेव कृतवानित्याह—

आभासार्थ—यों विचार करने के बाद ब्रह्मा ने पहले की तरह जगत् रचा यों निम्न श्लोक में कहा है—

श्लोक—**पद्मकोशं तदाऽऽविश्य भगवत्कर्मचोदितः ।**
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ॥८॥

श्लोकार्थ—अनन्तर भगवान् के कर्मों से प्रेरित ब्रह्मा, कमल कली (कोश) में प्रविष्ठ हो गया उस एक के बहुत विभाग किये फिर उनको तीन और चौदह भागों में बाँटा ॥८॥

सुबोधिनी—**पद्मकोशमिति** । **तदा** ज्ञाना-नन्तरम् । **तदेद** पद्मकोश**माविश्य एकं** पद्मकोश-**मुरुधा व्यभाङ्क्षीत्** । ननु भगवन्नाभिकमलं कथमेवं भङ्क्तुमर्हतीत्याशङ्क्याऽऽह—**भगवत्कर्मचोदित इति** । भगवदीयसृष्टौ भगवत एकं कर्माऽत्र संक्रान्तमस्ति, तेन प्रेरितः । तदा भगवत्कर्मणा प्रेरितभगवत्कर्मरूपत्वात् न तस्याऽपराधः क्वापि । तत्तस्य खण्डानाह—**एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधेति** । एकमेव उरुधा व्यभाङ्क्षीत्, अवान्तरलोकभेदेन सहस्रशः खण्डान् कृतवान् । जातिभेदेन विभागे क्रियमाणे सत्त्वादिभिः कृत्वा **त्रिधैव भाव्यम्** । प्रसिद्धलोकव्यवहारेण भेदे क्रियमाणे द्विसप्तधा अभाङ्क्षीत्, चतुर्दशलोकभेदेन विभागं कृतवान् ॥८॥

व्याख्या—इस प्रकार के ज्ञान होने के अनन्तर ब्रह्मा ने उस ही कमल कोश में प्रविष्ट हो (घुसकर) एक पद्मकोश के बहुत भाग किये, इस पर शंका होती है कि भगवान् के नाभि कमल को इस तरह टुकड़े २ करने के योग्य ब्रह्मा कैसे हुए ? जिस शंका को मिटाने के लिए कहा है कि 'भगवत्कर्म चोदित' अर्थात् भगवदीय सृष्टि में भगवान् का ही कर्म प्रविष्ट हुआ है जिससे प्रेरित होकर ब्रह्मा ने यों किया है या करने में समर्थ हुआ है इसलिए यह सृष्टि भगवान् का ही कार्य है उसको करने के लिए भगवत्कर्म से ही ब्रह्मा प्रेरित हो, यों करने लगे हैं अतः ब्रह्मा अपराधी नहीं है ।

उस (कमलकोश) के खण्डों का वर्णन करते हैं कि 'एक व्यभाङ्क्षीदुरुधा' एक कमल कोश के ही बहुत विभाग किये अवान्तर लोकों के भेद से सहस्रशः (हजारों) खण्ड किये, उनके जब जाति भेद से विभाग गिने जाते तो सत्वादि भेद में तीन तरह के होते हैं, प्रसिद्ध लोक व्यवहार देख जावें तो चौदह लोक भेद से विभाग किये हैं ॥८॥

आभास—ननु सर्वेषामेव लोकानानां जीवाधिष्ठानां क्रियमाणत्वात् कथं चतुर्दश-लोकेष्वेव कोटिशो जीवसङ्घाः स्थास्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—सर्व लोकों को जीवों के रहने का वही स्थान किया गया तो कोटिश (क्रोड़वाँ) जीव सङ्घ उनमें कैसे रह सकेंगे ? इस शंका का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहितः।**
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ ॥९॥

श्लोकार्थ—जीव लोक का मर्यादानुरूप भेद इतना ही स्थापित किया है निष्काम धर्म का फल ही यह ब्रह्मा का स्वरूप है ॥९॥

सुबोधिनी—**एतावाञ्जीवेति**। जीवानां स्थानभूतस्य लोकस्य संस्थया सम्यङ्मर्यादया **भेदो** विभाग **एतावानेव** चतुर्दशधैव। त्रिविधा एव हि सर्वे जीवाः। मध्ये त्रयो राजसाः, अहङ्कारस्य त्रिविधत्वात्। तामसाः सप्त, पञ्च-महाभूतानि मात्राः कार्यं चेति। चत्वारः सात्त्विकाः अन्तःकरणस्य चतुर्विधत्वात्। अत्रैव हि सर्वे जीवाः समाहिता भवन्ति। **सम्यगाहिताः**। स्थानविभेदेन सम्यक् स्थापितो भेदः। नन्वेवं कथं सामर्थ्यं ब्रह्मणः? भगवदाज्ञायामपि स्वतः सामर्थ्यस्याऽपेक्षितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **धर्मस्य ह्यनिमित्तस्येति**। **अनिमित्तस्य** निष्कामस्य **धर्मस्य** दशशताश्वमेधस्य शतजन्मसाधितस्य **विपाकः** फलमयं परमेष्ठी। बहुजन्मसाधित-धर्मफलत्वात् ब्रह्मणस्तथाकरणं युक्तमित्यर्थः। एवमाधारभूतं जगल्लोकानां मात्रात्वेन नि-रूपितम् ॥९॥

व्याख्या—जीवों के रहने का जो स्थान रूप लोक है उसकी अच्छी प्रकार की मर्यादा से इतना ही विभाग (चौदह लोक) है। सर्व जीव तीन तरह के हैं। अहङ्कार तीन प्रकार का होने से तीन प्रकार के राजस (जीव) मध्य में रहते हैं। पंचमहाभूत, मात्रा और कार्य यों तामस जीव सात प्रकार के हैं। अन्तःकरण चतुर्विध (चार तरह का) होने से सात्विक जीव चार प्रकार के है। अतः इस प्रकार इन चतुर्दश (चौदह) लोकों में जीव पूरे हो जाते हैं स्थान के भेद के कारण भेद भी सम्यक तरह किया गया है ब्रह्मा को ऐसी सामर्थ्य कैसे प्राप्त हुई ? यदि कहो कि भगवदाज्ञा से हुई तो, भगवदाज्ञा होने पर भी अपनी सामर्थ्य आवश्यक है, इस पर कहते हैं कि 'धर्मस्यनिमितस्य विपाकः परमेष्ठयसौ' शतजन्मों में जो एक हजार अश्वमेध निष्काम किये उनका फलरूप यह ब्रह्मा का स्वरूप है जिससे वह इस प्रकार करने में समर्थ हुआ है तथा उसका यों करना उचित भी है, इसी तरह लोकों का आधारभूत जगत् का मात्रात्व से निरूपण किया ॥९॥

आभास—आधेयभूतस्य लोकत्वात् मात्रात्वं न भविष्यतीत्याशङ्क्य, कालवशात् जीवस्यापि विषयत्वमिति कालप्रस्तावना । भगवत उत्पत्त्याविकर्तृत्वं श्रुतवतः काल-विभेदेन, कालमेव सर्वहेतुं मन्यमानस्य, काले जिज्ञासा उत्पन्ना । तदा पृच्छति विदुरः—

आभासार्थ जो स्वय, आधेय, जगत् है अर्थात् जिसका आधार दूसरा है जिससे वह लोक मात्रात्व नहीं हो सकता है ? इस शंका को मिटाने के लिए, काल के वश होने से जीव का भी विषयत्व होता है अर्थात् जीव भी भोग का विषय बन जाता है । यों काल की प्रस्तावना होती है काल के भेद के कारण ही भगवान् जगत् की उत्पत्ति आदि सर्व करते हैं काल ही सब का कारण माना गया है इसलिए विदुर जी को काल के स्वरूप का 'ज्ञान' प्राप्त करने की इच्छा हुई जो इस श्लोक में पूछते हैं—

विदुर उवाच—श्लोक—**यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः ।**
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् ! यथा वर्णय नः प्रभो ! ॥१०॥

श्लोकार्थ—विदुर जी ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! हे प्रभु ! अनेक रूप वाले अद्भुत-कर्म करने वाले हरि का जो 'काल' नाम वाला लक्षण कहा वह लक्षण हमको जैसे पूर्णरीति से समझ में आवे वैसे स्पष्ट प्रकार से वर्णन करो ॥१०॥

सुबोधिनी - यदात्थेति । बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणो लक्षणं यदात्थ, तद्यथावद्वर्णयेति संबन्धः । कालो हि भगवतो लक्षणमसाधारणो धर्मः । जगत्कर्तृत्वं नाम जगत उत्पत्तिकाल इत्यर्थः । तल्लक्षणसहितो य आत्मा स भगवान् अत एव बहिरपि भगवान् गरुडध्वजः । भगवतोऽतिसूक्ष्मत्वात् लक्षणमप्यतिसूक्ष्मं दुर्ज्ञेयम् । कलयतीति कालः कलनं वा । सर्वस्यापि वस्तुन आकलनं ग्रहणं ज्ञानं वा भगवद्धर्मो भवत्येव । अत एव काल इत्याख्या तस्य कलनं व साधारणम्, अद्भुतकर्मत्वात् । यथा आकलने जाते भगवानद्भुतं कर्म करोति, यथा वा अकलस्य एकः सन् बहुधा भवति, यथा वा आकलय्य सर्वेषां दुःखं स्वयं दूरीकरोति; मार्गत्रयं वा प्रकाशयति; तादृशस्य लक्षणभूतस्य कालस्य स्वरूपमवश्यं ज्ञातव्यम् । अतोऽस्माकं तज्ज्ञानार्थं त्वं वर्णय, समर्थत्वात् । तदाह—**प्रभो इति** ॥१०॥

व्याख्या - अनेक रूप वाले, अद्भुत कर्मा हरि का जो लक्षण कहा वह सम्पूर्ण रीति से वर्णन करो यों सम्बन्ध (अनुवाद) है भगवान् का असाधारण धर्म (गुण) रूप लक्षण ही निश्चय से काल है, जगत् कर्तृत्व का आशय है कि जगत् की उत्पति होने का काल उस लक्षण वाली जो आत्मा है, वह भगवान् हैं इस कारण से भगवान् बाहर भी गरुड़ की ध्वजा धारण करते हैं, भगवान् स्वयं अति सूक्ष्म हैं इसलिए उनका लक्षण भी अति सूक्ष्म होने से दुर्ज्ञेय अर्थात् नहीं जाना जाय जैसा है ।

जो सर्व वस्तुओं की गणना कर सकता है और ग्रहण भी कर लेता है उसको काल कहते हैं यह भगवान् का ही धर्म (लक्षण) है, अतएव इनका कलन (गणना करना) भी असाधारण है क्योंकि प्रभु अद्भुत-कर्मा हैं। जैसे आकलन करने से भगवान् अद्भुत कर्म करते हैं अथवा आकलन करने से एक होकर भी अनेक प्रकार के बन जाते हैं एवं जैसे आकलन कर (ग्रसनकर)[१] सबों का दुःख स्वयं हर लेते हैं। तथा तीन मार्गों का (कर्म-ज्ञान एवं भक्ति का) प्रकाश करते है ऐसे लक्षण वाले काल (भगवान्) का रूप अवश्य जानना चाहिए, अतः हम को यह ज्ञान प्राप्त हो इसलिए इसका आप विशेष वर्णन करें क्योंकि आप वर्णन करने के लिए समर्थ हैं कारण कि 'प्रभु' हैं ॥१०॥

आभास—एवं कालस्याऽवश्यं निरूपणीयत्वे असाधारणधर्मत्वात् कालं लक्षयति—

आभासार्थ—काल असाधारण गुणवाला होने से अवश्य निरूपण करना है अतः इस श्लोक में काल के लक्षण कहते हैं।—

मैत्रेय उवाच—श्लोक—गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृजत् ॥११॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे कि काल का कोई प्रकार नहीं है, वह प्रकृति के गुणों के परस्पर मिले हुए रूप वाला कहा जाता है सर्व विशेष रहित एवं अन्तवाला भी नहीं है पुरुष ने जब लीला से अपने को जगत् रूप का उपादान बनाया, तब उस (पुरुष) की काल संज्ञा हुई ॥११॥

सुबोधिनी—गुणव्यतिकराकार इति। कालो ह्यमूर्तो धर्मः; अत एव न प्रत्यक्षः, किन्तु कार्यवशाऽनुमेयः। अतस्तस्य लक्षणं नेदमित्थतया वक्तुं शक्यम्। कालस्तदैव लक्षणं भवेत्, यदि धर्मिणो धर्मेभ्यः कार्याच्च विलक्षणः स्यात्। तदैवाऽऽसाधारण्यं भवेत्। तत्र त्रितयवैलक्षण्यार्थं लक्षणे विशेषणत्रयम्। तत्र प्रथमं **गुणव्यतिकराकारः** कालः। गुणानां व्यतिकरोऽन्योन्यसंश्लेष आकारो यस्य। अमूर्तत्वात् कार्यद्वारैव लक्षणम्, कार्यं पुनः प्रकृतेर्गुणसाम्यावस्थारूपायाः। येन भगवद्गुणेन गुणानां व्यतिकरो भवति—प्रथमतः सत्त्वादिरूपेण विभिन्ना भवन्ति, ततः क्षुब्धा अन्योन्यं च मिलिता भवन्ति—स गुणः काल इत्यर्थः। इदमेव च भगवत आकलनम्। क्रियाशक्तिरूपः प्रथमो गुणो मुख्यः, योऽग्रे प्रकटो जातः। तत्र क्रियाशक्तिभेदा अन्येऽपि सन्ति, तेषां विशेषनामानि वर्तन्ते। **'स ऐक्षत'** इतीच्छा; **'सोऽकामयत'** इति कामः। तथा तस्य लोकप्रसिद्धकार्यधर्मवत्त्वेन कार्यत्वेयतया न विशेषणं सिद्धम्। यथा मनोधर्मा इच्छाकामादयः,

---

१—जैसे अग्नि का ग्रसन (पान) कर गोपों के दुःख दूर किये—अनुवादक

तथा न कस्यचित्कालो धर्मः। परं सर्वाधारत्वेनैव प्रतीयत इहेदानीमित्यादिशब्दैः अतोऽयं **निर्विशेषः**। कस्यचिद्धर्मत्वे तत्र प्रतीयेत, घटे काल इति, भूमौ काल इति। प्रतीयते त्विह घट इति, तस्मात्सर्वविशेष रहितो गुणक्षोभहेतुः काल इति लक्षणम्। किञ्च, बहव एव धर्मा आकाशादीनां व्यावर्तका विशेषाः खतो विशेषरहिता भगवद्धर्माः सन्ति, अन्यथा नित्यानां परमाणूनामतीन्द्रियाणां व्यावृत्तिर्न स्यात्। तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **–अप्रतिष्ठित इति**। **प्रतिष्ठा** समाप्तिः पर्यवसानम्. तद्रहित इत्यर्थः। विशेषास्तु प्रतिष्ठिताः, अन्यथा परमाणूनां परिच्छेदो न स्यात्। अतोऽसंस्थितोऽप्रतिष्ठितः कालः। सर्व एव पदार्थः संतिष्ठते. कालस्तु न संतिष्ठते। एवं कालस्य लक्षणमुक्त्वा, स गुणो भगवता किमर्थं गृहीत इति जिज्ञासायाम् तस्य प्रासङ्गिकं कार्यं गुणक्षोभरूपम्, जगदाधारत्वं वा, तस्य मुख्यप्रयोजनं न भवतीति मुख्यं प्रयोजनमाह–**पुरुषस्तदुपादानमिति**। पुरुषो भगवान् कारणरूपः, स स्वगुणानेव कर्तृत्वादिभावापन्नान् कृत्वा जगत्करोति तत्र कर्तृत्वं स्वरूपधर्म एव भवति, क्रियाशक्तिस्तस्य निर्वाहिका। समवायिकारणं तु किं भवेत्? अविकृतैव सा भवति। सर्वत्र साक्षात्कार्येषु अविकृतमेव समवायिकारणं भवति, यथा घटे मृद्रूपा पृथ्वी। स खननादिना परिच्छिन्ना कर्तृक्रियया व्याप्ता उपादानत्वमापद्यते, एवं भगवानपि आत्मानं सृजति कालमुपादानं कृत्वा। एकैव पृथिवी कुलालचक्रचीवरदण्डमृद्रूपा स्वधर्मैरेव स्वयं घटरूपा भवति। तत्राऽन्ये सर्वे धर्माः कुलालादयो जीवसंबन्धं प्राप्यैव कर्तृत्वादिभावमापद्यन्ते। कुलालशरीरे देवदत्तो जीवः दण्डे स्थावरः, चीवरेऽपि कार्पासः स्थावर एव, चक्रेऽपि पर्वतः, विकारे तु विकार एव। एवं सर्वत्र। तस्माद्यस्मिन्नंशे न कोऽपि विकारः प्रविशति, (स) कर्तृधर्मव्यतिरिक्तो भगवद्धर्मः कालः। '**स आत्मानं स्वयमकुरुत**' इति श्रुतेः। **लीलयेति** विशेषप्रयोजनाभावः। **तदुपादानमतिसमीचीनं** कर्तुः प्रयासाजनकमिति ॥११॥

व्याख्या काल भगवान् का बिना आकार (रूप) वाला धर्म (गुण) है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है अर्थात देखने में नहीं आता है, किन्तु केवल कार्य से ही अनुमान किया जाता है कि अब इस प्रकार का काल है। इसलिए काल का यही (ऐसा ही) लक्षण है। यों कहा नहीं जा सकता है काल का तब ही लक्षण हो सके जब वह धर्मी, धर्मों और कार्य से विलक्षण होवे तब ही उसमें असाधारणता आ सकती है वहाँ तीनों से विलक्षणता दिखाने के लिए लक्षण के तीन विशेषण दिये है। उनमें पहला विशेषण "गुणव्य तिकराकार काल" गुणों का परस्पर मिलाप ही जिसका आकार है अतः निराकार है केवल 'कार्य' द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है यही उसका लक्षण (पहचाने जाने का है।) 'कार्य' को समझाते हैं कि प्रकृति के गुणों की सम्यावस्था ही कार्य है, जिस भगवद्गुण से गुणों का मेल होता है पहले सत्त्वादिरूप जुदे-जुदे होते हैं अतः क्षुब्ध हो परस्पर मिल जाते है। वह गुण जिससे मिल जाते हैं काल है। यह ही भगवान् का आकलन आर्थात् क्रियाशक्ति रूप पहला मुख्य गुण है जो आगे प्रकट हुआ, उसमें क्रिया शक्ति के अन्य भी भेद हैं। उनके विशेष नाम है जैसे 'सरेक्षत' इससे इच्छा शक्ति बताई

है। 'सोऽकामयत' इस रूप से काम शक्ति दिखाई है जैसे मन के धर्म इच्छा काम आदि वैसे काल का कोई धर्म नहीं है वैसे उसके लोक प्रसिद्ध कार्य धर्म वाले होने से कार्य का आधेय होने से विशेषण भी सिद्ध नहीं होते हैं किन्तु 'इद' यहाँ इदाना (अत्र) इत्यादि शब्दों से सर्व का आधारपन से ही प्रतीत होता है अतः यह निर्विशेष कहा जाता है, यदि काल किसी का धर्म (गुण) होता तो घड़े में काल, भूमि (मिट्टी) में काल, यों कहा जाता परन्तु यों नहीं कह कर, कहा जाता है कि यहां घड़ा प्रतीत (मालूम) हो रहा है यों कहा जाता है इस कारण से सर्व विशेषों (गुणों) से रहित गुणों के क्षोभ का कारण ही काल है यही उसका लक्षण है किञ्च बहुत ही धर्म (गुण) आकाशादि के निवारक खास गुण स्वतः विशेष रहित भगवद्धर्म है। यों नहीं हो अर्थात् भगवद्धर्म नहीं होते तो इन्द्रियों से अतीत नित्य परमाणुओं को व्यावृति न होवे उस (व्यावृति) की सत्यता सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि 'अप्रतिष्टिता' समाप्ति रहित है, विशेष (गुण) तो प्रतिष्ठित है। अन्त वाले हैं नहीं तो परमाणुओं का परिच्छेद न होता किन्तु काल अन्तवाला नहीं है, सर्व पदार्थ नाश होते हैं। किन्तु काल नाश नहीं होता है। इस प्रकार काल का लक्षण कह के वह गुण भगवान् ने क्यों ग्रहण किया इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि उसका गुणक्षोभ रूप प्रासङ्गिक कार्य अथवा जगदाधारत्व ये उसके मुख्य प्रयोजन नहीं है, इसलिए मुख्य प्रयोजन कहते है 'पुरुषस्तदुपादानम्' पुरुष अर्थात् जो कारण रूप भगवान् है वह गुणों को ही कर्त्तापन के भावों को प्राप्त कराके जगत् बनाते हैं उसमें कर्त्तापन स्वरूप धर्म ही बन जाता है, उसका निर्वाह करने वाली क्रियाशक्ति होती है वह क्रियाशक्ति तो अविकृत है तब वह समवायि कारण कैसे बनेगी ? अतः शङ्का होती है कि समवायिकरण क्या होगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि सर्वत्र कार्यों में समवायि कारण तो अविकृत ही होती है जैसे घड़े में अविकृतमृत्तिका ही समवायिकारण है। वह मृत्तिका खोदने आदि क्रिया से परिच्छिन्न हो कर्त्ता की क्रिया से व्याप्त हो उपादान बनती है वैसे ही भगवान् भी काल को उपादान बनाकर अपने को जगत् रूप से उत्पन्न करते हैं।

कुम्भार, चक्र, चोथड़े, दण्ड और मृत्तिका रूप एक ही पृथ्वी अपने धर्मों द्वारा ही स्वयं घटरूपा बनती है उसमें दूसरे सर्व कुम्भार आदि धर्म जीव के सम्बन्ध को प्राप्त कर ही कर्त्ता पन के भाव को प्राप्त होते हैं जैसे कि कुलाल (कुम्हार) के शरीर में देवदत्त नाम वाला जीव है दण्ड में स्थावर जीव है चीथड़े में स्थावर कपास जीव है। चक्र में भी पर्वत जीव है विकार में विकार ही है। यों सर्वत्र (सब ठिकाने) होता ही है। इसी कारण से जिस अंश में कुछ भी विकार प्रवेश नहीं कर सकता है वह कर्तृ धर्म रहित भगवद्धर्म गुण) 'काल' है **'सआत्मानं स्वयं मकुरुत इतिश्रुतेः'** उसे (ब्रह्मा ने) आप ही अपने को इस प्रकार 'जगद्रूप' बनाय इस श्रुत्यनुसार लीला से किया अतः जगत् बनाने में लीला के सिवाय कोई विशेष प्रयोजन नहीं है वह उपादान बहुत सुन्दर श्रेष्ठ है क्योंकि उस उपादान से कर्त्ता को किसी प्रकार का प्रयास (कष्ट) उत्पन्न नहीं हुआ (होता है) ॥११॥

आभास—नन्वेतस्य कालस्य भगवतः काऽपेक्षा ? उपादानं स्वरूपं प्रकृतिर्वा भवतु । तत्राऽऽह—

आभासार्थ—इस काल की भगवान् को कौनसी अपेक्षा थी ? जगत् का उपादान 'स्वरूप' वा 'प्रकृति' हो सकती है, इस पर यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।**
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाऽव्यक्तमूर्तिना ॥१२॥

श्लोकार्थ—पहले यह विश्व भगवान् की माया से (इच्छा से) लीन होकर भगवान् में ब्रह्मरूप से स्थित था। उसी को अपने अव्यक्त काल द्वारा भगवान् ने फिर इस हृदय रूप से पृथक् कर प्रकट किया ॥१२॥

सुबोधिनी—**विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रमिति** । **विश्वं** कार्यम् ब्रह्म तन्मात्रं यस्य । यथामहाभूतेषु शब्दादीनां तन्मात्रता, सूक्ष्मावस्थारूपत्वात् । एवं विश्वस्याऽपि ब्रह्मैव सूक्ष्मावस्थारूपम् । पूर्वावस्था ब्रह्म, उत्तरावस्था जगदिति । तस्योपसंहारस्तिरोभावे विष्णोर्भगवतो मायया । विष्णू रक्षकः, उपसंहर्त्री तस्यैव माया । सम्यक् स्थितं वा विष्णुमायया । अलौकिकसामर्थ्येन स्थितमुपसंहृतं च भवतीत्यर्थः । तत्र कश्चित्परिच्छेदकोऽपेक्ष्यते, अन्यथा एकस्मिन्नपि कार्ये कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा भवेत् । तस्माद्भगवत एव कश्चिद्धर्मोऽस्त्यसाधारणरूपः, येनोत्पद्यमानं कार्यं परिच्छिन्नं भवति । तदेकं भगवतो रूपमित्याह **ईश्वरेण परिच्छिन्नमिति** । ऐश्वर्यमपि गुणः, तत्रैव भगवता स्थापितः । अन्यथाकरणसामर्थ्यं हि तस्य । अत एव कलयतीति कालः । तस्य च रूपमव्यक्त एव तिष्ठति । अतः परिच्छेदार्थं कालोऽपेक्ष्यत इत्यर्थः ॥१२॥

व्याख्या—विश्व (जगत्) कार्य रूप है जिसका ब्रह्म तन्मात्रा (सूक्ष्म रूप कारण) है, जैसे महाभूतों का शब्दादि तन्मात्रा हैं। क्योंकि वह उनके सूक्ष्म रूप-कारण रूप हैं। इसी तरह विश्व (जगत्) का भी ब्रह्म ही सूक्ष्मावस्था रूप है। पूर्वावस्था ब्रह्म, उत्तरावस्था जगत् है।

विष्णु भगवान् की माया से तिरोभाव होने पर उसका (विश्व का) उपसंहार होता है। विष्णु उसका (जगत् का) रक्षक है। किन्तु उसकी ही माया विश्व का उपसंहार (लोप) करने वाली है। और विष्णु की माया से ही सम्यक् प्रकार से ही स्थित भी है। यह विश्व, भगवान् की माया से अर्थात् अलौकिक सामर्थ्य से स्थित और लोप दोनों प्रकार का होता है।

इस भगवद्रूप जगत् का कोई परिच्छेदक होना चाहिए नहीं तो एक ही कार्य में कृत्स्नप्रसक्ति निरवयवत्वशब्द कोपी वा भवेत' सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् हो जावे और ब्रह्म निरवयव है, ये

शब्द असत्य हो जायेंगे, इसी कारण से भगवान् का ही कोई असाधरण रूप कोई धर्म (गुण) है। जिससे उत्पन्न यह कार्य रूप विश्व परिच्छिन्न दिखता अर्थात् प्रतीत होता है। वह भी एक प्रकार से भगवान् का रूप है, इसलिए कहा कि 'ईश्वरेण परिच्छिन्न' ऐश्वर्य भी गुण हैं भगवान् ने उस काल में ही उसको स्थापित किया है। किसी में भी फेर-फार करने की (बदलने की) शक्ति उसमें है, अतएव इसीलिए ही 'कलयति इतिकाल:' जो कलन (गिनती वा ग्रसन) करता है वह काल कहा जाता है उसका रूप अप्रकट ही रहता है। इस कारण से परिच्छेद करने के लिये काल की आवश्यकता है यों तात्पर्य है ॥१२॥

आभास—तस्योपादानत्वं कार्ये प्रदर्शयति—

आभासार्थ—उसका (काल का) उपादान कार्य में सम्बन्ध से दिखलाते हैं। जिसको समझाने के लिए निम्न श्लोक कहा है—

श्लोक—**यथेदानीं तथाऽग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ।**
विश्वमेतदसंक्षिप्तं मायया दृश्यतेऽन्यथा ॥१३॥

श्लोकार्थ—यह विश्व जैसा अब है आगे भी ऐसा होगा। भूतकाल में ऐसा ही था। यह बिम्ब केवल माया से असंक्षिप्त (बिना संकोच वाला) होने के कारण अन्यथा प्रतीत हो रहा है ॥१३॥

सुबोधिनी—यथेदानीमिति। कालस्य नित्यत्वात् तदुपादानकं जगन्नित्यमेव, परं यथोपादानत्वमुपदिश्यते। भूतादिव्यपदेशा: कालकृता:। कालो हि निरन्तरं वर्तमानो जलप्रवाहवत् पूर्वपूर्वमुत्तरो बाधते। तदा तदाधारेण जातविकारं जगत् भूतत्वेन व्यपदिश्यते। वर्तमानोऽपि काल एव। देशापेक्षाभावात् नाऽऽपेक्षिकं वर्तमानत्वम्। जलादौ तु देशापेक्षाया विद्यमानत्वात् आपेक्षिकैव वर्तमानता भवति। अतो यादृश: काल:, तादृशं जगत्। कालाधीनैवैषव व्यवस्था। अवान्तरकालानां मूलभूत: कालो नियामको जीवानामात्मा भगवानिव। अत: स्वभावतस्तुल्यत्वादवान्तरभेदो विवक्षयोच्यते। इदानीं यथा जगत्, अग्रेऽपि तथैव भविष्यति, पश्चादप्येतदीदृशमेव। अतोऽस्य जगत: कालनियामकत्वान्न मायिकत्वम्। तस्मात्कार्त्स्न्येनाऽभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ब्रह्मरूपं जगत् ॥१३॥

व्याख्या—काल नित्य है, वह (नित्य काल) जगत् का उपादाक कारण होने से जगत् भी नित्य है, परन्तु उपादान की तरह ही वह नित्य कहा जाता है। भूत आदि संज्ञाए भी कालकृत हैं। काल निरन्तर (सदैव) जल प्रवाह को तरह चलता रहता है। अर्थात् जैसे जल प्रवाह, जो बाद में बहता है वह पहले प्रवाह को बांध (लोप) करता है तब उसके आधार से जो विकार

उत्पन्न हो जगत् रूप बनता है। वह भूत नाम से कहा जाता है। अब जो वर्तमान है वह भी काल ही है। काल को देश की अपेक्षा नहीं है। वर्तमान को भी अपेक्षा नहीं है जलादि को देश की अपेक्षा (जरूरत) विद्यमान है वह वर्तमानता अपेक्षा वाली है। अतः जैसा काल वैसा जगत् यह व्यवस्था काल के ही आधीन है।

अवान्तर कालों का मूलभूत जो काल है वह नियामक काल है। जैसे जीवों की आत्मा भगवान् नियामक है। अतः स्वभाव की समानता से अवान्तर भेद, अंश अंशी की कहने की इच्छा से कहा जाता है अब जैसा जगत् है, आगे भी वैसा ही होगा भूतकाल में भी ऐसा ही था इस कारण से जगत् का नियामक सत्यरूप काल भगवान् है जिससे जगत् सत्य है न कि मायिक (असत्य) है। इससे समझना चाहिये कि अभिवक्त स्वरूप सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप ही है ॥१३॥

आभास—एवं कालोपादानत्वं जगतो निरूप्य, कालस्याऽऽधिदैविकं स्वरूपमुक्त्वा, आधिभौतिकं स्वरूपं निरूपयति—**सर्गो नवविध** इत्यादिना यावदध्यायपरिसमाप्ति आध्यात्मिकभेदानग्रिमाध्याये वक्ष्यति। तावता साधारणानां मात्रेन्द्रियाणां काल एव नियामकः। तेषां बुद्धिस्तु वेदात् ब्रह्मादिभिश्च, अतो भगवदधीनास्ते भगवदाज्ञया संसारे प्रवृत्ताः। भगवान् भगवदाज्ञा च तेषां मूलम्, महाभूतवत्। विषयेन्द्रियाणि तु कालाधीनान्येव कालरूपाणि। ता मात्रास्त्रिविधा इत्याध्यात्मिकानाधिभौतिकांश्च निर्दिशति—

आभासार्थ—इसी तरह जगत् का उपादान कारण काल को निरूपण कर तथा काल का अधिदैविक स्वरूप कह के अब 'सर्गोनवविध' श्लोक से अध्याय की समाप्ति होने तक काल के अधिभौतिक स्वरूप का वर्णन करते हैं। आध्यात्मिक भेद आगे अध्याय में कहेंगे। तावता (इससे) साधारण जीवों की मात्रा तथा इन्द्रियों का काल ही नियामक है। उनकी अर्थात् जगत् में उत्पन्न जीवों की, बुद्धि तो वेद और ब्रह्मा आदिकों से प्राप्त होती है अतः वे भगवान् के अधीन हैं जिससे वे भगवदाज्ञा से संसार प्रवृत्त हुए हैं वा होते हैं। उन जीवों की मूल (जड़) भगवान् और भगवदाज्ञा है। जैसे महाभूतों की जड़ भगवान् व भगवदाज्ञा है जैसे ये वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं। विषय और इन्द्रियां तो काल के आधीन ही हैं अतः काल रूप हैं। वे मात्राएं तीन प्रकार की हैं। उनमें से आध्यात्मिक और अधिभौतिकों का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः।**
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः ॥१४॥

श्लोकार्थ—उस जगत् की जो प्राकृत एवं वैकृत सृष्टि है वह नव प्रकार की है। ऐसे सर्ग का काल द्रव्य और गुणों से तीन तरह लय होता है ॥१४॥

सुबोधिनी—सर्गो नवविध इति । प्राकृत आधिभौतिक: षड्विधः । **वैकृत** आध्यात्मिकस्त्रिविधः । उभये नवविधाः । तुशब्दो वैकृते भेदान्तरमस्तीति ज्ञापकः वैकृतोऽप्याध्यात्मिकात् वैकृतात् भिन्न आधिदैविकः । अत एव यः प्रसिद्धः । उत्पत्तिनवविधा, त्रिविधानामपि गुणानामुत्पादकत्वात् । **प्रतिसंक्रमस्तु त्रिविधः,** तामसानामेव नियामकत्वात् । तत्राऽधिकारिणस्त्रयः, कालो द्रव्यं गुणाश्चेति । **कालेन** पदार्थाः प्रकृतौ प्राप्यन्ते । द्रव्यैर्वायुदण्डादिभिर्गुणैर्विरोधिभिर्विरुद्धा गुणाः प्रादुर्भूताः। कर्मणा विहितप्रकारेण देवादिभावे प्राप्ते मानुषादिभावा निवर्तन्त इति सत्त्वादिभिरेव पूर्वस्य प्रलयः। नियतस्तु कालकृतः प्रलयः, अनियतावितरौ॥१४॥

व्याख्या – प्राकृत सृष्टि अर्थात् अधिभौतिक सृष्टि जो है वह छः प्रकार की है। वैकृत सृष्टि अर्थात् आध्यात्मिक सृष्टि जो है वह तीन तरह की है दोनों मिलाकर नव प्रकार की कही जाती है। 'नु' शब्द देने का आशय है कि वैकृत (आध्यात्मिक) सृष्टि में अन्य भेद भी हैं। आधिदैविक सृष्टि भी वैकृत है किन्तु वह आध्यात्मिक वैकृत से भिन्न प्रकार की है।

अतएव जो सृष्टि प्रसिद्ध है वह नव प्रकार की है क्योंकि तीन तरह के गुणों की उत्पादक है। प्रलय तो तीन प्रकार की ही है। कारण कि प्रलय के अधिष्ठाता तामस ही होते हैं। उसमें (के) अधिकारी काल, द्रव्य और गुण ये तीन हैं। काल पदार्थों को प्रकृति की प्राप्ति कराता है। तब वायु दण्ड आदि द्रव्यों से, विरोधी गुणों द्वारा विरुद्ध गुण प्रकट होते हैं।

शास्त्रों में कहे हुए कर्मों से जीव जब देव आदि भाव प्राप्त करते हैं तब मानुष आदि भाव निवृत्त हो जाते हैं।

सत्त्व आदि गुणों से ही पहले जो गुण उनमें होते हैं वे लीन हो जाते हैं कालकृत प्रलय तो नियमित है। दूसरी दो नियमित नहीं है ॥१४॥

आभास—सर्गाणां नवविधत्वमुपपादयति—

आभासार्थ—सर्ग नव प्रकार के हैं उनका नव प्रकार सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैशम्यमात्मनः ।**
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ॥१५॥

श्लोकार्थ—आत्मा से प्रथम सृष्टि तो गुणों की विषमता रूप महतत्त्व की हुई है। दूसरी सृष्टि अहङ्कार की हुई, जिसमें द्रव्य, ज्ञान तथा क्रिया का उदय (उत्पन्न) हुआ ॥१५॥

कारिका—**आद्यस्त्विति । सर्गा अत्र विभेदेन कालतः क्रियया तथा ।**
अतस्तत्त्वेऽपि षड्भेदाः पारम्पर्यं न दूषणम् ॥१॥

कारिकार्थ—प्राकृत सर्ग ६ प्रकार के कैसे हैं इस अपेक्षा के कारण कारिका में समझाते हैं। यहां (प्राकृत सृष्टि में) काल तथा क्रिया से पदार्थों में विभेद (पृथक्त्व) होने से सृष्टियां होती हैं। इसी कारण से प्राकृत सर्ग (सृष्टि) में भी छः भेद हैं। इसमें परम्परा होना दूषण नहीं हैं। काल एवं क्रिया के होते हुए भी साथ में ही छः भेद कैसे हुए ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही कहा है परम्परा होना दूषण नहीं है। क्योंकि वेद में भी सर्व समर्थ ब्रह्म की की हुई साक्षात् सृष्टि की तरह क्रम सृष्टि भी कही है इसमें ब्रह्म की इच्छा विशेष है नियामक है इसलिये यों होने में कोई दूषण नहीं है।

भले यों होवे तो भी महत्तत्त्व से ही पहले सृष्टि क्यों हुई ? इस शङ्का को मिटाने के लिए दूसरी कारिका कही है—

कारिका—**महत्त्वेन प्रकारेण जगत्सर्वं तथोद्गतम् ।**
अतो जगत एवाऽत्र सर्गो हेतुर्महान् पुनः ॥२॥

कारिकार्थ—समग्र जगत् वैसे प्रकट हुवा जैसे महत्तत्त्व प्रकटा, अत यहां जगत् का ही सर्ग (सृष्टि) हुआ है। महत्तत्त्व तो कारण है। उत्पत्ति आदि शब्द न कहने का बीज तीसरी कारिका में कहते हैं ॥२॥

कारिका—**भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।**
तच्चतुष्टयमत्राऽस्ति तेन सर्गत्वमस्य हि ॥३॥

कारिकार्थ—भूत, मात्रा, इन्द्रियों और बुद्धि का जन्म ही सर्ग है। वे चार ही यहां हैं इसलिए इसको ही सर्गत्व है अर्थात् यही सृष्टि है ॥३॥

सुबोधिनी- तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। महत्तत्त्वस्य न केवलं जन्ममात्रम्, किन्तु **महतो जन्म सर्गः**, तत्राप्याद्यः सर्गान्तरापेक्षया। अयं सर्गः सर्वोपकारी। महत्त्वात् बुद्धिरुक्ता। तस्य महत्तत्त्वस्य योनेः सकाशादुद्गम इव सर्गोऽत्र न विवक्षितः, किन्त्वात्महेतुको गुणानां विषमो भावः। तत्र सत्त्वं धीनीमित्तम्, भगवतो धीनिमित्तत्वे सत्त्वं मनोनिमित्तम्, विषया राजसाः, भूतानि तामसानि। वैषम्याभावे तु स्थित्यादिहेतुत्वम्। आत्मनः सकाशात् गुणानां वैषम्यम्-एतदेव महत्तत्त्वसर्ग इत्यर्थः। द्वितीयमाह—**द्वितीयस्त्विति**। अत्राऽपि जन्ममात्रं व्यावर्त्यते। अहमोऽहङ्कारस्य सर्गो द्वितीयः। अत्राऽपि चतुर्विधत्वमाह। यथा सर्गे गुणवैषम्यमपेक्षितम्, एवं द्रव्यज्ञानक्रियाणामभ्युदयोऽपेक्षितः। द्रव्यमधिभूतम्, ज्ञानमधिदैवम्, क्रिया आध्यात्मिकी। आद्यो भावो वैषम्यम्, द्वितीयो भावस्त्रैविध्यम्, यत्रेत्यधिकरणम्, कारणरूपं महत्तत्त्वं बुद्धिः ॥१५॥

व्याख्या—'तु' शब्द देने का आशय (तात्पर्य) यह है कि वह 'मत' अपूर्ण है जिसमें कहा गया है कि केवल महत्तत्त्व का जन्म है वह सृष्टि नहीं है। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि महत्तत्त्व का केवल जन्म नहीं है, किन्तु महत्तत्त्व का जन्म सृष्टि है। अन्य सृष्टियों की अपेक्षा इसकी सृष्टि प्रथमा है एवं यह सृष्टि परोपकारी है। महान् होने से इसको बुद्धि कहा है उस महत्तत्त्व की उत्पत्ति योनि से उद्गम के समान उत्पत्ति यहां (इस कल्प में) इच्छित नहीं है पूर्व कल्प में वीर्य का आधार किया तब उसने प्रकृति में हिरण्मय महत्तत्त्व को उत्पन्न किया किन्तु भगवान् जिसका कारण है, ऐसा गुणों का विषम भाव होना ही सर्ग है। उसमें बुद्धि उत्पन्न होने का कारण सतोगुण है। जब भगवान बुद्धि के निमित्त होते हैं तब सतोगुण मन (इन्द्रियादि) का कारण बनता है. विषय राजस है। भूत तामस है।

जब गुणों में विषमता नहीं होती हैं तब वे स्थिति आदि के कारण होते हैं। आत्मा से गुणों का वैषम्य (विषमता) होना ही महत्तत्व की सृष्टि है।

दूसरी सृष्टि में केवल जन्म नहीं कहा है किन्तु अहङ्कार की उत्पत्ति दूसरी सृष्टि हैं। इस सृष्टि में चार प्रकार हैं। जैसे सर्ग (सृष्टि में गुणों को विषमता की आवश्यकता है, इसी तरह द्रव्य, ज्ञान और क्रियाओं के उदय होने की भी आवश्यकता है। द्रव्य अधिभूत है ज्ञान अधिदेव है क्रिया आध्यात्मिकी है आद्य (प्रथम) भाव विषमता है, द्वितीय भाव तीन प्रकार का है। 'यत्र' पद से अधिकरण (स्थान) अर्थात् कारण रूप महत्तत्त्व को 'बुद्धि' कहा है ॥१५॥

आभास—तृतीयमाह–

आभासार्थ इस निम्न श्लोक में तीसरी तथा चौथी सृष्टि कहते हैं—

श्लोक—**भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ।**
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ॥१६॥

श्लोकार्थ—तीसरी सृष्टि तन्मात्रा रूप, द्रव्यों की शक्ति वाली महाभूतों की है। चौथी इन्द्रियों की जो सृष्टि है वह ज्ञान तथा क्रिया रूप है ॥१६॥

सुबोधिनी—**भूतसर्ग इति**। अत्राऽपि तु-शब्दः पूर्ववत्। यथा क्षोभापेक्षा, यथा वा ज्ञान-क्रियाविषयाणाम्, तथा परिणामहेतुरूपस्याऽपि। तच्च रूपं भोक्तृभोग्यभावापन्नं वक्तव्यमिति भोग्यं तन्मात्रत्वेन विवक्ष्यते, भोक्ता शरीरसाधक-भूतत्वेन। तदुभयमाह-**तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमानिति**। **तन्मात्रः** पञ्चतन्मात्रारूपः। **द्रव्यशक्तिः** परिणामः, तत्सहितस्तृतीयसर्ग इत्यर्थः। एवं त्रिभिः सर्गैः कार्यं निष्पद्यते, त्रिभिश्च ज्ञायते। तत्र प्रथमं **चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्ग** इन्द्रियसम्बन्धी सर्गः। इन्द्रियाणां स्वरूपोत्पत्तिर्न सर्गः, किन्तु कार्योपयोगित्वेन। अतोऽनुवादे तुशब्दः। कार्ये

भिन्नतयोत्पत्तिव्यावृत्त्यर्थं सर्ग: पूर्वत्रैव योजित: । यस्त्वित्यनुवाद: स्वरूपकार्ययोर्भेदनिरूपणार्थं । ज्ञानात्मक: क्रियात्मकश्च, उभयं हीन्द्रियकार्यम् । क्रियात्मकत्वेन भूतानीन्द्रियाणि चोक्तानि, ज्ञानात्मकत्वेन तन्मात्राणि धियश्चोक्ता: ॥१६॥

व्याख्या – इस श्लोक में भी 'तु' शब्द आगे की तरह है अर्थात् केवल जन्म है इसके निराकरण के लिए है वस्तुत: सृष्टि है। जैसे सृष्टि में गुणों के क्षोभ की आवश्यकता है और ज्ञान, क्रिया और विषयों की भी आवश्यकता है तैसे परिणाम को हेतु रूप की भी आवश्यकता है। वह रूपभोक्ता तथा भोग्य भाव को प्राप्त हुआ हो ऐसा कहना चाहिए, इसलिए भोग्य तन्मात्रापन से कहा गया है और भोक्ता शरीरों को सिद्ध करने (बनाने) वाले भूत तरीके कहे हैं। उन दोनों को स्पष्ट कर समझाते हैं। पांच मात्रा रूप तन्मात्रा है वह द्रव्य शक्तिमान् है। अर्थात् द्रव्य का विकासक है। द्रव्य शक्ति अर्थात् परिणाम उस सहित तीसरी सृष्टि है। इसी तरह तीन प्रकार की सृष्टि द्वारा कार्य निष्पक्ष होता है।

तीन से ही कार्य का ज्ञान होता है उनमें ज्ञान कराने वाली जो चौथी, पांचवी और छठी सृष्टियां हैं उनमें प्रथम चौथा इन्द्रियों का सर्ग हैं। इन्द्रियों के स्वरूपों की उत्पत्ति सर्ग (सृष्टि) नहीं है, परन्तु कार्य उपयोगीपन से सृष्टि कही जाती है। इसलिए अनुवाद में 'तु' शब्द दिया गया है। कार्य में पृथक्पन से उत्पत्ति होती है इसलिए सर्ग शब्द पहले ही लगा लिया है 'यत्तु' यह शब्द सृष्टि का अनुवादक स्वरूप एवं कार्य का भेद दिखाने के लिए कहा है कि यह सृष्टि ज्ञानरूप और क्रिया रूप है, कारण कि, ज्ञान तथा क्रिया दोनों इन्द्रियों के कार्य हैं। क्रिया रूप से महाभूत और इन्द्रियां कही हैं और ज्ञान रूप से तन्मात्रा और बुद्धि कही है ॥१६॥

आभास—पञ्चममाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में पांचवीं व षष्टि सृष्टि कहा है—

श्लोक — **वैकारिको देवसर्ग: पञ्चमो यन्मयं मन: ।**
षष्ठस्तु तमस: सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतो विभो: ॥१७॥

श्लोकार्थ—जिससे मन भरपूर है वैसी पांचवी देवी सर्गत्व की सृष्टि है। छठी तामसी सृष्टि है। वह समर्थ भगवान् ने अज्ञान से तमोद्वारा की है ॥१७॥

सुबोधिनी—वैकारिक इति । वैकारिक: सात्त्विको देवानां सर्ग: । अत्र देवानां सर्गे स्वरूपत उत्पत्ति: । अतीन्द्रियत्वेन अव्यवहार्यत्वेन च द्वैविध्याभावान्न पक्षव्यावृत्ति: । यथा ज्ञानेन्द्रियाण्यपेक्ष्यन्ते क्रियायां च, तथैव देवताप्रेरणम्, तदभावे ग्रहणानुपपत्ते: । वैकारिकत्वेन त्रिरूपता, देवत्वाद्द्विरूपत्वम् । नन्वेतेषां देवानां किं कार्यम् ? प्रेरणं त्वन्तर्यामिजीवाभ्यामेवोपपद्यत

इत्याशङ्कयाऽऽह–**यन्मयं मन इति**। पञ्चमसर्गप्रचुरं मनः। यथेन्द्रियाणां सद्भावेऽपि मनोव्यतिरेकेण न ज्ञानक्रियोदयः 'नाश्रौषममनाः' इत्याद्यभिलापात्। न हि सजातीयनियमनव्यतिरेकेण केवलं चेतनेन, राज्ञेव, सर्वथा नियमनं कर्तुं शक्यते। अतः सामान्यतो मनो यथा नियामकम् तथेन्द्रियदेवता अपि। वैकारिकत्वेन चैक्यम्। वैकारिकत्वं पूर्वरूपम्, प्रेरकत्वमुत्तररूपमिति। षष्ठमाह–**षष्ठस्त्विति**। इन्द्रियग्राह्यत्वं भगवतो न सम्भवतीत्यन्तरा निष्पत्तिरूपामविद्यां मान्यते। सा केवलं तामसी। अविद्याप्रकृतिमायानां मध्ये प्रथमायाः प्राकृतविषयत्वात्, प्राकृतैः सा वा, गृह्यते तत्कार्यं वा अतो ग्रहणार्थं तामसः षष्ठः सर्गो विषयः। तामसत्वमात्रेण विषत्वेभूतसर्गोऽपि तथा स्यात्, अतस्त व्यावृत्यर्थं य इत्यनूद्य तुशब्दः। **अबुद्धिकृतो**ऽज्ञानकृतः। नन्वज्ञानेन शुक्तिकारजतवत् मिथ्याभूतमेव किञ्चिदुत्पद्यते, तस्य कथं सर्गत्वम्? सृज्याभावात्। इत्याशङ्कयाऽऽह–**विभोरिति**। समर्थस्य। स ह्यज्ञानप्रकारेणाऽपि सदभिव्यक्तिं कर्तुं शक्नोति, अतोऽस्य गृह्यमाणविषयस्य अविद्याकृतत्वेऽपि सर्गत्वम्॥१७॥

व्याख्या—देवों की सृष्टि वैकारिक सात्विक है, यहां देवों की सर्ग में स्वरूप से उत्पत्ति कही है। इन्द्रियों से ज्ञान तथा व्यवहार नहीं हो सकता है ऐसे प्रकार का होने से, दो प्रकार के न होने में कोई मत असत् पक्ष नहीं है। जैसे ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान प्राप्त करने में अपेक्षित होती हैं तथा क्रिया में अपेक्षा होती है वैसे ही देवता की प्रेरणा होती है। कारण कि देवता की प्रेरणा बिना पदार्थ ग्रहण नहीं हो सकता है, सात्विक होने से तीन रूप वाली (अर्थात् महाभूत तन्मात्रा तथा इन्द्रियों के रूप वाली) होती है। देवपन होने से बुद्धिरूपत्व होता है। इन देवताओं का कौनसा कार्य है? प्रेरणा तो अन्तर्यामी और जीवन से भी बन सकती है। यों शङ्का कर कहते हैं, 'यन्मयंमनः' जिससे मन परिपूर्ण होता है यों कहा है कि वह मन पांचवो सृष्टि से परिपूर्ण है जैसे इन्द्रियों के होते हुए भी मन के सिवाय ज्ञान तथा क्रिया का उद्भव नहीं होता है, जैसा कि कहा है 'नाश्रौषभमनाः' मेरा मन अन्यत्र होने से मैंने आपका कहा हुआ कुछ सुना नहीं। बिना सजातीय नियमन के, केवल चेतन राजा की तरह सर्वथा नियमन नहीं किया जा सकता है। अतः सामान्य रीति से मन जैसे नियामक है वैसे इन्द्रिय देवता भी नियामक है। वैकारिक (सात्विकत्व) होने के कारण दोनों में ऐक्य है। वैकारिक पूर्व रूप है प्रेरकपन उत्तर रूप है।

छटा सर्ग कहते हैं, भगवान् इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है। यह सम्भव नहीं इसलिए बीचवाली अन्तरासृष्टि अविधाकृत मानी जाती है, वह केवल तामसी सृष्टि है। अविधा प्रकृति और माया में से पहली (अविद्या) का विषय प्राकृत होने के कारण प्राकृतों से वह (प्राकृत) या उस (प्राकृत) का कार्य ग्रहण किया जाता है। अतः छठा सर्ग ग्रहण तामस का विषय है केवल तामसत्व विषय होने से भूत सर्ग भी वैसा (तामस) बना हुवा होना चाहिए। अतः उसकी व्यावृति उसमें इसका भूत सर्ग का समावेश नहीं करने के लिए 'यः' पद से तामसत्व कह अनुवाद कह कर फिर 'तु' शब्द कहा है। जिसका आशय है कि यह सर्व अज्ञान कृत कार्य हैं।

अज्ञान से शक्ति में रजत (चांदी) की तरह मिथ्याभूत ही कुछ पैदा होता है उसको सर्गत्व कैसे होगा ? अर्थात् वह सृष्टि कैसे कही जायेगी ? क्योंकि उसमें सृज्य (रचना) का अभाव है। इस शङ्का को मिटाने के लिए 'विभो' विशेषण दिया है। अर्थात् वह सर्वकरण समर्थ हैं। जिससे वह अज्ञान के प्रकार से भी सत के समान अभिव्यक्ति कर सकते हैं। यद्यपि इसको अविद्या से भी ग्रहण किया जा सकता है तो भी यह सृष्टि है ॥१७॥

आभास—एवमाधिभौतिकप्रकारेण निरूपितान् षट् सर्गानुपसंहरति—

आभासार्थ—इसी तरह आधिभौति प्रकार में निरूपण किये हुए छः सर्गों का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ।**
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः ॥१८॥

श्लोकार्थ—ये जो अब तक सुनाये वे छः प्राकृत सर्ग थे। इसके बाद जो अब कह रहा हूं वे वैकृत सर्ग हैं उनको भी मुझसे सुनो सर्वदुःखहर्त्ता रजोगुण बुद्धि वाले भगवान् की यह लीला है ॥१८॥

सुबोधिनी—**षडिमे प्राकृताः सर्गा इति**। एवं विभागं चेन्न कुर्यात् सप्तमादिप्रयोगात् सर्वेऽप्येकविधा भवेयुः। एवं प्राकृतानुपसंहृत्य वैकृतेषु सावधानतया भेदा ज्ञातव्या इत्याह—**वैकृतानपीति**। प्राकृतकार्यं वैकृतं प्राकृते निरूपिते निरूपितं भवतीति वैकृतानां न भेदो न स्वरूपं वा सिध्येत्। अतो **मे शृण्वित्याह**। मत्त एवैते भेदाः श्रोतुं योग्याः, न त्वन्यो जानातीति भावः। अतो व्यासङ्गव्युदासार्थं **शृण्वित्युक्तम्**। नन्वेते प्राकृतवैकृता लौकिकाः, भगवद्भक्तैः कथं श्रोतव्या इत्याशङ्क्याह—**रजोभाजो भगवत इति**। यदा भगवान् रजोगुणमुत्पत्त्यर्थम्, क्षत्ररजो वा कामार्थं भजते, तदेवं लीलां करोति। अतो भगवल्लीलात्वात् श्रोतव्या एव सर्गाः। ननु न सर्वा भगवल्लीला श्रोतव्या, '**यावानर्थ उदपाने**...,' इति न्यायेन स्वोपयोगिन्येव लीला सेव्येत्याशङ्क्याऽऽह—**हरिःमेधस इति**। हरिः सर्वदुःखहर्त्री मेधा यस्य। भगवद्विषयिणी या काचिन्मतिः, सैव सर्वदुःखहर्त्री तस्माद्या कापि भगवल्लीला श्रोतव्यैव। किञ्च, नियता विषयबुद्धिर्भगवत्संबन्धित्वेनाऽत्र बोध्यते। अतो लीलान्तरापेक्षया मात्रारूपा लीलाः कालसंबन्धित्वात्सहजनाशिकाः, तद्दोषनिवृत्त्यर्थं चाऽवश्यं भगवदीयत्वेन ज्ञातव्याः। एतदेवाऽभिसन्धाय मेधःपदम्। यथा मेधा शब्दो बुद्धिवचनः, एवं 'मेधस्' शब्दोऽप्यस्प्रत्ययान्तः ॥१८॥

व्याख्या—ये कहे हुए छः सर्ग प्राकृत हैं यदि यों भेद न किया जाता तो सातवीं आदि कहते हुए भी सब एक प्रकार की हो जावे। इस प्रकार प्राकृत सर्गों का उपसंहार कर वैकृत सर्गों में जो भेद कह रहा हूं वे सावधान शृणु होकर जानना चाहिए इसलिये कहते हैं कि 'वैकृतानपिमे'

प्राकृत कार्य (सर्ग) भी वैकृत (विकार वाले) हैं। अतः यों समझा जायगा कि प्राकृत सर्ग के निरूपण से वैकृत का भी निरूपण हो गया। यों मान लेने से वैकृत सर्गों के भेद तथा स्वरूप सिद्ध न होंगे अर्थात् समझ में नहीं आवेंगे। इसी कारण से यह भेद व स्वरूप भी मुझसे सुनो, क्योंकि इन भेदों आदि को दूसरा कोई नहीं जानता है। अतः दोनों के समझने में भेलसेल न होवे इसीलिए सुनो ये प्राकृत वैकृत सर्ग लौकिक है, उनको भगवद्भक्त क्यों सुने ? इस पर कहा है कि 'रजोभजोभगवतो लीले हरिमेधसः' जब भगवान् उत्पत्ति के लिए रजोगुण धारण करते हैं वा कामार्थ क्षेत्ररज (स्त्री की रज) को काम में लाते हैं तब इस प्रकार की लीला करते हैं, ये सर्ग भगवान् की लीलाएं है अतः सुननी चाहिए। भगवान् की लीलाएं भी सकल हो "यवानर्थ उदपाने' इस न्यायानुसार अपने उपयोग में आने वाली ही लीलाएं सेवा (श्रवणीय तथा माननीय) हैं ? इस शङ्का पर कहते हैं कि भगवान् की सब लीलाएं श्रवणीय सेवा हैं क्योंकि 'हरिमेधसः' कह इस शङ्का को मिटा दिया है। जिस प्रभु को मेधा (मति वा बुद्धि) सब के दुःखों को मिटाने वाली है। भगवत्सम्बन्धी जो भी मति है वह ही सर्व दुःख हर्त्री है। इसलिए कोई भी भगवान् की लीला हो वह श्रवण करने योग्य है। किञ्च यहां जो भी नियम विषय हैं वे सब भगवत्सम्बन्ध वाले ही हैं। अतः अन्य लीलाओं की अपेक्षा मात्रा रूप लीलाएं काल सम्बन्धी होने से दुःखों का सहज में नाश करने वाली हैं। उनसे उत्पन्न दोषों को नाश करने के लिए ये लीलाएं भगवत्सम्बन्धी होने से अवश्य सुननी चाहिए यह ही ध्यान में लाकर मेधा' पद दिया है। जैसे 'मेधा' शब्द बुद्धि वाचक है वैसे 'मेधस्' शब्द अस् प्रत्ययान्त होते हुए भी बुद्धि वाचक है ॥१८॥

आभास—तस्माच्छ्रोतव्यमित्युपपाद्य वैकृतेषु प्रथममुपपादयति—

आभासार्थ—इसलिए सुनना चाहिए यों प्रतिपादन कर वैकृता में जो पहला सर्ग है। उसका इस श्लोक में प्रतिपादन करते हैं।

श्लोक—**सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ।**
वनस्पत्योषधिलतास्त्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ॥१९॥

श्लोकार्थ—वनस्पति, औषधि, लता और त्वक् जिनके सार हैं वे लताएं और वृक्ष यह छः प्रकार का जो सर्ग (सृष्टि) है वह सातवां मुख्य सर्ग है ॥१९॥

कारिका - **सप्तम इति । वैकृतेषु, मुखे भवो मुख्यः ।**
अन्नं प्रथमतः सृज्यमन्नादास्तदनन्तरम् ॥
अन्यथा बाधकं त्वग्रे वक्ष्यते प्रक्रियान्तरे ॥१॥

कारिकार्थ—प्रथम अन्न (खाद्य पदार्थ) बनाना चाहिए उसके बाद में खाने वाले नहीं होवे तो बाध (विघ्न) होगा, वह बाधक दूसरी प्रक्रिया में आगे कहा जायेगा ॥१॥

सुबोधिनी—अतो मुखे भवो भक्ष्यत्वेनैव परिकल्पितः, सर्वजीवनोपयोगी प्राथम्येनोपकल्पितः। मनसा सह कर्मेन्द्रियाणां षड्विधत्वादाद्यः षड्विधः। ते यथा भक्ष्यमाणा अपि नाऽपसरन्ति, ततस्तस्थुषां य इत्युक्तम्। स्थावराणामेव यः षड्विधः सर्गः, स एवाऽत्र ग्राह्य इति यच्छब्देन निर्दिष्टः, न तु जङ्गमत्वेन जातः स्थावरतामापद्यमानः, तस्य भगवल्लीलात्वाभावात्। चकारात्तेऽपि शास्त्रतो निरूपिताः परिगृहीताः दुग्धादयो वा चकारेण परिगृहीताः। **वनस्पतयो**ऽश्वत्थादयः। प्रथमतो वनस्पतीनां ग्रहणम्, पालने विष्णोः प्राधान्याद्वैष्णवत्वेन, **वैष्णवा वै वनस्पतयः**' इति श्रुतेः। पुष्परहिताः सफला वनस्पतयः रजोरहिताः सफला वैष्णवाः। **ओषध्यो** व्रीहियवादयः फलपाकान्ताः, ते हि मुख्यमन्नं भवन्ति। **लताः** कूष्माण्डादयः, भेदोरूपा व्यञ्जनात्मकाः। **त्वक्सारा** वेणवः, अन्नस्थित्यात्मकाः, वेणुयवा अन्नम्, वेणवश्च बहूपयोगिनः। **वीरुध** सोमादयः, तृणादयश्च। तेषामप्युभयरूपत्वम्। **द्रुमाः**सफलपुष्पा आम्रादयः। एतैः षड्विधैरद्यमानैरत्तारः सुप्रतिष्ठिता भवन्ति ॥१६॥

व्याख्या—वैकृतों में वह मुख्य है जो मुख में अर्थात् प्रारम्भ में उत्पन्न होता है (होना चाहिए) क्योंकि वह प्रथम उत्पन्न, भक्ष्यपन के लिए ही बनाया है या बना है, कारण कि सर्व के जीवन के लिए उपयोगी (लाभदायक) है। मन के साथ कर्मेन्द्रियां ६ प्रकार की हैं। अतः पहले उत्पन्न खाद्य भी ६ प्रकार के हैं वे भक्षण करने पर भी मिट नहीं जाते हैं। इसलिए उनको स्थावर (अचल) नाम दिया है यहां ६ प्रकार का सर्ग (सृष्टि) स्थावरों का ही किया है यह 'यत्' शब्द से समझ लेना चाहिए न कि जङ्गमपन से उत्पन्न हो स्थावरता को प्राप्त हुआ है क्योंकि ऐसी भगवल्लीला नहीं है। 'च' पद से शास्त्र से दुग्धादि ग्रहण किये हैं। एवं 'च' से जंगम (चल) भी स्थावर (अचल) हो जाते हैं। यों शास्त्र से ज्ञान होता है। यज्ञादि में हिंसा आदि से स्थावरता होती है। वनस्पति शब्द से अश्वत्थ (पीपल) ग्रहण किया है। उसको प्रथम लेने का कारण यह है कि शास्त्र में 'वैष्णवा वै वनस्पतयः' कह कर इनका वैष्णवत्व सिद्ध किया है। पालन कार्य विष्णु करते हैं। वह प्रधानता से वैष्णवपन के कारण ही करते हैं। वनस्पतियां पुष्परहित एवं फलवाली होती है। रजोगुण रहित ही फल सहित वैष्णव वनस्पतियां भी होती है। ओषधियां व्रीही (चावल), (यव) जौ आदि को कहते हैं। वे (ओषधियां) उनके दाम (फल) पके तहां तक रहती हैं वे ही (व्रीही आदि) मुख्य अन्न होते हैं। लताएं कुष्माण्ड(कोल्हा या कद्दू) आदि को कहा जाता है और व्यञ्जन (मसाले) आदि रस में भेद कराने वाले होते हैं। जिनमें त्वक् (छाल) सार है। ऐसे वेणु (बांस) अन्न स्थिति वाले हैं। वेणु और यव (जौ) अन्न हैं वेणु बहुत उपयोगी है वीरूध का सोम आदि घास एवं तृण आदि कहा जाता है इनके भी दोनों ही रूप हैं। 'द्रुम' शब्द से फलवाले (आम्रादि) वृक्ष समझने इन छः प्रकार के खाने के पदार्थों में खाने वाले प्रतिष्ठित (स्थिर) होते हैं ॥१६॥

आभास—नन्वेतेषां षडविधानां केन धर्मेणैकसर्गत्वमित्याशङ्क्य तान् धर्मान्निर्दिशति-

आभासार्थ--इन छः प्रकार के सर्गों का कौनसे धर्म (गुण) के कारण एक सर्गत्व कहते हो ? इस आशङ्का के होने पर वे धर्म सुनाते हैं।

श्लोक—**उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तः स्पर्शाविशेषिणः ॥२०॥**

श्लोकार्थ—वे सर्ग, आहार को ऊँचे ले जाते हैं और प्रायः अज्ञानी हैं और भीतर से स्पर्श को जान लेते हैं, विशेष रहित हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—उत्स्रोतस इति। एते हि सर्गरूपा भूतादिभावरूपा वक्तव्याः। तेऽपि चतुर्भिर्विशेषणैर्निरूप्यन्ते। ऊर्द्ध्वं स्रोत आहारसचारो येषाम्, तेषां भक्षितं जलादिकमूर्द्ध्वमेव गच्छति। अनेन भूतत्वं निरूपितम्, विपरीतं वा। बुद्धिर्हि क्रिया बोध्या, ते पादपा इति तेषां बुद्धिर्निरूपिता। **तमः प्राया** इति ज्ञानभावः, अज्ञानं तत्रैव पर्यवसितम्। प्रायः पदव्यावृत्त्यर्थं वदन् विषयत्वं निरूपयति-**अन्तः स्पर्शा इति**। अन्तः स्पर्शमात्रं गृह्णन्ति, न त्वन्यविषयकं ज्ञानमस्तीत्यर्थः। यत्तु भारते वृक्षाणां सर्वेन्द्रियत्वं साधितम्, सर्वज्ञानं च; तदधिष्ठातृदेवतापरम्, अभिमानिनां तु स्पर्श एव। **अविशेषिणश्च** हस्तवितस्त्यादिपरिमाणे नियमरहिताः, विशेषसंज्ञारहिता वा ॥२०॥

व्याख्या - इन वैकृत (स्थावर) छः सर्गों को भी भूतादिभाव वाले कहने चाहिए वे भी चार विशेषणों से निरुपित किये जाते हैं। इनके आहार ग्रहण करने की परिपाटी जंगमों से पृथक् है। जंगम आहार को नीचे ले जाते हैं वे ऊपर ले जाते हैं। किन्तु स्थावर वैकृत) ऊपर ले जाते हैं। उनका ग्रहण किया (खाया) हुआ जल आदि खाद्य (पेय) ऊपर ही जाता है इस कारण से इनको भू तत्व प्राप्त हुआ है। वा विपरीत तत्व प्राप्त हुआ है। क्रिया से ही बुद्धि के उच्च नीचत्व का ज्ञान होता है ये पादों से पीते हैं इससे इनकी बुद्धि कैसी है पता पड़ता है कि इनकी बुद्धि नीच है। क्योंकि ये प्रायः तमोगुणी है। जिससे अज्ञान ने इनमें ही आकर निवास किया है प्रायः पद के भाव के व्यावृत्ति के लिए विषयत्व कहते हुए निरूपण करते हैं कि 'अन्तः स्पर्शाः' केवल छूने से ही भीतर जान लेते हैं। किन्तु अन्य विषयक ज्ञान नहीं है यह जो भारत में सर्व वृक्ष इन्द्रिय वाले हैं यों सिद्ध किया है। और उनमें सर्व ज्ञान भी सिद्ध किया है वह कैसे ? जिसका उत्तर देते हैं कि वह कहना इन के लिए नहीं है किन्तु इनके अधिष्ठाता देवताओं के परायण हैं, अभिमानियों को तो केवल स्पर्श ज्ञान होता है। विशेष रहित हैं। इसका आशय यह है कि- इनके हस्त आदि प्राकृत की तरह नियमित नहीं हैं वा विशेष संज्ञा (नाम) से रहित हैं ॥२०॥

आभास—एवं सप्तमं निरूप्य अष्टमं निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार सातवें सर्ग का निरूपण कर अब निम्न श्लोक में आठवें सर्ग का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ।**
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ।।२१।।

श्लोकार्थ—साधारण प्राणियों की आठवीं सृष्टि अट्ठावीस प्रकार की है। वे अज्ञानी तथा विशेष तमोगुण वाले हैं उनका पदार्थ ज्ञान सूँघने से होता है। वे स्मृतिहीन होते हैं ।।२१।।

सुबोधिनी—**तिरश्चामिति** । तिर्यगाहार-संचारो येषाम्, ते तिर्यञ्चः । तिर्यक् अञ्चतीति गोभिर्भक्षितं तिर्यग्भागेनैव गच्छतीति । तेषां सर्गोऽष्टमः, अन्नस्य भक्षकोपयोगित्वात् । **सोऽष्टा-विंशद्विधः**, तत्त्वानां तथात्वात्, तत्त्वैरेव भक्षितस्य प्रार्थितत्वात् । यद्यपि बहवो भेदाः सन्ति, तथापि भेदकप्राधान्यादष्टाविंशद्विध एव मतः । अन्येषा-मत्रैवाऽन्तर्भावो वक्ष्यते, वैकृतत्वं वा निराक-रिष्यते । एतेषामपि पूर्ववच्चतुर्द्धा लक्षणमाह—**अविद इति** । वेदनं वित्, स्वस्य कर्त्तव्याकर्त्तव्यानु-सन्धानम्, पारलौकिकज्ञानं वा, तद्रहिता अविदः । **भूरि** अधिकं **तमो** येषाम्, अतस्तमसा अभिभूताः सत्सङ्गे जातेऽपि न ज्ञानयुक्ताः । ये तु देवपशवो वैकुण्ठादिस्थिता वृक्षा वा ते कालाधिभूता न भवन्तीति न तैर्लक्षणाव्याप्तिः । तेषां सर्वेन्द्रिय-सद्भावेऽपि घ्राणेनैव विशेषतः पदार्थान् जानन्ति, चक्षुरादिभिस्तु न निर्द्धारः, तमोभूयस्त्वात् । **हृद्यवेदिन** इति । पूर्वानुभूतस्मृतिशून्याश्चिन्तार-हिता वा, वेदनं वेद इति । अज्ञानं तेषां भूत-स्थानम्, मोहो विषयः, इन्द्रियाणि घ्राणमात्र-पर्यवसितानि, बुद्धिस्त्वनुभवरूपैव ।।२१।।

व्याख्या—इस आठवें सर्ग का आहार करने का तरीका सीधा नहीं है। टेड़ा ही निगलने का स्वभाव होने से तिर्यञ्चः कहे जाते हैं। जैसे कि गौआदि जो खाती है वह टेड़े भाग से ही जाता है। ऐसे उद्भव को आठवाँ सर्ग कहा जाता है। यह सर्ग अन्तभक्षकों के लिए उपयोगी है। एवं अट्ठावीस प्रकार का है क्योंकि तत्व भी २८ प्रकार के हैं। इन २८ तत्वों ने ही भोज्य के लिए प्रार्थना की थी। तद्नुसार यह सर्ग २८ प्रकार का हुआ।

यद्यपि इस सर्ग के भेद बहुत हैं तो भी जो इनमें पृथक् करने वाले मुख्य भेद हैं उनको गणना से अट्ठावीस भेद कहे हैं। औरों का इनमें ही समावेश किया गया है। अथवा वैकृतपन का निराकरण करेंगे।

१–अविदः— विद पद का अर्थ है 'ज्ञान' अर्थात् अपने को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इसकी समझ होना ज्ञान है। वह इनमें नहीं होता है। इसलिए अज्ञानी माने जाते हैं अथवा इनको पारलौकिक का पता नहीं इसलिए भी अज्ञानी कहे जाते हैं।

इनमें इतना अधिक तमोगुण भरा हुआ है जो सत्संग में जाने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जो देवसम पशु है और वैकुण्ठ आदि में वृक्ष हैं उन पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता हैं। जिससे उनमें यह लक्षण घटित नहीं होता है। यद्यपि उनको सर्वेन्द्रियां है तो भी प्रायः घ्राणेंद्रियाँ (नाक से सूंघने के) द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। कारण कि इनमें तमोगुण अधिक मात्रा में है। हृदय में किसी प्रकार स्मृति न रहने से इनको किसी विषय की चिन्ता भी नहीं रहती है और ज्ञान (समझ नहीं है। जिससे कि खेद (दुःख) हो। इनमें महाभूतों के स्थान पर अज्ञान है। मोह विषय है, इन्द्रियों में केवल घ्राणेन्द्रियाँ कार्य करती हैं बुद्धि तो अनुभव रूप ही है ॥२१॥

कारिका—**ते त्रिविधाः सात्त्विका द्विशफाः प्रोक्ता राजसास्तु चतुःशफाः।**
तामसा इतरे प्रोक्ता गुणानां हीनता परा ॥१॥

कारिकार्थ—इन २८ प्रकार के सर्ग में तीन प्रकार के फिर भेद हैं—जिनके दो खुर हैं वे सात्त्विक हैं, जिनके चार खुर हैं वे रजोगुणी हैं शेष दूसरे तामस है इनके गुणों में हीनता विशेष है ॥१॥

श्लोक—**गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः।**
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम! ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे श्रेष्ठ पुरुष! (१) गाय (२) बकरी (३) भैंस (४) कृष्णमृग (५) शूकर (६) रोज (बन गाय) और (७) बहुत सींग (१२) वाले हरिण भेड़ और ऊँट ये सर्व दो खुर वाले हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—नव द्विशफा गवादयः। **कृष्णः** कृष्णमृगः, **गवयो** गोसदृशः, रुरुर्बहुश्रृङ्गमृगः। एते द्विशफाः। एते पुनर्यज्ञपशवः। तिर्यक्शब्दवाच्या द्विशफाः पशवश्च। यत्र पशवो निर्दिश्यन्ते तत्रैते ग्राह्याः। अविर्मेष उष्ट्रश्च। **सत्तमेति** संबोधनं पशुगणनायां भगवत्कृतसृष्टावन्यथाज्ञाननिवारणार्थम्। २॥

व्याख्या—गाय आदि नौ दो खुर वाले हैं। काला हिरन, रोज (जंगली गाय), बहुत सींगों वाले हरिन, ये दो खुरवाले यज्ञ के भी पशु कहे जाते हैं एवं ये तिर्यक नाम से पुकारे जाते हैं। दो खुर वाले पशु और भी अविः अर्थात् भेड़ और ऊंट हैं। जहां पशु शब्द का निर्देश हो वहां ये ही समझने चाहिये। सत्तम ! सम्बोधन, भगवान् की सृष्टि में अन्यथा ज्ञान नहीं करने के लिए दिया है ॥२२॥

श्लोक—**खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।**
एते चैकशफाः क्षत्तः ! शृणु पञ्चनखान्पशून् ॥२३॥

श्लोकार्थ—गर्धभ (गदहा) घोड़ा, खच्चर, सफेद हरिण, शरभ तथा चमरी ये एक खुर वाले हैं। हे क्षत ! अब पांच नख वाले पशुओं का वर्णन सुनो ॥२३॥

सुबोधिनी—षडेकशफाः खरादयः । **गौरो** गौरमृग आरण्यः । **शरभो**ऽष्टापदः । **चमरी** गोसदृशो मृगः । **चकारात्** अन्येऽप्यप्रसिद्धा आरण्याः । ग्राम्यचमरीणां द्विशफत्वम्, ता न भगवत्सृष्टाः । **क्षत्तरिती** संबोधनं नैपुण्यार्थम् । एत एव बहुविधा विश्वामित्रादिभिर्योगबलेन सृष्टा भवन्ति । तद्व्यावृत्त्यर्थं **शृण्विति** निर्देशनं पञ्चनखेषु बहुसन्देहसूचकम् । पञ्चनखा मनुष्या अपि, तद्व्यावृत्त्यर्थं **पशूनित्युक्तवान्** । मनुष्याणामपि यद्यपि पशुत्वं श्रुतिसिद्धम् तथापि विवक्षितं न भवतीति तद्व्युदासः । २३॥

व्याख्या—एक खुर वाले गर्दभ से लेकर छः पशु हैं, 'गौरः' सफेद रंगवाला जंगली हरिण, शरभ आठ पैर वाला, चमरी (गौ के समान हरिण) 'च' पद से अन्य भी अप्रसिद्ध (जो मशहूर नहीं है) ऐसे जंगली पशु समझ लेने । गांव की चमरी के दो खुर होते हैं. वे भगवान् ने ही रचे हैं क्षत्त ! यह सम्बोधन विदुर को देकर उसकी निपुणता प्रकट की है । ये ही अनेक प्रकार के पशु विश्वामित्र आदि ऋषियों ने योगबल से बनाये हैं।

उन पशुओं की भगवतत्सृष्ट पशुओं में गणना नहीं की जाय तदर्थ मैत्रेय ने आज्ञा की कि अब भगववन के बनाये हुए पांच नख वाले पशुओं को सुनो। इन पांच नख वालों में बहुत सन्देह है क्योंकि पाँच नख वाले मनुष्य भी है, मनुष्य न समझे जावे इसलिए 'पशून्' शब्द स्पष्ट दे दिया है। यद्यपि मनुष्यों का पशुत्व भी श्रुति सिद्ध है तो भी यहाँ उसके कहने की इच्छा नहीं है मनुष्यों की गणना पशुओं में नहीं की गई है। ॥२३॥

श्लोक—**श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।**
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥२४॥

श्लोकार्थ—कुत्ते, शियाल, वृक (भेड़िया) व्याघ्र, मार्जार, (बिल्ली) खरगोश, शलड़ी, शेर, बन्दर, हस्ती, (हाथी) कछुआ, गौधा (गोह) मगर आदि पांच नख वाले है । ॥२४॥

सुबोधिनी—त्रयोदश श्वादयः । तत्र मकरादयः सर्वे अभूचरा एकविधा अण्डजाः । कूर्मो जलचरोऽप्यण्डजत्वाभावात् । पृथग्गणितः । **मकरादय** इति । **आदि**शब्देन सर्पादयोऽपि परिगृहीताः, अण्डजत्वसाम्यात् ॥२४॥

व्याख्या—कुत्ते से लेकर तेरह (१३) पांच नख वाले हैं । उनमें मगर आदि सब पृथ्वी पर नहीं चलते हैं । अण्डों से उत्पन्न होने से एक प्रकार के हैं । कूर्म (कछुवा) जलचर है तो भी अण्डों से उत्पन्न न होने के कारण पृथक गिना गया है । मगर के साथ आदि शब्द देने से सांप आदि भी ग्रहण किये है । क्योंकि अण्डे से उत्पन्न होने से दोनों में साम्यता है ॥ २४ ॥

आभास—तत्राऽपि प्रधानभूतान्निर्दिशति—

आभासार्थ—उनमें भी जो मुख्य है उनको निम्न श्लोक में बताते हैं।

श्लोक—**कङ्कगृध्रवटश्येनभासभल्लूकबर्हिणः ।**
हंससारसचक्राह्व का कोलूकादयः खगाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—कङ्क, गीध, वट, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चक्रवाक, कौआ, उलूक, (उल्लू) आदि पक्षी है ॥२५॥

सुबोधिनी कङ्केति । **भल्लूको**ऽपि पक्षिविशेषः, न तु ऋक्षः । तं विश्वामित्रसृष्टं केचिदाहुः, पद्मकल्पे तदभावो वा । **आदि**शब्देन सूक्ष्मा अपि सर्वे परिगृहीताः ॥२५॥

व्याख्या—भल्लूक भी विशेष प्रकार का पक्षी है न कि रीछ है । कितनेक कहते हैं कि इसको विश्वामित्र ने रचा (बनाया—उत्पन्न किया) है । पद्मकल्प में रीछ नहीं था । 'आदि' शब्द से जो सूक्ष्म (स्वल्प) पक्षी हैं । उनका भी समावेश किया है ॥२५॥

आभास—एवं भोग्यभोक्तॄन् निर्दिश्य तदुभयनियामकान्निर्दिशति—

आभासार्थ—इस प्रकार भोग्य (भोग करने योग्य) और भोक्ताओं (भोग करने वालों) का वर्णन कर, इस निम्न श्लोक में उन (दोनों) के नियामकों का वर्णन करते है—

श्लोक—**अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।**
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ।।२६।।

श्लोकार्थ—हे क्षत ! (संयमी) जो नीचे आहार का सञ्चार करने वाली एक मनुष्यों की जो सृष्टि है वह मनुष्यों की एक प्रकार सी हैं। उनमें रजोगुण अधिक है एवं वे कर्म के परायण ही रहते हैं दुःख में सुख मानते हैं ।।२६।।

सुबोधिनी—**अर्वाक्स्रोत इति**। तुशब्दोऽत्र पूर्ववज्जननं व्यावर्तयति। अर्वागेव स्रोत आहार-सञ्चारो यस्य, स नृणां सर्ग एकविध एव। सर्वे पञ्चनखाः, जलचरा अपि तथा। एकपादा जल-चराश्च तस्मिन् कल्पे न सन्तीति वा। तेषां पूर्व-वल्लक्षमाह—**रजोऽधिका इति**। रजोगुण एव तेषामधिक. न सात्त्विकाः, नापि तामसा इति। ये पुनर्भगवदीयास्ते गुणातीता देवा एव, न नराः, ब्रह्मसृष्टा वा न भवन्ति, पद्मकल्पे वा तदभावः। भूतस्थानीयं रजः। सर्वदा **कर्मपराः** कुर्वन्त एव तिष्ठन्ति। ज्ञानेन्द्रियाणि तेषां गौणानि, अनेन विषयेन्द्रियनिरूपणम्। **दुःखे च सुखमानिन** इति। बुद्धिः। चकारात्सुखे दुःखसाधने । एवमाधि-भौतिकादिभेदेन स्थावरजङ्गमा मनुष्याश्च निरू-पितास्त्रय एव ।।२६।।

व्याख्या—'तु' शब्द यह सूचित करता है कि इनकी उत्पत्ति पहले की तरह नहीं हुई। जिनके आहार का सञ्चार कण्ठ से सीधा होता है। मनुष्यों की ये सृष्टि एक प्रकार की ही है। सर्व जो पांच नख वाले तथा जलचर है वे भी ऐसी ही है वा एक पाद वाले जलचर उस कल्प में नहीं थे। उनके पूर्व की तरह के लक्षण कहते हैं कि उनमें रजोगुण अधिक है। उनमें न सतोगुण है और न तमोगुण है। जो भगवदीय हैं वे गुणातीत होने से देव है न कि मनुष्य हैं, अथवा ब्रह्मा के बनाये हुए भी नहीं है, अथवा कल्प में उनका अभाव था उनमें रजोगुण होने से उस स्थान पर महाभूत नहीं है। सदैव कर्म के परायण होने से कर्म करते रहते हैं। उनकी ज्ञानेन्द्रियां गौण हैं, यों कहने से उनके विषयेन्द्रियों का निरूपण कहा है। वे दुःख में सुख मानते हैं। इसी से इनकी बुद्धि का माप हो जाता है कि इनमें कितनी बुद्धि है 'च' पद से यह सूचित किया है कि सुख में तो सुख समझते हैं किन्तु दुःख के साधन में भी सुख मानते हैं, इसी तरह आधिभौतिकादि भेद से स्थावर जंगम और मनुष्य-सृष्टि के प्रकार कहे हैं वे तीन ही है ।।२६।।

आभास—अन्ये स्थानरूपभिन्ना अपि न सर्गत्वं प्राप्नुवन्ति। तदाह—

आभासार्थ—अन्य स्थान और रूप के कारण पृथक होते हुए भी उत्पन्न नहीं होते हैं उनका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम ! ।**
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ।।२७।।

श्लोकार्थ—हे श्रेष्ठ पुरुष ! ये तीन प्रकार की सृष्टियाँ वैकृत हैं और देवसर्ग वैकारिक हैं। वैकारिक देव सर्ग तो कहा है कुमारों की सृष्टि दोनों रूप (देव एवं मनुष्य रूप) है ।।२७।।

सुबोधिनी—**वैकृतास्त्रय एवैत इति । देवसर्गश्च सत्तमेति** । मनुष्या एव पुण्यपरिपाकवशात् देवा भवन्तीति केचित् । अतो नवैव सर्गाः, गुणानां भेदान्तरासम्भवात् । उत्पत्त्या नवविधोऽप्युपपत्त्योरमंहाराच्च दशविधः अतश्चकारः **देवसर्गश्चेति सत्तमेति** । संबोधनं देवानां फलरूपत्वज्ञापनार्थम् । स देवसर्गो द्विविधः, एको वैकारिकः सात्त्विकः, अपरो वैकारिको विकाराज्जातः, स दशमः । तत्र प्रथमे निर्णयमाह—**वैकारिक इति** । तुशब्दोऽस्माद्वैकारिकाद्भेदमाह । यः सात्त्विको वैकारिकः, स प्रोक्तः पञ्चमः । **कौमारस्तु** देवोऽपि भवति, मनुष्योऽपि भवतीति उभयनिरूपणेनैव निरूपितः, अतः पृथक्तया स न वक्तव्य इति तुशब्दः ।।२७।।

व्याख्या ये तीन देवसर्ग वैकृत हैं। हे श्रेष्ठा ! यों सम्बोधन देने का आशय यह है कि देव सर्ग फलरूप है। देव सर्ग वैकारिक कहा है वह दो प्रकार का है एक वैकारिक सात्त्विक है और दूसरा वैकारिक विकार से उत्पन्न हुआ है वह दसवां है, वहां प्रथम में निर्णय बताते हैं कि 'वैकारिक' वैकारिक (सात्त्विक) है। 'तु' शब्द देकर इस वैकारिक से भेद कहते हैं। जो सात्त्विक वैकारिक कहा है, वह पांचवा कहा है। कौमार सर्ग उभयरूप होने से देव भी है तथा मनुष्य भी है अतः वह पृथकता से नहीं कहने योग्य है इसलिये 'तु' शब्द दिया है कितने ही कहते हैं कि पुण्यों के परियाक हो जाने पर मनुष्य ही देव हो जाते हैं। अतः देवों के नव (नौ) ही सर्ग हैं क्योंकि गुणों के अन्य विशेष भेद नहीं होते हैं। उत्पत्ति से नौ प्रकार के होते हुए भी उत्पत्ति एवं उपमंहार से दश प्रकार के हैं। इसलिए 'च' शब्द कहा है ।।२७।।

आभास—देवसर्गस्त्वेकविधोऽप्यवान्तर भेदेनाऽष्टविधः । तान् गणयति—

आभासार्थ—यद्यपि देव सर्ग एक प्रकार का है तो भी अवान्तर भेद से आठ प्रकार के हैं। वे प्रकार निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**देवसर्गश्चाऽष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।**
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणः ।।२८।।

श्लोकार्थ—देव सष्टि आठ प्रकार की है देव-पितर, असुर, गन्धंव, अप्सराएँ, सिद्ध, यक्ष, राक्षस तथा चारण ।।२८।।

सुबोधिनी—**विबुधा** देवा इन्द्रादय एके । **पितरोऽसुरा** एके । **गन्धर्वाप्सरस** एके । **सिद्धा** एके । **यक्षरक्षांस्येके** । । **चारणा** अपि यक्षेष्वेवेति केचित् ।।२८।।

व्याख्या--विबुध पद से इन्द्रादि देवों का एक प्रकार, पितर और असुर एक प्रकार, गन्धर्व और अप्सराएं एक प्रकार, सिद्ध एक ही प्रकार, यक्ष राक्षस एक प्रकार चारण भी यक्षों में ही है। यों कितने ही कहते हैं ॥२८॥

श्लोक— **भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।**
दशैते विदुराऽऽख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥२९॥

श्लोकार्थ—भूत, प्रेत, पिशाच, विद्याधर और किन्नर आदि हे विदुर! ये दस प्रकार के सर्ग विश्व रचने वाले बनाये हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—**भूतप्रेतपिशाचा** एके। **विद्याधरा इति** केचित्। **किन्नराः** किंपुरुषादयः। एवं सर्वानुपपाद्य उप-संहरति-**दशैते विदुराऽऽख्याता इति**। संबोधनं स्नेहसूचकम्, तेनाऽन्यथाकथनं व्यावर्तितम्। विश्व-**सृजा** ब्रह्मणा **कृता** एते सर्गाः ॥२९॥

व्याख्या--भूत प्रेत और पिशाच ये एक प्रकार विद्याधर पृथक् है यों कितने ही कहते हैं किन्नर किम्पुरुष आदि यों सब का प्रतिपादन कर उपसंहार करते हैं। हे विदुर! इस प्रकार से दश कहे हैं। विदुर! यह संबोधन स्नेह सूचक है। स्नेह सूचक सम्बोधन देने से बताया है कि मैंने जो सुनाया है वह सत्य है ये सर्ग ब्रह्मा ने ही किये हैं। २९।।

आभास--एतावदुक्त्वा तूष्णींस्थिते पूर्ववत् पुनः प्रक्ष्यतीति वक्तव्यान्तरं निर्दिशति—

आभासार्थ—इतना कह कर मैत्रेय जी पहले की तरह मौन हो गये परन्तु फिर यह समझ कर कि (ये) पूछेंगे. इसलिये स्वयं जो दूसरा कहना चाहिए वह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक--**अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च ।**
एवं रजः प्लुतः स्त्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः
सृजत्यमोघसंकल्प आत्मैवाऽऽत्मानमात्मना ॥३०॥

श्लोकार्थ--इसके बाद तुमको वंश और मन्वन्तर कहूंगा, इसी प्रकार कल्पों की आदि (आरम्भ) में सत्यसङ्कल्प, रजोव्याप्त होकर आत्मभू ने ब्रह्मा बनकर अपने से अपने को रचा ॥३०॥

सुबोधिनी **अतः परं प्रवक्ष्यामीति**। अनुपदं न। एतच्छेषनिरूपणानन्तरं कालान्तरे प्रवक्ष्यामीत्यर्थः। अवशिष्टं रूपद्वयमस्ति, इन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति। तदुभयं निर्दिशति-**वंशान्मन्वन्तराणि चेति**। वंशइन्द्रियरूपः, चकारात्तत्संबन्धिनोऽपि तत्त्वेनैव वक्तव्याः प्रतिज्ञाताः। नन्वेवं भगवान्

अनेकविधान् किमर्थं कदा वा करोतीत्याशङ्क्याऽऽह–एवं रजःप्लुत इति रजसा व्याप्तो भगवान् सृष्टौ प्रवृत्तः, सर्वेष्वेव कल्पादिषु आत्मनः सकाशात् स्वयमेवाऽऽविर्भूतः। सर्वेषां दुःखनिवारणार्थममोघसंकल्पमात्रेण कर्तृकर्मकरणरूपः स्वयमेव सृजति। ब्रह्माऽपि रजःप्लुतो भगवानेवेत्युक्तं भवति। कल्पादिष्विति बहुवचनं सतत्त्वानि ब्रह्माण्डानि बहुधा सृजतीति ज्ञापयति। रजोऽपि स्वयमेवेति स्वस्यैव करणत्वम्। तथा कर्मकालादयोऽपि स्वयमेव। जगदपि स्वयमेवेति स्वस्यैव कर्मत्वम्। पुरुषादयोऽपि स्वयमेवेति कर्तृत्वम्। तस्मात्सर्वं हरिरीति सिद्धम्। ३०॥

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्ष्मण भट्टात्मज श्री वल्लभ दीक्षित विरचितायां तृतीय स्कन्धे दशमाध्याय विवरणम्।

व्याख्या— अतः परं 'प्रवक्ष्यामि' इस पंक्ति में 'पर' पद से यह सूचित किया है कि इस के बाद साथ में ही कहूंगा यों नहीं है, किन्तु शेष निरूपण के अनन्तर किसी समय कहूंगा। शेष दो रूप बचे हैं। इन्द्रियां और बुद्धि उन दोनों का निर्देश करते हैं—वंशों और मन्वन्तर से उनका वर्णन बताऊंगा क्योंकि 'वंश' इन्द्रिय रूप हैं, और 'च' शब्द से उनके संबन्धी भी तत्व से कहना चाहिए यों प्रतिज्ञा की है। इसी तरह भगवान् अनेक प्रकारों की (सृष्टि) किसलिए वा कब करेंगे? इस शङ्का पर कहते हैं। "रजः प्लुतः" भगवान् रजोगुण से व्याप्त हो कर सृष्टि रचने में प्रवृत हुए। सर्व कल्पों में अपने में से ही स्वयं ही आविर्भूत (प्रकट) हुवे हैं सब के दुःख निवारण करने के लिए केवल सत्यसङ्कल्प से ही कर्ता कर्म एवं करण रूप स्वयं हो बनकर रचना करते हैं ब्रह्मा भी रजोगुण से व्याप्त भगवान् ही कल्पादिषु वचन देकर यह सूचित किया है कि तत्त्वों सहित ब्रह्माण्ड बहुत प्रकार से रचते हैं। रजोगुण भी स्वयं (आप भगवान् ही) हैं। इसलिये आपको ही करणत्व है तथा कर्म काल आदि भी आप हो हैं। जगत् भी स्वयं ही हैं इसलिये कर्मत्त्व भी आपको ही है। पुरुष आदि भी आप ही हैं। इस प्रकार अपन को ही कर्तापन है। इस कारण से सब हरि हैं, यों सिद्ध हुआ ॥३०॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के दशमे अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरणविरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

हरि-विमुख की निन्दा

हरि तैं बिमुख होइ नर जोइ। मरिकै नरक परत है सोइ।
तहाँ जातना बहु विधि पावै। बहुरौ चौरासी मैं आवै।
चौरासी भ्रमि, नर-तन पावै। पुरुष-वीर्य सौं तिय उपजावै।
मिलि रज-वीर्य बेर-सम होइ। द्वितीय मास सिर धारे सोइ।
तीजे मास हस्त-पग होहिं। चौथ मास कर-अंगुरी सोहि।
प्रान-वायु पुनि आइ समावै। ताकौं इत-उत पवन चलावै।
पंचम मास हाड़ बल पावै। छठें मास इंद्री प्रगटावैं।
सप्तम चेतनता लहै सोइ। अष्टम मास संपूरन होइ।
नीचैं सिर अरु उँचैं पाव। जठर अग्नि कौ व्यापै ताव।
कष्ट बहुत सो पावै उहाँ। पूर्व जन्म-सुधि आवै तहां।
नवम मास पुनि विनतो करै। महाराज, मम दुख यह टरै।
ह्याँ तैं जौ मैं बाहर परौं। अहनिसि भक्ति तुम्हारी करौं।
अब मोपै प्रभु कृपा करीजै। भक्ति अनन्य आपुनी दीजै।
अरु यह ज्ञान न चित तैं टरै। बार-बार यह विनती करै।
दसम मास पुनि बाहर आवै। तब यह ज्ञान सकल बिसरावै।
बालापन दुख बहु विधि पावै। जीभ बिना कहि कहा सुनावै।
कबहुँ बिष्ठा मैं रहि जाइ। कबहुँ माखी लागैं आइ।
कबहु जुवां देहिं दुख भारी। तिनकौं सो नहीं सकै निवारी।
पुनि जब षष्ट बरस कौ होइ। इत उत खेल्यौ चाहै सोइ।
माता-पिता निवारैं जब हीं। मन में दुख पावै सो तबहीं।
माता-पिता पुत्र तिहिं जानैं। वहऊ उनसौं नातौ मानै।
वर्ष व्यतीत दसक जब होइ। बहुरि किसोर होइ पुनि सोइ।
सुंदर नारी ताहि बिवाहै। असन-बसन बहुविधि सो चाहै।
बिना भाग सो कहां तै आवै। तब वह मन में बहु दुख पावै।
पुनि लछमी-हित उद्यम करै। अरु जब उद्यम खाली परै।
तब वह रहै बहुत दुख पाइ। कह लौं कहौं, कह्यौ नहिं जाइ।
बहुरौ ताहि बुढ़ापौ आवै। इन्द्रि-सक्ति सकल मिटि जावै।
कान न सुनै, आंखि नहि सूझै। बात कहैं सो कछु नहिं बूझै।
खैबेहूँ कौं जब नहिं पावै। तब बहु विधि मन में पछतावै।
पुनि दुख पाइ-पाइ सो मरै। बिनु हरि-भक्ति नरक मैं परै।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

बन्ध सृष्टि (जीव सर्ग) प्रकरण

"अध्याय"—११

मन्वन्तरादि काल विभाग का वर्णन ।

कारिका—एकादशे तु कालस्य सर्वेषामिन्द्रियाणि यत् ।
आध्यात्मिकं तु यद्रूपं त्रेधा तद्विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस एकादश अध्याय में "तु"[1] जो सब की इन्द्रियां हैं और जो आध्यात्मिक रूप हैं, उस काल का तीन प्रकार का निरूपण किया जाता है ॥१॥

१—'तु' पद इस अध्याय की संगति बताने के लिये कहा है ।

मनुष्य से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त की इन्द्रियों को अपनी देह में आसक्ति पैदा कराके जो नाश होता है वह "आयु" शब्द से पहचाना जाना काल रूप है और ब्रह्मा की आयु की सीमा बांधने वाला जो आध्यात्मिक रूप है, वह तीन प्रकार का है जैसे कि १-'पद' २-'परार्ध' ३-'कल्प' नामो से निरूपण किया गया है । इससे शास्त्र के विचार में अवसर संगति है । परीक्षित ने श्री शुकदेव जी से 'कल्प' सम्बन्धी प्रश्न किया है जिसका उत्तर ब्रह्म कल्प के अनन्तर देने को कहा था एवं मैत्रेय जी काल के अवयवों की स्थिति सृष्टि शेषत्व में कहेंगे यह प्रसङ्ग आया है अतः सङ्गति है ।

कारिका—सर्वो हि भगवान् कालस्तदर्थमुपचर्यते ।
धर्मप्रयुक्तो यः कालः स हि ब्रह्म एमेयिवान् ॥२॥

कारिकार्थ—सर्व 'काल' भगवद्रूप है, व उसके लिये अर्थात् उस प्रयोजन के लिये 'काल' गिना जाता है, कारण[२] कि वह धर्म के लिये योग्य काल ब्रह्मा के पास गया[३] है ॥२॥

कारिका—सूर्यात्मकस्तु यः कालः सर्वेषांसोऽपि च त्रिधा ।
कायप्रवेशाप्रवेशादर्शनादर्शनात्तथा ॥ ३ ॥

कारिका—भचक्रस्थानभागाभ्यामत्राऽप्युच्चावचं सदा ॥४॥

कारिकार्थ—सूर्य रूप जो सब का (देव–मनुष्य और पितरों का आयुष्य रूप) काल है, वह भी कार्य (जल) में प्रवेश करने के अनन्तर वा प्रविष्ट तभी होकर, एवं दर्शन दे या नहीं दे और ज्योतिश्चक्र के स्थानों के विभागों के कारण तीन प्रकार का है क्योंकि इसमें भी ऊँचे-नीचे स्थान है ॥३।४॥

आभास—एवं पूर्वाध्याये कालस्य स्वरूपं कार्यं चोक्त्वा, तस्याऽवान्तरभेदान्निरूपयति ।

आभासार्थ—इसी तरह पूर्वाध्याय में काल का स्वरूप एवं कार्य कह कर उसके अवान्तर भेदों का निरूपण करते हैं ।

कारिका—सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सुर्यस्तस्याऽऽधिदैविकम् ।
आध्यात्मकं तु तद्भेदा क्वचिदिच्छाऽपि भेदिका ।१।
पृथिवि च जलं तेजो देवास्तु पितृमानुषाः ।
उपाधित्रितयं प्राहुस्ततः कालस्त्रिधा मतः ।२।

कारिकार्थ—सूर्य के (आध्यात्मिक काल के) विभाग तो सूर्य की गति से होते हैं सूर्य उसका आधि दैविक रूप है, उसके विभागों को आध्यात्मिक कहते हैं किसी प्रसङ्ग पर (परलोक में वा

२—आयुष्य रूप काल को इन्द्रियाँ कैसे कहा जाता है ? इस शङ्का का यह उत्तर है कि यह सर्व काल ब्रह्मा का आयुष्य रूप होने से उपचार (लक्षण) से इन्द्रियाँ कहा गया है, वह काल अक्षर की सीमा नहीं बांधता है किन्तु उसका निमिष मात्र है, यों तो स्वरूप से काल भगवद्रूप है ।

३—काल गति रूप धर्मवाला होने से ब्रह्मा के आयु की सीमा बांधता है । 'प्रकाश'

प्रलय के समय) भगवान् की इच्छा भी विभाग करती है—पृथ्वी, जल और तेज, तथा देव पितर एवं मनुष्य ये तीन उपाधियां हैं इस कारण से काल तीन प्रकार का माना गया है ।।२।।

आभास—प्रथमं मनुष्याणामहोरात्रं निर्णेतुं पार्थिवे लोके पृथिवीव्यवधानाभ्यां सूर्यदर्शनादर्शनकृतं कालस्य दिनरात्रिरूपत्वमिति निरूपयितुम् , पार्थिवैरेव परमाण्वादिभिः कालभेदानाह । तत्रोपाधिभूतस्य परमाणोर्लक्षणमाह—

आभासार्थ—आरम्भ में मनुष्यों के दिन और रात्रि का निर्णय करने के लिये पृथ्वी के ऊपर के लोक में पृथ्वी के बीच में आने से अथवा बीच में न आने से सूर्य के दर्शन नहीं होते हैं जिससे काल के रूप दिन और रात्रि होते हैं यह बताने के लिये पृथ्वी के ही परमाणु के (हुवे) काल के विभागों को कहते हैं उसमें सीमा रूप हुए परमाणु का लक्षण नीचे के श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—मैत्रेय उवाच—चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्य भ्रमोयतः ।।१।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी ने कहा कि कार्य के अवयवों से अन्तिम एक के सम्बन्ध में भी जो नहीं आ सकता है ऐसे अवयव को (परमाणु) कहते हैं, जिससे मनुष्यों को ऐक्य भ्रम होता है ।।१।।

सुबोधिनी—चरम इति । सतः कार्यस्य घटादेः, विशेषाणामवयवानां मध्ये यश्चरमः, यस्य पुनरवयवो नाऽस्ति, अतिसूक्ष्मत्वात् विभाजकाघातं न सहते, स **चरमः** । सोऽपि सजातीयैः समुदायावस्थां न प्राप्तः । तदाह-**अनेक इति** । कार्यावस्थां च न प्राप्तः-**असंयुत इति** । **सदेति** । कदाचित्संयोगं प्राप्तो भवत्येवेति लक्षणमसंभव्येव स्यात् । अनेकत्वं च नैकसङ्ख्याभावः, यत्र तिष्ठति तत्र तत्सजातीया बहव एव तिष्ठन्तीत्यनेकत्वम् । भौतिकत्वे सति नित्यो गतिमान् परमाणुरिति परमाणुलक्षणे क्रियमाणे परमाणुभ्यः कार्योत्पत्तिरिति मतं स्यात् । सिद्धान्ते तु स्थूलादेव सूक्ष्मोत्पत्तिः, स्वसमानावयवस्थूलांशः कार्यजनक इति । यदनेकावयवैर्योजनं पटादौ, तत्कार्पासादेः स्थूलस्यैव दीर्घावस्थां प्राप्तस्य आकृतितविशेषसंपादनार्थं खण्डशो योजनम् । समुदायस्य चैवोपादानत्वम् । एवं कुण्डलप्रतिमादावपि तावत्समुदायस्यैवोपादानत्वम् , अन्यथा अनेकं कार्यं स्यात् । एकस्यैकमेवोपादानमिति निश्चयः । कार्यस्य पाञ्चभौतिकत्वात् जलादयः संयुक्ता भवन्तीति तेऽपि ततः पृथग्भूता परमाणुत्वमापद्येरन् । भगवांश्च सर्वत्रोपादानमिति चरमत्वं च तस्योपपद्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थम**नेक इति** । स त्वेक एव । असम्भवव्यावृत्त्यर्थमेव **सदा** । परमाणुर्विज्ञेयः, विशेषेण तत्र ज्ञानमपि विधीयते । कुयुक्तया सोऽन्यथा न मन्तव्य इत्यर्थः ।

तस्य परमाणोः स्वरूपमुक्त्वा कार्यमाह–**नृणामैक्यभ्रमो यत इति । नृणां** जीवानाम्, यैः परमाणुभिः कृत्वा, आत्मना सह देहस्यैक्यभ्रमो भवति । ऐक्यभ्रमहेतवः परमाणव एव । ते ह्यतिसूक्ष्मा धर्माधर्माभ्यां संस्कृता जीवे संबध्यन्ते, तदा देहभावमापद्यन्ते । अत एव ते दुष्टाः कालस्योपाधिभूताः । तत्संबन्धे जीवस्य नाश एव । अत एव तेषां भ्रमजनकत्वम् । पुञ्जात्पुञ्जोत्पत्तिपक्षमाश्रित्य भ्रमात्केचिदाहुः । तत्सोढव्यम् । एतदर्थमेव कालावयवत्वेन निरूपणमिति भ्रमापदप्रयोगः । मनस्तु परमाणुपरिमाणमेव, न तु परमाणुः । परमाणवस्तु चतुर्विधा एव, अन्यथा पञ्चविधाः परमाणवः स्युः । कार्यं च ततः स्यात्, परमाणुत्वात् । अतो नित्यगतिमत्त्वं न लक्षणम् । **'तदेजति तन्नैजति'** इति श्रुत्या नित्यो भगवान् परमाणुः स्यात् । भौतिकत्वं च तेषां साधनीयम् । स्मृतिश्च श्रुत्या बाधितेति वैशेषिकादीनां लक्षणं बाधितमेव । प्रकृते चाऽनुपयोगः ॥ १ ॥

व्याख्या – सत्कार्य (घट आदि) के अवयवों में जो अन्तिम अवयव है, जिसका फिर अवयव नहीं बन सकता है, अति सूक्ष्म होने से पृथक् हो नहीं सकता है उसको 'चरम' (अन्तिम) कहा जाता है वह भी यदि सजातियों के साथ समुदाय की अवस्था को प्राप्त न हुआ हो, 'वह" कहते हैं 'अनेके' अकेले नहीं अर्थात् कार्य रूप में न आया हो, इसका सारांश है कि मिले हुवे न हों सदा कभी कार्यावस्था में संयोग को प्राप्त होंगे ही, यह लक्षण संभव नहीं, अनेकत्व, एक संख्या का अभाव नहीं है–वहां सजातीय बहुत ही रहते हैं, इसलिये 'अनेकत्व' है भौतिक होने पर नित्य गतिवाला होवे तो वह परमाणु जब स्वरूप कार्योत्पत्ति कर सके जब इस प्रकार का सिद्धान्त बने, तब तो सिद्धान्त में स्थूल से ही सूक्षम की उत्पत्ति हो, अपने समान अवयवों के स्थूल अंश ही कार्य उत्पन्न करने वाले होंवे वस्त्रादि में जो अनेक अवयवों को जोड़ा जाता है, वह कपासादि के स्थूलरूप की ही दीर्घ बनी हुई खास आकृति है । और समुदाय का ही उपादानत्व है, इसी प्रकार कुण्डल प्रतिमा आदि भी तो समुदाय का उपादानत्व है, यों नहीं हों (न माना जाय) तो कार्य अनेक हो जावें एक का एक ही उपादान होना चाहिये यह निश्चय सिद्धान्त है, कार्य पञ्च भौतिक होने से जलादि उसमें मिले हुवे हैं, वे भी वहां से पृथक् होने पर परमाणु बन जाते हैं ।

वस्तुतः भगवान् सर्वत्र उपादान है जिससे उसको चरमत्व है इसलिये वह ही चरमत्व युक्त बनता है, उसके व्यावृत्ति के लिये (अनेके) कहा है वह तो एक ही है, असम्भव की व्यावृति के लिये (सदा) कहा है, परमाणु का स्वरूप अच्छे प्रकार से जानना चाहिये सत् युक्तियों से हो उसका ज्ञान प्राप्त करना, न कि कुयुक्तियों से उसका स्वरूप विपरीत न समझ लेना, इस प्रकार परमाणु स्वरूप समझा कर अब उसका कार्य स्वरूप कहते हैं "नृणामैक्य भ्रमोयत" मनुष्यों (जीवों) को जिन परमाणुओं के कारण हो आत्म स्वरूप के साथ देह की एकता का भ्रम होता है । उन ऐक्य भ्रम के कारण परमाणु ही हैं, क्योंकि वे अति सूक्ष्म हैं, धर्म और अधर्म से संस्कृत ही जोव से सम्बन्ध वाले होते हैं, तब देह भाव को प्राप्त होते हैं, अतएव (इस कारण से ही) वे दुष्ट हैं,

काल की उपाधि रूप हैं, उसके सम्बन्ध से जीव का नाश ही होता है। इस कारण से ही वे भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं पुञ्ज से पुञ्ज की उत्पत्ति होती है इस पक्ष को ले भ्रम से कितने यों कहते हैं, वह सह लेना चाहिये।

इसलिये ही काल व अवयवपन से निरूपण जो है उसके लिये भ्रम पद दिया है, मन तो परमाणु परिमाण ही है, न कि परमाणु है 'परमाणु' चार प्रकार के हैं, अन्यथा (नहीं तो) परमाणु पांच प्रकार के हों, कार्य उनसे होवें परमाणुत्व से अतः नित्य गतिमत्व लक्षण नहीं है 'तदेजति तन्नैजति' इस श्रुत्यनुसार नित्य भगवान् परमाणु है भौतिकत्व तो उनका सिद्ध करना है, स्मृति शास्त्र श्रुति से बाध के योग्य है, इसलिये वैशेषिकों का दिया लक्षण यथार्थ नहीं हो और प्रकृत प्रसङ्ग में उसका उपयोग नहीं है। १ ॥

आभास—एवं परमाणुलक्षणमुक्त्वा परममहतो लक्षणमाह—

आभासार्थ—इसी तरह परमाणु के लक्षण कह कर अब इस निम्न श्लोक में परम्-महान् का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।**
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥२॥

श्लोकार्थ—स्वरूप में लीन सत् (कार्य रूप-पदार्थ) का जो ऐक्य जिस ऐक्य में फिर किसी पदार्थ का पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता है कि यह पृथ्वी आदि है उस समय किसी प्रकार का भेद भी नहीं दिखता है, वह स्वरूप (परम-महान्) है ॥ २ ॥

सुबोधिनी—**सत एवेति** । **सतः** कार्यमात्रस्य संपूर्णस्य ब्रह्माण्डस्य, **स्वरूपावस्थितस्य** न तु प्राकट्येनाऽवस्थितस्य, **कैवल्यमे**कता, तत्**परमम**हानिति लक्ष्यम् । पृथवीमात्रं परममहानिति पक्षं निषेधति-**अविशेष इति** । न ह्ययं पृथिवी जलमिति वा विशेष, विशेषबुद्ध्यविषयः । **निरन्तरो** भेदशून्यश्च । **सत ऐवेति** स्वाप्निकव्युदासः । **पदार्थस्येति** वेदव्युदासः । **स्वरूपावस्थित** इति कार्यव्युदासः । ब्रह्माण्डस्थितो भगवान् परममहानित्युक्तं भवति । सर्वोऽपि पदार्थः सर्वत्र नैकबुद्ध्यारूढो विशेषकल्पनाशून्यः प्रमात्रपेक्षभेदशून्योऽपि । यावान् सूर्येण प्रकाश्यते, स सर्वो मिलितः परममहान् ॥ २ ॥

व्याख्या—कार्य मात्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जो स्वरूप में स्थित है, न कि प्रकट रूप में स्थित है वह 'कैवल्य' एकता है, उसको (कैवल्य को) 'परम-महान्' कहा जाता है यों लक्ष्य है, केवल

पृथ्वी महान् है, इस पक्ष का निषेध करते हैं कि 'अविशेष' इति इस प्रकार विशेषण से असत् सिद्ध करते हैं, अर्थात् यह न पृथ्वी है और न जल है यों विशेष बुद्धि का विषय नहीं है, सदैव भेद-शून्य है 'सत एव' इस पद से स्वाप्निक पदार्थ का परिहार किया है अर्थात् स्वाप्निक पदार्थ नहीं है 'पदार्थस्य' इससे वेद का परिहार किया है (वेद की शङ्का मिटाई है) 'स्वरूपाव स्थितः' स्वरूप में ही स्थित हैं यों कह कर कार्य का परिहार किया है, जिससे ब्रह्माण्ड में स्थित भगवान् परम-महान् है यों सिद्ध किया है सकल पदार्थ सर्वत्र एक बुद्धि से आरूढ़ नहीं है और न विशेष कल्पना शून्य है तथा सर्व रूप एवं एक होते हुए भी समस्त सत् होते हुए भी स्वरूपस्थ होने के कारण यह एक है जो भी ऐसी बुद्धि से इसका ज्ञान नहीं होता है, कारण कि वह कल्पनातीत है, तथा प्रमाणों की अपेक्षा भेद रहित होने से वह सूर्य प्रकाशवत् महान् हैं अर्थात् जितना सूर्य से प्रकाशित होता है वह सर्व मिलने पर परम् महान् होता है ।। २ ।।

आभास—एवं पूर्वोक्तरावधी निरूप्य उपहितं कालं लक्षयति—

आभासार्थ—इस तरह पूर्व और उत्तर की अवधि (सीमा) बता कर उसमें जो काल सम्बन्ध वाला है उस काल का निरूपण इस श्लोक में करते है—

श्लोक—**एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम ! ।**
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—हे श्रेष्ठ पुरुष ! व्यक्त जो प्रकट हैं उसका भोगकर्ता किन्तु स्वयं अप्रकट ऐसे समर्थ भगवान् हैं काल का भी इसी तरह सूक्ष्म तथा स्थूलत्व से स्थान के योग से अनुमान करना चाहिए ।। ३ ।।

सुबोधिनी—**एवं कालोऽप्यनुमित इति**। यथा परमाणुपरममहान्तौ अनुमितौ, कार्यचरमविशेषेण कार्यसमुदायेन च, एवं कालोऽपि तद्भोक्ता तादृशपरिच्छेदकर्ता अनुमेयः, सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च । **सत्तमेति** संबोधनमनुमानज्ञानार्थम् । ननु कालस्य असङ्गस्य भगवत इव कथं पदार्थसंबन्धः, कथं वाऽनुमानम् ? अन्यथा भगवतोऽप्यनुमानं स्यात् । तत्राऽऽह-**संस्थानभुक्त्येति** **संस्थानं** तदवस्था, परमाणुत्वं परममहत्त्वमिति भगवतो वस्तु-स्वरूपत्वेन तुल्यत्वेऽपि यः संस्थानविशेषः, तस्य च यो भोगः, स कालकृत एवेति कार्यसौक्ष्म्य-स्थौल्यात् कालस्य सौक्ष्म्यं स्थौल्यं च । नन्वेवं कथं करोति स्वरूपस्याऽन्यथात्वम्, तस्य च भोगम्' ततो भोगम् ? इत्याशङ्क्याऽऽह-**भगवानिति** । एवं सामर्थ्यरूपो भगवान् । यथा केचन तादृशीं मायामपि, विद्या वा, कल्पयन्ति, अस्मिन् शास्त्रे स कालः । तर्हि एवं सर्वपदार्थभोक्तारं कथं सर्वे न पश्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह-**अव्यक्त इति** ।

तस्य कालस्य ग्रासनिवृत्तिपरिज्ञानार्थं कार्यमाह—**व्यक्तभुगिति**। ननु स्वयमव्यक्तो व्यक्तं कथं भुङ्क्ते तत्राऽऽह-**विभुरिति**। **सर्वप्रकारेण** भोक्तुं शक्त इत्यर्थः ।। ३ ।।

व्याख्या—जैसे कार्य के अन्तिम अवयव से और कार्य के समुदाय से परमाणु तथा परम-महान् का अनुमान किया, इसी तरह सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व में उसका भोग करने वाले इसी प्रकार की सीमा बांधने वाले काल का भी अनुमान करना चाहिये हे सत्तम ! यह संबोधन अनुमान ज्ञान के लिये दिया है।

काल का भी भगवान् की तरह असङ्ग है उसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? और कैसे अनुमान किया जायेगा ? यदि इसका अनुमान होगा तो भगवान् का अनुमान भी होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि 'सस्थान भुक्त्या' अर्थात् परमाणुत्व और परम महत्व जो अवस्था विशेष है वह भगवान् के वस्तु स्वरूपत्व से समान होते हुए भी उसको केवल अवस्था विशेष कहा जाता है, उसका जो भोग, वह काल कृत ही है, सारांश यह है कि कार्य की सूक्ष्मता एवं स्थूलता के कारण ही काल की सूक्ष्मता और स्थूलता मानी (कही) जाता है। यों कैसे करते हैं यों करने से स्वरूप अन्य प्रकार का हो जायेगा ? उसका फिर भोग होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'भगवान्' होने से ऐसी सामर्थ्य वाले हैं। जैसे कितने ही ऐसी शक्ति को माया अथवा विद्या कहते हैं इस शास्त्र में वह काल है यदि यों काल सर्व भोक्ता है तो अब उसको क्यों नहीं देखते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि वह 'अव्यक्त' है, स्वयं अव्यक्त (अप्रकट) होते हुए भी भोजन प्रकट (सबके देखते हुए) करता है, आप अव्यक्त, भोजन व्यक्त कैसे करता है ? इसलिये कि आप काल 'विभुः' सर्व समर्थ होने से सर्व प्रकार भोजन कर सकते हैं यों अर्थ है ।। ३ ।।

आभास—अनुमित कालं शब्दत आह—

आभासार्थ अनुमान किये हुए काल को शब्द से इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।**
सतो विशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान् ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—जो परमाणुत्व का भोग करता है वह काल निश्चय परमाणु है जो काल सत् पदार्थ की जाति का विशेष भोग करता है वह काल परम महान् है ।।४।।

सुबोधिनी—स काल इति। **यः परमाणुतां** भुङ्क्ते परमाणुं व्याप्नोति, ततः स्वस्याऽपि परमाणुः त्वमनुभवति, स परमाणुः काल इत्यर्थः। एवं **सतो विशेषभुग्यः**, सन्मात्रस्यैव विशेषतां यो भुङ्क्ते, तद्भोगेन स्वयं वा विशेषत्वं प्राप्नोति, स परममहान् कालः। तुशब्दो महत्तत्वस्याऽऽयुः परिच्छिनत्ति ।। ४ ।।

व्याख्या जो काल परमाणुत्व का भोग करता है परमाणु में व्याप्त होकर रहता है। इससे आपको भी परमाणु रूप समझता है वह काल 'परमाणु' है इसी तरह सत् पदार्थों की जाति का जो भोक्ता है उस भोग से स्वयं भी उस जाति को प्राप्त करता है वह परम महान् काल है 'तु' शब्द कहने का आशय है कि 'महत्तत्व' की भी आयु है ॥ ४ ॥

आभास—एवमाद्यन्तकालं निरूप्य मध्यकालं निरूपयति——

आभासार्थ इसी तरह आरम्भ और अन्त काल का वर्णन कर अब मध्य काल का निरूपण करते हैं—

श्लोक——**अणुर्द्वौ परमाणु स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः ।**
जालार्करश्म्यवगतः खमेवाऽनुपतन्न गाम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ——दो अणु परमाणु होते हैं, तीन अणु त्रसरेणु कहे जाते हैं वह गवाक्ष मार्ग से आने वाले सूर्य की रश्मिओं 'किरणों' में अनुभव किया जाता है, वह आकाश की तरफ ही जाता हुआ दीखता है न कि पृथ्वी की तरफ आता दीखता है ॥ ५ ॥

सुबोधिनी — अणुर्द्वौ परमाणु स्यादिति । येन मार्गेण सूर्यरथचक्रं गच्छति, तस्मिन्मार्गे परमाणुदेशं यावता कालेनाऽतिक्रामति स परमाणुकालः । यावता परमाणुद्वयदेशमतिक्रामति सोऽणुकालः । एवमग्रेऽपि । यावता कालेन सर्वमेव नभोवलयं द्वादशराश्यात्मकमति स परममहान् संवत्सरात्मकः । अणुत्रयेण **त्रसरेणुः** । **स्मृत** इति तत्र प्रमाणं महतां स्मरणम् । स तु प्रत्यक्ष इत्याह-**जालार्करश्म्यवगत इति** । गवाक्षमार्गेणाऽन्तःप्रविष्टिसूर्यरश्मिषु अवगतो भवति। अवगतेर्व्यञ्जकद्वयमाह-**खमेवानुऽपतन्न गामिति** । न ते त्रसरेणवो भूमौ पतन्ति, किन्तु तस्मिन्नेव रश्मौ आकाशं प्रत्युड्डीयमाना गच्छन्ति । एकवचनमवान्तरभेदव्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

व्याख्या — दो अणु परमाणु होते हैं, अब परमाणु और अणु काल की व्याख्या कर समझाते हैं कि जिस मार्ग से सूर्य का चक्र जाता है, उस मार्ग में परमाणु देश जितने समय में उल्लङ्घन करता है वह काल परमाणु काल है और जितने समय में दो परमाणुदेश का उल्लङ्घन करता है वह काल अणु काल है, यों आगे भी समझना चाहिये।

जितने समय में मेष-आदि द्वादश (बारह) राशिओं वाला समग्र आकाश-मण्डल उल्लंघन करता है वह परम महान् काल "संवत्सर" कहा जाता है। तीन अणुओं से त्रसरेणु बनता है, इसमें

प्रमाण, महत्पुरुषों की सम्मति है वह जो प्रत्यक्ष है यह 'जालांकर रश्म्यवगतः' घर के भीतर जालियों से सूर्य की रश्मियों (किरणों) से भीतर आते दीखते हैं किन्तु उसी ही रश्मि में आकाश की तरफ ही जाते हैं न कि पृथ्वी की तरफ आते हैं, रश्मि के एक वचन देने का भावार्थ है कि इसका अन्य भेद नहीं है ।। ५ ।।

श्लोक—**त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः ।**
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः ।। ६ ।।

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः ।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च ।। ७ ।।

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका ।
से द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ।। ८ ।।

श्लोक—जो काल तीन त्रसरेणु का है उसको 'त्रुटि' कहा जाता है वह त्रुटि वेध का शतवां (सौवां) भाग है 'तु' शब्द देने का भाव यह है कि यहां 'शत' पद एक सौ का ही वाचक है कि विशेष का अतः एक सौ त्रुटि का एक वैध माना जाता है, तीन वैधों का लव होता है ।। ६ ।।

तीन लवो को 'निमेष कहा जाता है तीन निमेषों को क्षण कहा जाता है, पांच क्षणों को काष्ठा कहते हैं, १५ काष्ठा को लघु माना जाता है ।। ७ ।।

१५ लघु को 'नाड़िका' कहा है दो नाड़िका 'मुहूर्त' छः या सात नाड़िकाओं का एक प्रहर होता है—यह मनुष्यों के काल की गणना है ।। ८ ।।

सुबोधिनी—त्रसरेण्विति । त्रसरेणुत्रितयस्य यावान् कालः,स त्रुटिसंज्ञको भवति । स एव त्रुटिः **शतभागो वेधः**, शतांशो भागः । शतशब्दोऽत्र नाऽपरिमितवाचीत्याहतुशब्दः । शतं त्रुटय एको वेध इत्यर्थः । वेधत्रयं **लवः ।। निमेषस्त्रिलवः ।** निमेषत्रयं क्षणः । पञ्च क्षणाः **काष्ठा ।** पञ्चदश काष्ठा लघु ।। पञ्चदश-लघूनि **नाडिका ।** नाडिकाद्वयं **मुहूर्त्तः ।** नाडिकाऽडटकं **प्रहरः**, सप्त वा । **नृणा** मनुष्याणाम् । यन्नाडिका घटिकापेक्षया स्थूला, तेन कथमपि वृद्धा रात्रिर्दिनं वा, तस्य चतुर्थो भागः सप्तनाडयात्मकः, ह्रासे तु षण्नाडयात्मकः । एवमहोरात्रे द्विपञ्चाशन्नाडिका भवन्ति । षष्टिनाडिका एवं-प्रवकारेणाऽत्र गणिताः । ये तु सन्ध्याद्वयपरि-

त्यागेनाऽऽहु, तैः '**यामाश्चत्वारश्चत्वारः**' इति वाक्यमनुसन्धेयम् । अथ यदि प्रातः सन्ध्या दिवसे सायंसन्ध्या रात्राविति; तत्रोभयत्र घटिकाचतुष्टयं न गणितमिति । तथा गणनायां प्रयोजनाभावात् । सन्ध्यासन्ध्यांशव्यतिरेकेण मध्ये धर्मार्थमिति चेत् ? एव मप्यायुर्निरूपकत्वेन तत्त्यागे प्रयोजनाभावात तत्र धर्मकरणे आयुर्वर्द्धत इति चेत् ? अन्यदा धर्मकरणे आयुर्वृद्धिर्न स्यात् । '**उद्यन्नस्तमयन्नसौ**' इतिविरोधश्च । न च **नृणा**-मिति वाक्यात् पूर्वसन्ध्याकालो देवानाम्, पश्चात्तनोऽसुराणामिति । एवमप्यायुःपरिमाणार्थं न गणितव्यम् । धर्मार्थमेव तथाकथनं न युक्तम् । किञ्च, यदि वक्ष्यमाणं प्रामाणं साम्प्रतं नाडी। परिमाणमेव स्यात्, तदेवं कल्पनमुचितम्, **बद्धते** त्विदं परिमाणम् ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

व्याख्या--तीन त्रसरेणु के काल को 'त्रुटि' कहा जाता है सौ त्रुटि का एक वेध होता है 'तु' पद इसलिये दिया है कि यहां 'शत' पद एक सौ की संख्या बताता है तीन वेध का एकलव होता है, तीन लव को 'निमेष' कहते हैं तीन 'निमेष' को 'क्षण' मानते हैं, पांच क्षण को काष्ठा कहते हैं १५ काष्ठा को 'लघु' कहते हैं १५ लघुओं को 'नाड़िका' कहते हैं दो नाड़िका को 'मुहूर्त' गिना जाता है ६ व ७ नाड़िका को 'प्रहर' माना जाता है यह मानव की काल गणना है । कारण कि 'नाड़िका' घड़ी से स्थूल है इससे कैसे भी रात और दिन बड़े हैं उसका चौथा भाग सात नाड़ियों का है जब कम होता है तब छः नाड़ियों का होता है इसी प्रकार दिन रात्रि में ५२ नाड़िकाएं होती हैं इसी तरह यहां ६० नाड़ियां गिनी गई हैं ।

अन्य मत का विवेचन करते हैं जो दोनों सन्ध्याओं को छोड़ना कहते हैं उनको 'यामाश्चत्वार श्चत्वारः' इस वाक्य को ध्यान में लाना चाहिए ।

यदि यों कहा जाय कि प्रातः सन्ध्या की गणना दिन में और सायं सन्ध्या की गणना रात्रि में कर दोनों को ४ घड़ी न गिनी जाय, यों मान लो, यों गणना करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ।

सन्ध्या और सन्ध्यांश के सिवाय मध्य में धर्म के लिये है, यदि यों कहो तो, यों भी आयु निरूपकपन से उनका त्याग करने पर किसी-प्रयोजन की सिद्धि नहीं, यदि कहो उस काल में धर्म करने से आयु की वृद्धि होती है अन्यथा दूसरे समय में (सन्ध्या समय में) धर्म करने पर आयु का ह्रास होता है 'उद्यन्नस्त मयन्तसौ' इस वाक्य का विरोध आता है और (न चन्टणां) मनुष्यों का इस वाक्यानुसार "पूर्व संध्याकालो देवा नाम पश्चात्तनोऽसुराणामिति" यों होने पर भी आयु के परिमाण के लिए नहीं गिनना चाहिए इस प्रकार का कहना केवल धर्म के लिये ही है यों कहना अनुचित है किञ्च वक्ष्यमाण प्रमाण यदि साम्प्रत नाड़ी प्रमाण ही बने, तब इस प्रकार कल्पना करना उचित भी बन सके यह माप (नाप) घड़ी से बढ़ता हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

आभास—तदर्थं मानमाह—

आभासार्थ--उसको (नाड़िका को) जानने के लिये निम्न श्लोक कहा है—

श्लोक—**द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः ।**
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ।। ९ ।।

श्लोकार्थ—इस श्लोक में 'नाड़िका' का माप बताते हैं–६ पल की चार अंगुल के सुवर्ण के माष की बनी चार शलाकाओं से छिद्र किया हुआ पात्र जितने समय में एक प्रस्थ (६४ तोला) जल से भर कर डूब जाय उस काल को 'नाड़िका' कहा जाता है ।। ९ ।।

सुबोधिनी—**द्वादशार्धपलोन्मानमिति । द्वादशार्धं** षट् । उभयज्ञाने न्यूनाधिकभावो बुध्यत इति तुल्यज्ञानार्थं द्वादशार्धता उक्ता। **पलं** सुवर्णाश्चत्वारः । **सुवर्णं** षोडशमाषम् । पञ्चगुञ्जापरिमितो **माषः** । **गुञ्जा** च त्रियवा । द्वादशार्धपलेन ताम्रेण पात्रं विधाय, स्वर्णशलाकाचतुष्टयेन मिलितेन मध्ये छिद्रं कर्त्तव्यम् । ते च स्वर्णमाषाश्चतुरङ्गुलाः, चतुस्त्रिंशत्तिलानां चतुर्गुणदीर्घाः । तदाह–**स्वर्णमाषैश्चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैरिति** । यावत्प्रस्थं जलं तत्र माति, तावति प्रविष्टे प्लुतं भवति ।। ९ ।।

व्याख्या—'नाडिका' का माप समझाते हैं बारह पलों का आधा भाग ६ पल, जिनसे बनाया हुआ पात्र हो, उसमें चार तोलों के चार शलाकाओं को मिला कर मध्य में छेद किया जाना चाहिये तीन पल गुञ्जा हैं पाञ्च गुञ्जा परिमितमाष चतुर्गुण हो चौंतीस तिलों की चतुराङ्गुल होवे उसमें धरे जावें अनन्तर वह पात्र जल में रखा जाय उस पात्र में ६४ तोला (प्रस्थ) जितना जल जितने समय में भर जाय उस समय को 'नाड़िका' कहते हैं, यदि द्वादशार्ध लिख कर पूरी ६ संख्या न बताई जाती तो समान ज्ञान न होता अतः ज्ञान के लिए द्वादश का आधा लिखा है ।।९।।

आभास—एवं नाडिकापरिमाणमुक्त्वा तत ऊर्ध्वं कालपरिमाणमाह—

आभासार्थ—इसी तरह नाड़िका का माप बताकर उससे उपर के काल का परिमाण इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनो उभे ।**
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ! ।। १० ।।

श्लोकार्थ—हे मानद ! दिन में चार प्रहर हैं और रात्रि भी चार प्रहर की होती है, इसी तरह समग्र एक दिन आठ प्रहर का होता है, ऐसे पन्द्रह दिन को पक्ष कहा जाता है वे पक्ष दो हैं एक शुक्ल और एक कृष्ण ।। १० ।।

सुबोधिनी—यामाश्चत्वार इति। चत्वारो यामा अहः, पुनश्चत्वारो यामा रात्रिरिति ज्ञापयितुं द्विरुक्तिः। **अहनी** रात्रिन्दिवम्। **उभे** इति आवृत्तिव्युदासार्थम्। एवमुभयं मिलित्वा एकमहः। पञ्चदशाहानि पक्षः। स पक्षो द्विविधः, शुक्लः कृष्णश्चेति। रात्रिमुखे चन्द्रदर्शनयुक्तः शुक्लः, रात्रिमुखे एतद्द्वीपे चन्द्राभावयुक्तः कृष्णः। **मानदेति** संबोधनं श्रुत्वैव वचनान्यवगच्छतीति गुरोर्मानदाता। **पञ्चदशाहानीति कला**भिप्रायम्॥ १०॥

व्याख्या—चार प्रहर दिन फिर चार प्रहर रात्रियों को जताने के लिये 'प्रहर दो' शब्द दो बार कहा है 'अहनी' पद का आशय हैं दिन रात्रि 'उभे' पद देने का तात्पर्य यह है कि फिर कहने की आवश्यकता न रहे, यों दोनों (दिन–रात्रि) मिल कर एक दिन कहाता है ऐसे पन्द्रह दिनों का एक 'पक्ष' कहलाता है वह पक्ष दो प्रकार का है, एक शुक्ल पक्ष और एक कृष्ण पक्ष। जिस रात्रि के प्रारम्भ में चन्द्रमा का दर्शन होता है वह शुक्ल पक्ष है जिस रात्रि के आरम्भ में इस द्वीप में चन्द्रदर्शन नहीं होता है, वह कृष्ण पक्ष समझा जाता है 'मानद !' यह संबोधन इसलिये दिया है कि गुरु के वचन सुनते ही समझ जाते हैं इसलिये गुरु को परिश्रम न कराते हुए मान देते हैं, पन्द्रह दिवस कहने का तात्पर्य कलाज्ञानार्थ है॥ १०॥

श्लोक—तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम्।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि॥ ११॥

अयने चाऽहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः।
संवत्सर शतं नृणां परमायुर्निरूपितम्॥ १२॥

श्लोकार्थ—दोनों पक्ष (शुक्ल और कृष्ण) मिल कर मास बनता है अर्थात् दोनों पक्षों के मिले हुए दिनों को महीना कहा जाता है। दो मास ऋतु कही जाती है। छ मास का अयन होता है। वे दो होते हैं एक दक्षिण अयन और एक उत्तर अयन स्वर्ग में दोनों अयनों को दिन रात्रि माना है, द्वादश मास को वर्ष माना है। सौ वर्ष मनुष्य की परमायु कही गई है। ११-१२॥

सुबोधिनी—तयोः समुच्चय इति। तयोः **समुच्चयो मेलनं मासः।** स उभयविधो भवतीति द्वयमप्यस्याऽभिप्रेतम्। **पितॄणां तदहर्निशमिति।** चन्द्रस्य पञ्चदशकलासु यदा प्रविशति, तदा रात्रिः, चन्द्रेण व्यवधानात्। यदा ततोऽपगच्छति तदा दिनम्। पितरो हि जलकृतमेव व्यवधानं सूर्यस्य मन्यन्ते, न तु पृथिवीकृतम्। यथाऽस्माकं चन्द्रे विद्यमानेऽविद्यमाने वा सूर्योदयास्तमयाभ्यामेव रात्रिदिनव्यवस्था; तथा तेषां सूर्यस्थितिरप्रयोजिका, चन्द्रकलासु प्रवेशनिगमावेव प्रयो-

जकौ। प्रवेश एव कलोत्पत्तिः, निर्गम एव कलाक्षयः। निर्गमो दिनमित्यमावास्यायामहर्दिनं तेषां भोजनकालो भवति, पौर्णमास्यां तु तृप्ताः शेरत इति तेषां दिनरात्रिव्यवस्था। एवं मासद्वयमृतुः, षण्मासास्त्वयनम्, 'द्वादशमासाः संवत्सरः' इति अयनद्वयं वत्सरः। तयोर्नाम **दक्षिणं चोत्तरमिति**। दक्षिणायनमुत्तरायणं चेत्यर्थः। तदयनद्वयं **दिवि** स्वर्गे अहनी प्राहुः। दक्षिणायनं रात्रिः, उत्तरायणमहः। स्वर्गस्थास्तेजःकृतमेव व्यवधानं सूर्यस्य मन्यन्ते न चन्द्रकृतम्, नाऽपि पृथिवीकृतम्। तत्र नक्षत्राणि तेजःशब्देनोच्यन्ते। तत्रोत्तराषाढ उत्तरायणदिवसस्याऽरुणोदयः। तस्य पादे उपभुक्ते सूर्योदयो भवति, तदा भवति मकरः। पुनर्वसुपादत्रयपर्यन्तं दिनम्। एतानि नक्षत्राणि मालाकारेण वर्तन्तेऽन्योन्यसन्मुखानि। तेषु परभागे वा स्थिता अर्द्धं पश्यन्त्यर्द्धं न। यथा द्विगुणे वस्त्रे चित्रार्द्धमेवैकत्र स्थिताः पश्यन्ति, तथा देवानामपि पुनर्वसुपादमारभ्य उत्तराषाढपर्यन्तं नक्षत्राणि व्यवधायकानि। सर्वाण्येतान्युपरिमुखानि मालारूपेण च वर्तन्ते। अतो दक्षिणायननक्षत्राणि यदा सूर्यसहितानि भवन्ति, तदोभयनक्षत्राण्यप्यधोमुखानि भवन्तीति सूर्यस्तैर्न दृश्यत एव। **प्राहुरिति** प्रमाणम्। द्वादशमासा **वत्सरः**। अत्रापि **स्मृत** इति **प्रमाणम्**। **संवत्सरशतं** तु **नृणां परमायुः**, अवृद्धिक्षये। एकेन संवत्सरेण एकमायुः कालेनोपभुक्तं **भवति**, **'शतायुर्वै पुरुषः** इति श्रुतेः। धर्मे तु **क्रियमाणे** कालेनाऽऽयुर्भोगः प्रतिबध्यते, तदा शतसंवत्सरादप्यधिकं जीवति। पापे तु क्रियमाणे पापमप्यायुरुपभुङ्क्ते, कालोऽपि; तच्चेत्पापं कालसमानं भवति। उत्कृष्टं चेत् भूयस आयुषः क्षयः। उत्कृष्टपापे बहुजन्मजनके बीजपातक्षणमारभ्य पञ्चविंशतिवर्षपर्यन्तं नानाविधा योनयः प्राप्यन्ते, न तेन शतायुःश्रुतिभङ्गः। **लिरूपितमिति प्रमाणम्**। ११-१२॥

व्याख्या—इन दोनों पक्षों के मिलने से एक मास कहलाता है वह दो प्रकार का होता है, यों दोनों प्रकार इसका अभिप्राय है, वह मनुष्य मास पितरों का दिन रात्रि है अर्थात् एक दिवस है। वह इस प्रकार होता है सूर्य जब चन्द्रमा की १५ कलाओं में प्रवेश करता है तब चन्द्र के बीच में आजाने से रात्रि होती है और जब उसमें निकल आता है तब दिन होता है, पितृ गण जल कृत रुकावट ही सूर्य की मानते हैं न कि पृथ्वी की रुकावट मानते हैं।

जैसे चन्द्र के होते हुवे वा न होते हुवे सूर्य के उदय और अस्त से रात्रि-दिन की व्यवस्था होती है वैसे ही उनके (पितरों के) लिये सूर्य स्थिति प्रयोजक नहीं है, सूर्य, चन्द्रकलाओं में प्रवेश करे वा निकले इतना ही उनके लिये आवश्यक है, सूर्य प्रवेश ही कलाओं की उत्पत्ति है निकलना ही कलाओं का क्षय है। निकलना ही दिन है इसलिये अमावस्या उन (पित्तरों) का दिन है उसमें वे भोजन करते हैं पूर्णमासी को तृप्त हो नींद लेते हैं यों उनके दिन-रात्रि की व्यवस्था है, इसी प्रकार दो मास की ऋतु होती है तथा ६ महीनों का अयन होता है दो अयनों अर्थात् बारह महीनों का संवत्सर (वर्ष) होता है। दोनों अयनों का नाम दक्षिणायन और उत्तरायण है वे दो अयन स्वर्ग में

रात्रि दिन है दक्षिणायन रात्रि है उत्तरायण दिन है स्वर्ग में रहने वाले तेज के लिये सूर्य के आवरण को मानते हैं, न कि पृथ्वी या चन्द्र कृत आवरण को मानते हैं, वहां तेज शब्द से नक्षत्र कहे जाते हैं, यहां उत्तराषाढा नक्षत्र में जब सूर्य होवे तब उत्तरायण के दिन का अरुणोदय होता है, उस नक्षत्र का चौथा भाग जब भोगता है तब सूर्यास्त है जब मकर राशि में सूर्य स्थित होता है तब मकर-संक्रांति होती है पुनर्वसु नक्षत्र के तीन पाद तक दिन रहता है, ये नक्षत्र माला की तरह एक दूसरे के सन्मुख रहते हैं, उन नक्षत्रों में परभाग या पूर्व भाग में स्थित नक्षत्र आधे–नक्षत्रों को देखते हैं आधे को नहीं देखते हैं, जैसे द्विगुण वस्त्र होवे तो चित्र के आधे को ही एक तरफ स्थित देख सकते हैं। वैसे ही पुनर्वसु के चौथे भाग से लेकर उत्तराषाढ़ा नक्षत्र का सूर्य के देखने में रुकावट है, ये सब ऊपर मुख वाले माला की तरह आकाश में देखने में आते हैं।

जब दक्षिणायन नक्षत्र सूर्य सहित होते हैं तब दोनों प्रकार के नक्षत्र अधोमुख (नीचे मुख) वाले होते हैं इस कारण से सूर्य को नहीं देख सकते हैं, 'प्राहु' यों बड़े कहते हैं यह प्रमाण है, १२ मासों का वर्ष होता है यहां भो स्मृतः पद प्रमाण है। सौ वर्ष मनुष्यों की परमायु है, यदि उसमें वृद्धि या क्षय (कम ज्यादा) न होंवे तो एक संवत्सर से एक आयु का काल उपभोग करता है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'शतायुर्वै: पुरुषः' पुरुष की आयु एक सौ वर्ष की है। धर्म करने पर जब काल आयु का भोग रोक लेता है तब सौ वर्ष से आयु बढ़ जाती है, यदि कोई पापी पाप करता है, और वह पाप काल के समान होता है तब पाप और काल साथ में मिल कर उसकी आयु का भक्षण कर डालते हैं। यदि पाप विशेष होवे तो आयु का शीघ्र क्षय कर डालता है, बहुत ज्यादा पाप यदि बहुत जन्म देने वाले होंवे तो गर्भ में आने के समय से लेकर २५ वर्ष पर्यन्त अनेक जन्म वह ले लेता है, यों होने पर यों नहीं समझना चाहिये कि वेद ने मनुष्य की जो सौ वर्ष की आयु कही है वह कहना असत्य है। आयु बढ़ाना एवं घटाना मनुष्य के हाथ में है, जैसे किसी को धन दिया जावे उसको वह कितने दिनों में खर्च करे यह उसके अपने हाथ में है, 'आयु' वर्ष मासों में नहीं मिलती है किन्तु 'श्वासों में' मिलती है जिनका खर्च हमको एक वर्ष में करना चाहिये अब यदि हम धीरे–धीरे खर्च करें तो आयु बढ़ेगी तथा जल्दी-२ खर्च करें तो आयु कम हो जाती है ।। ११-१२ ।❀

❀ १०वें श्लोक में दोनों पक्ष पन्द्रह-पन्द्रह दिन के कहे हैं, किन्तु गणित करने पर जब तिथि घटती है या बढ़ती है तब पक्ष की गिनती में बाधा आती है इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा गया है कि सूर्य को पृथ्वीकृत रुकावट (पर्दा) के आजाने से गणित द्वारा तिथि की वृद्धि वा ह्रास (बढ़ना या कम होना) होता है, किन्तु चन्द्र की कलाओं के विचार से घटना या बढ़ना नहीं होता है इसलिये पक्ष पन्द्रह दिन का कहा गया है।

११वें श्लोक मे 'तयो: समुच्चय:'—मास दो प्रकार का माना गया है जैसा कि भगवती श्रुति

आभास—एवं कालं निरूप्य उपसंहरति—

आभासार्थ- इस तरह काल का निरूपण कर अब निम्न श्लोक में इस विषय का उपसंहार करते हैं।

श्लोक – **ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् ।**
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ।।१३।।

श्लोकार्थ–ग्रह नक्षत्र, तारों के चक्र में स्थित समर्थ सूर्य सावधान रहके वहां के परमाणुओं के देश से लेकर समग्र चक्र का एक वर्ष तक भ्रमण करता है।

सुबोधिनी—ग्रहर्क्षताराचक्रस्थ इति। ग्रहा बुधादयः, ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि, तारा अन्याः, तेषां चक्रं भचक्रम्। तत्र विद्यमानः सूर्यः, तत्रस्थपरमाणुदेशमारभ्य संवत्सरावसानपर्यन्तम्, **पर्येति** पुनः पुनर्मण्डलाकारेण परिभ्रमति। **अनिमिषः**-परग्रसने सावधानः। **विभुः** समर्थः। **जगत्पर्येति** उपभुङ्क्ते ।।१३।।

व्याख्या–बुध आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र एवं अन्य तारे हैं इनको ज्योतिश्चक्र कहा

कहती है कि 'अमावस्या हि मासान् पश्यन्ती पौर्णमास्या हि मासान् पश्यन्ती', अमावस्या मासों को देखती है और पूर्णिमा मासों को देखती है इस कारण से मास दो प्रकार के माने गये हैं, किन्तु वे कृष्ण पक्ष व शुक्ल के कारण नहीं माने गये हैं, लेकिन छठे स्कन्ध में जैसे कहा है कि चन्द्रमा सूर्य की परिक्रमा कर १२ मासों के संवत्सर के अवयव की राशियों को तथा दो पक्ष के मास, दिन और रात्रि को भोगता है एवं सूर्य सपाद हो नक्षत्रों को भोगता है इस तरह दो प्रकार माने गये हैं।

इसी तरह मैत्रेयजी ने दो पक्षों का मास चन्द्रमा के मान से कहा है, वे हो दो पक्ष पितरों का दिन रात्रि हैं, सौर (सूर्य) विचार से सवा दो नक्षत्र का मास गिना जाता है।

इसी तरह सूर्य कृत और चन्द्र कृत मास मानने से मास दो तरह के कहे हैं। यह गिनती पन्द्रह दिन के पक्ष के अङ्गीकार से पितरों के लिये की है। अतः इसको **'पितृ पक्ष'** कहा जाता है—अमावस्या पितरों का दिन है उस दिन वे भोजन करते हैं। पूर्णिमा रात्रि है उसमें शयन करते हैं।

देवों का रात्रि दिन सूर्य के दो अयनों से गिना जाता है। दक्षिणायन रात्रि और उत्तरायण देवों का दिन है। 'प्रकाश'

जाता है जिसमें स्थित सूर्य वहां रहे हुए परमाणु देशों से आरम्भ कर वर्ष के अन्त तक बार-बार मण्डलाकार से सावधान होकर जैसे कोई ग्रस नहीं लेवे इसी तरह फिरता रहता है। स्वयं समर्थ है इसी तरह जगत् का भोग करता है ।।१३।।

आभास—तस्य संवत्सरात्मकस्य केनचिन्निमित्तेन पञ्च नामानि सन्ति। तान्युपासनार्थमाह—

आभासार्थ उस संवत्सरात्मक के किसी निमित्त से पांच नाम हैं वे नाम उपासनार्थ कहते हैं—

श्लोक—संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ।।१४।।

श्लोकार्थ—हे विदुर! १. संवत्सर, २. परिवत्सर, ३. इडावत्सर, ४. अनुवत्सर, और ५. वत्सर ये वर्षों के पांच नाम हैं ।।१४।।

सुबोधिनी—**संवत्सर इति**। मासाः पञ्चविधाः संवत्सरसमाप्तिसूचकाः। **'द्वादश मासाः संवत्सरः'** **'त्रयोदश मासाः संवत्सरः'** इति ब्राह्मणम्। त्रयोदश मासाः संवत्सर इति नाक्षत्रे नियतम्, चान्द्रे कादाचित्कम्। द्वादश मासाः संवत्सर इति सौरे नियतम्, चान्द्रे कादाचित्कम्। बार्हस्पत्ये तु प्रभवादयस्ते नियताः। वैष्णवोऽपि नियतः। सावनस्तु न नियतः, प्रतिदिनपर्यवसायित्वात्। अतः संवत्सरप्रयुक्त्या प्रभवादिनामसिद्ध्यर्थं बार्हस्पत्यमानमप्यपेक्ष्यते। व्रतादिसिद्ध्यर्थमेकादश्यादिरपि मासो वैष्णवः, अन्यथा भगवतः शयन रात्रौ भागद्वयेन स्यात्। सावनस्तु व्यवहारसिद्धः, न श्रुतिपदवीमारोढुमर्हति। अतः पञ्चैव संवत्सराः। तत्र चान्द्रः संवत्सरः, परिवत्सरो वैष्णवः, इडावत्सरः सौरः, अनुवत्सरो नाक्षत्रः, वत्सरो दैवः। **विदुरेति** संबोधनं स्नेहेन परिज्ञानार्थम्। यद्यप्येक एव कालः सर्वेषाम्, न संवत्सरभेदेन आवृत्त्या; तथापि नामान्येव पञ्चेत्येवं **परिभाष्यत** इत्युक्तम्। केचित्तु षष्टिसंवत्सरा मासत्वेन परिवृत्ता द्वादशधा परिवर्तमानाः पञ्चवत्सरात्मका भवन्तीत्याहुः। प्रभवादिबहुधान्यान्ताः संवत्सरशब्दवाच्याः, प्रमाथ्यादयो द्वादश द्वादशोत्तरशब्दवाच्या इति। तत्र मासादीनां नियामकत्वाभावाच्चिन्त्यम् ।।१४।।

व्याख्या—संवत्सर (वर्ष) पांच हैं। उनकी समाप्ति की सूचना देने वाले मास भी पांच हैं। संवत्सर (वर्ष) १२ अथवा १३ मास का होता है, यों वेद के ब्राह्मण भाग में कहा है। संवत्सर में १३ मास नाक्षत्र मास में नियत हैं। चन्द्र मास में कभी १३ मास का वर्ष होता है। सौर पक्ष में १२ एक वर्ष में नियत हैं। चन्द्र में कभी १२ मास एक वर्ष में होते हैं। वार्हस्पत्य में जो प्रभवादि मास हैं वे नियत् हैं। वैष्णव मास भी नियत है। सावन मास नियत नहीं है, क्योंकि वह प्रतिदिन उदय एवं अस्त होता है, इसलिए संबत्सर की युक्ति से प्रभव आदि के नाम सिद्धयर्थ वार्हस्पत्य के मान की अपेक्षा रहती है। एकादश्यादि व्रतों की सिद्धि के लिये वैष्णव मास की भी आवश्यकता है यदि

वैष्णव मास न माना जायेगा तो भगवान् का शयन रात्रि को दो भागों में होगा। सावन मास तो व्यवहार सिद्ध है श्रुति से सिद्धि की गणना में नहीं आता है, अतः पांच ही संवत्सर हैं। उनमें चन्द्र से जिसकी गिनती होती है वह 'संवत्सर' कहाता है। वैष्णव से गिनती वाला 'परिवत्सर', सौर से गिनती वाला 'इड़ावत्सर', नक्षत्र से गिनती वाला 'अनुवत्सर', दैव से गिनती 'वत्सर' कहाता है। विदुर ! यह सम्बोधन, स्नेह से परिज्ञान कराने के लिये दिया है, यद्यपि सबों का काल एक ही है। संवत्सर भेद से आवृति नहीं होती है तो भी नाम ही पाँच कहे जाते हैं।❋

❋ **वर्ष की परिभाषा:**—जो एक नक्षत्र एक दिन पूर्व दिशा में उदय हुआ वह ही नक्षत्र दूसरे दिन पूर्व में उसी समय उस स्थल पर उदय हो तो उसको 'नाक्षत्र' दिवस कहा जाता है। ऐसे ३६० दिन का नाक्षत्र वर्ष होता है।

सूर्य और चन्द्र जब फिर वहां ही आके मिलते हैं उस समय को चान्द्र मास कहते हैं, ऐसे १२ मास का एक चान्द्र वर्ष होता है। सूर्य मेष राशि से फिर मेष राशि में प्रवेश करे उस समय ३६५ दिन १५ घड़ी ३१ पल ३१ विपल को सौर वर्ष (सूर्य वर्ष) कहते हैं। वृहस्पति एक ही राशि में जितने समय तक रहे उसको बार्हस्पत्य वर्ष कहते हैं। सूर्य एक दिन उदय होके फिर दूसरे दिन जिस समय उदय हो इतने समय को 'सावन' दिन कहते हैं। ऐसे ३० दिन का सावन मास होता है एवं ऐसे १२ मास का एक वर्ष सावन वर्ष कहलाता है।

प्रभव आदि ६० वर्ष हैं, मास नहीं है। इनके पृथक्-पृथक् नाम हैं। इनमें से पहला 'प्रभव', बारहवां बहु धान्य' और तेरहवां 'प्रमाथी' नाम सुबोधिनी में दिये हैं।

चातुर्मास्यव्रतादि सिद्धि के लिए, एकादशी आदि वाला वैष्णव मास लिया है, वह सावन मास से अतिरिक्त है।

आषाढ शुक्ल ११ को अनुराधा नक्षत्र के आरम्भ में भगवान् शयन करते हैं, फिर कार्तिक शुक्ला ११ को रेवती नक्षत्र के अन्तिम पाद में जागते हैं, यह समय चातुर्मास कहा जाता है।

यदि नक्षत्र मास लिया जावे तो पांच मास और पांच दिन होते हैं जिससे मास संख्या का विरोध आता है, सौर और चान्द्र मास लेने से तिथियों का विरोध आता है, बार्हस्पत्य का यहां सम्बन्ध ही नहीं है।

शेष सावन मास रहा वह बराबर ३० दिन का है, उसके लेने से तिथि का विरोध आता है, अतः पौढ़े हुये भगवान् को रात्रि को जगाना, इस वाक्यानुसार शयन भी रात्रि को कराना पड़ता है।

कितने ही ज्योतिषी कहते हैं कि मासत्व से पुनः आने वाले के ६० वर्ष १२ प्रकार से फिर लौटते हुये पांच वर्ष रूप होते हैं, वे प्रभव से लेकर बहुधान्य तक संवत्सर नाम से कहे जाते हैं।

प्रमाथं से लेकर बारह १२, बारह के प्रथम शब्द से कहे जाते हैं, उनमें मास आदि का नियमन करने वाला कोई नहीं होने से विचारणीय है ।।१४।।

आभास—एवं कालस्य भेदत्रयमुपपाद्य तत्रोपासनमाह फलार्थम्—

आभासार्थ—इसी तरह काल के तीन भेद (देव काल, पितृ काल और मनुष्य काल) कह कर अब इस श्लोक में फल प्राप्ति के लिये उपासना कहते हैं।

श्लोक—**यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन्स्वशक्त्या**
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं-
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ।।१५।।

श्लोकार्थ—जो भूतों का भेद करने वाला उत्पन्न पदार्थों (अंकुरादि) में अपनी काल नाम वाली शक्ति को विशेष प्रकार से प्रकट करते हुये, पुरुष को किसी प्रकार भ्रम न होवे ऐसे भूतों को भेद कर और यज्ञों द्वारा गुण वाले स्वर्ग आदि को प्रकट करते हुये पुरुषों को वैराग्य उत्पन्न होवे तदर्थ स्वर्ग में भ्रमण करता है, उस कालरूप वत्सर पांचों को बलि दो (उसका पूजन करो) ।।१५।।

सुबोधिनी य. सृज्येति। कालस्य प्रयोजनं वदन् भजनमुपपादयितुं माहात्म्यमाह— **यः सृज्येषु**. अङ्कुरादिषु बीजादिस्थितां **शक्तिमुरुधोच्छ्वसयन्**, पत्रकाण्डादिभेदेन बीजसामर्थ्यं प्रकटयन्; **स्वस्य शक्त्या** किरणादिस्थितसामर्थ्येन, प्रतिक्षणं प्रकारभेदजनकेन, बीजशक्तिं प्रकटीकुर्वन्; **पुंसो**ऽधिकारिणो**ऽभ्रमाय** वैराग्यार्थं **दिवि** स्वर्गे **धावति** परिभ्रमति। **धावती**त्यनेन क्षणमात्रमपि पारलौकिकयत्नं विना न स्थातव्यमिति ज्ञापयति। ननु धावनेन कथमेवं भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—**भूतभेद इति**। भूतानां भेदो यत्र। स हि कालः सर्वाणि भूतानि भिनत्ति, अतः स्वस्याऽपि भेदशङ्कया वैराग्यजनकत्वम्। **स्वशक्त्ये**त्यत्र **'यदादित्यगतं तेजः'** इति वाक्यात् भगवच्छक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमाह—**कालाख्ययेति**। कलयत्याकलयतीति काल आख्या यस्य। तत्र प्रकाशकत्वेनैव भगवत्तेजः प्रविष्टमिति कालद्वारैवेयं भगवच्छक्तिः। एवं साधने सामर्थ्यमुपपाद्य फले सामर्थ्यमुपपादयति—**गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वन्निति**। **गुणमय**मानन्दमयं स्वर्गादि। **'आनन्दादयः प्रधानस्य'** इति न्यायात् आनन्दादय एव गुणाः, तन्मयाः स्वर्गादयः। क्रतवोऽपि काल-

भेदा एव, अतः क्रतुभिः स्वर्गादिकं वितन्वन्। न ह्यधिष्ठातृव्यतिरेकेण यागादयः प्रकटीभवितुमर्हन्ति। स्वर्गोवा प्रकटीभवितुमर्हपी सोऽपि भगवदशश्चेतनः, **'देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोभवत्'** इत्यत्र निर्णीतः। एवं फलसाधकः प्रवर्तको भगवान् वत्सरपञ्चकप्रवर्तकः, तादृशाय कालात्मने सूर्याय **बलि हरत**, तदुपार्जितान्नभोक्तारस्तपदुपार्जितस्वर्गभोक्तारश्च, अन्यथा कृतघ्नता स्यात्, भोगश्च न सिध्येत्। येनैवोपायेन भोगः सिद्धचति, कालो वा न ग्रसति, स च प्रीतो भवेत्तथोपायः कर्तव्यः। अहरहरुपासनं कर्तव्यमिति सिद्धम्॥१५॥

व्याख्या—काल का प्रयोजन बताते हुये भजन का प्रतिपादन करने के लिये उसका (भजन का) महात्म्य कहते हैं—

जो उत्पन्न होने वाले अंकुरादिकों के बीजादि में स्थित शक्ति को विशेष प्रकार से प्रकट करते हुये पत्र पुष्प आदि भेद से बीज सामर्थ्य उत्पन्न करता है तथा अधिकारी में भ्रम न हो अतः वैराग्यार्थ स्वर्ग में भ्रमण करता है, 'धावति' पद से यह सूचना दी है कि क्षण-मात्र भी पारलौकिक का बिना यत्न करने के नहीं रहना चाहिये। दौड़ने से यों कैसे होगा? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं 'भूत भेदः' वह काल ही सकल भूतों को नाश करता रहता है जिससे अपने नाश की शङ्का होने से वैराग्य उत्पन्न होगा, 'स्वशक्त्या' पद से यह न समझना कि यह शक्ति है जो सूर्य में तेज है, यह शक्ति "काल नाम वाली" है जो शक्ति आकलन (ग्रसन) करने वाली है वहां प्रकाशन से ही भगवत्तेज प्रकटा है, इसलिये यह भगवान् की शक्ति का काल द्वारा ही प्रकटी है और कार्य करती है।

इस प्रकार साधन में सामर्थ्य प्रकट कर अब फल में सामर्थ्य प्रतिपादन करते हैं। 'गुणमयं क्रतुभिर्वितनवन्निति' गुणमय अर्थात् आनन्दमय स्वर्ग आदि 'आनन्दादयः प्रधानस्य इतिन्यायात्' आनन्दादय एव गुणातन्मयाः स्वर्गादयः', अर्थ—आनन्द आदि गुण प्रधान के (भगवान् के) हैं इस न्याय से आनन्द आदि गुण हैं। उन गुणों वाला स्वर्ग आदि है यज्ञ भी काल के भेद ही है, इसलिये यज्ञों से स्वर्गादिकों को प्रकाश करता हुआ भ्रमण करता है।

अधिष्ठाता बिना यज्ञ आदि प्रकट हो नहीं सकता है वा स्वर्ग भी प्रकट नहीं हो सकता है। वह (काल) भी भगवदश चेतन है जैसे कि श्रुति भगवती कहती है कि 'देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरो भवत्' कि देवों से स्वर्ग लोक निश्चय तिरोहित हो गया, इस तरह फल के साधनार्थ प्रवर्त्तक काल भगवान् पाँच वत्सरों के प्रवर्त्तक हैं, उस काल के इकट्ठे किये हुये अन्न को खाने वाले और उसके सिद्ध किये हुये स्वर्ग सुख को भोगने वाले, वैसे कालात्मा सूर्य को बलि दो अर्थात् उसका पूजन करो नहीं तो कृतघ्न बनोगे व भोग भी सिद्ध नहीं होगा।

जिस उपाय से भोग सिद्ध हो और काल भी नहीं ग्रसे, और वह (काल) प्रसन्न हो वैसा उपाय करना चाहिये॥१५॥

आभास-एवं त्रिविधकालं निरूप्य, तूष्णींभावे, आयुःप्रतिपादकत्वेन तदुपपादितं निरूप्यविशेषं प्रष्टुमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार तीन तरह के काल का निरूपण कर मैत्रेयजी के चुप होने पर, विदुरजी ने समझा कि मैत्रेयजी ने जो कहा वह आयुवर्द्धक था, अतः विशेष पूछने के लिये उद्यत हुये।

श्लोक—**विदुर उवाच । पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम् ।**
परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विद ।।१६।।

श्लोकार्थ—विदुरजी कहने लगे कि पितर, देव और मनुष्यों की यह बड़े में बड़ी आयु कही है, अब जो ज्ञानी होने के कारण कल्प से बाहर रहते हैं, उनकी गति कहो ।।१६।।

सुबोधिनी—पितृदेवमनुष्याणामिति । आयु-रायुःपरिमाणम् । **परं** पर्यवसितम् । **परेषां** कल्पवासिनाम्। ये कल्पान्तरेऽप्युत्पन्नाः कल्पसमाप्तावपि अनुवर्तन्ते, तेषां **गतिं** दिनरात्रिव्यवस्थाम्, तत्र तेषां कृतिं वा आचक्ष्व । केचन कल्पान्तमेव तिष्ठन्ति, तेषां कल्पस्यैवाऽऽयुष्ट्वम् । ततोऽपि ये कल्पाद्बहिर्जीवन्ति, जीवने हेतुः-**विद इति** । ज्ञानिन एव च बहुकल्पजीविनः ।।१६।।

व्याख्या—जो कल्पान्तर में उत्पन्न हो के भी कल्पान्त तक रहते हैं उनकी दिन रात्रि में कैसी गति है उनकी कृति कहिये, कितने ही कल्पान्त तक रहते हैं, उनकी कल्प की ही आयु है उससे भी विशेष जो कल्प के बाहर अर्थात् कल्प से विशेष जीते हैं क्योंकि वे ज्ञानी ही बहुत कल्प तक जीते हैं ।।१६।।

आभास—तत्र कथनार्थं मैत्रेयस्य ज्ञानमुपपादयति—

आभासार्थ—इस विषय को समझा कर कहने के लिये इस श्लोक में विदुरजी सिद्ध करते हैं कि मैत्रेयजी को पूर्ण ज्ञान है—

श्लोक—**भगवान्वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु ।**
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ।।१७।।

श्लोकार्थ—भगवान् काल की गति को निश्चय से आप (भगवान् मैत्रेय) जानते हैं। ज्ञानी योग से विशुद्ध नेत्र द्वारा विश्व को देखते हैं ।।१७।।

सुबोधिनी—भगवानीति । भवान् **भगवान्**, भगवत्कृपया तथात्वात्, भगवति श्रद्धावत्त्वाच्च । अत एव **भगवतः कालस्य गतिं वेद** । स हि स्वात्मानं वेदेति । किञ्च, **धीराः** संसारखेदसहिष्णवो योगसिद्धाः, **विश्वं** सर्वमेव **योगसिद्धेन चक्षुषा विचक्षते** । अतो योगजधर्मेण ज्ञानेन च विचक्षते । **चुक्षषेति** निःसन्दिग्धार्थम् । योगसिद्धत्वात् न भ्रमजनकत्वम् ।।१७।।

व्याख्या—आप भी भगवत्कृपा से भगवान् हो गये हो, और प्रभु में श्रद्धावान् होने से (इस कारण से) भगवान् काल की गति को जानते हैं, वह ही अपनी गति को जानता है । किञ्च धीर्यवान् जो संसार के खेद को सहन करने वाले योग सिद्ध पुरुष, सकल विश्व को योग से ही विशुद्ध (दिव्य) नेत्र से देखते हैं । अतः योग से उत्पन्न धर्म से और ज्ञान से सर्व को जानते है, चक्षुषा (नेत्र से) पद दे कर इसकी निश्चितता प्रकट की है, योग से सिद्ध होने से भ्रम को उत्पन्न नहीं करने देते हैं ।।१७।।

आभास—यथा क्षणादिभिर्दिनगणना, तथा युगैस्तेषां दिनगणनेति कृतादीनां स्वरूपमाह—

आभासार्थ—जैसे क्षण आदि से दिन की गणना होती है वैसे युगों से उनके दिनों की गणना होती है, तदर्थ कृत आदि युगों का स्वरूप कहते हैं ।

श्लोक—**मैत्रेय उवाच । कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।**
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ।।१८।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी कहने लगे कि कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग एवं इनके मध्य के समय सहित देवी के द्वादश (सहस्र) वर्षों को कहे हैं ।।१८।।

सुबोधिनी—कृतमिति । कालविशेष्य नाम किञ्चित् । **कृतमिति** । तस्मिन्काले कालेन यत्कर्तव्यम्, तत्प्रतीकारो वा; तत्कृतमेव । तस्मिन् युगे उत्पन्नानां न किञ्चित्कर्तव्यमवशिष्यते । **त्रेता** नाम तृतीयांशकर्तव्यता, **द्वापरमंशद्वयकर्तव्यता**, **कलिः** कलहः, सर्वमेव विवादास्पदम्, न किञ्चिन्निर्द्धारितमित्यर्थः । अत एव श्रुतौ **'ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत्' 'अथ ये पञ्च कलिः सः'** इति स्तोमानां पञ्चपक्षो निन्दितः । त्रिवृत् पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंश इति चत्वार एव स्तोमाः, चत्वारो वर्णाः, ते एवोत्पादिताः, अतस्तेषु न कोऽपि विवादः । पञ्चस्तोमपक्षस्तु निन्दितः कलिपदेन । षट्स्तोमपक्षस्त्वनिन्दितः **'यस्यत्रिणवमन्तर्यन्ति'** इत्यादिना निरूपितः । अतो निन्दितपर्यायः कलिः । तेषां कल्पविनां यस्मिन् काले सर्वमेव कर्तुं शक्यते, सफलं च भवति, स कालोऽमृतघटिकारूपः कृतशब्देनोच्यते । यस्तु निन्दितो विषघटिकात्मकः स कलिः, यत्र कलह एव न त्वर्थपर्यवसानम् । एतच्चतुष्टयं मिलित्वा चतुर्युगमित्युच्यते । तेषां कालमाह—**दिव्यैरिति । द्वादश-**

भिर्वर्षैरिति । सहस्त्रैरित्युक्तं भवत्यर्थात् । दिव्या हि वर्षा नाल्पसङ्ख्यया गणयितुं योग्याः । सहस्र-सङ्ख्या परमकाष्ठा, अतः सहस्रसङ्ख्या प्राप्यते । दिव्यपदेनैव शतसङ्ख्याऽपि प्राप्येत, तथापि **'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्'** इति न्यायेन **'सङ्ख्याता-नि सहस्राणि'** इत्यग्रिमवाक्यात् सहस्रसङ्ख्यैव प्राप्यते । द्वादशभिर्दिव्यसहस्रवर्षैः सावधानं चतुर्युगं निरूपित भवति **अवधानं** व्यवधानम् । सन्धौ भवा सन्ध्या, व्यवधानानन्तरं यज्जायते सा सन्ध्या । सन्ध्यांशोऽल्पकरणम्, यथा घण्टानादेऽनुरणनम् । तन्मध्ये युगम् ।। १८ ।।

व्याख्या—कृत युग किसी काल विरोध का नाम 'कृत' है । वह (कृत) नाम उसका इसलिये पड़ा है कि उस काल में काल को जो कर्त्तव्य करना था अथवा जो उसका प्रतिकार करना था वह काल ने कर लिया है अतः उस काल में (युग में) उत्पन्न मनुष्यों को कुछ कर्त्तव्य नहीं करना पड़ता है ।

त्रेता युग :—इस त्रेता युग में उत्पन्न मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का तीसरा हिस्सा करना पड़ता है ।

द्वापर युग : इस द्वापर युग में उत्पन्न मनुष्य को दो हिस्से का कर्त्तव्य करना है ।

कलि युग :—इस कलि) युग में सब कुछ विवादास्पद निर्णय पूर्ण किसी का भी नहीं, इसलिये ही श्रुति में कहा है कि 'ये वै चत्वारः स्तोमाः, कृतं तत्' जो निश्चय से चार स्तोम हैं वे कृत हैं, अब 'जो पाँच स्तोम हैं वे कलि हैं, इस तरह स्तोमों के पांच पक्ष निन्दित हैं त्रिवृत् 'पन्द्रह' 'सत्रह' इक्कीस यों चार स्तोम हैं चार ही वर्ण उत्पन्न किये हैं । इसलिये इनमें कोई विवाद नहीं है । पञ्चम स्तोम पक्ष तो निश्चित है कलि पद के कारण, षट् स्तोम पक्ष तो निन्दित नहीं है । 'यस्य त्रिणर्वमन्तर्यन्ति—इत्यादिना निरूपितः' 'जिसके भीतर सताईस का समावेश होता है' इत्यादि से—जिसका निरूपण किया है, इस कारण से कलि ही निन्दार्ह है । जिस काल में कल्प में रहने वाले सब कुछ कर सकते हैं और उसमें सफल भी होते हैं, वह काल अमृत की घड़ो रूपी 'कृत' शब्द से पुकारा जाता है, जो निन्दित विष की घड़ी रूप हो वह काल (कलह) रूप है, अर्थात् जहां कलह कलह ही है, जिससे कुछ प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता है, ये चार मिल कर (चतुर्युग) कहलाता है ।

उनका काल (समय) कितना होता है, वह कहते हैं 'दिव्यौ' द्वापशभिवर्षैः दिव्य १२ वर्षों से अर्थात् बारह सहस्त्र वर्षों से, दिव्य वर्ष की गणना अल्प (छोटी) संख्या से नहीं होती है । सहस्त्र की संख्या परम काष्ठा (बड़ी में बड़ी) है—इसलिये सहस्त्र संख्या प्राप्त होतो है । दिव्य पद से ही शत संख्या भी प्राप्त होती है 'सिद्धिग्धेषु वाक्य शेषात्' इस न्याय से 'संख्यातानि सहस्त्राणि' इस अग्रिम वाक्य मे सहस्त्र संख्यादि प्राप्त होतो है बारह दिव्य सहस्त्र वर्षों से पूर्ण चतुर्युग निरूपित है । व्यवघात के बाद सन्धि में जो होती है वह 'सन्ध्या' है, अल्पकरण सन्ध्या का अंश है । जैसे घण्ट के नाद के बाद की ध्वनि, उसके मध्य का समय (युग) कहलाता है ॥१८॥

आभास—संध्यासन्ध्यांशौ युगेन संबद्धावित्युभयसंबन्धाद्युगत्वं समुदाययोगशक्तिभ्या मवसीयते

आभासार्थ—निम्न श्लोक में उनके (युगों के) मध्य का समय कहते हैं—

श्लोक—**चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।**
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानिच ।।१६।।

श्लोकार्थ—कृत आदि युगों में क्रमशः चार, तीन, दो और एक हजार दिव्य वर्ष की संख्या कही है, और उसे दुगनी सौ वर्ष सन्ध्या तथा संध्यांश की संख्या है ।।१६।।

सुबोधिनी—**चत्वारीत**। चत्वारि सहस्राणि कृतयुगम्, त्रीणि त्रेता, द्वे द्वापरम्, एक कलिरिति यथाक्रमं सहस्राणि सङ्ख्यातानि । युगदशमांशः सन्ध्या तावानेवांशः । अतस्तावन्ति शतानि प्रत्येकम्, समुदायेन द्विगुणानि । चकारादतिरिक्तोऽपि कश्चन कालो लभ्यते, यदि भगवत्कार्ये किञ्चिध्व्यवधानं भवेत् ॥ १६ ।।

व्याख्या—चार हजार वर्ष कृतयुग, तीन सहस्त्र वर्ष त्रेता, दो सहस्त्र दर्ष द्वापर, और एक सहस्त्र वर्ष का कलियुग होता है, युग का दशमांश सन्ध्या होती है, अतः कितने अंश सब सन्ध्यायें समुदाय से दुगुण समझनी चाहिये 'च' पद से इसके सिवाय भी कोई काल होता है, यदि भगवत्कार्य में किसी प्रकार विघ्न पड़े—तो वह काल विघ्न रूप ही समझना चाहिये ।।१६।।

आभास—सर्वस्य युगत्वमाशङ्क्य तन्निराकरणाय मध्यकाल एव युगशब्देनोच्यत इत्याह—

आभासार्थ—सर्व काल युग होगा ? इस शङ्का का निरास कर कहते हैं कि मध्य काल ही युग है—

श्लोक—**सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसङ्ख्ययोः ।**
तमेवाऽऽहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ।।२०।।

श्लोकार्थ—सौ संख्या वाला संध्याः के मध्य का जो काल विशेष वह युग है यों उसको जानने वाले बिद्वान कहते हैं जिसमें धर्म किया जाता है ।

सुबोधिनी—सन्ध्यांशयोरिति । सन्ध्या अशश्च, तयोरन्तरेण यः कालः **शतसङ्ख्ययोरिति** सन्ध्यांशयोरपि कालविशेषत्वमेव, न तु देवतात्वम् । **तमेव** काल **युगमाहुः** । **तज्ज्ञा** इति प्रमाणम् । नन्वनन्तस्य कालस्य स्वतः परिच्छेदरहितस्य केनोपाधिना कृतत्वमित्याशङ्क्य तमुपाधिमाह-**यत्र धर्मो विधीयत इति** । यत्र कालविशेषे धर्मो विधीयते, नाऽनूद्यते । सन्ध्यायां पूर्वधर्मस्य भवति लोपः, तदा युगप्रवृत्तौ ऋषिभिः पारम्पर्यज्ञानाभावादपूर्वो धर्मो विधीयते । स तु युगसमाप्तिपर्यन्त विधिः प्राणिनः प्रवर्तयन्ननुवर्तते, अतो युगशब्दवाच्यो भवति, धर्मोपाधिकत्वात् ॥ २० ॥

व्याख्या—संन्ध्या और संन्ध्यांश के मध्य का जो काल विशेष सौ संख्या वाला होता है उसको जानने वाले उसको युग कहते हैं वह देव नहीं है । जो स्वतः परिच्छेद रहित अनन्त काल है उसको किस उपाधि से 'कृत' कहा जाता है ? इसका उत्तर देते हैं कि 'यत्रधर्मोवि धीयते' जिस काल में धर्म (कर्म) किया जाता है अर्थात् धर्म के करने से वह काल 'कृत' कहा जाता है न कि केवल कहने मात्र से है, सन्ध्या समय में पूर्व धर्म का लोप हो जाता है तब युग प्रवृत्त होने पर ऋषि देखते हैं कि परम्परा-प्राप्त धर्म तो लोप हो गया है अतः अपूर्व (नवीन) धम स्थापित करना चाहिये, यों निश्चय कर युग के अनुरूप धर्म की स्थापना करते हैं । वह धर्म तो युग की समाप्ति तक विधिपूर्वक (नियमित) रहता है जिसका प्राणी आचरण करते रहते हैं । इसलिए उस काल को युग कहा जाता है । धर्म स्थापित होने के कारण वह 'युग' है ॥२०॥

आभास—नन्ववान्तरभेदः किन्निबन्धन इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—युगों में भी विभाग का क्या कारण है ? इसका उत्तर इस श्लोक में देते हैं—

श्लोक—धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते ।
स एवाऽन्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥२१॥

श्लोकार्थ—कृत युग में चार चरणों वाला धर्म ही मनुष्यों को अनुकूल है, अन्य युगों में अधर्म, चतुर्थ भाग से बढ़ कर उसको कम करता है ॥२१॥

सुबोधिनी—धर्मश्चतुष्पादिति । धर्मावान्तरभेद एव युगावान्तरभेदहेतुः । तमाह-**चतुष्पाद्धर्मः कृते मनुजान् समनुवर्तते** । कालेनैव प्रेरतो धर्मो मनुजाननुवर्तते । तत्रापि मनुजा एव हेतवः । चत्वारो वर्णाः कृत एव । त्रेतायां ब्राह्मणाभावः, द्वापरे क्षत्रियाभवः, कलौ शूद्र एव । अतश्चतुष्पाद्धर्मो मनुजान् समनुवर्तते । स एव धर्मोऽन्येषु युगेषु पादेन व्येति, पादेन वर्द्धताऽधर्मेण कृत्वा । अनेन त्यक्तधर्मो वर्णोऽधर्मेण व्याप्रियत इत्युक्तम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—धर्म का अवान्तर भेद ही युग के अवान्तर भेद का कारण है, इसलिये कृतयुग में चार चरण वाला धर्म मनुष्यों के अनुकूल होता है। उसमें भी काल का ही प्रेरित धर्म मनुष्यों के पीछे चलता है, वा मनुष्य काल प्रेरित धर्म के पीछे पीछे चलते हैं, उसमें भी मनुष्य ही कारण है, चार वर्ण कृतयुग में ही हैं, त्रेता में ब्राह्मण वर्ण का अभाव हो जाता है, द्वापर में क्षत्रिय नहीं रहते हैं, कलियुग में शूद्र वर्ण ही रहता है अतः चार वर्णों वाला धर्म मनुष्यों के पीछे २ चलता है। वह ही धर्म दूसरे युग में कृत के बाद दूसरे युग में एक २ पाद से कम होता जाता है, कारण कि अधर्म एक एक पाद बढकर धर्म का एक पाद कम करता जाता है। इससे कहा है कि वर्ण अपना धर्म छोड़ता हुआ अधर्म से व्याप्त होता जाता है ॥ २१ ॥

आभास—एवं युगानां स्वरूपमुक्त्वा तैर्दिनव्यवस्थामाह—

आभासार्थ इसी तरह युग स्वरूप कह कर उनसे ही दिन की व्यवस्था निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिरा ब्रह्मणो दिनम्।**
तावत्येव निशा तात! यन्निमीलति विश्वसृक् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—तीन लोक से बाहर ब्रह्म लोक पर्यन्त एक हजार युग का दिन होता है, हे तात! उतनी ही रात्रि होती है, जिस (रात्रि) में विश्वका रचने वाला नेत्र मूंदता है ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—**त्रिलोक्या** इति। **त्रिलोक्या बहिर्ब्र**ह्मलोकपर्यन्तं **युगानां साहस्रं** सहस्रसङ्ख्यासमुदायो दिनम्, महर्लोकमारभ्योपरितनेषु लोकेष्वेतावद्दिनमित्यर्थः। **आ ब्रह्मण** इति वचनं पातालादिव्युदासार्थम्, तत्र दिनरात्रिव्यवस्थैव नाऽस्ति। यावद्दिनं तावत्येव निशा। युगाद्यभावे ब्रह्मण आयुःखण्डा एव नियामकाः, भगवदिच्छा वा। तत्र निमित्तान्तरमाह—**यन्निमीलति विश्वसृगिति**। यस्मिन् काले **विश्वसृक्** ब्रह्मा भगवान्, ब्रह्मोदरो वा भगवान् शेते। निद्राभावान्निमीलनमेव तस्य। निमीलनमेव योगनिद्रा। **तातेति** संबोधनमप्रतारकत्वज्ञापनाय ॥ २२ ॥

व्याख्या—भूः भुवः और स्व. इन तीन लोकों से बाहर ब्रह्मा के लोक पर्यन्त एक हजार युग का एक दिन होता है अर्थात् महर्लोक से लेकर जो ऊपर के लोक हैं उनमें इतना दिन होता है, ब्रह्म लोक तक कहने का आशय यह है कि, इसमें पाताल लोक आदि की गणना नहीं की हैं वहां (पातालादि लोक में) रात्रि-दिन की व्यवस्था नहीं है, अर्थात् वहां दिन और रात नहीं होते हैं जितना दिन उतनी रात्रि है। युग आदि के न होने से ब्रह्मा के आयु के भाग ही वहां नियामक

होते हैं अथवा भगवदिच्छा नियामक है वहां अन्य निमित्त कहते हैं—'यन्निमीलति-विश्वसृक्' जिस काल में ब्रह्मा भगवान् अथवा जिसके उदर में ब्रह्मा है वह भगवान् पोढ़ते हैं, भगवान् को नींद तो आती नहीं है, इसलिये निद्रा न कह कर योग निद्रा 'निमीलत' कहा है, हे तात् ! यह सम्बोधन प्रेम का इसलिये दिया है कि जो मैं कह रहा हूँ उसमें प्रतारणा नहीं कह रहा हूं ।। २२ ।।

आभास—यथा युगप्रवृत्तिर्दिनख्यापिका, तथा शयनप्रवृत्ती रात्रिख्यापिकेति नियामकान्तरमाह, प्रतियुगं सृष्टिव्यावृत्त्यर्थम्—

आभासार्थ—जैसे युग की प्रवृति दिन को बताने वाली हैं वैसे ही सोने (शयन) की प्रवृति रात्रि की सूचना करती है, जिससे उस समय में सृष्टि रचना नहीं होती है ।

श्लोक—निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते ।
यावद्दिनं भगवतो मनून्भुङ्क्ते चतुर्दश ।। २३ ।।

श्लोकार्थ—रात्रि के अन्त में आरम्भ की हुई लोक रचना की परम्परा जब तक दिन रहता है तब तक भगवान् रचना करते रहते हैं, और १४ मनुओं को भोग करते हैं ।। २३ ।।

सुबोधिनी—निशावसान इति । रात्र्यवसाने अरुणोदये भगवता प्रारब्धो लोककल्पो यावद्दिनं दिवसावसानपर्यन्त मनुवर्तते । प्रवाहरूपेण लोकाः कल्प्यन्ते उत्पाद्यन्ते अनया परम्परया, अस्यां वा; तत् पारम्पर्यं **लोककल्पः ।** तच्च दिनं भगवतः । ब्रह्मविदामपि, भगवत्त्वात् । तत्र धर्मप्रवृत्तेर्हेतुमाह-**मनून भुङ्क्ते चतुर्दश ।** अयं लोककल्पश्चतुर्दश मनून् भुङ्क्ते, अनुभवति । धर्मपालकत्वेन गृह्णातीत्यर्थः ।। २३ ।।

व्याख्या—रात्रि पूर्ण होने पर जब अरुण उदय होता है तब जिस लोक रचना को परम्परा का भगवान् आरम्भ करते हैं, वह परम्परा जब तक चलती रहती है तब तक दिन होता है, इस परम्परा में जो प्रवाह रूप से लोकों को उत्पन्न किया जाता है, वह परम्परा लोक कल्प कहलाता है वही भगवान् का दिन है, ब्रह्म वेत्ताओं का भी वह दिन है क्योंकि वे भी भगवद्रूप होते हैं, उस समय में धर्म की प्रवृत्ति का हेतु कहते हैं 'मनून् भुङ्क्ते चतुर्दश' चौदह मनुओं का उपभोग करना धर्म की प्रवृत्त का हेतु है, उसको धर्म पालकपन से स्वीकार करते हैं ।। २३ ।।

आभास—मनूनां धर्मपरिपालनरूपं वक्तुं तत्परिच्छिन्नं कालमाह—

आभासार्थ—मनुओं के धर्म पालन करने का रूप कहने के लिये इसके आयुष्य बतानेवाला परिच्छिन्न काल इस श्लोक द्वारा वर्णन करते हैं—

श्लोक—स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साऽधिकां ह्येकसप्ततिम् ।
मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ।
भवन्ति चैव युगपत्सुरेशाश्चाऽनु ये च तान् ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—मनु इकहत्तर चतुर्युगी अपने-अपने काल का उपभोग करते हैं, मन्वन्तरों में मनुओं, उनके पुत्रों, ऋषियों, देवों, इन्द्रों और उनके अनुयायी वे सब युगपत् (साथ में) ही पैदा होते हैं ।। २४ ।।

सुबोधिनी—**स्वं स्वं कालमिति** । एकसप्ततिचतुर्युगानि च सार्धैकपञ्चाशद्दिव्यवर्षाधिकं मन्वन्तरम् । मन्वन्तरशब्दो रूढः षडङ्गधर्मसाधनपरः न तु मनोरन्तरं तेनोपभुज्यमानः कालः, तथा सति मनुपुत्रादीनामुपभोगकालोऽन्यः स्यात् । नापि सर्वस्याऽपि वंशस्य वाचको मनुशब्दः, प्रियव्रतपुत्रेषु उत्तमतामसरैवतेषु भिन्नं मन्वन्तरं न स्यात् । **'स एव स्वान्तरं निन्ये'** इति तु प्रक्रियान्तरत्वात् नाऽन्यैर्मन्वन्तरैर्विरोधः । अतो मन्वन्तरशब्दो रूढ एव । **'मन्वन्तराणिसद्धर्मः'** इति वाक्याच्च षण्णां समुदायो मन्वन्तरम् । तानाह **मन्वन्तरेष्विति** । सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु मनुः, मनुपुत्राः, ऋषयः, देवाः, इन्द्रः, अंशावतारश्च; एते युगपदेव भवन्ति । सपुत्र एव मनुरधिकारेऽभिषिच्यते । सुरेशाश्चेन्द्राः । आद्यन्तयोर्बहुवचनं समुदायाभिप्रायेण । अंशावतारस्तु युगपन्न जायत इति पञ्चैवोक्ताः ।। २४ ।।

व्याख्या—मन्वन्तर की गणना बताते हैं देवों के साढ़े इकावन वर्षो और इकहत्तर चतुर्युगों का काल, एक मन्वन्तर होता है, मन्वन्तर शब्द रूढ़ होने से षडङ्गधर्म के साधन परायण है, न कि मनुओं के मध्य उनके भोगने का काल है, यदि यों होवे तो मनुपुत्रादिकों के भोगने का काल दूसरा होवे, और सकल वंश को कहने वाला शब्द 'मनु' नहीं है यदि यों होता तो प्रियव्रत के पुत्र जो उत्तमतामस और रैवत के मन्वन्तर पृथक् नहीं कहे जाते ?

"स एव स्वान्तर निन्ये" इस वाक्य से निश्चित है कि उसने अपना 'प्रतिनिधि स्थापित किया' अतः पृथक व्यवस्था होने से दूसरे मन्वन्तरों से विरोध भी नहीं आता है क्योंकि यह प्रकरण भगवत्कृपा का प्रकरण होने से विरोध नहीं है अतः 'मन्वन्तर' शब्द रूढ़ ही है, 'मनवन्तराणि सद्धर्मः' इस वाक्यानुसार छहों का समुदाय ही मन्वन्तर है, इसलिये 'मन्वन्तरेषु' यों कहा है, अर्थात् सकल मन्वन्तरों में मनु❀ मनुपुत्रो, ऋषिओं देवों, इन्द्र और अंशावतार ये छ ही साथ में

❀ ये तीन, तीसरे, चौथे और पांचवें मनु हो गये हैं । 'प्रकाश'

होते है, (क्योंकि इन सब का ऐसा ही साथ में उपभोग करने का अधिकार है) मनु को पुत्रों सहित **ही अधिकार पर अभिषेक** (अभिषिक्त किया) है।

सुरेश पद से इन्द्रों को कहा है, १-मनु और अन्तिम इन्द्र का बहुवचन समुदाय के अभिप्राय से कहा है अंशावतार दूसरों के साथ उत्पन्न नहीं होते हैं अतः पांच ही कहे हैं ।। २४ ।।

आभास—उक्तानि मन्वन्तराणि यदर्थम्, तमुपसंहरति—

आभासार्थ—जिस प्रयोजन के लिये मन्वन्तर कहा उसका उपसंहार करते हैं।

श्लोक—**एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः ।**
तिर्यङ्नृपितृदेवानां संभवो यत्र कर्मभिः ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—यह ब्रह्मा की तीन लोक की बार-बार होने वाली दैनिक सृष्टि है जिसमें देव, साधारण पक्षी आदि, मनुष्य पितर आदि कर्म से उत्पन्न होते हैं ।।२५।।

सुबोधिनी—**एष दैनन्दिन इति**। दिने दिने जायमानो **दैनन्दिनः**। संवत्सरात्मकः कल्पो भिन्नः; अयं तु दैनन्दिनः। अस्य विशेषमाह-**त्रैलोक्यवर्तन इति**। त्रैलोक्यं वर्त्तयत्यावर्तयतीति। देवतिर्यङभधृष्याणां पुनः पुनर्जन्मेति क्रमा त्रैलोक्यवर्तनत्वम्। तदेवाऽऽह **तिर्यङ्नृपितृदेवानामिति**। नृपितर एके, जीवन्मृतभेदेन विवक्षया। दैनन्दिने पुनः पुनरुत्पत्तौ कर्मणो नियामकत्वम् ।। २५।।

व्याख्या—प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली सृष्टि दैनिक सृष्टि कही जाती है, संवत्सर (वर्ष) रूप कल्प पृथक् है यह तो दैनिक है इसकी विशेषता बताते हैं त्रैलोक्य वर्तन इसमें तीनों लोकों की आवृति (फिर फिर उत्पत्ति) कराई जाती है, अर्थात् देव पितर, साधारण पशु-पक्षी आदि और मनुष्यों के बार-बार जन्म कराने को 'त्रैलोक्क वर्तन' (तीनों लोकों की आवृति) कहा है मनुष्य और पितर एक ही है क्योंकि पृथ्वी पर जीवित दशा में मनुष्य और मृत दशा में पितर कहाते हैं। पुनः पुनः दैनिक उत्पत्ति का कारण (नियामक) कर्म है ।। २५ ।।

आभास—एवं दिनमुपसंहृत्य तत्र नियामके धर्मे कः प्रवर्त्तक तत्याकाङ्क्षायां धर्मस्य भगवानेव प्रवर्तक इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह दैनिक विषय समझा कर कहते हैं कि उसमें नियामक जो धर्म (कर्म) है उसका प्रवर्त्तक कौन है। इसको जानने के लिए यह श्लोक कहा है जिसमें सिद्ध किया है कि उसका प्रवर्त्तक भगवान् ही है।

श्लोक—मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्त्तिभः ।
मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः ।। २६ ।।

श्लोकार्थ—मन्वन्तरो में सत्वधारण करने वाले प्रकट पुरुषार्थी भगवान् अपने अवतारों से इस विश्व का पालन करते हैं ।। २६ ।।

सुबोधिनी—मन्वन्तरेष्विति । सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु स्वस्य शुद्धं सत्त्वं बिभ्रत् भगवान्, स्वस्य मूर्तिभिर्ज्ञानकर्मयोगादिप्रवर्तकैरवतारैर्मन्वादिभिः सहितैरिदं विश्वमवति । उदितं पौरुषं यस्य । यद्यपि स्वयमेव धर्मं पालयन् जगत्पालयति, तथापि स्वस्यैव पौरुषस्य एते अंशाः, मन्वादयोऽवताराश्च ।। २६ ।।

व्याख्या—सकल मन्वन्तरों में अपने शुद्ध सत्वगुण को धारण करते हुए भगनान् मनु आदि सहित अपने ज्ञान, कर्म और योग आदि के प्रवर्त्तक अवतारों से इस विश्व का पालन करते हैं कैसे पालन करते हैं ? सत्त्व द्वारा अपने पौरुष को अपने पौरुषांश मन्वादि एवं अवतारों को प्रकट कर वस्तुतः आप ही धर्म का पालन करते हुये जगत् की रक्षा करते हैं । २६ ।।

आभास—एवं दैनन्दिनसृष्टिमुपपाद्य तत्रत्यं प्रलयमुपपादयति—

आभासार्थ—इस तरह दैनिक सृष्टि का प्रति पादन करने के अनन्तर वहां के प्रलय का निम्न श्लोकों में वर्णन करते हैं—

श्लोक—तमोमात्रामुपादाय प्रड़िसंरुद्धविक्रमः ।
कालेनाऽनुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ।। २७ ।।

तमेवाऽन्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः ।
निशायामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम् ।। २८ ।।

त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाग्निना ।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ।। २९ ।।

श्लोकार्थ—दिन के पूर्ण हो जाने पर अर्थात् रात्रि के आरम्भ होते हुए जिसका पराक्रम रुक गया है, ऐसा समस्त जगत् काल के कारण जिसमें लीन हो गया है ऐसे भगवान् तमोगुण को धारण कर मौन धारण करते हैं, अर्थात् शान्त हो जाते हैं, सृष्टि

नहीं बनाते हैं, अनन्तर नक्षत्र मण्डल से चन्द्र सूर्य पृथक् होने से रात्रि आरम्भ होती है तब सङ्कर्षण की शक्ति रूप अग्नि के ताप से तीन लोक जलने लगते हैं उस ताप से पीड़ित युग आदि महर्लोक से जन लोक जाते हैं ।। २७-२८-२९ ।।

सुबोधिनी—तमोमात्रामुपादाणेति। **तमसो-मात्रा** सत्त्वरजःसंबन्धरहिता, केवलं तम **इत्यर्थः।** तामुपादाय प्रतिसंरुद्धो विक्रमो यस्य। तमसा विक्रमे प्रतिसंहृते विक्रमद्वारा विक्रमकार्यमपि जगत् कालेन कृत्वा भगवत्येवाऽनुगतं भवति। तदाह—कालेनेति । सर्वं मेवाऽनुगतं भवत । अशेषपदेन शेषव्यत्तिरिक्तं जगदिति योगात्सूचतम्। तदा भगवान् कार्योन्मुखतां परित्यज्य **तूष्णीमास्ते।** **दिनात्यये** सन्ध्याकाले। भगवत्तूष्णीम्भावे प्रवाहस्तम्भकाभावात् कालेन प्रेरिता भूरादयो लोका **अन्वपिधीयन्ते,** अव्यक्ते प्रविशन्ति। तदा तेषु अव्यक्ते लीनेषु, **निर्मुक्तशशि-भास्करं** यथा भवति तथा **निशायामनुवृत्तायां** सम्यक् प्रवृत्तायाम्, तदनन्तरं **त्रिलोक्यां सङ्कर्षणाग्निना दह्यमानायामूष्मणा** पीडिता महर्लोके स्थिता भृग्वादयो महर्लोकं परित्यज्य **जनलोकं यान्तीति** संबन्धः। अत्राऽयं क्रमः। यदा भगवान् शिशयिषुर्भवति, तदा तमो गृह्णाति, पश्चाच्च शेते। एतावानेव व्यापारः। अन्यत्सर्वं स्वयमेव भवति विक्रमोपसंहारश्च तमोग्रहणादालस्येन। ततो रक्षकाभावात् कालस्य भक्षकत्वात् स्वयमेव जगल्लीयते। कालस्याऽत्र न भक्षकत्वम्, किन्तु भयजनकत्वाल्लये निमित्तत्वम्। जगति स्वस्मिन् प्रविष्टेऽपि भगवान्न परिपालनार्थं यत्नं करोति, किन्तु तूष्णीमेव तिष्ठति। तस्य तूष्णींभावमनु भुवनात्मका भूरादय उज्जटग्रामभित्तय इव तिरोहिता भवन्ति। तदा आधारभूतानां लोकानामभावात् ज्योतिश्चक्रं ध्रुवाद्विगलितं पतति। तदा मुख्यौ शशिभास्करौ कीलाद्विगलितौ निर्मुक्तौ भवतः। तदाऽन्धकारे प्रवृत्ते रात्रिः सुतरां प्रवृत्ता भवति। तदा सङ्कर्षणमुखादुत्थितोऽनलस्त्रिलोकीं दहति। जना अभिमानिन्यो देवताश्च पूर्वमेव गताः शिष्टमचेतनमग्निर्दहति। मृदादीन् कथमग्निर्दहेदित्याशङ्क्य सोऽग्निः शक्तिरूप इत्युक्तम्। तस्याऽग्नेः प्राकृतवैलक्षण्याय माहात्म्यमाह-भृग्वादयः पीडिता भवन्ति ।। २७ । २८ । २९ ।।

व्याख्या—सत्त्व और रज के सम्बन्ध बिना केवल तमोगुण को धारण करने से जिसका पराक्रम रुक जाने से पराक्रम का कार्य समस्त जगत् भी काल के कारण भगवान् में ही लीन होता है, यों अशेष पद से सूचित किया है, तब भगवान् जगत रचना की इच्छा का त्याग कर शांत रहते हैं। दिन के अन्त में अर्थात् सन्धाकाल में भगवान् के शांति धारण करने पर, प्रवाह को रोकने वाला कोई न होने से काल से प्रेरित भू आदि लोक अव्यक्त में प्रवेश करते हैं।

तब उन भू आदि लोकों के अव्यक्त में प्रविष्ट होने के अनन्तर जैसे ज्योतिश्चक्र से चन्द्र सूर्य पृथक् होते हैं, वैसे रात्रि के प्रवेश (प्रवृत्त) होते ही त्रिलोकी में संकर्षणाग्नि से जलती हुई उष्मा (ताप) से पीड़ित महर्लोक में स्थित मृग आदि महर्लोक का त्याग कर जन लोक में चले जाते हैं, इसका निम्न क्रम है—

जब भगवान् की शयन करने की अन्तः स्वशक्तियों से लीला करने की इच्छा होती है, तब तमोगुण को ग्रहण करते हैं, पश्चात् सोते हैं शक्तियों से लीला करते हैं, इतनी ही क्रिया होती है, अन्य सर्व स्वयं होता है भगवान् विक्रम का उपसंहार आलस्य के कारण तमोगुण को ग्रहण कर करते हैं, पश्चात् रक्षक के न होने से काल भक्षक होता है अतः जगत् स्वयं लीन हो जाता है यहां वस्तुतः काल भक्षण नहीं करता है, किन्तु काल भयजनक होने से लय में निमित्त बन जाता है, लय से जगत् अपने में प्रविष्ट होता है यों समझकर (देखकर) भी इसके पालने का भगवान् प्रयत्न नहीं करते हैं किन्तु मौन ही (शांत ही) रहते हैं।

भगवान् के तूष्णीं (चुप होने) भाव के बाद भ्व आदि लोक उजड़े गांव की भित्तिओं की तरह नाश हो जाते हैं, तब आधार भूत लोकों के न होने से ज्योतिश्चक्र ध्रुव से पृथक होकर गिर पड़ता है तब मुख्य सूर्य चन्द्र कील से अलग हो मुक्त हो जाते हैं, तब अन्धकार हो जाने से रात्रि प्रारम्भ हो जाती है तब सङ्कर्षण के मुख से उत्पन्न अनल (अग्नि) त्रिलोक का दहन करती हैं।

मनुष्य एवं अभिमानी देवता पहले ही चले गये शेष बचे जड़ पदार्थ को अग्नि जलाती है, मृतिका आदि जड़ पदार्थों को अग्नि कैसे जलायेगी? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वह अग्नि प्राकृत (लौकिक) अग्नि नहीं है किन्तु 'शक्ति' रूप अग्नि है, अतः भृगु आदि को इसने पीड़ित कर डाला यह इस अग्नि की शक्ति होने का प्रत्यक्ष माहात्म्य है— ॥२७-२८-२९॥

आभास—तदनन्तरं भगवद्वशा घना वर्षन्तीत्याह—

आभासार्थ—उसके बाद भगवान् के आधीन घन (बादल) वर्षा करने लगे यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः ॥३०॥

श्लोकार्थ—समुद्र प्रलय काल के प्रचण्ड वायु से उमड़ते हुए अपनी उछलती हुई तरंगों से त्रिलोकी को डुबो देते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—तावदिति तावत्सिन्धवःकल्पान्तेन कालेन एधिताः मेघद्वारा वडवानलशान्ति द्वारा वा। सिन्धवस्त्रिभुवनं प्लावयन्ति। उत्कटो योऽयमाटोपः, तत्सहितो योऽयं चण्डो वातः, तेन जनिता ऊर्मयो येषु ॥ ३० ॥

व्याख्या—इतने में कल्प के अन्तिम काल के कारण मेघों की प्रचण्ड वर्षा से अथवा बड़वानल

शांत होने से, फिर भयंकर वायु लगने से उनमें उछालोयुक्त प्रचण्ड तरंगें (लहरें) चलती हैं, जिनसे समुद्र इतने बढते जाते हैं कि उनमें तीनों लोक डूब जाते हैं। ॥३०॥

श्लोक—अन्तः स तस्मिन् सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥३१॥

श्लोकार्थ—उस जल के भीतर जन लोकस्थों से स्तुत योगनिद्रा से निमीलित नेत्र वाले हरि अनन्त आसन पर विराजमान है ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी—तदा तस्मिन् सलिले शेषापरनामाऽनन्तः, अन्तःस्थितसर्वलोकानां दुःखहर्ता, योगनिद्रया निमीलिताक्षः। योग निद्रया कृत्मा निमीलनं निमीलः, तद्युक्ते अक्षिणी यस्य। **जनालयैर्भृग्वादिभिः स्तूयमानः**, हिन्दोलायां गायकैर्गीयमान इव, निमीलिताक्ष आस्ते; शेत इत्यर्थः एवं ब्रह्मणो रात्रिदिनव्यवस्था निरूपिता॥ ३१॥

व्याख्या—तब अर्थात् उस समय उस जल में अनन्त नाम वाले शेष जो अन्तः स्थित सर्व लोकों का दुःख हरता है वह जन लोक में स्थित, भृगु आदि से स्तुत एवं योग निद्रा से निमिलित (मुन्दे हुए) नेत्र वाले ऐसे शयन करते हैं। (जैसे कोई गायकों से कीर्ति सुनता हुआ आंखें मीच हिण्डोले में सोता है।) ॥ ३१ ॥

आभास—तदनन्तरं तादृशेनाऽहोरात्रेण ब्रह्मण आयुराह—

आभासार्थ—उसके बाद इस प्रकार के दिन रात्रि से ब्रह्मा की आयु शत वर्षों को होती है यों इस श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
अपेक्षितमिवाऽस्यापि परमायुर्वयःशतम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—काल की गति से जिनका ज्ञान होता है, ऐसे इन दिन और रात्रिओं से महान् से महान् एक सौ वर्ष की आयु हुई तो भी इससे अधिक आयु की इसकी (ब्रह्मा को) इच्छा रहती है। ॥३२॥

सुबोधिनी—एवंविधैरिति। ननु द्वितीयदिवसस्य कथं प्रवृत्तिः? कर्मसूर्यगत्यादीनामभावात्, इत्याशङ्क्याऽऽह-**कालगत्योपलक्षितैरिति**। कालप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्, **'निर्विशेषं न सामान्यम्'** इति न्यायेन सामान्येनोदलक्षिता विशेषा भवन्तीति पुनरहोरात्रावृत्त्या पक्षमासवर्षावृत्तिः।

तदा ब्रह्मणो वर्षशतं भवति। तावद्भिरपि वर्षै-र्ब्रह्मण आयुरपेक्षितमिव भवति। तस्याऽपि ममा-युर्बह्विति न बुद्धिः, किन्तु अन्यदपि चेद्भवेत्तदा समीचीनं भवेदितीच्छैव तिष्ठति ॥ ३२ ॥

व्याख्या – जब कि कर्म और सूर्य गति आदि का अभाव है तो दूसरे दिन का आरम्भ कैसे हुआ (होगा) इस शङ्का निवारण के लिये कहते है कि काल के प्रवाह के विद्यमान होने से अर्थात् काल का प्रवाह रोका नहीं था इसलिए दूसरे दिन का आरम्भ हुआ। 'निर्विशेष न सामान्यम्' सामान्य गुण रहित नहीं होता है इस न्याय अनुसार सामान्य से गुण उपलक्षित (सूचित) होते हैं, जिससे दिन रात्रि पुनः प्रारम्भ हुई, जैसे दिन रात्रि का प्रारम्भ हुआ वैसे उनकी प्रवृति से (अहोरात्रि की आवृति से) पक्ष-मास और वर्ष की आवृति होती है, तब ब्रह्मा के सौ वर्ष भी होते हैं इतने वर्षों की आयु होते हुए भी फिर आयु होने की इच्छा रहती है अर्थात् ब्रह्मा की यह बुद्धि नहीं होती है कि मेरी आयु बहुत बड़ी है अब बस, विशेष नहीं चाहिये किंतु चाहता है कि अब भी आयु हो तो श्रेष्ठ हो ऐसी इच्छा ही बनी रहती है। ॥३२॥

आभास—इदानीं तस्मिन्नायुषि स्थूलान् कल्पान् निरूपयितुं तस्याऽऽयुषो विभागमाह—

आभासार्थ—अब इस श्लोक में ब्रह्मा के आयुष में स्थूल कल्पों का निरूपण करने के लिए उसकी आयु के विभाग कहते है।

श्लोक—यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥

श्लोकार्थ—उसके (ब्रह्मा की) आयुष्य के आधे भाग को (परार्ध) कहा जाता है। पहला परार्ध बीत गया अब दूसरा परार्ध चल रहा है। ॥३३॥

सुबोधिनी – **यदर्धमायुषस्तस्येति।** तस्य ब्रह्मण आयुषो यदर्धम्, तत्परार्धमित्यभिधीयते। ब्रह्मयुषः परशब्दवाच्यत्वात् परस्यार्धमिति। तत्र पूर्वपरार्द्धस्य आद्यन्तौ ज्ञापयितुं पूर्वस्य समाप्तिमाह–**पूर्वः परार्धोऽपक्रान्त इति।** **अद्येदानीमपरः प्रवर्तत इति।** ब्रह्मणोऽप्यायुर्मतप्रायमिति सूचयन्। वैराग्यमुपदिष्टम्, साधारणानामिन्द्रियाध्यासत्वात् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—उस (ब्रह्मा) की आयु का जो आधा भाग है उसको परार्ध कहते हैं। ब्रह्मा की आयुष्य को पर शब्द से कहने का आशय है कि पर का आधा भाग उसमें पूर्व और परार्ध का आदि अंत बताने के लिये पूर्व की समाप्ति कहते है। पहला परार्ध पूर्ण हुआ। अब अपर (दूसरा,-अन्तिम

भाग चल रहा है । ब्रह्मा की आयु भी पूरी होने वाली है यों सूचित करते हुए वैराग्य का उपदेश दिया है । क्योंकि साधारणों की इन्द्रियों में अभ्यास रहता है ।। ३३ ।।

आभास—तत्र मुख्यकल्पानां मध्ये आद्यो ब्रह्मकल्प इत्याह—

आभासार्थ—मुख्य कल्पों में पहला ब्रह्म कल्प था यों इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**पूर्वस्याऽऽदौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।**
कल्पो, यत्राऽभवन्ब्रह्मा, शब्दब्रह्मेति यं विदुः ।।३४।।

श्लोकार्थ—प्रथम परार्ध के आदि में (ब्रह्म) नाम वाला महान् कल्प हुआ उस कल्प में जो 'ब्रह्मा' हुआ उसको 'शब्द ब्रह्म' कहते हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—**पूर्वस्येति** । तस्य कल्पस्य ब्राह्मत्वमुपपादयति । स तु **महान्** कल्प आसीत्, संवत्सरात्मको न तु दैनन्दिनः । यत्र कल्पे ब्रह्मा स्वयमभूत, उत्पन्न इत्यर्थः । तस्मिन् कल्पे भगवानेव ब्रह्मेति, तस्य सर्वकल्पेषु साधारण्यं मन्यमानः, कल्पप्रयोजकं ब्रह्मणो रूप माह-**शब्दब्रह्मेति यं विदुरिति** । तस्मिन् कल्पे शब्दब्रह्मणः सकाशादेव सर्वोत्पत्तिः । तस्य शब्दब्रह्मणः स्वरूपं बुद्धयध्याये अग्रे वक्ष्यते ।। ३४ ।।

व्याख्या—वह कल्प 'ब्राह्म' कल्प है यों सिद्ध करते हैं वह कल्प तो 'बड़ा' वर्ष-रूप कल्प का न कि दैनिक था जिस कल्प में स्वयं भगवान् ही ब्रह्मा बना उसको सब कल्पों में साधारण (समान) मानते हुए मैत्रेयजी इस कल्प के प्रयोजक ब्रह्मा का रूप कहते हैं । (शब्द ब्रह्मयेति य विदुहुः) जिसको शब्द ब्रह्म कहते हैं उस कल्प में शब्द ब्रह्म से सर्व की उत्पत्ति हुई थी उस शब्द ब्रह्म का स्वरूप बुद्धि अध्याय (१२) में कहा जायेगा । ।।३४।।

आभास—तस्याऽन्तिमवर्षकल्पमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में उसके अन्तिम वर्ष का कल्प कहते हैं ।

श्लोक—**तस्यैव चाऽन्ते कल्पोऽभूद्यं पाद्ममभिचक्षते ।**
यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ।।३५।।

श्लोकार्थ—उसके ही अन्त में हुए कल्प को "पाद्म" कल्प कहते हैं उस कल्प में भगवान् की नाभि-रूप सरोवर में से लोक रूप कमल उत्पन्न हुआ ।। ३५ ।।

सुबोधिनी—तस्यैव चाऽन्त इति । य पाद्मम-भिचक्षत इति स पद्मकल्पः पूर्वमुक्तः । तस्य पद्म-कल्पत्वनिमित्तमाह-**यद्धरेर्नाभिसरस इति** । पद्मेन कल्पत इति व्युत्पत्त्या तस्य पद्मकल्प-त्वसिद्धेः पद्मोद्भव एव वक्तव्यः; तदर्थं-**नाभिसरोरुहमित्युक्तम्** ।। ३५ ।।

व्याख्या—जिसको पाद्मम् कहते हैं । वह 'पद्म कल्प' पहले का है इसको पाद्मम् कल्प कहने का कारण कहते है कि 'पद्मेन कल्पतः' इति पाद्मम् जो पद्मम् वह पाद्मम् व इसको सिद्ध करने के लिये कहते हैं कि भगवान् की नाभि-रूप सर से लोक रूप पद्म प्रकट हुआ अतः इस कल्प को 'पद्म या या पाद्म' कहते हैं । ।।३५।।

आभास—द्वितीयपरार्धस्य आद्यं संवत्सरकल्पमाह—

आभासार्थ—दूसरे परार्ध का आद्य संवत्सर कल्प का वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्याऽपि भारत ! ।**
वाराह इति विख्यातो यत्राऽऽसीत्सूकरो हरिः ।।३६।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! यह दूसरे परार्ध का प्रथम संवत्सर कल्प वाराह कल्प नाम से प्रसिद्ध है जिसमें भगवान् ने सूकर रूप धारण किया है ।। ३६ ।।

सुबोधिनी—अयं तु कथितः कल्प इति । तु-शब्दो दैनन्दिनं व्यावर्तयति । **वाराह इति** । आ-द्यस्याऽऽद्यो ब्राह्मो वेदात्मकः, द्वितीयस्याऽऽद्यः शब्दार्थात्मको वाराह इति लोके विख्यातः । तस्य वाराहत्वमुपपादयति-**यत्राऽऽसीदिति** वराहः सूकरः । हरिरिति ब्रह्मादीनां दुःखनिवारणं तथाऽवतारे हेतुः । तत्राऽऽदिवराहकल्पः प्रथमः, वाराहो द्वितीयः, तृतीयः श्वेतवाराहः । सोऽयं वर्तमानः ।। ३६ ।।

व्याख्या—'तु' शब्द से कहा है कि यह कल्प दैनिक नहीं है किन्तु सांवत्सर कल्प है पहले परार्ध का आद्य कल्प वेद रूप पाद्म नाम से हुआ एवं दूसरे परार्ध का आद्य वाराह नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ है ।

उसका वाराहत्व प्रतिपादन करते हैं 'यत्राऽऽसीदिति' जिसमें भगवान् वाराह रूप से प्रकट हुये हरि नाम से ब्रह्मादिकों के भी दुःख निवृत्त किये हैं दुःख निवारण ही प्रकट होने में भी कारण है उसमें आदि वाराह कल्प पहला है वाराह दूसरा है यह वर्तमान तीसरा श्वेत वाराह कल्प है ।। ३६ ।।

आभास—एवं ब्रह्मण आयुर्निरूप्य अक्षरस्याऽप्या युर्वक्तमित्याकाङ्क्षया माह ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्मा की आयु का निरूपण कर, अक्षर की भी आयु कहनी चाहिये इस आकांक्षा में यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते ।
अव्याकृतस्याऽनन्तस्य अनादेर्जगदा त्मनः ॥३७॥

श्लोकार्थ—यह द्विपरार्ध नामक काल अव्याकृत अनन्त अनादि जगदात्मा अक्षर की आयु का निमेष होता है, यह निमेष उन्मेष निमेष रूप है। ॥३७॥

सुबोधिनी—कालोऽयमिति । अयं द्विपरार्धाख्यः कालोऽक्षरायुषो निमेषो भवति । अयं **निमेष** उन्मेषनिमेषात्मकः । तेनाऽपि प्रकारेण गणना नोचिता, परिच्छेदासम्भवात् । सर्वथा ह्यपरिच्छिन्नं ह्यक्षरं ब्रह्म । अत आह–**उपचर्यत इति** । ब्रह्मायुर्निमेष उपाचारादेवोक्तः, न तु वस्तुतः । तत्र हेतुमाह–**अव्याकृतस्येति** । न केनाऽपि व्याकरणमाविर्भावो यस्य । आविर्भावतिरोभावयोर्मध्यवर्ती काल आयुरित्युच्यते । तत्राऽऽविर्भावाभावे तिरोभावोऽपि नास्तीति तस्याऽऽयुरेव नास्ति, कास्य गणना स्यात् ? किञ्च, परिच्छिन्ने हि गणना । तदाह–**अनन्तस्येत्यन्त**रहितस्य । तस्मादुत्तरावध्यभावात् न कालगणना । आरम्भोऽपि नास्तीत्याह–**अनादेरिति** अनादित्वं निरूपयति–**जगदात्मन इति** । जगतामात्मा, येऽपि परिच्छेदकाः कालादयस्तेषामप्ययमात्मा । तथा अस्याऽक्षरस्य जगतामात्मानो देहस्थानीयाः, अतो देहस्थानीयानामपि नित्यत्वान्नाऽक्षरस्याऽऽयुः केनाऽपि प्रकारेण सिद्धयति ॥ ३७ ॥

व्याख्या—यह द्विपरार्ध नाम वाला अक्षर को आयु का निमेष है यह 'निमेष' उन्मेष निमेषात्मक है, उस प्रकार से भी गणन उचित नहीं है क्योंकि इसमें परिच्छेद होना असम्भव है कारण कि अक्षर ब्रह्म सर्वथा परिच्छन्न रहित है, इसलिये कहा है कि ब्रह्म की आयु जो निमेष कही है, वह भी अनुमान (अटकल) से कही है यों नहीं कहा है कि वास्तव में इतनी ही है, जिसमें कारण बताते हैं कि (अव्याकृतस्य) अर्थात् जिसका किसी से प्राकट्य नहीं हैं, इसलिये इनकी आयु आविर्भाव एवं तिरोभाव के मध्य का काल 'आयु' कही जाती है, उसमें आविर्भाव एवम् तिरोभाव भी नहीं है इस लिये उसकी आयु भी नहीं है किसकी गणना की जावे ? किञ्च परिच्छिन्न में ही गणना होती है ये तो अनन्त है जिससे इसके अक्षर भाग की अवधि नहीं है तो काल की गणना भी नहीं की जा सकती है। इसका आरम्भ भी नहीं है क्योंकि यह स्वतः स्वयं अनादि है, कैसे अनादि कहते हो जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'जगदात्मनः' अर्थात् जगन्मात्र की आत्मा है, अतः जो भी परिच्छेद रूप काल आदि हैं उनकी भी यह आत्मा है, जैसे देह की आयु होती है वैसे आत्मा की आयु नहीं होती है, वैसे जगत् की आत्माऐं इस अक्षर की देह है, अतः जगत् की

आत्माऐं अक्षर की देह भी नित्य हैं अक्षर की आयु किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकती है। ।।३७।।

श्लोक—**कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः ।**
नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ।।३८।।

श्लोकार्थ—परमाणु से लेकर दो परार्ध तक जो काल रूप ईश्वर है भूमारूप अक्षर भगवान् पर सत्ता नहीं चला सकता है वह केवल देहाभिमानियों पर सत्ता कर सकता है ।।३८।।

सुबोधिनी—अयं कालः परमाण्वादिद्विपरार्द्धान्तः, मनुष्यायुःपरिच्छेदकं सूक्ष्मोपाधिमारभ्य ब्रह्मणः परमायुश्छेदकपर्यन्तम्।कालः सर्वेषां **धाममानिनां** देहाभिमानिनामीश्वरोऽपि सन्, नियन्तापि सन्, **भूम्नोऽक्षरस्य प्रभुर्न** भवति। तत्राऽपि ईशितुं **प्रभुर्न** भवति। भगवन्तमीशितव्यं कर्तुं न समर्थो भवेदित्यर्थः। **ईश्वरो धाममानिनामिति** भिन्नं वाक्यम्, तेनेश्वरपदे न पौनरुक्त्यम्। पुनरीश्वरग्रहणं तस्यैश्वर्यं स्थापयितुम्, अन्यथा मूले अनीश्वरः सर्वत्राऽनीश्वरःस्यात् ।। ३८ ।।

व्याख्या—यह काल, परमाणु से लेकर दो परार्ध तक, मनुष्यों की आयु का परिच्छेद करने वाला है एवं सुक्षमोपाधि से लेकर ब्रह्मा की परमायु का छेदन करता है यद्यपि काल सकल देहाभिमानियों का ईश्वर (नियन्ता) होते हुए भी भूमापुरुष (अक्षर) का प्रभु नहीं होता है उस पर अधिकार नहीं चला सकता है। 'ईश्वरो धामनानिनाम्' यह भिन्न वाक्य है इससे 'ईश्वर' पद में पुनरुक्ति दोष नहीं है, दूसरी बार 'ईश्वर' शब्द कहने से उसका ऐश्वर्य स्थापित किया है नहीं तो मूल में अनीश्वरः सर्वत्र अनिश्वर ही ऐश्वर्य रहित वही गिनने में आ जावे ।।३८।।

आभास—एवं कालपरिच्छेदाभावमुक्त्वा स्वरूपमाह—

आभासार्थ—काल के परिच्छेद का अभाव कह कर उसका स्वरूप निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः ।**
आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ।।३९।।

श्लोकार्थ—मिलित विकारों के साथ बाहिर से क्रमशः पृथक् हुए विशेषों सहित यह पचास कोटि विस्तारवाला ब्रह्माण्ड कोश है ।।३९।।

सुबोधिनी- विकारैरिति । विकारैः षोडशविकारैः, एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राश्च । आवरणे महाभूतानां विनियोगान्महाभूतानि वा । उत्पत्तौ तन्मात्राणां प्राधान्यात् । **युक्तै**र्मिलितैः । अयुक्तै विशेषादिभिः पृथिव्यादिभिरावृतोऽयमाण्डकोशः । बहिरावृतस्य मध्ये स्वरूपं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतम्, बहिरेव वा पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः । अयं गोलः पञ्चमस्कन्धोक्ततिर्यग्गोलादन्यः । स एव वोर्द्धवगोलः, ज्योतिःशास्त्रे गोलयषड्कस्य प्रसिद्धत्वात् । पद्मकल्पे पञ्चाशत्कोटिविस्तृतं कमलम्, वाराहे भूम्येव तावती; अतो नानाप्रकारनिरूपणं न दोषाय, नाऽप्यन्योन्यविरुद्धम् ।।३९।।

व्याख्या—सोलह विकारों सहित ग्यारह इन्द्रियां और पांच तन्मत्राऐं आवरण में महान् भूत ही कार्य करते हैं, तन्मात्राऐं उत्पत्ति में मुख्य होने से विकारो की गणना में तन्मात्राऐं बढ़ती नहीं है, अथवा महाभूतों को ही लिया जावे, मिलित, पृथक भूत विशेषादि पृथ्वी आदि से आवृत यह आण्ड (ब्रह्माण्ड) कोश है । बाहर आवृत के मध्य में पचास कोटि विस्तारवाला इसका स्वरूप है अथवा बाहर ही पचास कोटि विस्तार वाला है ।

यह गोल पांचवें स्कन्ध में कहे हुए तिर्यग् गोल में दूसरा है, अथवा वह ही उर्ध्व गोल है । ज्योतिष शास्त्र में ६ गोल प्रसिद्ध हैं पद्म कल्प में पचास कोटि विस्तार वाला कमल कहा है और वाराह कल्प में इतनी भूमि कही है, अतः नाना प्रकार कहने में दोष नहीं है एक दूसरे के विरुद्ध भी नहीं है ।। ३९ ।।

आभास —तस्य ब्रह्माण्डस्य प्रकृते निरूप्यमाणस्य देशावच्छेदकत्वाभावाय स्थूलतामाह—

आभासार्थ—प्रकृत प्रसंग में निरूपण करने में जो ब्रह्माण्ड आता है उसमें अक्षर ब्रह्म के देश की सीमा बाँधने के अभाव के लिये उसकी स्थूलता इस श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ।
लक्ष्यतेऽन्तर्गतश्चाऽन्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ।।४०।।

श्लोकार्थ—अणु से परे जो पचास कोटि दसगुणा पृथ्वी हे, वह जहां (जिसमें) परमाणुवत् प्रविष्ट दीखती है, और रोम कूप के मध्य में दूसरे भी कोटी ब्रह्माण्ड समूह दीखते हैं । ।।४०।।

सुबोधिनी—दशोत्तराधिकैरिति । अण्डात्परतः पृथिवो पञ्चाशत्कोटिदशगुणा । विशेषादिभिरित्यजहत्स्वार्थबहुव्रीहिः । गोल एव वा पृथिवी, जलादय एव दशगुणा इति केचित् । तदा

तैरावरकैर्दृष्टैर्घटमध्ये प्रविष्टः परमाणुरिव लक्ष्यते। तैः सहितो वा रोमकूपे प्रविष्टः परमाणुरिव दृश्यते। तस्य च कूपस्य मध्ये अन्येऽप्येतादृशा अण्डकोशाः कोटिशो लक्ष्यन्ते ॥ ४० ॥

व्याख्या— अण्ड से परे पृथ्वी पचास करोड़ से दस गुणा विस्तारवाली है, विशेषादि से अपने अर्थ को नहीं छोड़ती है ऐसे आशयवाला बहुव्रीहि समास है, अथवा पृथ्वी गोल ही है, कितनों की राय है कि जल आदि ही दशगुणा है, तब देखने में आने वाले उन आवरकों से घट के मध्य में प्रविष्ठ होते हुए परमाणु की तरह दिखती है अथवा उनके साथ रोम कूप में प्रविष्ट परमाणु की तरह दीखती है और उसके रोम कूप के मध्य में दूसरे भी ऐसे कोटि अण्ड कोश लक्षित होते है ॥४०॥

आभास—एवमनन्तब्रह्माण्डावृतरोमकूपो भगवानक्षरशब्देनोच्यत इत्याह—

आभासार्थ—इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डों से आवृत रोम कूप वाले भगवान् (अक्षर) शब्द से कहे जाते हैं, यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।**
विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥४१॥

श्लोकार्थ—उसको अक्षर ब्रह्म कहते हैं, वह सकल कारणों का भी कारण है तथा महती आत्मा जो पुरुष है उस विष्णु का साक्षात् परमधाम (निवास—स्थान व स्वरूप) है ॥४१॥

सुबोधिनी— तदाहुरिति। अक्षरस्य च ब्रह्मत्वं समन्वये स्थापितम्, '**अक्षरमम्बरान्तधृतेः**' '**सा च प्रशासनात्**' इत्यधिकरणे। सर्वकारणानां पुरुषादीनामपि यतः कारणम् तदेवाऽक्षरं मायाफलरूपेण द्विधा यदा समभवत्, तत्रैको भागः पुरुषः, अपरा च प्रकृतिः, अतः कारणकारणम्। तादृशमपि तदक्षरं पुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणो धाम भवति, देहस्थानीयं गृहस्थानीयं वा। यथा जगदात्मानोऽक्षरस्य देहस्थानीयाः, तथा अक्षरमपि भगवतः। अनेन भगवत आयुःपरिमाणादिशङ्केव निवारिता। ततोऽप्यन्यद्भगवतो धाम भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-**परमिति**। यथाऽस्मदादीनां प्राणान्तःकरणव्यवहितानामेव देहः स्थानं भवति, न तथाऽक्षरं भगवतः, किन्तु साक्षात्। मूलभूतस्य साकारत्वायाऽऽह-**पुरुषस्येति** उत्कर्षमपकर्षहेतुं च श्रुत्वा संदिहानं प्रत्याह-**महात्मन इति**। महांश्चाऽसावात्मेति। आत्मभूतः पुरुषो व्यापक इत्यर्थः। समुदायेनाऽपि महानुभावः, सर्वभवनसमर्थ इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्ष्मणभट्टात्मज श्री वल्लभ दीक्षित विरचितायां तृतीय स्कन्धे एकादशाध्याय विवरणम्।

व्याख्या—ब्रह्म सूत्रों के समन्वयाधिकरण के अक्षरमम्बरान्तघृत: सा च प्रशासनात सूत्रों में अक्षर का ब्रह्मत्व सिद्ध किया गया हैं, क्योंकि सर्व के कारण पुरुषादि का भी कारण है वह ही अक्षर माया के फलस्वरूप दो रूप हुए तब एक रूप पुरुष दूसरा प्रकृति हुआ, अत: कारणों के भी कारण है ऐसे कारणों के कारण भी वह अक्षर ब्रह्म परमब्रह्म पुरुषोत्तम का धाम है अर्थात् देह वा गृह है जैसे जगत् की आत्माऐं अक्षर की देह स्थानीय हैं, वैसे अक्षर भी भगवान की देह है, यो कहने से भगवान् की आयु परिमाण का निषेध किया है, यदि कहो कि उससे भी दूसरा भगवान् का धाम होगा इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि पर यह ही उत्तम देह भगवान् की है जैसे प्राण एवं अन्त: करण से युक्त हम लोगों की देह (स्थान) होती है वैसे भगवान् की अक्षर देह नहीं है किन्तु साक्षात् स्थान (स्वरूप) है।

मूलभूत भगवान् साकार है यों सिद्ध करने के लिये 'पुरुषस्य' पुरुष स्वरूप है, उत्कर्ष और अपकर्ष हेतु सुनकर संशयग्रस्त को कहते हैं कि 'महात्मन:' यह महान् आत्मा है, अर्थात् जो आत्मरूप पुरुष होता है वह व्यापक है यों तात्पर्य है समुदाय से भी महानुभाव बड़े प्रभावशाली है अर्थात् सर्व भवन समर्थ—सब कुछ करने की शक्तिवाले हैं ॥४१॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के एकादश अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

भूगोल ६ है—१. भूगोल २. खगोल ३. हगोल ४. नक्षत्रगोल ५. आवरण गोल ६. अणुगोल अवान्तर जो दैनिक कल्प है उनमें भृगुआदि ज्ञानी स्थित रहते है जिससे किसी प्रकार की कहीं भी किसी में भी अव्यवस्था नहीं होती है।

वर्षात्मक महाकल्प में भी अणु के होने ने पुरुष और इन्द्रियों के होने से इन्द्रादि भी रहते हैं जिससे बाहु आदि की भी अव्यवस्था नहीं होती है।

दिशाऐं भी देवता रूप होने से व्यवस्थित रहती हैं, इसी तरह सूर्य विभाज्य न होने से कान भी व्यवस्थित ही रहते हैं इसी तरह आयु नियत वा अनियत होते हुए भी सुखार्थ आयुर्वेद के प्रवर्त्तक देवता रूप अश्विनी कुमारों के होने से नाश की भी व्यवस्था है। इसी प्रकार गन्ध, अग्नि, स्वर्ग, सूर्य आदि भी जानने पक्षों को भी यों समझना इसलिये ईश्वर के विग्रह (शरीर) में किसी प्रकार अव्यवस्था नहीं है यों अव्यवस्था की शङ्का निवृत्त की गई है। 'प्रकाश'

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

बन्ध सृष्टि (जीव सर्ग) प्रकरण

"अध्याय"—१२

सृष्टि का विस्तार

कारिका—**साधारणानां बुद्धिर्या द्वादशे सा निरूप्यते ।**
अष्टधा सा सर्गरूपा श्रेष्ठा चोत्तरतः परा ॥ १ ॥

कारिकार्थ—१२वें अध्याय में जिन साधारणों की बुद्धि का वर्णन किया जाता है। वह बुद्धि आठ प्रकार की उत्पन्न हुई है अर्थात् उसकी सृष्टि ब्रह्मा ने आठ प्रकार से बनाई है। उत्तरोत्तर वह श्रेष्ठ है क्योंकि वह उत्तरोत्तर शास्त्र की संगति कराती जाती है॥ १॥

कारिका—**तामिस्त्रादिप्रकारेण प्रथमा प्राकृती मतिः ।**
ज्ञाननिष्ठा द्वितीया स्यात् सदोषा सा प्रकीर्तिता ॥ २ ॥

कारिकार्थ—तामिस्र आदि प्रकार से जो बुद्धि पहले उत्पन्न हुई वह प्राकृती है (थी) बुद्धियाँ केवल स्वयं उत्पन्न नहीं हुई, किन्तु अपने देवताओं के साथ उत्पन्न हुई है, अतः उनके स्वरूप भी कहे हैं। दूसरी बुद्धि सनकादिरूप से ज्ञाननिष्ठा उत्पन्न हुई किन्तु अहंकार युक्त होने से अपने जनक-गुरु ब्रह्मा की आज्ञा मानने से दोष वाली हुई क्योंकि यह वह अहंकार रूप दोष हरि के संग (प्रेम) से उनमें हुआ॥ २॥

कारिका—**दोषोऽप्यत्र हरेः सङ्गात् , ज्ञानादप्यधिका मता ।**
यथा हरस्ततः श्रेष्ठा कृष्णस्याऽऽज्ञानुपालिनी ।। ३ ।।

कारिकार्थ—यह तीसरी बुद्धि की सृष्टि सदोष होते हुए भी हरि के प्रेम के कारण ज्ञान से भी अधिक मानी गई है। जैसे महादेवजी विशेष माने गये हैं, कारण कि यह तीसरी बुद्धि कृष्ण की आज्ञा मानने वाली होने से एवं शङ्कर इस बुद्धि के अधिष्ठाता हैं जिससे वह भगवत्सेवा में आग्रह वाली है। अतः यह उत्तम है ।। ३ ।।

कारिका—**सदोषा साऽपि, तस्यास्तु दोषे न प्रविशेद्धरिः ।**
ततो हीनैव सा, मध्ये लोके व्यामोहिका परा ।। ४ ।।

कारिकार्थ—बुद्धि की दश प्रजापति रूप देवतावाली यह चतुर्थ सृष्टि दोषवाली है क्योंकि इसमें कामरूप दोष अन्तः स्थित है जिससे हरि इस बुद्धि सृष्टि में विराजमान नहीं होते जब तक काम (मौजूद) है इस कारण से बुद्धि-सृष्टि हीन है मध्य लोक से मोह पैदा करने वाली है ।।४।।

कारिका—**ततो वेदे विनिष्णाता तदर्थं कर्माणि स्थिता ।**
ततः श्रेष्ठा वेद एव योगोपासनया युता ।। ५ ।।

वेद जिसका देवता है ऐसी यह वेदाभ्यास में तत्पर छठी बुद्धि सृष्टि श्रेष्ठ है। योग तथा उपासनायुक्त हो, सदैव वेदार्थ में ही ध्यान धरती है ।। ५ ।।

कारिका—**सर्वतोऽप्यु त्तमा या तु क्रीडेच्छापूरिका हरेः ।**
एवमष्टविधा बुद्धिः सर्वेषां सर्गयोगिनी । ६ ।।

कारिकार्थ—सर्व बुद्धियों की सृष्टि में यह आठवीं बुद्धि की सृष्टि सर्वोत्तम है, कारण कि भगवान् को क्रीड़ा की इच्छा पूर्ण कराती है। इसी प्रकार ये आठ प्रकार की बुद्धियां सर्व प्रकार की सृष्टियों के उपयोगवाली है । ६ ॥

आभास—एवं कालकृतं निरूप्य, ब्रह्मकृतं जगदष्टधा निरूपयिष्यन्,
पूर्वोक्तमुपसंहरति तच्छेषत्वाभावाय—

आभासार्थ—इस तरह काल ने जिस प्रकार जगत् बनाया वह कहकर अब ब्रह्मा ने जैसे जगत् के आठ प्रकार बनाये वे बताते हैं तथा कालकृत की समाप्ति करते हैं। इसलिये कि यह कालकृत का अङ्ग नहीं समझा जावे ।

श्लोक—**मैत्रेय उवाच । इति ते वर्णितः क्षत: ! कालाख्यः परमात्मनः ।**
महिमा, वेदगर्भोऽथ यथाऽस्राक्षीन्निबोध मे ।। १ ।।

श्लोकार्थ—मैत्रेय जी ने कहा कि हे क्षत: (संयमी:) ! इस प्रकार मैंने परमात्मा की (काल) नाम, महिमा सहित तुम्हें बताया अनन्तर ब्रह्मा ने जिस प्रकार सृष्टि की वह मुझसे समझो ।

सुबोधिनी - **इति ते वर्णित इति** । यथा ब्रह्मा भगवतो गुणावतार:, एवं कालोऽपि भगवतो **महिमा** गुणविशेषः । तत्र लोकप्रसिद्धिर्गौणी, वस्तुयाथात्म्यमेव मुख्यमिति ज्ञापयितुं **कालाख्य** इत्युक्तम् । अक्षरादेर्धर्मत्वं वारयति-**परमात्मन** **इति** । पुरुषोत्तमस्य । **अथ** भिन्नप्रकारेण कालसृष्टदशधासृष्टे: । तत्राऽपि सृष्टिप्रकार: कठिन इति भिन्नप्रकारत्वाद्विवेकार्थं सावधानतया श्रोतव्यमित्याह—**निबोधेति** । वेद गर्भ इति वैलक्षण्ये हेतुः ।। १ ।।

व्याख्या—जैसे ब्रह्मा भगवान् का गुणावतार है इसी तरह काल भी भगवान् की महिमा रूप गुण विशेष है । इसमें जो लोक में प्रसिद्धि है वह गौणी है । मुख्य तो वस्तु का स्वरूप माना जाता है । इसलिये उसका ज्ञान कराने के लिये उसका नाम 'काल' कहा गया है ।

'परमात्मा' कहकर यह सूचित किया है कि वह पुरुषोत्तम है । अक्षरादि का धर्मत्व नहीं है ।

(अथ) पद से इस सृष्टि का कालकृत दशधा सृष्टि से पृथक्त्व (अलगपन) बताया है क्यों पृथक् से बताया है ? इस पर कहते हैं कि वेद गर्भ इसकी रचना करने वाला वह (ब्रह्मा) है जिसके भीतर वेद (सम्पूर्ण ज्ञान) मौजूद है यह हेतु दिखाया गया है ।

कारिका—**वेदानुसारिणी सृष्टिर्ब्रह्मणैव विनिर्मिता**
कालानुसारिणीकालात् पुष्ट्या सा भगवत्कृता ।। १ ।।

कारिकार्थ—वेद का अनुसरण करने वाली (वैदिक) सृष्टि ब्रह्मा ने बनाई । कालानुसारिणी (जैसा समय वैसा कार्य करने वाली) सृष्टि काल ने बनाई है इन दोनों को प्रभु ने अनुग्रह से अपनी लीला बनाली है ।। १ ।।

प्रथम श्लोक में 'निबोध' पद दिया है जिसका भावार्थ बताते हैं वहां भी सृष्टि का प्रकार कठिन है इसलिये जुदा प्रकार होने के कारण सावधान होकर सुनना चाहिये । तदर्थ 'निबोध' कहा है ।। १ ।।

आभास—तत्र प्रथमं पञ्चपर्वाविद्याधिष्ठातृदेवतानां सृष्टिमाह—

आभासार्थ—उसमें पहले इस निम्न श्लोक में पञ्चपर्वा अविद्या के अधिष्ठाता देवताओं की सृष्टि कहते हैं—

श्लोक—**ससर्जाऽग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् ।**
महामोहं च मोहं च तमश्चाऽज्ञानवृत्तयः ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने पहले अन्धतामिस्र 'अनन्तर तामिस्र, महामोह, तथा तम ये अज्ञान की वृतियां (जिनसे अज्ञान के कार्य बने) उनको रचा ॥ २ ॥

सुबोधिनी—**ससर्जाऽग्र** तत्राऽपि जातिहीना तामसी वृत्तिः, तदधिष्ठातृदेवता वा; सा प्रथमा। तामाह—**ससर्जाऽग्रे इति** । अन्धतामिस्रमग्रे ससर्ज। तदनन्तरं **तामिस्रम्**, विषयेष्वेव मोहो, न तु स्वात्मनि । **आदिकृदिति** प्रथमत एव जगत्कर्ता । स चेदेवं न सृजेत्तदा जगदेव न स्यात् । तदनन्तरं **महामोहः**, वस्तुयाथात्म्य पश्यन्नपि तस्मिन् विषये स्वात्मैक्यबुद्धिः, यथा देहोऽहमिति । **मोहस्तु** ममेति । **तमस्त्वज्ञानम्**, कोऽहमिति न वेद। पञ्चाऽप्येता अज्ञानस्यैव वृत्तयः ॥ २ ॥

व्याख्या—उनमें से भी पहले जो वृत्ति तामसी थी उसको अथवा उसके अधिष्ठाता देवता को रचा, जिसका वर्णन करते हैं पहले अन्धतामिस्र को रचा ।

कारिका—**विषयः पुरुषश्चेति ज्ञानः कोटिद्वयं मतम् ।**
पुरुषे बोधकं चक्षुः विषये व्यापिका प्रभा ।
अग्रे तदुभयाभाव स्तेनाऽन्धत्वं तमस्तथा ॥ १ ॥

कारिकार्थ—लौकिक पदार्थों का ज्ञान दो प्रकार से होता है वे पदार्थ दो है, एक पुरुष दूसरा विषय । पुरुष का ज्ञान नेत्रों से होता है अथवा पुरुष को नेत्र द्वारा ज्ञान होता है विषय का ज्ञान उसमें व्याप्त तेज कराता है आरम्भ में ये दोनों (नेत्र और तेज) नहीं थे इसलिये ये प्रथम अन्धकार अर्थात् अज्ञान हुए ।

व्याख्या—इसके बाद 'तामिस्र' रचना उसमें (तामिस्र में) विषयों में ही मोह रहता है । न कि अपने अन्तःकरण में मोह होता है । 'आदिकृत' पद का तात्पर्य है कि ब्रह्मा पहले ही जगत् का कर्त्ता है । यदि वह (ब्रह्मा) इस प्रकार जगत् की रचना न करे तो जगत् ही न बने ।

कारिका—**आत्मानं वस्तु रूपं च, यदि जानाति सर्वथा ।**
अन्युक्तश्चेत्कामः स्यात्तदा सृष्टिन चान्यथा ।
न तच्चक्यं ब्रह्मणः स्याद्ध रेरेव तथा भवेत् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस कारिका में तामिस्र का स्वरूप बताते हैं तथा लक्षण भी कहते हैं जिनसे सृष्टि बन सकती है स्वयं (अपने) का और पदार्थों के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान होते हुए भी साथ में प्रबल कामना की भी आवश्यकता है तब सृष्टि बन सकती है यदि प्रबल[1] कामना न होय तो सृष्टि नहीं बनती है। ब्रह्मा से यह नहीं हो सकता है हरि से ही यों बनता है ।। १ ।।

बाद में महामोह रचा। महामोह का स्वरूप-वस्तु के सच्चे स्वरूप को समझते हुए भी उस विषय (पदार्थ) में अपना ऐक्य समझना महामोह है जैसे देह पञ्चभूतों से बनी हुई है। मैं ब्रह्म का अंश स्वरूप हूं यों जानते हुए भी अपने को देह समझ लेना 'महामोह' है। ममत्व अर्थात् यह मेरा है, इसको मोह कहते हैं। 'तम' शब्द का तात्पर्य अज्ञान है। यह अज्ञान ही अपने स्वरूप को भुला देता है, अर्थात् मनुष्य अज्ञान से अपने ब्रह्मांश स्वरूप को भूल कर देह समझ बैठता है। ये पांचों वृत्तियां अज्ञान की ही है।

कारिका—**अज्ञानं भगवच्छक्ति र्मायाकार्यमिहोच्यते ।**
चतुर्मुखे प्रविष्टा सा पञ्चधानिर्गता बहिः ।। २ ।।

कारिकार्थ—भगवान् की शक्ति जो अज्ञान है उसको यहां माया का कार्य कहा है वह ब्रह्मा में प्रविष्ट हो फिर उसमें से पांच प्रकार से बाहर निकली है।। २ ।।

आभास—ताः पञ्चविधा अपि देवताः सृष्टवा दृष्ट्वा जगत्कर्तृत्वेन ता न विनियुक्ताः, किन्तु मयाऽप्ये तत्साधु न कृतमिति स्वात्मानमेव निन्दितवानित्याह—

आभासार्थ—ब्रह्मा ने ये पांच प्रकार की देवता उत्पन्न हुई देखकर उनको जगत् की रचना में न लगाया किंतु अपनी भी निंदा करने लगा कि मैंने भी यह अच्छा कार्य नहीं किया है क्योंकि यह सृष्टि पापीयसी है यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नाऽऽत्मानं बह्वमन्यत ।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्यांस्ततोऽसृजत् ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—अधिक पाप वाली सृष्टि को देखकर ब्रह्मा ने अपना तिरस्कार किया पश्चात् भगवान् के ध्यान से अपने मन को पवित्र कर दूसरी सृष्टि जो पवित्र उत्तम थी वह रची ।। ३ ।।

१—प्रबल कामना को 'तामिस्र' कहा है।

सुबोधिनी—दृष्टवा पापोयसीमिति। पापेनैवैतादृशी सृष्टिरुत्पद्यते। ततो भगवद्ध्यानमपराधनिवृत्त्यर्थं कृतवान्। तदपि ध्यान तावज्जातम्, यावता मनः सर्वदा शुद्धं भवेत्, यथाऽग्रे सृज्यमानेषु पूर्वसृष्टिर्न प्रविशति। तदाह-**भगवद्ध्यानपूतेनेति। अन्यान्** पूर्वस्माद्विलक्षणान् ॥३॥

व्याख्या—इस प्रकार की तामसी पापी सृष्टि पाप से ही पैदा होती है ऐसी पापी सृष्टि का कार्य कर मैंने अपराध किया है यों समझ ब्रह्मा ने उस अपराध की निवृत्ति करने के लिये भगवान् का ध्यान किया किन्तु वह ध्यान भी उतने समय तक चला जब तक मन सर्वप्रकार से शुद्ध रहा, जिस कारण से आगे बनाये जाने वाले पदार्थों में बनाई हुई पहले रचि हुई पापी सृष्टि प्रविष्ट न हो सकी। उसका प्रतिपादन करते हैं 'भगवद्धयान पूतने मनसा' वह दूसरी जो शुद्ध सृष्टि बनाई वह भगवान् के ध्यान से अपना मन शुद्ध करके बनाई एवं वे जो बनाई वह पहलो (पापी) सृष्टि से विलक्षण थी ॥ ३ ॥

श्लोक—**सनकं च सनन्द च सनातनमथाऽऽत्मभूः।**
सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—सनक, सनन्द, सनातन और भगवान् से उत्पन्न हुए सदैव ब्रह्मचारी एवं क्रिया रहित सनत्कुमार इस प्रकार के चार की सृष्टि पहली पापी सृष्टि से अन्य प्रकार की बनाई।

सुबोधिनी—एते चत्वारो जाताः। अनेनैते कृतयुगस्थानीयाः, पूर्वं कलिस्थानीया इति। **अथाऽऽत्मभूरिति।** तेषामपि चतुर्णां मध्ये सनत्कुमारो महान्, भगवत्पौत्रः। अस्य सृष्टौ भगवत्पौत्रभावो मुख्य इत्यत्मभूरित्युक्तम्। आत्मा भगवान्। सर्वेषां गुणत्रयमाह-**मुनीन् निष्क्रियानूद्धवरेतस इति।** तेषां कर्तव्यत्वेन मननमेवैकं सिद्धम्। उत्तरकाण्डार्थ एव तेषां कर्तव्यः, न पूर्वकाण्डार्थ इत्याह-**निष्क्रियानिति।** वेदमधीत्य, वेदार्थं बुद्धवाऽपि, बहिरध्यासशून्या मानसप्रधानाः। केवलमनसैव यत्सिध्यति, तदेव कुर्वन्तीत्यर्थः। ननु सृष्टिमपि कुतो न मनसा कुर्वन्ति? तत्राऽऽह-**ऊर्द्धवरेतस इति।** न मनसाऽपि रेतोद्वारे सृष्टिः। परं तद्रेतो मानसम्, तदप्यूर्द्धवं भगवद्दामि, न त्वधो हीनजनकम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—ये चार❀ उत्पन्न हुए जो कि उत्तम शुद्ध कृत युग की सृष्टि है, पहले जो सृष्टि में

❀ १ सनक २ सनन्द ३ सनातन ४ सनत्कुमार उत्पन्न हुए, इससे ये कृतयुग की सृष्टि के हैं, पहले जो उत्पन्न हुए वे कलियुग की सृष्टि थे।

उत्पन्न अंध्र तामिस्रादि हुए वे पापी होने से कलियुग की सृष्टि के थे, 'आत्मभू' विशेषण से यह सूचित किया है इन चारों में भी सनत्कुमार महान् है, क्योंकि आपका पौत्र है इनकी सृष्टि में आपका पौत्र भाव मुख्य है इसलिये 'आत्मभू' विशेषण दिया है 'आत्मा' पद का अर्थ 'भगवान्' है। सर्व ४ में तीन गुण हैं वे हैं। १, मुनीन २, निष्क्रियान् ३, उर्ध्व 'रेतस:' उनका कर्त्तव्य एक मनन ही सिद्ध हुआ है उनका कर्त्तव्य उत्तर काण्ड (ज्ञान काण्ड) ही है न कि प्रथम कर्मकाण्ड कर्त्तव्य है। इसलिये 'निष्क्रियान्' विशेषण दिया है। जिसका आशय है कि उनको कर्म करने की आवश्यकता नहीं थी जिससे वे कर्म नहीं करते थे अतः वे निष्क्रिय कहे है, जिसका वास्तविक आशय यह है कि वे वेद पढ़े थे उनको पढ़कर तथा उनके अर्थ को समझकर बाहर का जो अध्यास होता है वह अध्यास उनमें नहीं था अतः सर्व ध्यानादि मन से ही करते थे, जो बाहर से सिद्ध होने वाली क्रिया थी वह नहीं करते थे, यदि यों है तो सृष्टि भी मन से कर लेते, इसके उत्तर में कहते हैं कि वे ऊर्द्धरेता थे, यदि कहो मानसरेत से सृष्टि करते तो कहते हैं कि वह भी ऊर्द्ध अर्थात् भगवद्गामी होने से नीचे आके हीन वस्तु को उत्पन्न नहीं करता ॥ ४ ॥

आभास—आपाततः पुत्रानुत्तमान् दृष्ट्वा लोके ख्यातपौरुषः पुत्रानाह—

आभासार्थ—पुत्रों को बाहर से ही उत्तम देख ब्रह्मा ने पुत्रों से कहा—

श्लोक—तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः !।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने उन पुत्रों को कहा, हे पुत्र ! प्रजा की उत्पत्ति करो, वासुदेव परायण एवं मोक्ष धर्मवाले उन्होंने सृष्टि करने की इच्छा नहीं की ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—तान् बभाषे इति। **प्रजाः सृजतेति**। अत्र ब्रह्मणो नाऽज्ञानम्, किन्तु भगवदुपयोगिसृष्टिमेव मनसा कुर्वन्त्विति **सृजतेति** नियोगः अन्यथा तस्मात्क्रोधान्महादेवो नोत्पद्येत। **स्वभूरिति** पदं तु, न भगवदाज्ञापनपर्यन्तं स्थितः, किन्तु स्वयमेवाज्ञापितवानित्यत्रोपक्षीणम्। **पुत्रका इति** संबोधनमाज्ञाया अवश्यकर्तृत्वाय। स्वार्थे कप्रत्ययः सन्देहाभावाय। अत एव तदाज्ञाकरणे भगवत्कार्यस्याऽकृतत्वात् भगवद्द्वारि क्रोधोद्गमः। तदाह-**तन्नैच्छन्निति**। ननु भगवदीयमपि कार्यं कुतो नैच्छन्? तत्राऽऽह-**मोक्षधर्माण इति**। मोक्षे ये धर्मा निवृत्तिमार्गसिद्धाः। अथवा, मोक्ष एव धर्मो येषाम्, ते मोक्षार्थमेव धर्मान् कुर्वन्ति। ननु भगवत्कार्यकरणमपि मोक्षहेतुः, तत्कुतो न कृतवन्तः? तत्राऽऽह **वासुदेवपरायणा इति**। वासुदेवो ज्ञानं दत्त्वा मोक्षदाता, न तस्य कार्यं सृष्ट्यादिकमप्यपेक्ष्यते। तादृशस्य न कैवल्याख्यो मोक्षः फलम्, किन्तु भगवत्संतोषः। अत एव तत् ब्रह्मणो वाक्यं नैच्छन्, इच्छामेव न कृतवन्तः, न तु 'न करिष्यामः' इति वचनमपि ॥ ५ ॥

व्याख्या—प्रजा रचने की आज्ञा देने में ब्रह्मा का अज्ञान कारण नहीं था किन्तु यह इच्छा थी कि भगवान् के उपयोग में आने वाली सृष्टि मन से उत्पन्न करें, इसलिये उत्पन्न करो, ऐसी आज्ञा की यदि अज्ञान होता तो क्रोध से महादेव उत्पन्न न होते।

ब्रह्मा स्वभू थे इसलिये अहंकार वश हो भगवान् की आज्ञा प्राप्त करने के लिये न ठहरकर स्वयं आज्ञा दे दी अतः ब्रह्मा को जो ज्ञान था वह अहंकार वश होने से नष्ट हो गया जिससे वह ब्रह्मा की महिमा हुई, महादेव की नहीं हुई।

हे पुत्रका ! यह सम्बोधन सूचित करता है कि तुम मेरे पुत्र हो इसलिये तुमको मेरी आज्ञा अवश्य पालन करनी है, 'पुत्र' पद के साथ 'क' प्रत्यय लगाने का आशय है कि मेरी आज्ञा पालन में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना है, अर्थात् अवश्य पालनी है। पिता की आज्ञा का पालन तथा भगवत्कार्य न करने से उनको भगवान् की ड्योढी पर क्रोध उत्पन्न हुआ।

भगवान् के कार्य करने की भी इच्छा क्यों नहीं की इसका समाधान करते हैं कि 'मोक्ष धर्मणः' थे, मोक्ष में जो निवृत्ति मार्ग के धर्म सिद्ध हैं उनको ही करते थे अपना इनका धर्म मोक्ष था, जिससे वे मोक्ष के लिये ही धर्म करते थे। भगवान् के कार्य करना भी मोक्ष का हेतु है वह क्यों नहीं किया ?

इस पर कहते हैं कि 'वासुदेव परायणा' वासुदेव के ही परायण थे वासुदेव तो ज्ञान देकर मोक्षदाता है, उसको सृष्टि आदि कार्य की अपेक्षा नहीं है। ऐसे वासुदेव परायण ज्ञानी को केवल मोक्ष फल नहीं चाहिये किन्तु भगवान् की प्रसन्नता ही चाहिये, इस कारण से ब्रह्मा के कार्य करने की इच्छा भी नहीं की सृष्टि नहीं करेंगे ऐसे वचन भी नहीं कहे ॥ ५ ॥

आभास--अत एव तूष्णीम्भावे, पूर्वमविद्यासृष्टिचा खिन्नः, तच्छान्त्यर्थमेते सृष्टाः, तेऽपि चेदनुपयुक्तास्तदा क्रोधो जातः स च नाऽल्पः, कार्यव्यापाराविष्टत्वात्–

आभासार्थ –जब देखा कि ये (सनत्कुमार) भी शांत हो गये सृष्टि करना नहीं चाहते, ब्रह्मा ने पहले जो अविद्या सृष्टि की थी उससे खिन्न तो था ही फिर शांति के लिये इनका उत्पन्न किया, इनको भी जब सृष्टि में उपयोगी नहीं देखा तब ब्रह्मा को क्रोध आया वह क्रोध भी थोड़ा नहीं किंतु विशेष हुआ क्योंकि सृष्टि के कार्य में रुके हुए होने से वह कार्य पूर्ण न होने से अधिक क्रोध उत्पन्न हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ--आज्ञा का उल्लंघन करने वाले पुत्रों से जब इस प्रकार अपमानित हो क्रोधित हुए तब ब्रह्मा उस कठिन एवं न सहन करने योग्य उस क्रोध को वे रोकने का प्रयत्न करने लगे ।। ६ ।।

सुबोधिनी—अभिमानं कार्यं च नाशयतीति दुर्विषहः । ततः क्रोधोत्पत्त्यनन्तरं मध्ये भगवदिच्छाविषयिणी बुद्धिर्जाता । कोऽभिप्रायो भगवतः ? कथमेते सृष्टिं न कुर्वन्तीति ? पश्चाज्ज्ञातो भगवदभिप्रायः । तामससृष्टचनन्तरमेते सृष्टा आसुरीमेव सृष्टिं भगवदुपयोगिनीं करिष्यन्ति, मानुषभावाश्च तेऽहन्ताधिकारिण इत्यभिप्रायं ज्ञात्वा क्रोधंनियन्तुमुपक्रमं कृतवान् ॥ ६ ॥

व्याख्या—ऐसा असह्य क्रोध क्यों हुआ ? जिससे कार्य रुक (बिगड़) गया, जिसके लिये कहते हैं कि 'अभिमान कार्य च नाशयति' अहङ्कार ही ऐसी वस्तु है जो यों करती है पश्चात् ऐसे असह्य क्रोध के उत्पन्न होने के अनन्तर मध्य में यह विचार आया कि भगवान् की इच्छा कैसी है ? सृष्टि कराने की है या नहीं है यदि है तो किस प्रकार की कराने की इच्छा है । ये सृष्टि क्यों नहीं करते हैं ? यों विचार करने के बाद में भगवान् का अभिप्राय जाना कि तामस सृष्टि के अनन्तर ये आसुरी सृष्टि को ही भगवान् के उपयोगी बताएंगे ये मानुष भाव वाले हैं अहन्ता के अधिकारी हैं यों अभिप्राय जानकर क्रोध को रोकने का प्रारम्भ किया ॥ ६ ॥

आभास--तदोत्पन्नः क्रोधो भगवदभीष्टकार्ये भगवदंशानुप्रवेशात् तस्मिन्कार्ये आधिदैविको जात इत्याह-

आभासार्थ—भगवान् के अभीष्ट कार्य में भगवदंश के प्रवेश होने से तब उत्पन्न क्रोध उस कार्य के लिये आधिदैविक हो गया, यों इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक--**धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः ।**
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ।। ७ ।।

श्लोकार्थ--यद्यपि ब्रह्मा ने क्रोध को बुद्धि से रोका तो भी वह भ्रुवों के मध्य से एकदम उत्पन्न हो गया, वह कुमार नील लोहित वर्ण का था ।। ७ ।।

सुबोधिनी—**धिया निगृह्यमाण इति** । मनसो व्यापारद्वयम्, क्रिया ज्ञानं च । तत्र ज्ञानेन नियमनं कृतम्, न क्रियया । अतः क्रियाया अनिवर्तितत्वात्, स्वस्मिन्श्चाऽप्रभवादुभयरक्षार्थम्, भ्रूमध्ये भगवदाज्ञाचक्रस्थानत्वात्, भगवदाज्ञाकारी भगवदंशस्तद्द्वारा निर्गत इत्याह-**भ्रुवोर्मध्यादिति**। **सद्य इति** तत्क्षणम्, क्षणान्तरे क्रिययाऽपि नियमनं स्यात् । मन्युरिति क्रोध एव । **नीललोहित**

इति कर्बु रवर्णः । क्रोधस्याऽऽरक्तो वर्णः, भगवतो नीलः, उभयमेकीभूतं नीललोहितं भवति । कुत्सितो मारो यस्येति स्वाभाविकसृष्टच् पयोगिकन्दर्पनाशकः। दैतेयकन्दर्पजनकश्च ॥ ७ ॥

व्याख्या—मन के दो कार्य होते हैं (१) क्रिया (२) ज्ञान इनमें से ब्रह्मा ने ज्ञान से नियमन का कार्य किया, क्रिया से नियमन नहीं किया जिससे क्रिया निवृत नहीं हुई थी और क्रिया को अपने में ब्रह्मा समान मान सके दोनों (क्रोध के नियमन् एवं कुमार की उत्पत्ति) की रक्षा के लिये भ्रुवों का मध्य भगवदाज्ञा चक्र है अतः वहां से भगवदाज्ञाकारी भगवदंश उसी क्षण उत्पन्न हुआ, यदि दूसरे क्षण में होता तो क्रिया का भी नियमन हो जाता 'मन्यु' पद का आशय 'क्रोध' है, वह (क्रोध) नीले और लाल मिले हुए वर्ण के रंगवाला बालक था क्योंकि वह क्रोध भगवदंश था इसलिये क्रोध का वर्ण लाल होने से और भगवान् का वर्ण नोला होने से दोनों वर्ण उस रूप में मिले हुए थे, 'कुमार' कहने का भाव प्रकट करते हैं कि स्वाभाविक सृष्टि के उत्पन्न करने वाले कन्दर्प का शत्रु नाश करने वाला था और दैत्य कन्दर्प का जनक था ॥ ७ ॥

आभास—ततस्तस्य नामनिरुक्तयर्थं लीलया बहिः, अन्तस्तु दुःखितान् सर्वानेव दृष्टवा, रोदनं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—उत्पन्न होने के बाद वह बालक अपने नाम धराने के लिये रोने की लीला करने लगा वास्तव में प्राणियों का दुःख देखकर उसका रुदन था यो निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान्भवः ।**
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ! ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—देवों में प्रथम उत्पन्न हुवे यह भगवान् महादेव निश्चय रोने लगा और कहने लगा कि हे धाता ! हे जगद्गुरु ! आप हमारे नाम रखो और स्थान बनाओ ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—**स वै रुरोदेति** । स तु देवानां मध्ये **पुर्वजः** । यावन्तो ह्याधिदैविका जाता इत्यर्थः । स तु **भगवान्**, न जीवांशः । **भव इति** स एव भवति सर्वत्र, न ह्यहङ्कारव्यतिरेकेण कश्चिज्जायते, नाऽप्यलिङ्गः, अतो जनने हेतुभूतो भवो भवति । उपादानं हरिः, रजो ब्रह्मेति । अतोंशद्वय सूक्ष्मम्, उपष्टम्भकाः सर्वे वैष्णवाः । अतस्त्रिमूर्तिर्देहः । रोदनकारणे पृष्टे उत्तरमाह—**नामानीति** । **नामानि स्थानानि** । जगत्कर्तृत्स्थानजननम्, जगद्गुरुत्वात् नामकरणम् । नामव्यतिरेकेण अव्यक्ततया भोगः प्रसज्येत, ततो नामप्रार्थना ॥ ८ ॥

व्याख्या—वह तो देवों में प्रथम उत्पन्न देव है, अर्थात् जितने आधिदैविक देव हैं उनमें ये प्रथम है अतः वे तो भगवान् हैं जीववत् अंश नहीं है, इसलिये इनको (भव) कहा है अर्थात् वे सर्वत्र होते हैं यों तो कोई भी बिना अहङ्कार के उत्पन्न नहीं होता है और न बिना देह के जन्म लेता है किन्तु इनके जन्म में हेतु भव' अर्थात् सर्वत्र होता है यह ही इनका उपादान (१) हरि, (२) रजः ब्रह्मा है ये दो अंश सूक्ष्म हैं एवं आधार भूत सकल वैष्णव हैं, अतः इनकी देह तीन मूर्तियों वाली है, क्यों रुदन करते हो ? इसके उत्तर में कहा है कि जगत् कर्त्ता है अतः मेरे लिये निवास स्थान बनाईये और जगत् गुरु हो इसलिये मेरे नाम रखो नाम न होगा तो भोग स्पष्ट नहीं धरा जायेगा इसलिये नाम रखने की प्रार्थना की है ।। ८ ।।

आभास—तावतैव संतुष्टो ब्रह्मा अधिकमपि कृतावानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रार्थना से ही सन्तुष्ट ब्रह्मा ने भी अधिक किया, (दिया) यों इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन् ।**
अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ।। ९ ।।

श्लोकार्थ—कमल से उद्भूत भगवान् ब्रह्मा ने उसका कहा हुआ (मांगा हुआ) वाक्य परिपालन करने के लिये भद्र (प्रेम) वाणी से कहा कि 'रुदन न करो' तुमने जो कहा वह करता हूँ ।। ९ ।।

सुबोधिनी—इतीति । **तस्य** वाक्यपरिपालनं कुर्वन् नामानि कृतवान् । अभिप्रायस्तु अव्यक्ततयैव भोगः कर्तव्य इति । बालकरोदने भद्रया वाचा सान्त्वनं भवतीति सान्त्वयन्नाह-**अभ्यधादिति** । **मा रोदीरिति** निषेधः । त्वदभीप्सितमेव सेत्स्यतीति **तत्करोमि त** इति गूढोऽभिप्रायः । दास्यामि च भार्याः, ततस्तान् सर्वान् स्वयमेवोत्पाद्य स्वसमानान् करिष्यसीति । अत एव भार्यादानम् । प्रार्थितं द्वयम्, अभीष्टं चैकमिति न प्रार्थिताधिकदानम् ।। ९ ।।

व्याख्या—उसका कहा हुआ पालन करते हुए नाम रखे, जिसका अभिप्राय था कि अव्यक्तता से आपका योग भले ही हो, यदि बालक रोता है तो उसको सान्त्वना देकर रोना बन्द कराया जाता है इसलिये सान्तवना दी कि, मत रोवो, तुम्हारी इच्छा के अनुकूल अभीष्ट ही होगा वह ही करता हूं । यह गुप्त अभिप्राय है और स्त्रियां भी दूंगा ? स्वात् उन सबको आप स्वयं ही उत्पन्न कर अपने समान बना देना इसलिये भार्यादान दिया है प्रार्थना यद्यपि दो को की किन्तु अभीष्ट एक ही था इसलिये प्रार्थना से अधिक नहीं दिया है ।। ९ ।।

आभास—स्वभावतो गुप्तवात् क्रिययैव त्वन्नामेत्याह—

आभासार्थ—आपके नाम स्वभाव से गुप्त हैं अतः क्रिया से होंगे यों इस श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—**यदरोदीः सुरश्रेष्ठ ! सोद्वेग इव बालकः ।**
ततस्त्वामभिधास्ययन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः ।। १० ।।

श्लोकार्थ हे देवों में श्रेष्ठ ! जिस कारण से तुम उद्वेगी बालक को तरह रोये हो इस कारण से तुम्हें प्रजा (रुद्र) नाम से पुकारेगी (बुलायेगी) ।। १० ।।

सुबोधिनी—यदरोदीरिति । यद्यस्मात्कारणात् त्वमरोदीः, अतो **रुद्रः** । '**यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्**' इति श्रुतेः । '**रक्**' प्रत्ययोऽत्र औणादिकः कर्त्तरि । **सुरश्रेष्ठेति** संबोधनान्न गणरुद्रत्वम्, ते हि सुरा एव, न श्रेष्ठाः । ननु प्रार्थनायां कृतायामपि यथा प्रार्थक इति नाम न कृतम्, तथा रुद्रेत्यपि न कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह **सोद्वेग इवेति** । उद्वेगसहितः सोद्वेगः । चित्तव्याकुलता उद्वेगः, रोदने कायवाङ्मनोव्यापारः सम्पन्नः, तेन नामजनकत्वम् । अश्रुविमोकः कायिकः, शब्दो वाचनिकः, उद्वेगो मानस इति । यद्यप्यभिप्रायोऽन्यस्तथाप्यनुकरणं तादृशमिति लोके तथैव नाम । तदाह–**इवेति**' । अहं सर्वात्मक इति मद्गोपनार्थं कृतं रूपं सर्वजगत्प्रसिद्धं भवत्विति, **रुद्र इति नाम्ना** सर्वे लोका **अभिधास्यन्ति**, त्वक्रियाकरणेन अभिनयेन चाऽभिधानं प्राप्तम् । तथा च सति पुनरप्रकट एव स्यादत आह–**नाम्नेति** ।। १० ।।

व्याख्या—जिस कारण से आपने रुदन किया उस कारण से आप रुद्र हुए श्रुति कहती है कि "यददोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" होना ही रुद्र का रुद्रपन है, 'रुद्र' पद में जो रक् प्रत्यय लगा है वह औणादिक कर्ता में लगा है सुर श्रेष्ठः संबोधन से यह सूचित किया है कि यह (भव) रुद्रगण में नहीं है क्योंकि वह गण सुरों में गिना जाता है श्रेष्ठ नहीं है, यह सुरों में श्रेष्ठ है, प्रार्थना करने पर भी जैसे प्रार्थक नाम नहीं रखा वैसे रोने से 'रुद्र' यह नाम भी नहीं रखना था इस शङ्का निवारण के लिये कहा है कि 'सोद्वेगइवे' उद्वेगी की तरह नाम पड़ा चित्त को व्याकुलता को उद्वेग कहा जाता है। रोदन करने में शरीर, मन एवं वाणी तीनों की क्रिया होती है (हुई) जिससे ही यह नाम पड़ा रोने के समय आंसुओं का गिरना शरीर की क्रिया हुई, शब्द वाणी की क्रिया हुई और उद्वेग (चित्त की व्याकुलता) मानसिक क्रिया हुई, शब्द वाणी की यद्यपि रोने का अभिप्राय दूसरा था तो भी अनुकरण वैसा ही था इसलिये लोक में वैसा नाम प्रसिद्ध हो गया, इसलिए ही 'इव' पद दिया है मैं सर्वात्मक हूँ यों मुझे गुप्त रखने के लिये धरा हुआ रूप सर्व जगत् में प्रसिद्ध हो, इसलिये 'रुद्र' इस नाम से सब लोग आपको पुकारेंगे (कहेंगे) अपनी क्रिया करने से तथा वैसी लीला करने से यह प्राप्त किया अतः रुद्र, लोक में स्वरूप अप्रकट ही रहेगा केवल नाम प्रसिद्ध होगा ।।१०।।

आभास—तस्य स्थानान्येकादश निर्दिशति नामसाम्यात्—

आभासार्थ—इन निम्न श्लोकों में नाम समानता से ११ स्थान भी जताते हैं—

श्लोक—**हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही ।**
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे ।। ११ ।।

मन्युर्मनुर्महेशानो महान् शिवः ऋतुध्वजः ।
उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ।। १२ ।।

धीर्वृत्तिरुशनोमा च नियुत्सर्पिरिलाऽम्बिका ।
इरावती सुधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ! ते स्त्रियः ।। १३ ।।

गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः ।
आभि सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—हृदय इन्द्रियाँ प्राण, आकाश वायु अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तप ये स्थान पहले ही तुम्हारे लिये बना दिये हैं ।

मन्यु, मनु महेशान महान् शिव, ऋतुध्वज उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत ये तुम्हारे नाम है ।

हे रुद्रः धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्, सर्पि, इला अम्बिका, इरावती, सुधा, दीक्षा और रुद्राणियां तुम्हारी स्त्रियां हैं स्त्रियों समेत ये नाम तथा स्थान ग्रहण करो, इनके द्वारा बहुत प्रजा पैदा कराओ आप प्रजापति हैं ।। ११-१२-१३-१४ ।।

सुबोधिनी—**हृदिन्द्रियाणीति** । हृत् हृदयम्; **इन्द्रियाणि च; असुः** प्राणः; **व्योम** आकाशः **तपः** कृच्छ्रादि । जीवानां मध्ये त्रितयम्, बहिर्महाभूतानि, अहोरात्रप्रकाशको बहिः, अन्तस्तप इति । **मन्युरिति** नामानि । **मेहिनस** इत्यके । ध्याद्याः स्त्रियः । **धीवृत्तिरसहोमा चेति** वा पाठः । **रुद्राण्य** इति तव सहजाः स्त्रिय एताः । नाम्नां ग्रहणं रूपद्वारा भवतीत्येकादशभावग्रहणम्; एकादशरूपग्रहणं वा विधीयते । **सयोषणः** सभार्यः । सयोषण इति छान्दसः । **आभिः** कृत्वा **बह्वीः प्रजाः सृज**, यस्मात्त्वं **प्रजापतिः**, प्रजासृष्टावधिकारितया आविर्भूतः ।। ११ । १२ । १३ । १४ ।।

व्याख्या—हृदय, इन्द्रियां, प्राण, आकाश, कृच्छ्रादि व्रत रूप तपस्या जीवों के मध्य में प्रथम तीन बाहर के पांच महाभूत, एवं बाहर दिन और रात्रि का प्रकाश हो, तथा भीतर का तप ऐसे ११ स्थान बना दिये हैं।

कारिका—**करणं च हरासनम्। नामानि भार्याः सिद्ध्यर्थं रुद्राणां गणभेदतः। १।**

कारिकार्थ—प्रकाश करने वाला उपादान (कारण) करण (साधन) महादेव का आसन, नाम, स्त्रियां ये सब सृष्टि कार्य की सिद्धि के लिये एवं रुद्रों के गण भेदार्थ किये हैं।

व्याख्या--मन्यु आदि रुद्र के नाम हैं, महेषान के बदले में कितनेक 'महिनस' कहते हैं, धी आदि स्त्रियां है अथवा धी, वृति असहा और उमा यों पाठ है 'रुद्राणिओं नाम से यों बताया है कि ये तुम्हारे साथ उत्पन्न हुई? तुम्हारी स्त्रियां है रूप द्वारा नाम ग्रहण किया है अतः ११ नाम हुए हैं 'सयोषण' वैदिक शब्द है जिसका अर्थ स्त्री समेत उत्पन्न हुए हो इसलिये इनमें से बहुत प्रजा उत्पन्न करो, क्योंकि प्रजापति ही प्रजा सृष्टि के (प्रजा की रचना के) अधिकारी होकर प्रकट हुए हो।। ११, १२, १३, १४।।

आभास—स्वाभिलषितमेव ब्रह्मणोक्तमिति तथैव कृतवानित्याह—

आभासार्थ—ब्रह्मा ने अपना अभिलषित ही कहा, इसलिये वैसे ही किया, यों इस निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवान्नीललोहितः।**
सत्वाकृतिस्वभावेन ससर्जाऽऽत्मसमा प्रजाः।। १५।।

श्लोकार्थ—गुरु से आज्ञा प्राप्त (आज्ञा पाये हुए) भगवान् की नील लोहित ने बल, आकृति और स्वभाव से अपने समान बहुत प्रजाऐं रची।। १५।।

सुबोधिनी—**इत्यादिष्ट इति**। स्त्रीभिः सह तथाकरणं नाऽभिलषितमिति ज्ञापयति। **गुरुणेति**। **'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'** इति। **भगवानिति** तादृशानामेव उत्पादनसामर्थ्यं सूचयति। नीललोहित इति रुद्रस्याऽसाधारणः शब्दः। **सत्त्वाकृतिस्वभावेनेति**। **सत्त्वं** बलम्, **आकृतिर्नीललोहितत्वम्**, **स्वभावस्तामसः** एवं त्रिभिः कृत्वा **आत्मसमाः प्रजाः ससर्ज**।। १५।।

व्याख्या—इस श्लोक में दिखाते हैं कि गुरु (ब्रह्मा) ने आज्ञा की थी कि, स्त्रियों से मिलकर प्रज उत्पन्न करो यों करना भव को इष्ट (पसन्द) नहीं था किन्तु शास्त्राज्ञा है कि 'आज्ञागुरुणां ह्य विचारणीया' गुरुओं की आज्ञा जैसी भी हो वह मान लेनी चाहिये, उसमें विचार की आवश्य-

कता नहीं है इसलिये कुमार भव (महादेव) ने आज्ञानुसार सृष्टि की स्वयं रचना की, क्योंकि आप भगवान् हैं अतः इनमें ऐसी सामर्थ्य मौजूद थी 'नील लोहित' विशेषण से आपका असाधारणत्व प्रकट किया गया है।

'सत्वाकृति स्वाभावेन' पद से जिस प्रकार की प्रजा रचने की आज्ञा दी थी वैसी ही अपने बल नील लोहित आकृति और तामस स्वभाव इन तीनों से ही अपने समान प्रजाऐं रची ।। १५ ।।

आभास–ततः किं जातमित्यत आह–

आभासार्थ—यों सृष्टि उत्पन्न होने का परिणाम क्या हुआ ? यह इस श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक –**रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद्ग्रसतां जगत् ।**
निशम्याऽसंख्यशो यूथान्प्रजापतिरशङ्कत ।। १६ ।।

श्लोकार्थ—चारों तरफ से जगत् को ग्रस रहे रूपों को देखकर प्रजापति को शङ्का होने लगी कि ये समग्र जगत् को मेरे समेत ग्रस लेंगे क्या ? जिससे भयभीत हुए (होने लगे) ।। १६ ।।

सुबोधिनी—रुद्राणामिति। रुद्र एक एवं मारणोपयोग्युत्पादने नियुक्तः स्वकार्यप्रतिबन्धं ज्ञात्वा स्वकार्येण मारणं कृतवान् । तदा कार्याणां बहुत्वात्कालेन सृष्टाः सर्वा एव सृष्टयस्तैर्भक्ष्यन्ते सर्वानेवाऽऽत्मप्रवेशनेन मुक्तान् कुर्वन्ति, अचेतनानपि भूरादीन् परितो ग्रसन्ति । एवं **रुद्रसृष्टानां रुद्राणां समन्ताज्जगद् ग्रसताम-संख्यशो यूथान्** ज्ञात्वा, **प्रजापतिः** स्वात्मानमपि भक्षयिष्यन्तीति शङ्कां कृतवान् ।। १६ ।।

व्याख्या जगत् के संहार करने का एक ही कार्य महादेव (रुद्र) का है उसको प्रजापति ने विपरीत कार्य उत्पत्ति बता दिया जो उससे होने वाला नहीं है किन्तु गुरु आज्ञा से करना पड़ा फिर स्वाभावानुसार सोचा कि यों करने से मेरा कार्य तो रुक जायेगा, अपना संहार कार्य न रुके, इसलिये अपने से उत्पन्न किये हुए रूपों से संहार कार्य करने लगे।

आपकी उत्पन्न सृष्टि बहुत थी इसलिये काल ने जो सृष्टि रची थी उस सब को वे भक्षण करने लगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि अपने में प्रवेश कराके सब को भक्षण करने लगे, न केवल चेतन्य किन्तु पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों को भी भक्षण कर रहे हैं, इसी तरह रुद्र के उत्पन्न किये हुए रुद्रों की चारों तरफ जगत् का ग्रसन करते असख्य यूथों (टोलों) को जानकर, प्रजापति को यह शङ्का होने लगी कि क्या मुझे भी निगल जावेंगे।

आभास—'अलं प्रजाभिः' इत्यादीनि वाक्यानि 'एवमात्मभूवा' इत्यत्र सम्बध्यन्ते ।) आत्मभक्षणशङ्कया प्रजापतिराह—

आभासार्थ—'अलं प्रजाभिः' श्लोकादि के वाक्यों का 'एवमात्मभुवा' श्लोक से सम्बन्ध है, अपने को भक्षण न कर डालें, ऐसी ब्रह्मा शङ्का करने लगे।

श्लोक—**अल प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम ! ।**
मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ।। १७ ।।

श्लोकार्थ—हे सुर श्रेष्ठ ! क्रूर नेत्रों से मुझ सहित समस्त दिशाओं को जलाती हुई इन प्रजाओं की रचना बन्द करो ।। १७ ।।

सुबोधिनी - अलं प्रजाभिरिति । ईदृशीभिः **प्रजाभिरलम्**, अतः परमेतादृश्यः प्रजा न स्रष्टव्या इत्यर्थः । **सुरोत्तमेति** जोवभावमाह । देवोत्तमो भूत्वा देहभावेन सृष्टिकरणं न युक्तमिति भावः । तासां को दोष इत्याशङ्क्य दोषमाह—**मया सह दहन्तीभिरिति** । दश दिशो दहन्ति । नापि दाहे तासामग्न्यपेक्षा, किन्तु चक्षुर्भिरेव । **उल्बणैरिति** क्रूरत्वेन भयजनकैः । अनेन साम्मुख्याभावेऽपि अन्यस्यापि तद्दर्शने भयेनाऽपि मरणं सूचयति ॥ १७ ॥

व्याख्या—अब इस प्रकार की प्रजाओं की रचना बस करो। इसके बाद ऐसी प्रजा की रचना बंद करो अब न रचो क्योंकि आप देवों में भी उत्तम हैं ऐसे होकर देहभाव से सृष्टि करना उचित नहीं है यदि कहो कि इन प्रजाओं का क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मयासह दहन्तीभिः' मुझ सहित दश दिशाओं को जला रही हैं। कैसे जलाएगी ? अग्नि तो इनके पास है ही नहीं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'नापि दाहे तासामग्न्यपेक्षा' इनको (प्रजाओं को) जलाने के लिये अग्नि की अपेक्षा नही है, क्योंकि इनके नेत्र ही क्रुर, भयानक हैं. इस भयानकता से सम्मुख न होते हुए भी अन्य को भी उसके देखने से ऐसा भय होता है जिससे मरण की सूचना देते हैं ।। १७ ।।

आभास—तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—तब क्या करना चाहिये ? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं—

श्लोक—**तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् ।**
तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान् ।। १८ ।।

श्लोकार्थ—सकल प्राणी मात्र को सुख देने की भी तपस्या करो आपका कल्याण

हो, तपस्या से ही जैसे पहले आपने यह जगत् रचा था वैसे ही रचो ।।१८ ।।

सुबोधिनी—तप आतिष्ठेति । तपसि क्रियमाणेऽपि न तव खेदो भविष्यतीत्याह—**भद्रं त इति । सर्वभूतसुखावहमिति ।** तपोऽपि सृष्टिवल्लोकोपद्रवहेतुभूतं न कर्तव्यम्, किन्तु **सर्वेषां भूतानां सुखमेव आवहति** तादृशं सात्विकं कर्त्तव्यमित्यर्थः । ततः किं स्यादत आह- **तपसैव यथापूर्वमिति ।** पूर्वं तामसकल्पे शिवः प्रजाजनकः । ताः प्रजास्तामस्यो भवन्ति, परं लोकानुसारिण्यः । तादृश्योऽपि प्रजा अस्मिन् कल्पे उपयुज्यन्त इति तथोक्तम् ।। १८ ।।

व्याख्या—तपस्या करने में तो कष्ट होगा ? इस शङ्का का निवारण 'भद्रंते' पद से किया है तप से तुम्हारा कुशल ही होगा कष्ट नहीं होगा, क्योंकि ऐसी तपस्या करे जो समस्त भूतों को सुख देने वाली हो वह (तपस्या) इस सृष्टि की तरह लोकोपद्रव का कारण रूप नहीं करें, किन्तु समस्त भूतों को सुख देने वाली ऐसी सात्विक तपस्या करनी । ऐसी तपस्या से क्या होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'तपसैव' यथा पूर्वं' जैसे पहले तामस कल्प में शिव प्रजा के उत्पादक हुए थे वह प्रजा तामसी थी किन्तु लोकानुसारिण थी, वैसी प्रजाऐं इस कल्प में भी चाहिये इसलिये कहा है कि सात्विक तप कर पूर्व कल्प के समान तामसी सृष्टि करो ।। १८ ।।

आभास—किञ्च, माऽस्तु प्रजासर्गः; तथापि सात्त्विके तपसि क्रियमाणे भगवान् परितुष्यतीत्याह—

आभासार्थ—और भले विशेष सृष्टि उत्पत्ति न भी हो किन्तु सात्विक तप से भगवान् प्रसन्न होंगे यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् ।**
सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ।। १९ ।।

श्लोकार्थ—इन्द्रियातीत परम ज्योति स्वरूप, सर्वभूतों के गुहा में विराजमान भगवान् को पुरुष तपस्या से ही बिना श्रम के प्राप्त कर लेता हैं ।। १९ ।।

सुबोधिनी—तपसैवेति । ब्रह्मा हि स्वानुभवप्रकारेण शास्त्रार्थं निरूपयति—**परं ज्योतिरिति ।** ज्योतिषामपि प्रकाशकम्, अतस्तस्मिन् दृष्टे सर्ववस्तुयाथात्म्यं स्फुरित, स हि सर्वथा सर्ववस्तुयाथात्म्यप्रकाशकः । **भगवन्तमिति** न ततोऽन्यज्ज्ञातव्यमस्तीति ज्ञापितम् । **अधोक्षजमिति** साधनान्तरं निराकृतम् । **सर्वभूतगुहावासमिति** सुलभत्वमावश्यकत्वं दुर्ज्ञेयत्वं च । एतादृशस्य प्राप्तिस्तपसा भवतीति तपसो माहात्म्यम् । **अञ्जसा** अनायासेन । **पुमानिति** मृदोषराशित्व ।। १९ ।।

व्याख्या--अब ब्रह्मा अपने ज्ञान के अनुभावानुसार शास्त्र के अर्थ का निरूपण करते हैं कि 'परं ज्योतिः' प्रभु परम ज्योति स्वरूप होने से सूर्यचन्द्र आदि प्रकाश करने वालों के भी प्रकाशक हैं इस कारण से उनके दर्शन हो जाने पर सकल वस्तु का याथात्म्यं (सत्य सम्पूर्ण) स्वरूप स्फुरित होता है कारण कि वह ही सर्व प्रकार से सकल वस्तुओं का याथात्म्य प्रकाशक है 'भगवन्तं' पद से यह सूचित किया हैं कि उनके सिवाय दूसरा कुछ भी जानने योग्य नहीं हैं, 'अधोक्षज' विशेषण से यह सूचना दी हैं कि इसके लिये कोई दूसरा साधन नहीं है 'सर्व भूत गुहावास' पद से बताया हैं कि वह सुलभ भी है तथा आवश्यक भी है और दुर्ज्ञेय भी है ऐसे स्वरूप की प्रगति तपस्या से होती है, यों कहकर तपस्या का माहात्म्य प्रकट किया है 'अञ्जसा' पद से कहा है कि बिना परिश्रम से मिलते हैं, 'पुमान्' पद से दिखाया है कि 'जीव' दोषराशि है, तो भी तपस्या से प्रभु को बिना परिश्रम प्राप्त कर लेता है ।। १९ ।।

आभास--एवं ब्रह्मणा उपदेशे कृते रुद्रो यत्कृतवांस्तदाह—

आभासार्थ—ब्रह्मा के इस प्रकार के उपदेश करने पर जो रुद्र ने किया वह मैत्रेयजी इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—मैत्रेय उवाच । एवमात्मभुवाऽऽदिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम् ।
बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम् ।। २० ।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा कि ब्रह्मा ने जो तप करने की आज्ञा की या विचार दिखाया वह रुद्र को भी संमत था अतः गुरु (ब्रह्मा) ने रुद्र को तप करने के लिये वन में भेजा, तब गुरु की परिक्रमा कर वन में तप के लिये रुद्र चले गये ।। २० ।।

सुबोधिनी - एवमिति । **आत्मभुवा** ब्रह्मणा । **गिरां पतिमिति** गुरुम् । प्रमाणं **बाढमिति** । अतः परं ममाऽपिसंमतमिति भावः, तथास्त्वित्यर्थः । **अमुं** ब्रह्माणम् । तपःकरणार्थं तपोवनं प्रविवेशेत्यर्थः । एवमाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकसृष्टयस्तामस्यो निरूपिताः ।। २० ।।

व्याख्या--ब्रह्मा ने रुद्र को कहा कि 'तपस्या करनी चाहिये' जिसका उनने अनुमोदन किया, और तप करने के लिये रुद्र को तपोवन में भेजा (ब्रह्मा की परिक्रमा कर तप के लिए तपोवन में प्रवेश किया) एवं पद से बताया हैं कि तामसी सृष्टि आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक यों तीन तरह की थी ।। २० ।।

आभास—अथ राजस्यः प्रकारान्तरेण सृष्टयः कृताः, ता निरूपयितुमुपक्रमते—

आभासार्थ—अनन्तर राजसी सृष्टि की दूसरे प्रकार से रचना की, उनके निरूपण का उपक्रम करते हैं—

श्लोक—अथाऽभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ।। २१ ।।

श्लोकार्थ—अनन्तर भगवान् की शक्ति वाले ब्रह्मा ने सृष्टि का ध्यान किया तो लोक परम्परा के कारण रूप दश पुत्र पैदा किये ।। २१ ।।

सुबोधिनी—अथाऽभिध्यायत इति । पूर्वं कर्तृत्वाभिमानेन सृष्टौ प्रवृत्तः । अहङ्कारस्य त्रैविध्यात्त्रिविधा सृष्टिरुत्पन्ना । तामसी पञ्चपर्वा, ततोऽहङ्कारे भगवध्द्याने शुद्धे चित्ते राजसी सृष्टिः, तदुभयनिर्वाहार्थं सात्त्विकी चेति । इदानीं पृष्टिमेव ध्यायति, कथमियं सृष्टिर्भवतीति । तदा सृष्टेर्भगवद्रूपत्वात् दशविधा सा सृष्टिरुत्पन्नेति निरूप्यते । नव त्रिगुणाः, एको गुणातीत उद्देशे पश्चान्निरूप्यते, विमर्शे प्रथमम् । तेषां चिन्तापरिहारकत्वेन दुःखनिवारकत्वात्पुत्रत्वम् । ननु ध्यानमात्रेण कथमेते पुत्रा उत्पन्नाः ? तत्राऽऽह—**भगवच्छक्तियुक्तस्येति** । या भगवतः सृज्या शक्तिः, सैव पुत्रत्वेन प्रकटीभूतेत्यर्थः । स्रष्टृशक्तिर्वा । तदा तयैव शक्त्या ते उत्पादिताः भगवच्छक्त्या उत्पादिते यो विशेषस्तमाह—**लोकसंतानहेतव इति** । लोकस्य जनस्याऽऽसंसारमनुवृत्तिः कल्पान्तपर्यन्तं संततिप्रवाहः । न हि प्रवाहो भगवच्छक्तिव्यतिरेकेणाऽन्येन कर्तुं शक्यते ।। २१ ।।

व्याख्या—पहले कर्तापन के अभिमान से सृष्टि रचना में प्रवृत्त हुए, अहङ्कार तीन तरह का होने से सृष्टि भी तीन प्रकार की उत्पन्न हुई—जिसमें पञ्च पर्व वाली तामसी सृष्टि हुई, पश्चात् अहङ्कार में भी भगवान् का ध्यान होने से चित्त शुद्ध हुआ, राजसी सृष्टि हुई, उन दोनों सृष्टियों के निर्वाह के लिये सात्विकी सृष्टि की ।

सृष्टि के बनाने का विचार करते हुए ध्यान आया कि यह सृष्टि कैसे बनेगी ? तब विचार आया कि सृष्टि भगवद्रूप है । अतः दश प्रकार की वह सृष्टि उत्पन्न हुई यों निरूपण करते हैं नव सृष्टि तीन गुण वाली हुई और एक गुणातीत सृष्टि बनी, वह उद्देश्य में पश्चात् कही जायेगी, विमर्श (विचार में) प्रथम कही जायेगी, वह सृष्टि चिन्ता हरने वाली तथा दुःखों को मिटाने वाली होने से पुत्र सृष्टि हुई । केवल ध्यान से ही ये पुत्र कैसे उत्पन्न हुए ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'भगवच्छक्ति युक्तस्य' ब्रह्मा भगवान् की उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है उससे युक्त थे अर्थात् ब्रह्मा में भगवान् की उत्पन्न करने वाली जो शक्ति है उससे युक्त थे अर्थात् ब्रह्मा में भगवान् की सृज्या शक्ति मौजूद थी, वह शक्ति ही स्वतः स्वयं पुत्र रूप से प्रकट हुई, अथवा सृष्ट शक्ति ही प्रादुर्भूत हुई, तब उस ही शक्ति ने पुत्रों को पैदा किया ।

भगवच्छक्ति ने उत्पन्न किये जिससे उनमें जो विशेषता हुई उसका वर्णन करते हैं कि 'लोक सन्तान् हेतव' ये सृज्य शक्ति रूप पुत्र लोक की परम्परा चलती रहे जिसके कारण हुए, अर्थात् यह संसार का प्रवाह कल्प पर्यन्त चलता रहे मध्य में रुके नहीं; ऐसी शक्ति तो भगवान् की सृज्या शक्ति में ही है, सृज्या शक्ति रूप ये पुत्र हैं ॥ २१ ॥

आभास—तानुद्देशतो गणयति—

आभासार्थ—उनकी निम्न श्लोक से उद्देश्य पूर्वक (नामों से) गणना करते हैं—

श्लोक—**मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।**
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलहः, क्रतु, भृगु, वसिष्ट, दक्ष और १० वें नारद ॥ २३ ॥

सुबोधिनी—मरीचिरिति । आद्यास्त्रयः सात्विकाः, मध्यमास्तामसाः, भृग्वादयस्त्रयो राजसाः । **दशमस्तत्रेति** भिन्नतया निरूपणं गुणातीतत्वख्यापनार्थम् ॥ २२ ॥

व्याख्या—पहले तीन (मरीचि, अत्रि और अङ्गिरस) सात्विक हैं, मध्य के तीन (पुलस्त्य, पुलहः और क्रतु) तामस हैं और भृगु, वसिष्ठ और दक्ष ये तीन राजस हैं, दसवां नारद गुणातीत होने से पृथक् कहा गया है ॥ २२ ॥

आभास—अवयवेभ्यस्तेषामुत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—इनकी उत्पत्ति जिन जिन अङ्गों से हुई है उनका वर्णन इन श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः ।**
प्राणाद्वसिष्ठः संजातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥ २३ ॥

पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—गोद से नारद, दक्ष स्वयंभू के अङ्गुष्ट से, प्राण से वसिष्ठ, त्वचा से भृगु, हस्त से क्रतु, नाभि से पुलह, कर्णों से पुलस्त्य ऋषि, मुख से अङ्गिरस, नेत्रों से अत्रि, मन से मरीचि उत्पन्न हुए ॥ २३-२४ ॥

सुबोधिनी—उत्सङ्गादिति । प्रीतिविषयत्वेनोत्सङ्गान्नारद उत्पादितो लाल्यमानः, भगवदीयत्वादङ्गुष्ठाद्दक्षः, स्वसमानत्वाय । **स्वयंभूव** इति । तस्याऽपि ब्रह्मण इवाऽभिमानः । अन्ये यथायथमुत्पन्ना बाह्याभ्यन्तरभेदेन । ज्ञाननिष्ठाः स्त्वान्तराः, मध्यस्था राजसाः, बाह्यास्तामसा इति । प्राणाद्दशविधाद्वसिष्ठः । **सम्यग्जात** इति अन्तपर्यन्तमुत्तमा एव तद्वंश्या निरूपिताः । **भृगु**-र्बाह्यः; **क्रतुरपि, पुलहोऽपि** । पुलस्त्यस्योभयवंशजनकत्वात्कर्णयोरित्युक्तम् । **ऋषिरिति** वेदसहभावात् दैत्यत्वव्यावृत्त्यर्थम्, अन्यथा मधुकैटभाविक कश्चिज्जायेत । **अङ्गिरा** वक्त्रमध्यात् । अक्षिमध्याद्त्रिः, तस्याऽप्युभयरूपसृष्टिजनकत्वम् । ज्ञानिनो योगिनः पुत्ररूपाश्च । मनसो द्वैरूप्यम् , **मरीचे**रप्युभयसृष्टिजनकत्वात् '**ययोरापूरितं जगत्**' इति वाक्यात् ।। २३ । २४ ।।

व्याख्या—प्रेम-पात्र होने से प्यार करते हुए नारद को गोद से उत्पन्न किया, दक्ष भगवदीय था इसलिये अपने समानता के लिये वह स्वयम्भू के अङ्गुष्ठ से उत्पन्न हुआ, उसको भी ब्रह्मा की तरह अभिमान था, दूसरे बाह्य और अभ्यन्तर भेद से जैसे थे वैसे उत्पन्न हुए और तामस ब्राह्य हुए, दशविध प्राण से वसिष्ठ इसी तरह अन्तपर्यन्त उसके वंश सर्वश्रेष्ठ ही उत्पन्न हुए, भृगु क्रतु और पुलह बाह्य, और पुलस्त्य दोनों प्रकार[1] के वंश का उत्पन्न कर्त्ता होने से दोनों कानों से उत्पन्न हुआ, पुलस्त्य को ऋषि इसलिये कहा है कि वह वेद का संबन्धी था और उसमें दैत्यत्व भी नहीं था, नहीं तो मधु केटभ (विष्णु के कान के मैल रूप) जैसा कोई उत्पन्न होता (अङ्गिरा) मुख से, नेत्र से अत्रि उसने भी ज्ञानी और योगी प्रकार के पुत्र प्रकट किये मरीचि ने भी दो प्रकार की सृष्टि की जिनसे समग्र जगत् भर गया ।। २३-२४ ।।

आभास—एवं दशपुत्रान्निरूप्य तेष्वधिष्ठितरूपेणनवाऽन्यान् सगुणानुत्पादितवानित्याह । तत्राऽग्रपश्चाद्भेदेन धर्माधर्मौ । तयोश्च कार्यं, मुक्तिः संसार इति धर्माधर्मा निरूपयति—

आभासार्थ—इसी तरह दस पुत्रों की उत्पत्ति का निरूपण करने के अनन्तर उनमें अधिष्ठित अन्य सगुण पुत्रों को उत्पन्न किया, उनका प्रकार बताते हैं, अग्रभाग से धर्म प्रकट किया जिसका कार्य मुक्ति और पृष्ठ भाग से अधर्म उत्पन्न किया जिसका कार्य संसार है—निम्न श्लोक में धर्म और अधर्म का निरूपण है—

श्लोक—धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम् ।
अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयंकरः ।। २५ ।।

१—पुलस्त्य के दो पुत्र अगस्त्य और विश्रवा थे-अगस्त्य से ऋषि वंश और विश्रवा से दैत्य वंश हुआ : इसलिये पुलस्त्य दोनों वंशों के उत्पादक कहे हैं ।

श्लोकार्थ—जिस धर्म में स्वयं नारायण प्रकट होते हैं उस धर्म की उत्पत्ति दक्षिण स्तन से हुई है अधर्म की उत्पत्ति पीठ से हुई जिस (अधर्म) से लोक को भयभीत करने वाली मृत्यु होती है ।। २५ ।।

सुबोधिनी—**धर्मः स्तनादिति । यत्र** धर्मे **नारायण** आविर्भूतः. स **दक्षिणस्तनात्** । स्वभावतो हृदयाद्धर्मः, तत्र प्रवृत्तिस्वभावो वामाद्धृदयात्, ज्ञानात्मा भगवदात्मकस्तु दक्षिणस्तनात् । **स्वयमि**त्यात्मत्वान्मोक्षरूपत्वम् । अधर्मे वैलक्षण्याभावात्सामान्यतः **पृष्ठत** इत्युक्तम् । तत्राऽऽविर्भूतो भगवदंशको नाशको मृत्युः । **लोकभयंकर** इति तस्याऽवान्तरकार्यम् । अनेन भयहेतुरेवाऽधर्म इति भयेनाऽधर्मपरिज्ञानम् ।। २५ ।।

व्याख्या—जिस धर्म में नारायण स्वयं प्रकट हुवे हैं (होते हैं) वह धर्म दक्षिण स्तन से प्रकट हुआ है, स्वभाव से ही धर्म हृदय से होता है, इसमें प्रवृत्ति स्वभाववाला धर्म वाम हृदय से और भगवदात्मक ज्ञानात्मा धर्म दक्षिण स्तन से प्रकट होता है धर्म के लिये (स्वयं) पद विशेषण रूप से देकर यह सूचित किया है कि धर्म आत्मा रूप होने से मोक्षदाता है ।

अधर्म में विशेष भेद न होने से सामान्य रूप से उसकी उत्पत्ति पृष्ठ (पीठ) से कही है उस (अधर्म) में भगवदंश रूप मृत्यु उत्पन्न हुई है, जो लोक भय करने वाली है यों अधर्म का धर्म से विपरीत अन्य कार्य (मृत्यु) है इससे अधर्म, भय का ही कारण है इसलिये अधर्म की पहचान भय से होती है ।। २५ ।।

आभास—षडन्ये—

आभासार्थ—छः दूसरे ।

श्लोक—**हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् ।**
आस्याद्वाक् सिन्धवो मेढ्रा न्निऋ॔तिः पाय्वपाश्रयः ।। २६ ।।

श्लोकार्थ—हृदय में से काम भ्रुवों से क्रोध निम्न अधर (नीचे के होंठ) से लोभ मुख से वाणी, लिङ्ग में से समुद्र, वायु से आधार हित मृत्यु उत्पन्न हुआ ।। २६ ।।

सुबोधिनी—**हृदि काम इत्यादि** । कामक्रोधलोभाः, वाक्समुद्रनिऋ॔तयश्च । तत्र निऋ॔तिः पाय्वपाश्रयः । स विसर्गात्मा न स्थिरस्वभावः, अतस्तस्याऽऽश्रयाभावः । कामादयः सृष्टिप्रलयात्मकाः, मर्यादात्मकास्तु वाक्समुद्रनिऋ॔तयः ।२६।

व्याख्या—काम क्रोध, लोभ, वाणी, समुद्र और मृत्यु ये छः उत्पन्न हुए। इनमें मृत्यु आधार रहित है, क्योंकि मल का कोई आधार न होने से स्वतः निकल गिर जाता है जिससे स्थिर नहीं रहता है। काम, क्रोध और लोभ सृष्टि प्रलय रूप हैं तथा वाणी समुद्र और मृत्यु मर्यादा रूप हैं ॥ २६ ॥

श्लोक—**छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः ।**
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—छाया से देवहूति का पति प्रभु (समर्थ) कर्दम उत्पन्न हुआ जगत् के रचयिता की देह से और मन से यह जगत् प्रकट हुआ है ॥ २७ ॥

सुबोधिनी—छायाया अपि प्रतिसृष्टि रूपत्वात् पुष्टयुपयोगिसृष्टि जनकत्वम्, अतोऽग्रिमप्रकरणे विस्तरेण वक्ष्यते। कर्दमस्य प्रसिद्धिरत एव भार्यया, तत्र स्त्रियाः प्राधान्यम्। तपो भगवदाराधनं च तत्र स्त्र्यर्थमेव, स्त्रियाश्च मुक्तिः, प्रकरणं च स्त्रियाः। एतत्सूचयितुमाह–देवहूत्याः पतिरिति दवाना हूतियया। यथा यजिर्देवमार्गे तथा स्त्री दैत्यपक्षके। प्रभुरिति। देवसृष्टावुत्पन्नत्वात् पश्चात्स्वातन्त्त्येम्, तां त्यक्ष्यतीयर्थः। एवं सृष्टिमुक्त्वोपसंहरति–मनस इति। चकाराच्छायातोऽपि। विश्वकृदिति पश्चात्पूर्ववदभिवान उत्पन्न इत्यर्थः। कारणदशायां योऽभिमानः, तदपेक्षया कार्यानन्तरमभिमानोऽनर्थहेतुरिति ॥ २७ ॥

व्याख्या—छाया सृष्टि का ही दूसरा रूप है किन्तु उसमें लौकिक देह का सम्बन्ध नहीं है अतः वह छाया पुष्टि के उपयोगी सृष्टि को उत्पन्न करनेवाली है अतः आगे के प्रकरण में विस्तार से कहेंगे।

कारिका—**स्वप्नश्छाया तमश्चैव माया अविद्या भ्रमस्तथा ॥**
तिरोभूतेन हरिणा सृज्यन्ते प्रतिसर्गजा ॥ १ ॥

कारिकार्थ—स्वप्न, छाया, तम, माया, अविद्या तथा भ्रम को तिरोभूत हरिसे दूसरी सृष्टि में उत्पन्न हुवे बताये हैं।

व्याख्या—इस कारण से ही कर्दम की प्रसिद्धि स्त्री के कारण हुई है इस प्रकरण में स्त्री की प्रधानता है इसलिये वहां तपस्या भगवान् की आराधना स्त्री के लिये ही की गई है और स्त्री की मुक्ति की है प्रकरण भी स्त्री का है यह सूचित करने के लिये कहा है (देवहूत्याः पतिः) कर्दम को इसका पति कहा है यह नाम इसलिये पड़ा है कि इसने देवों का आमन्त्रण किया था अर्थात् देवों को बुलाया है।

'यथा यजिर्देवमार्गे तथा स्त्री दैत्यपक्षवे' जैसे देव पक्ष में यज्ञ पूजन है वैसे दैत्यों के पक्ष में स्त्री होती है अर्थात् देवों के बुलाने का साधन यज्ञ (पूजन) है वैसे दैत्यों को बुलाने का यद्यपि साधन स्त्री है तो भी देवहूति में दैत्यांश का अभाव होने से वह देवों को ही बुलाने वाली है न कि दैत्यों को 'कर्दम' के लिये (प्रभु) विशेषण देकर यह सूचित किया है कि आपका जन्म देव सृष्टि में हुआ है जिससे आप बाद में स्त्री बन्धन से छूट कर स्वतन्त्र होंगे, उसको (स्त्री को) छोड़ देंगे। इस प्रकार सृष्टि का वर्णन कर उपसंहार करते हैं 'मनसः' मन से (च) पद से यह बताया है कि छाया से भी सृष्टि होती है। 'विम्बकृत' इस पद से सूचित किया है कि फिर पूर्व की तरह अभिमान उत्पन्न हुआ, किन्तु जो अभिमान होता है उससे भी विशेष जो अहंकार कार्य दशा में उत्पन्न होता है वह अनर्थ का कारण बनता है ॥ २७ ॥

आभास—अस्याः सृष्टेः प्रतिच्छायारूपां सृष्टिमन्यां निरूपयितुमुपाख्यानान्तर-
मारभते—

आभासार्थ—इस सृष्टि की प्रतिच्छाया रूप दूसरी सृष्टि का निरूपण करने के लिये उपाख्यान प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—**वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः! सकाम इति नः श्रुतम् ॥ २८ ॥**

श्लोकार्थ—हे जितेन्द्रिय ! स्वयं (ब्रह्मा) ने कामाविष्ठ होकर मन का हरण करने वाली कोमलाङ्गी तथा कामना रहित अपनी वाणी रूप कन्या को चाहा यों सुना है ॥ २८ ॥

कारिका—**अविद्या प्रथमं सृष्टा अभिमानस्तथोद्गतः ।
सृष्टौ च सर्वे पुरुषाः, वागेका स्त्री सरस्वती ॥ १ ॥**

**लौकिकी साऽत्रविज्ञेया सा वेदऽपि तिरोहिता ।
तिरोधानप्रवृत्त्यर्थं चरित्रमिदमुच्यते ॥ २ ॥**

**सत्यसृष्टौ प्रवेशे हि तिरोभूता न सा भवेत् ।
यज्ञात्मकोऽयं ब्रह्माऽत्र, सृष्टयाधिक्येच्छया पुनः ॥ ३ ॥**

**लौकिकोमपि वाणीं स गृह्णामीति मनो दधे ।
ततो लौकिकभूयिष्ठं जगज्जायेत निश्चितम् ॥ ४ ॥**

कारिका - तन्न च्छन् वैदिकाः सृष्टाः, त्यागो भेदेन रूपितः ।
दैत्यसृष्टौ, ततः सर्वे यज्ञा वेदाश्च लौकिकाः ॥ ५ ॥

'न त विदाथ' वाक्येन ते निन्द्यन्ते सदा श्रुतौ ।
लौकिको लौकिकेष्वेव सकामा, न तु वैदिके ॥ ६ ॥

उत्तमस्य तु हीनत्वं जायते शीघ्रमेव हि ।
नाऽधमस्योत्तमत्वंहि कदाचिदपि जायते ॥ ७ ॥

दयासृष्टिर्द्वितीयेति दुहितृत्वं न चाऽन्यथा ।
अधर्मोऽप्ययमेवाऽत्र हीनकार्येषु या रतिः ।
भ्रातृणां च विवाहोऽग्रे सृष्टिभेदे निरूप्यते ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—पहले अविद्या उत्पन्न की वैसे अभिमान भी उद्भूत हुआ, तब सृष्टि में सर्व पुरुष थे एक ही सरस्वती वाणी स्त्री थो ॥ १ ॥

यहां इस उपाख्यान में वह सरस्वती लौकिकी अर्थात् नवीन गद्य पद्यात्मक की अधिष्ठात्री स्वरूप वाली जाननी, वह वेद में भी घुस गई । कैसे वेद में घुसी तिरोहित हो गई वह चरित्र, यहां वर्णन किया जाता है ॥ २ ॥

यदि सत्य सृष्टि में प्रविष्ट होती तो तिरोहित न होती यह यज्ञायज्ञ स्वरूप ब्रह्मा है उसने फिर यहां अधिक सृष्टि करने की इच्छा की ॥ ३ ॥

इसलिये "मैं लौकिकी वाणी को भी ग्रहण करता हूँ" यों उसका मन करने लगा, उससे निश्चय है कि विशेष लौकिक जगत् उत्पन्न होगा ॥ ४ ॥

ब्रह्मा ने जो उस समय पुत्र उत्पन्न किये थे वे वैदिक थे इस कारण से वे सृष्टि को नहीं चाहते थे अतः उस वाणी का त्याग भेद से (दूसरे प्रकार से) कहा है दैत्य सृष्टि में सब यज्ञ एवं वेद लौकिक हैं ॥ ५ ॥

इसी कारण सदा श्रुति 'न तं विदाथ' इस वचन से उनकी निन्दा करती है, लौकिकी वाणी लौकिक में ही सकामा (काम वाली) होती है न कि वैदिको में काम वाली होती है ॥ ६ ॥

उत्तम तो शीघ्र ही हीन बन जाता है, किन्तु अधम उत्तम कभी भी नहीं होता है ॥ ७ ॥

यह दूसरी सृष्टि दया सृष्टि है इसलिये इसको पुत्री कही है, किन्तु जैसे पुत्री उत्पन्न होती है वैसे उत्पन्न पुत्री यह नहीं है यहां अधर्म इसलिये कहा है कि हीन कार्यों में रति (इच्छा)[1] हुई है आगे भाई बहिन का विवाह दूसरी सृष्टि में कहा है । सृष्टि भेद से यह चरित्र भेद समझना चाहिये ॥ ८ ॥

१— यह वाणी स्वरूप से भिन्न प्रकार की है इसलिये यहां अधर्म होता है भगवान् ने बुद्धावतार में वेद की निन्दा की है वह लौकिक वेद की है दया की स्थापना भी लौकिक तरह की है।

सुबोधिनी—वाचं सरस्वती लौकिकीम् । तन्वीं कोमलाङ्गी सुन्दरीम् । गद्यपद्याभिरूपा हि लौकिक्येव सरस्वती । स्वयंभूरिति कुलादिमर्यादाभाव: सूचित: । मनो हरन्तीमिति कामनायां हेतु: । अहङ्काराविष्टत्वान्मनसस्तदधीनत्वम् ।। २८ ।।

व्याख्या— 'वाचं सरस्वतीं लौकिकी' यहाँ 'वाणी' सरस्वती लौकिक है जिससे 'तन्वी' कोमल अङ्ग वाली सुन्दरी भी है यह लौकिक सरस्वती गद्य पद्य रूपा है इसलिये उन गद्य- पद्यों के पढ़ने से आनन्द देती है, स्वयंभू: इस पद से यह भाव बताया है कि इस को कुलादि की मयार्दा नहीं है 'मनो रन्ती' इस पद से कामना होने का कारण प्रकट किया है, अहङ्कारयुक्त होने से अर्थात् अहङ्कारी होने से मन उसके (काम के) आधीन था ।। २८ ।।

श्लोक—**तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुता: ।**
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ।। २९ ।।

श्लोकार्थ—मरीचि जिन में मुख्य है ऐसे मुनि पुत्रों ने पिताकी बुद्धि अधर्म में गई जानकर विश्वास पूर्वक अच्छी तरह समझाने लगे ।। २९ ।।

सुबोधिनी—तमधर्म इति । पितरं ब्रह्माणम् । सुता: । मरीचिर्मुख्यो येषाम् । मुनय इति मननेन साक्षादधर्महेतुत्वमस्या: सृष्टेर्नास्तीति ज्ञातवन्त: । विश्रम्भात् विश्वासाद्धाष्टर्येन । प्रत्यबोधयन्निति । यथा ब्रह्मणा पूर्वमेते बोधिता:, तमेव बोधं ब्रह्माणं प्रति बोधितवन्त: । वाचि प्रवृत्तिर्न कर्तव्या, शिष्टै: पूर्वजैरकृतत्वादपकीर्तिजनकत्वाज्जगन्नाशहेतुत्वाच्च ।। २९ ।।

व्याख्या—पिता को अर्थात् ब्रह्मा को पुत्र जिनमें मरीचि मुनि मुख्य हैं वे मुनि थे इसलिये उन्होंने मनन करने से जान लिया था कि इस सृष्टि का हेतु (कारण) साक्षात् अधर्म नहीं है अत: पिता को ज्ञान देने लगे, पुत्र होकर पिता को समझाना ढिठाई है, जैसे ब्रह्मा ने पहले इनको समझाया था वह ही ज्ञान ब्रह्मा को देने लगे, कि वाणी सरस्वती जो पुत्री वत् है उसमें मन नहीं लगाना पहले जो बड़े अपने शिष्ट पुरुष हो गये हैं उन्होंने यों नहीं किया क्योंकि यह प्रवृत्ति अपयश करनेवाली है यों इस प्रवृत्ति से जगत् की मर्यादा नष्ट हो जायेगी ।। २९ ।।

आभास—तत्र प्रथमं हेतुं साधयति—

आभासार्थ—पहला कारण इस श्लोक में सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**नैतत्पूर्वै: कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चाऽपरे ।**
यस्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याऽङ्गजं प्रभो !।। ३० ।।

श्लोकार्थ—हे समर्थ ! ऐसा कर्म पहले समय में पैदा हुवे बड़ों ने नहीं किये और आगे होंगे वे भी नहीं करेंगे जो आप कन्या से करना चाहते हैं, किन्तु समर्थ होते हुए भी काम को नहीं रोकते हैं ॥ ३० ॥

सुबोधिनी—नैतत्पूर्वैः कृतमिति। अत्र जगति, एतदेतादृशं कर्म, पूर्वैः सृष्टयादिप्रवर्तकैः कदापि पूर्वं न कृतम्, नन्वेतादृश एवाऽऽचारोऽतः परं प्रवर्तनीय इत्याशङ्कयाऽऽहु:-न करिष्यन्ति चापर इति। तस्मादयमनाचारः । तं त्वमेव करोषीत्याह-यत्त्वमिति गच्छेरिति अभीष्टे लिङ् । यत्त्वं स्वेच्छया तां गच्छसीत्यर्थः । ननु मनस्तया हृतम्, तां तज्जः कामो हरति, मम को दोष इति चेत्तत्राऽऽह-अनिगृह्याऽङ्गजमिति । अङ्गजः कामः स्वकीयः, स एव निगृह्यो न तु प्रवर्तनीयः, तथा सत्यधर्मः स्यादिति भावः । प्रभो इति संबोधनं तथा सामर्थ्यं सूचयति । अनेनाऽधर्मजनकत्वमपि सूचितम् ॥ ३० ॥

व्याख्या—इस जगत् में इस प्रकार का कार्य आगे की सृष्टि आदि के प्रवर्त्तकों ने कभी भी पूर्व में नहीं किया है, इसके बाद इसी प्रकार का आचार (नीति) प्रारम्भ करना है, ऐसी शङ्का हो तो इसके उत्तर में कहते हैं कि दूसरे जो इसके बाद में होंगे वे भी नहीं करेंगे इससे सिद्ध है कि यह अनाचार है उस अनाचार को आप ही करते हैं जो आप स्वेच्छा से पुत्री के पास व्यभिचारार्थ जा रहे हैं, यदि कहो कि उसने मन हर लिया है मेरा क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आपने समर्थ होकर भी काम को अपने वश में क्यों नहीं किया अर्थात् मन को क्यों नहीं रोका. उसको न रोक कर उसको प्रवृत्त करना अधर्म है, इसलिये अधर्म प्रवर्त्तक भी कहे जायेंगे यों सूचित किया है ॥ ३० ॥

आभास—द्वितीयं हेतुं विशदयति—

आभासार्थ इस श्लोक में दूसरा कारण विशद (साफ कर) समझाते हैं—

श्लोक—तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो !।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—हे जगद्गुरु ! जिनका आचरण देख कर लोक स्वकल्याण के लिये वह आचारण करते हैं उन तेजस्वी पुरुषों में भी यह (कार्य) प्रशंसा का पात्र नहीं होता है ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी—तेजीयसामिति । स्वतन्त्रेणैवैतत्कर्तुं शक्यम्, न परतन्त्रेण । न हि तेजस्वित्वमात्रेण स्वातन्त्र्यं भवति, यमादिदण्डः परं निवार्यते; तथाप्यपकीर्तिर्भवत्येव, ततोऽपि तेजस्वित्वेऽपि कीर्तिर्न भवत्येव । तदाह—न सुश्लोक्यमिति । किञ्च, त्वं जगद्गुरुः सर्वोपदेष्टा, त्वद्वाक्याज्ज्ञानमन्यस्य तत्र वाक्ये जनकं ज्ञानं तव स्वाभाविकं चेन्न भवेत्, काव्यवदप्रामाण्यमेव स्यात्; उत्प्रेक्षाजनितत्वात् । सत्यज्ञानस्य जनकत्वे, एवं तवाऽऽचारो न स्यादिति । किञ्च । यथा तद्वाक्यं प्रमाणं तथा तवाऽऽचारोऽपि । ततस्त्वदाचारानुसारेण प्रवर्तमाना अधर्मेण नष्टा एव भवेयुः । अतस्तेषामपि रक्षार्थं नैवं कर्तव्यमित्याह—यद्वृत्तमिति । वरदानवत् क्षेमदानेऽपि सर्वदानं निर्वहेदिति । यथा त एव क्षेमे स्वयमेव समर्था भवन्ति, तथोपायः कर्तव्यः ।। ३१ ।।

व्याख्या—स्वतन्त्र जो है वह यों कर सकता है परतन्त्र नहीं कर सकता है, तेजस्वी पद से केवल स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है परन्तु यमादि का दण्ड हटाया जाता है तो भी अपयश तो होता ही है, तेजस्वी होते हुए भी यश नहीं होता है किन्तु अपयश ही होता है ।

किन्तु आप तो जगद्गुरु ही सबको शिक्षा देते हो आपके ही उपदेश वाक्यों से दूसरों को ज्ञान प्राप्त होता है आपके वचन से जो ज्ञान (उत्पन्न) होता है । वह यदि स्वाभाविक नहीं होगा तो काव्य की तरह अप्रमाणिक ही हो जायेगा क्योंकि वह उत्प्रेक्षा से उत्पन्न हुआ है, यदि आपका वाक्य सत्य हो के सत्यज्ञान का जनक होवे तो आपका आचरण इस प्रकार का नहीं होना चाहिये ।

जैसे आपका वाक्य प्रमाण है वैसे ही आपका आचरण भी प्रमाण है इसलिये आपके इस आचरण को देख लोक तदनुसार वर्तन करने से अधर्मी होकर नष्ट हो जायेंगे अतः उनकी रक्षा के लिये भी आपको यों नहीं करना चाहिये इसलिये 'यद्वृत्त' उत्तरार्द्ध में कहा है, वरदान की तरह कल्याण दान करने से ही सर्वदान सिद्ध हो जाते हैं, इस कारण से आपको वह उपाय (मार्ग) दिखाना चाहिये जिस पर स्वयं चल कर क्षेम (कल्याण) प्राप्त करने में स्वतः लोक समर्थ हो जावें ।। ३१ ।।

आभास एवं स्वतः सामर्थ्यतश्च न कर्तव्यमिति ब्रह्माणं बोधयित्वा, भगवत्प्रेरणया क्रियत इत्याशङ्क्य भगवन्तं प्रार्थयन्ते –

आभासार्थ—मरीचि आदि पुत्रों ने अपने पिता ब्रह्मा को इस प्रकार बोध दिया कि स्वतः अथवा अपने सामर्थ्य से भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, यदि भगवत् प्रेरणा से करता हूँ यों कहें तो–भगवान् को प्रार्थना करते हैं—

श्लोक– तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा ।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ—जिसने अपने भीतर-स्थित इस जगत् को अपने तेज से प्रकाशित (प्रकट) किया वह प्रभु ही धर्म की रक्षा करने के योग्य है अतः उनको प्रणाम है ।। ३२ ।।

सुबोधिनी—तस्मै नम इति । यद्यन्तर्यामी भगवान् प्रेरयेत्, तदैवाऽयं निवर्तेत । तेनापि प्रेरणमवश्यं कर्त्तव्यम् । इदं हि जगद्भगवता स्वस्मिन् स्थितं प्रकाशितम् । तदपि तेजसा, न तु तमसा दैत्यवत् । तस्य दैत्यवत् । तस्य स्थितिर्धर्मेणैव, तस्याऽधर्मेण नाश एव । तथा सति 'उत्पन्न एव यो हतः' इतिवदुत्पन्नमात्रमेव जगन्नष्टं भवेत् ततोऽनुत्पाद एव श्रेष्ठः स्यात् । अथ यदि सत्यसङ्कल्पो जगत् कृतार्थतायै कृतवान्, तदा स एव जगत्कर्ता धर्ममपि पातुमर्हति ।। ३२ ।।

व्याख्या—ब्रह्मा इस कर्म से तब रुकेंगे जब अन्तर्यामी प्रभु उसको ऐसी प्रेरणा करेंगे उस भगवान् को अवश्य इसकी प्रेरणा करनी चाहिये क्योंकि यह जगत् अपने में स्थित था उसको भगवान् ने अपने तेज से प्रकाशित किया है न कि दैत्यों की तरह अन्धकार से प्रकट किया है, अतः ऐसे जगत् की स्थिति धर्म से ही होगी, अधर्म से तो नाश ही होगा, यदि अधर्म होगा तो 'उत्पतन्नेवयोहतः' पैदा होते ही वह मरा जिस की तरह पैदा होते ही जगत् नाश हो जावे, इससे पैदा न करना ही अच्छा है जो सत्य सङ्कल्प प्रभु ने जगत् कृतार्थता के लिये रचा है तब तो वह ही जगत् कर्त्ता धर्म की रक्षा करने के लिए भी योग्य है अर्थात् उसको धर्म की भी रक्षा करनी चाहिये ।।३२।।

आभास—एवं प्रकारत्रयेण ब्रह्माणं स्तुत्वा, क्रियया अपि प्रतिबन्धका इव पुरः स्थिताः । ततो वाचा क्रियया च रुद्धो मानसभावस्तेन त्यक्त इत्याह—

आभासार्थ—यों तीन तरह से ब्रह्मा की स्तुति कर क्रिया से भी उसको इस कर्म में रुकावट डालने के लिये इस (ब्रह्मा) के आगे खड़े हो गये जब इस तरह की वाणी तथा क्रिया से ब्रह्मा रुका और कर्म न कर सका तब मानसभाव का त्याग किया, जिसका वर्णन इस श्लोक से करते हैं—

श्लोक **स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् ।**
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ।।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः ।। ३३ ।।

श्लोकार्थ—वह प्रजापतिओं का पति (ब्रह्मा) अपने पुत्र प्रजापतिओं को अपने सामने खड़ा देखकर कर्म करते हुए जब शरमाया तब उसने अपनी देह का त्याग किया, वह देह अधर्म में प्रवृत्त होने से घोर थी अतः उसने (शरम ने) कोहरे का रूप धारण कर लिया और दिशाओं में रहने लगा ।। ३३ ।।

सुबोधिनी—स इत्थमिति । गृणत इति निवृत्तिपर्यन्तं स्तोत्रं कृतवन्त इत्यर्थः । सृष्टौ चिन्ता न कर्तव्येति ज्ञापयितुमाह–प्रजापतीनिति । प्रजापतिपतिरिति तेषामपि पालनमावश्यकम् । तन्वमिति तनोः सकाशाज्जात रूपम् । लज्जया निवृत्तिर्लोक इति सूचयितुं व्रीडित इत्युक्तम् । सा त्यक्ता तनुः प्रतिसर्गरूपत्वात् नीहाररूपा जाता, तां दिशः श्रोत्राभिमानिन्यो देवता गृहीतवत्यः । वाग्बोधिकास्ताः सर्वत्र वाचा सह तां योजयिष्यन्ति, अत एव 'न तं विदाथ' इति श्रुतिः । अत एव श्रुत्यर्थविदस्तामेव तनुं नीहारमिति विदुः ।। ३३ ।।

व्याख्या—'गृणतः' ब्रह्मा की तब तक (वह पुत्र) स्तुति करता ही रहा जब तक इस कर्म से (ब्रह्मा) रुका नहीं था, कर्दमादि पुत्रों को प्रजापति कह कर यह सूचित किया है कि सृष्टि की रचना कैसी होगी ? यह चिन्ता न करो क्योंकि तुम भी प्रजापति हो इसलिये प्रजा रच सकोगे इन प्रजापति पुत्रों का पालन भी आवश्यक है यह ज्ञान कराने के लिये ब्रह्मा प्रजापतिओं का पति कहा गया है 'तन्व' पद का आशय है कि यह रूप देह से ही उत्पन्न हुआ है 'व्रीड़ितः' कहने का भावार्थ है कि लोक में निन्दित कर्म (वस्तु) का त्याग लज्जा के कारण ही करना पड़ता है उस शरीर का त्याग किया तो उस शरीर ने दूसरी देह धारण कर ली जिसको नीहार (कुहरा) कहते हैं, उस (नीहार) को श्रोत्रों की अभिमानी देवता दिशाओं ने ग्रहण कर लिया, दिशाओं ने नीहार को क्यों ग्रहण किया ? जिसका भावार्थ बताते हैं कि 'वाग्बोधिकास्ताः सर्वत्र वाचासहतां योजयिष्यन्ति' अतएव 'न तं विदाथ' इति श्रुतिः अतएव 'श्रुत्यर्थं विदस्तामेव तनुं नीहार मिति विदुः' अर्थ वाणी से ज्ञान कराने वाली वे दिशाओं के अधिष्ठात्रा देवताओं सर्वत्र अधर्म की बुद्धि को उसके साथ मिलाप करायेंगे इसलिये ही भगवती श्रुति ने कहा है कि 'न तं विदाथ' उसको आप नहीं जानते हैं, इसलिये श्रुति के तात्पर्य को जानने वाले उस शरीर को ही नीहार कहते हैं वा जानते हैं ।। ३३ ।।

आभास—एवं सृष्टिप्रसङ्गेन प्रतिसृष्टिमुक्त्वा, राजसे भेदद्वयं निरूप्य, सात्त्विके भेदत्रयं निरूपयति–कदाचिदित्यादि यावदध्यायसमाप्ति तत्र प्रथममाध्यात्मिकान् वेदान् जगज्जननार्थं ध्यानेन दृष्टवान्, तदा ते सृष्ट्यर्थं भगवदिच्छया प्रकटीभूताः । तदाह—

आभासार्थ— यों सृष्टि का प्रसंग होने से प्रति सृष्टि को भी कह कर राजस सृष्टि में दो भेद हैं यों बताकर सात्विक सृष्टि में तीन भेद हैं यों 'कदाचित्' श्लोक से लेकर अध्याय की समाप्ति तक बताते हैं ।

कारिका – आध्यात्मिकास्तु श्रुतयः शब्दब्रह्म तु दैविकम् ।
धर्मप्रवर्तकाः सर्वे भूतानि स्मरणात्पुनः ।। १ ।।

कारिकार्थ—श्रुतियां अध्यात्मिक है शब्द ब्रह्म आधि दैविक है और धर्म प्रचार करनेवाले वेदार्थ स्मरण अर्थात वेदों के अक्षरों के अर्थ का ही स्मरण कराने वाले वा करने वाले आधिभौतिक वेद रूप हैं कारण कि वेद के तात्त्विक आधिदैविक स्वरूप को नहीं जानते हैं ।। १ ।।

वहां पहले जगत् की उत्पत्ति के लिये आध्यात्मिक वेदों का ध्यान किया, अर्थात् ध्यान से वेदों के आध्यात्मिक रूप को देखा, तब वे वेद सृष्टि की रक्षा के लिये भगवदिच्छा से प्रकट हुए, यों इस श्लोक में कहते है ।

श्लोक—कदाचिद्ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात् ।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा ।। ३४ ।।

श्लोकार्थ—किसो समय ब्रह्मा यों ध्यान करने लगा कि इकट्ठे हुए इन लोकों को आगे की तरह मैं कैसे रचूंगा ? तब उसके चारों मुखों से वेद प्रकट हुए ।। ३४ ।।

सुबोधिनी—कदाचिदिति । **स्रष्टुर्विधातु** । **ध्यायत** इति प्रथमतो ध्याने प्रकटीभूताः, पश्चान्मुखात् । **कदाचिदिति** न सर्वकल्पेषु वेदोद्गमः । **कथं स्रक्ष्यामीति** ब्रह्मणश्चिन्ता वेदोद्गमे हेतुः । ध्यानमेवाऽऽह–**कथं स्रक्ष्यामिति** । **समवेतान्** मिलितान् । मिलितानां विवेचनमसाधारणलक्षणैरेव भवति । यथा स्थाण्वादयः पुरुषादिभ्यो वक्रकोटरःदिभिर्विविच्यन्ते, तथा श्रुत्युक्तलक्षणैः समवेता विविच्यन्त इति वेदोद्गमः ।। ३४ ।।

व्याख्या—'स्रष्टु' ब्रह्मा के (ध्यायतः) ध्यान करते हुये ध्यान में ही पहले वेद दर्शन हुए, अनंतर चारों मुखों से प्रकटे 'कदाचित' पद का तात्पर्य है कि वेद प्रत्येककल्प में तो प्रकट नहीं होते किन्तु कौन से कल्प में कब प्रकटे वह भी कहा नहीं जाता है। वेद के प्रकट हो जाने का कारण ब्रह्मा को यह चिन्ता है कि सृष्टि कैसे रची जायगी ? तब ध्यान करने लगा कि सृष्टि कैसे रचू ? सृष्टि में तो सब भूत पदार्थ मिले हुए हैं इनको सुलझाना तो असाधारण गुणों से ही हो सकता है जैसे थम्भे आदि वस्तु का पुरुष आदि तथा टेढ़े कोटरों से पृथक् विवेचन करना पड़तो है, वैसे ही श्रुति में कहे हुए लक्षणों से इन मिले हुए पदार्थों का विवेचन किया जा सकेगा इस लिये वेद उत्पन्न हुए है ।। ३४ ।।

आभास—वेदार्थमपि चिन्तया अङ्गादिभिः सहोत्पादितवानित्याह—

आभासार्थ—ब्रह्मा ने ध्यान कर, अंगों सहित वेदों को अर्थ सहित प्रकट किया यों निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह ।
धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाऽऽश्रमवृत्तयः ।। ३५ ।।

श्लोकार्थ—नय सहित उपवेद, एवं होम करने वाले चारों के कर्म का तन्त्र (विस्तार) धर्म के चार पाद तथा चार आश्रमों की वृत्तियाँ भी मुख से उत्पन्न हुई ।। ३५ ।।

सुबोधिनी—चातुर्होत्रमिति । चत्वारो होतारो यत्र । ब्रह्मा होताऽध्वर्युरुग्दाता एते चत्वारो होमसाधनम्, अनुज्ञाशस्त्रहोमस्तोत्रैस्तत्कर्म चातुर्होत्रम् । तन्त्रमिति विस्तारः । उपवेदा आयुर्वेदादयः । नया नीतिशास्त्राणि, पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि वा धर्मस्य चत्वारः पादाः, सत्यं तपो दया दानमिति । आश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां प्रत्येकं चतस्रो वृत्तयः । चतुर्मुखादाग्निति सर्वत्राऽनुषङ्ग ।। ३५ ।।

व्याख्या—यज्ञ कर्म में (१) ब्रह्मा (२) होता (३) अध्वर्यू और (४) उग्दता ये चार होम करने वाले होते हैं अतः ये होम के साधन हैं ।

(१) अनुमति (अनुज्ञा) (२) शस्त्र (३) होम, और (४) स्तोत्र ये चातुहोंम कर्म हैं तन्त्र पद का तात्पर्य है उस (कर्म) का विस्तार ।

आयुर्वेदादि उपवेद हैं 'नय' पद से नीति शास्त्र अथवा पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र, धर्म के सत्य, तप, दया और दान ये चार पाद हैं चार आश्रमों की चार वृत्तियां हैं ये सर्व चार मुखों से उत्पन्न हुए हैं इसलिये इनका सबसे सम्बन्ध सर्वत्र सदैव ही है ।। ३५ ।।

आभास—प्रमादाद्वेदनिर्गमने नियमेनेष्टं न सिद्धयतीत्यवश्यं ब्रह्मणैव, हृदये प्रकटा वेदाः, मुखेन निर्मिता इति वक्तव्यम् । तत्रापि पूर्वादिक्रमेणाऽन्येन वा वेदाः सृष्टा इति वक्तव्यम् । तथा सति वेदादीनां क्रमः सिद्धचेत, अन्यथा कर्मापेक्षया क्रमकल्पनायां यजुर्वेदः प्रथमो भवेत्, प्रधानपरे वा ब्रह्मणो वेदोऽथर्वाङ्गिरसात्मकः प्रथम; स्यात् । अतः क्रमाध्ययनमन्यथा स्यात् । तथोपवेदादीनाम् । अतो विदुरः क्रमं पृच्छति—

आभासार्थ—'प्रमादाद्वेद' यदि वेद कदाचित् प्रमाद से ही उत्पन्न हुए होते तो उनमें कहे हुए नियमों पर चलने से इष्ट फल की प्राप्ति न होती । वह तो होती ही है, अतः ब्रह्मा ने ही अन्तःकरण में स्फुरित वेदों को मुख से बाहर निकाला यों कहना चाहिये, इस पर भी इस (ब्रह्मा) ने

पहले क्रम से व अन्य क्रम से वेद रचे यों भी कहना चाहिये, इस प्रकार कहने से वेदों का क्रम सिद्ध हो, अन्यथा क्रमानुसार क्रम की कल्पना करने से यजुर्वेद पहला होगा।

यदि कर्म करानेवाले प्रधान की मुख्यता से क्रम की कल्पना की जावेगी तो ऋत्विक का अथर्वांगिरस वेद प्रथम होगा, इससे क्रम का अन्यथा हो जायेगा, वैसे उपवेदादि का अध्ययन भी अन्य प्रकार से हो जायेगा इस कारण से विदुर, वेदों का क्रम निम्न श्लोक से पूछता हैं—

श्लोक—**विदुर उवाच-स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन्मुखतोऽसृजत् ।**
यद्यद्येनाऽसृजद्देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन! ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—विदुर कहने लगा कि ब्रह्मा निश्चय से विश्व रचना कर्त्ताओं का स्वामी है। भक्त वेद आदि सर्व उसने मुख से उत्पन्न किये, हे तपोधन! देव (ब्रह्मा) ने जिससे जो जो उत्पन्न किया वह सर्व मुझे कहिये ॥ ३६ ॥

सुबोधिनी— **स वै विश्वसृजामीश इति** । मुखतोऽसृजदित्यन्तमनुवादः । तत्र हेतुरुक्तः । **यद्यदिति** प्रश्नविषयः । देवत्वात्तत्प्रतिपादनत्वाच्छ्रुतेः स्वार्थं तत्सर्गं इति प्रयोजनं दोषाभावश्च निरूपितौ। स्वात्मानं प्रति तदुपदेशाभावमाशङ्कयाऽऽह-**मे इति** । **तपोधनेति** संबोधनं जन्मकर्मादिपरिज्ञापकम्, ततः सर्वज्ञत्वान्मां प्रत्यपि वक्ष्यतीति ॥३६॥

व्याख्या- श्लोक के पूर्वार्द्ध 'स वै विश्वसृजामीश इति' । मुखतोऽसृजत्' तक अनुवाद है अर्थात् मैत्रेयजी ने जो कहा है वह ही कह के बताया है। इस अनुवाद में हेतु कहा है। विदुरजी ने क्या पूछा है? यह 'यद्यत' पद से कहा है ब्रह्मा देव है, वेद ने उसका प्रतिपादन किया है जिसका सारांश है कि इसमें सृष्टि रचना प्रयोजन है और यह निर्दोष है यों बताया है।

विदुर ने 'मे' पद से यह स्पष्ट किया है कि किसको बताऊं कदाचित् ऐसी ब्रह्मा के मन में शङ्का होती हो, तो कह दिया कि [1]मुझे बताओ इस तपोधन विशेषण से क्या बताया है। जन्म कर्म आदि का आप को पूर्ण ज्ञान है इससे सर्वज्ञ होने से मुझे भी कहोगे ॥३६॥

आभास—वेदानां क्रमं मुखक्रमं चाऽऽह—

आभासार्थ—इस श्लोक में वेदों का क्रम तथा जिस मुख से जो वेद प्रकटा वह क्रम से कहते हैं—

श्लोक-**मैत्रेय उवाच-ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।**
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ॥ ३७ ॥

---

१. विदुर जी भी देव हैं अतः उसको बताने में दोष नहीं।

श्लोकार्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चार वेदों को एवं शस्त्रमिज्या, स्तुति स्तोम और प्रायश्चित इनको पूर्व आदि मुख से क्रम पूर्वक प्रकट किया ॥३७॥

सुबोधिनी—देवतां, द्रव्यसंबन्धः, देवतास्तोत्रम्, यागाभ्यनुज्ञा चेति यागानामर्थतः क्रमः। पूर्वादिमुखक्रमस्तु पाठार्थमुपयुज्यते। तेषां चतुर्णां विनियोगमाह—**शस्त्रमिति**। शस्त्रं होतुः; **इज्या** यजिरध्वर्योः, यजुर्वेदकृत्यम्; **स्तुतिर्देवताया** उद्गातुः; सामवेदकृत्यम्। **प्रायश्चित्तं** ब्रह्मण इति, **'प्रायश्चित्ते ब्रह्माणम्'** इत्याश्वलायनसूत्रात्, एवं सप्रयोजनान् वेदान् पूर्वादिमुखैः सृष्टवा—नित्यर्थः ॥३७॥

व्याख्या—देवता, द्रव्य का सम्बन्ध, देवता का स्तोत्र और यज्ञ करने की अनुमतियों यज्ञों का अर्थानुरूप क्रम है पूर्व आदि मुख क्रम तो पाठ के करने के लिये उपयोग में लाया जाता है, उन चारों का किस तरह उपयोग करना वह उत्तरार्द्ध में इस प्रकार कहते हैं- शस्त्र होता का होता है 'इज्या' यज्ञ कराना अध्वर्यु का काम है अतः यजुर्वेद का कृत्य है, उद्गाता का कार्य देवता की स्तुति करना है वह सामवेद का कृत्य है। प्रायश्चित कराना (भूल होने पर प्रायश्चित कराना) ब्रह्मा का कार्य है। यह प्रायश्चित कार्य आश्वलायन सूत्र से होता है इसी तरह प्रयोजन सहित वेदों की पूर्वादिमुख से ब्रह्मा ने रचना की ॥३७॥

आभास—वेदोपयोगिपदार्थान् वक्तुं पुराणाति सृष्टवानित्याह—

आभासार्थ—वेद में उपयोगी पदार्थों को कहने के लिये पुराणों की रचना, की यों इस श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—**इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।**
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥३८॥

श्लोकार्थ—सब का कार्य पूर्ण हो ऐसा देखने वाले ईश्वर (ब्रह्मा) ने सकल मुखों से इतिहास तथा पुराण रूप पांचवां वेद प्रकट किया ॥३८॥

सुबोधिनी—**इतिहासपुराणनीति**। सर्वोपयोगित्वान्नाऽत्र क्रमो विवक्षितः, अतः **सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यो** निर्ममे। **सर्वदर्शन इति** सर्वेषामेव वर्णानामवर्णानां स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनामुपयोगं पश्यन् पुराणं सृष्टवान्। चिन्त्यमेतत् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—इतिहास तथा पुराण सब के लिये उपयोगी होंगे। अतः इस में उत्पत्ति के लिये

स्थान के क्रम की आवश्यकता न समझ कर सर्व मुखों से सब को प्रकट किया।

(सर्व दर्शन) विशेषण का भावार्थ प्रकट करते हुये आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि समस्त वर्ण, अवर्ण स्त्री शूद्र द्विज बन्धुओं का भी कार्य सिद्ध हो यों देखते हुये (विचार कर) पुराण की रचना की यह विचार करने योग्य है ।।३८।।

आभास— आतुर्होत्रादीनामप्युद्देशात् तेषामप्युत्पत्तिक्रममाह—

आभासार्थ—अग्नि होत्र के चार प्रकार के होम करने के कर्म आदि भी कहे हैं अतः उनकी उत्पत्ति का भी क्रम इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम् ।।३९।।

श्लोकार्थ—पूर्व मुख से षोडशी और उक्थ पश्चात् पुरीषी और अग्निष्टुत तथा आप्तोर्याम एवं अतिरात्र और गोसव सहित वाजपेय उत्पन्न हुए ।।३९।।

सुबोधिनी— षोडश्युक्थाविति। 'अप्यग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयात्' इति श्रुतेः 'न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्ति' इति च सर्वोपयोगित्वात् षोडशी प्रथमतो गृहीतः । तथोभयस्यापि सर्वोपयोगित्वम् । तावुभौ **पूर्ववक्त्रात्** ससृजे । **अग्निष्टु**दग्निष्टोमः, पुरीष्या अग्नयश्चयनात्मकाः, पुरीषमस्यास्तीति **पुरीषी**, पुरीषी च अग्निष्टुच्च पुरीष्यग्निष्टुतौ, स समासान्तः (?) । **आप्तोर्यामोऽतिरा**त्रस्यैव भूमा, सविशेषोऽतिरात्र इत्यर्थः । **वाजपे**योऽपि स्वतन्त्रो महाफलः । **गोसवश्च** गोसत्रम् । तयोरपि सहभावः ।। ३९ ।।

व्याख्या—'अप्यग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयात्'[1] इतिश्रुतेः अग्निष्टोम यज्ञ में क्षत्रिय का ग्रहण करना यों श्रुतियों ने कहा है अर्थात् 'अग्निष्टोम' यज्ञ करने का अधिकार क्षत्रिय को है 'न वै षोड़शी नाम यज्ञोऽस्ति" षोडशी नाम का कोई यज्ञ नहीं है फिर उसको पहले क्यों कहा ? पहले तो अग्निष्टोम को कहना चाहिये था ? इस शंका का समाधान करते हैं कि 'षोडशी' को प्रथम कहने का कारण यह है कि "वह" सब के लिये खास उपयोगी है। यद्यपि अग्निष्टोम एवं षोडशी दोनों सर्वोपयोगी है तो भी षोड़शी को पहले कहा गया है कि दोनों सर्वोपयोगी होने से पूर्व मुख से उत्पन्न किये हैं। 'अग्निष्टुत्' 'अग्निष्टोम' है। 'पुरीष' जिसमें उसको पुरीषी कहते हैं, पुरीष शब्द का अर्थ वेद में 'जल' है अर्थात् जिसमें जल विशेष वह पदार्थ "पुरीषी" है उसकी (पुरीषी की)

यह सर्व दर्शन पद का तात्पर्य है—

अग्नियां इकट्ठी हुई हों, पुरीषी और अग्निष्टोम समासान्त पद है आप्तोपर्याय अति रात्र का ही प्रकार है । विशेष सहित होने से अति रात्र है। वाजपेय भी महान् फल दाता स्वतंत्र यज्ञ है। 'गोसव' गौओं से लिये यज्ञ ये दो 'वाजपेय-गोसव' भी साथ में प्रकटे हैं ।।३९।।

आभास–धर्मस्यैते चत्वारः पादा विद्यादय इति—

आभासार्थ—इस श्लोक में कहते हैं कि धर्म के ये विद्यादि चार पाद हैं ।

श्लोक–विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ।
आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः ।।४०।।

श्लोकार्थ––विद्या, दान, तपस्या और सत्य ये चार धर्म के चरण तथा संख्यानुसार वृत्ति (आजीविका) सहित आश्रम उत्पन्न किये ।।४०।।

सुबोधिनी––विद्या ज्ञानम् । **दानं** तुलापुरुषादि । तपः कृच्छ्रादि । **सत्यं** सत्यभाषणम् । **पदानीति** पदशब्दः । चकारादन्येऽपि धर्मपादा भगवद्रूपत्वाद्धर्मस्य सन्तीति ज्ञापितम् । **आश्रमांश्चाऽसृजत्सह वृत्तिभिरिति** । वृत्तिचतुष्टयसहित एकाश्रम एकस्मान्मुखाज्जात इति ज्ञापितम् ।। ४० ।।

व्याख्या—'विद्या', 'ज्ञान' 'दान', तुला पुरुषादि दान 'तप' (कृच्छादि) 'सत्यं' (सत्य बोलना) में धर्म के चार चरण तो हैं किन्तु 'पदानि' (बहुवचन) 'च' कहकर पृथक कहने का आशय है कि दूसरे भी धर्म के चरण हैं क्योंकि वे भगवद्रूप है अतः उनकी गणना परिचित नहीं होती है चार वृत्तियों के साथ आश्रम मुख से उत्पन्न हुए, यों बताया है ।। ४० ।।

आभास––तत्र ब्रह्मचारिणो वृत्तिचतुष्टयमाह—

आभासार्थ—आश्रमों में से ब्रह्मचारीएवं गृहस्थी की ४ वृत्तियां इस श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**सावित्र्यं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाऽथ बृहत्तथा ।**
वार्ता संचयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे ।। ४१ ।।

श्लोकार्थ––सावित्र्यं, प्रजापत्यं, ब्राह्मयं और वैसे ही बृहत् ये चार वृत्तियां ब्रह्मचारी की हैं गृहस्थाश्रम की वार्ता संच्य, शालीन, शिक्षा और शिलोंछ ये चार वृत्तियां है ।। ४१ ।।

सुबोधिनी—**सावित्र्यमिति । सावित्र्यमुपनो**-तस्य गायत्रींशिक्षाकालो मौनादिसहितत्रिरा-त्रात्मकः । ततः संवत्सरपर्यन्तं **प्राजापत्यं** वेदव्रता-त्मकम् । **ब्राह्मं** वेदग्रहणात्मकम् । **बृहन्नैष्ठि**-कम् गृहस्थस्य वृत्तिचतुष्टयमाह **वार्तेति । वार्ता** कृष्यादिचतुष्टयम् । **संचयोऽ**ध्यापनादिना प्राप्त-धनस्य संग्रहः । **शालीनमल्पधान्ययाचनम्**; यायावर इत्यर्थः । **शिलोञ्छ** इति । **शिला** खले धान्यानां हस्तेनैकैकश उद्धारः; **उञ्छनं** गृहस्थानां गृहे कण्डनादिस्थाने पतितधान्यादीनां ग्रहणम् ॥ ४१ ॥

व्याख्या—जिस बालक ने यज्ञोपवीत धारण किया है उसको तीन रात्रि मौन धारण कर गायत्री की शिक्षा लेनी है ब्रह्मचारी के इस समय को साविन्य कहा जाता है, अनन्तर एक वर्ष तक वेदाव्रत रखना है जिसको प्रजापत्य कहते हैं। वेद पढना, इसको 'ब्राह्मयं' कहते हैं और बृहत् अर्थात् ब्रह्मचर्य, पालन ये ब्रह्मचारी की चार वृत्तियां (कर्त्तव्य) हैं अब गृहस्थी की चार वृत्तियां कहते हैं १–वार्ता (चार प्रकार की आजीविका) हैं (१) खेती, (२) गोपालन (३) ब्याज और व्यापार तथा (४) शिलौञ्छ, 'शिला' खेती के खलों खलियानों में से गिरे हुये धान को हाथ से एक एक दाने को चुन लेना (२) संचय—अध्यापन आदि से प्राप्त धन को इकट्ठा करना, (३) शालीन—भिक्षा करना (४) शिलौञ्छ—उञ्छन गृहस्थियों के घरों में धान्य के साफ करने के स्थान पर गिरे हुए धान को ले लेना ॥ ४१ ॥

आभास—वनस्थानां वृत्तिचतुष्टयमाह—
वानप्रस्थी एवं सन्यासियों की ४ वृत्तियाँ इस श्लोक में बताते हैं।

श्लोक—**वैखानसा बालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने ।**
न्यासे कुटीचरः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ ॥४२॥

श्लोकार्थ—वानप्रस्थ में (१) वैखानस, (२) वाल खिल्य, औदुम्बर और फेनपा ये चार वृतियां हैं एवं सन्यास में (१) कुटीचर (२) बह्वोद (३) हंस और (४)निष्क्रीय ये चार वृतियां हैं ॥४२॥

सुबोधिनी – **वैखानसा इति** विखनसा ब्रह्मणा यानि भगवद्भजनादीनि वैखानससूत्रे उपदिष्टानि, वने स्थित्वा, तत्कर्मकर्तारो **वैखानसाः** दैवादा-गतवृत्तिजीविनः । **बालखिल्यास्तपस्विन**; पञ्चा-ग्न्यादिसाधकाः सूर्यपकान्नभक्षका वनस्था वन्या-न्नाश्च । **औदुम्बरा** नखलोमादिस्थापका मलधा-रिणो वृक्षफलोपजीविनश्च । नियतारण्याः **फेनपाः**, वायुजलभक्षाः । तपोवनादिवासः पूर्व-सिद्धोऽनुवर्तत एवेति । न्यासिनां वृतिचतुष्टय-माह **न्यास इति । न्यासे** संन्यासे, **कुटीचरः पूर्वं** निरूप्यः । पञ्चसप्तत्यूर्द्धं संन्यासे आयुर्भाग-क्रमेणाऽऽश्रमचतुष्टयपक्षे नित्यसंन्यासो भवति ।

तत्र ब्राह्मण्यम्, वयः, पूर्वाश्रमानन्तर्यं च प्रयोजकम्, न ज्ञानादि। षट्त्रिंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यमिति वेदाध्ययनकालपक्षोऽपि विकल्प्यते। '**चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत।**' इति मनुवाक्याप्रत्येकसमुदायपक्षौ निर्णीतौ। तत्र समुदायपक्षो नित्यः। आश्रमचतुष्टयमपि क्रमेण ब्राह्मणेन कर्तव्यमिति तदेवाऽत्र ब्रह्मणा निष्पादितमित्युच्यते। प्रत्येकपक्षः काम्यः। केचिदधिकारभेदेनाऽऽहुः साधारणानां चतुष्टयमिति। ऊर्ध्वरेतसां भक्तानां ब्रह्मचर्यं नैष्ठिकम्, एक एवाऽऽश्रमस्तेषाम्। तथा सर्वथा वैराग्यरहितस्योत्कटकामस्य गार्हस्थ्यमेव उपकुर्वाणो भूत्वा यथाशक्ति वेदानधीत्य, विहितप्रकारेण कृतदारो भूत्वा, यामज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्। किं बहुना, शरीरसंस्थापर्यन्तं धृताग्निहोत्रमपि तस्य विहितम्। अत एवाऽऽपस्तम्बकोरण सर्वे आश्रमास्तुल्या निरूमिताः, सर्वत्रैवाऽव्यग्रः सिद्धयतीति। प्रजानिन्दावाक्यानि चोर्द्ध्वरेतसां प्रशंसापराणि योजितानि, अन्यथा श्रुतीनामन्योन्यविरोधः स्यात्। एकदेशेनाऽपि श्रुतिनां बाधो ब्राह्मणानां न कर्तव्यः। तथा वानप्रस्थे यथाशक्ति ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनं विधाय देहपातपर्यंत वने वासं तपश्च कुर्यात्। न्यासेऽपि पूर्वजन्मनि आयुर्भागक्रमेण कृतन्यासः प्राप्तज्ञानश्च दृढवैराग्यो निरन्तरमात्मचिन्तकः, भगवत्प्रेमाभावात् सतां गृहे पुनरुत्पद्यते। तस्योत्पत्तिसबन्धात्पूर्वज्ञानं तिरोहितमिव भवति; तदोत्तरत्र जन्मन्युपनीतः। वेदाध्ययने क्रियमाणे, पूर्वज्ञानमुद्बोद्ध भवति तदा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुत्यर्थः कर्तव्यो भवति। तदा देहपातपर्यन्तं स एवाऽऽश्रमः परिपालनीयो भवति, अन्यथा अतितः स्यात्। ततोऽप्युपनयनात्पूर्वमेव पूर्णज्ञानवैराग्याणामुद्बोधेऽनाश्रमी भवति, यथा सनकादिः शुकादिर्वा। स वेदे निन्दितो भगवच्छास्त्रे च। अत एव ब्रह्मणः सनकादिषु क्रोधः। ब्रह्मपुत्रा अपि भूत्वा मानुषभावमापन्नाः, ततोऽपि दैत्यत्वम्। प्रह्लादरूपा जाताः तत्रापि क्लेशः। शुकस्तु इमं बाधकमवगत्य पूर्वजन्मनि ज्ञानादिसिद्धावपि रूपद्वयं विधायैकेन रूपेण ब्रह्मचर्ये वेदानधीत्यः गार्हस्थ्ये पुत्रानुत्पाद्य, पुनरैक्यं प्राप्तः; देहपातपर्यन्तं भगवत्परो जातः। सोऽत्र मर्यादायां वैदिकमार्गे न गण्यते। तत्र य आयुर्भागक्रमेण चतुष्टयं करोति, स वनवासानन्तरं पुत्रादिनिर्मितकुट्यां पुत्रादिभिरेव परिपाल्यमान आत्मचिन्तकः कुटीचरो भवति। वनस्थो भूत्वा पुत्राद्यपेक्षां परित्यज्य स्वतन्त्रतया यदि संन्यासं कुर्यात् तदा स बह्वोदो भवेत् क्वचित्तीर्थविशेषे सर्वनिर्पेक्षस्तोर्थवासी भवेत्। तत्र वने पक्षद्वयम्—यदि सभार्यः साग्निर्वनं गच्छेत्, तदाऽग्रे पुत्रेषु भार्यां स्थापयित्वा स्वयं कुटोचरो भवेत्; यदि पूर्वमेव भार्यादिस्त्यक्तो भवेद्वनवासार्थमेव, तदा तावत्तपः कृत्वा अग्रे संन्यस्य बहूदकोभवेत्। यदि ब्रह्मचर्यानन्तरमेव पूर्वोक्तप्रकारेण ज्ञानादिसंपन्नो भवेत्, तदा संन्यासे हंसो भवेत्। सर्वत्र तीर्थेषु एकरात्रविधिना निरपेक्षः परिभ्रमेत्। तस्य मौनानीहानिलायामा दण्डा नित्याः। ततोऽपि पूर्वजन्मन्येव सिद्धज्ञानादिर्हंसी भूत्वा यो म्रियते, स उत्तरत्र योगभ्रष्बो महतां गृहे उत्पन्नः प्राप्तद्विजातिसंस्कारो जडभरतवत्तिष्ठेत्, स निष्क्रियः। तस्य तु मुक्तमाच्छादनं न लिङ्गं प्रकटम्, तस्यैव ऋषभवच्चर्या। तस्य लोकसंबन्धे

पातित्यम्, यथैवाऽलौकिकः। तस्य सिद्धिः, स सर्वोत्तमः। तस्य धर्मं न हीनः कुर्यात्। तस्मादधिकारव्यवस्थयैव प्रत्तिचतुष्टयमाहुः—यद्युत्तमं कर्तुं न शुक्नयात्, तदा प्रथमोऽपि प्रथमं कुटीचरो भूत्वा क्रमेण निष्क्रियो भवेदिति सिद्धान्तः। तथा पूर्वाश्रमेष्वपि पूर्वमुत्तमां गित व्रजेत्; आश्रमान्तरेषु वा उत्तमां गतिं व्रजेदिति ॥४२॥

व्याख्या—ब्रह्मा ने वैखानस सूत्र में जिन भगवद्भजनादि कर्मों का उपदेश दिया है उन कर्मों को वन में रहकर जो करते है वे 'वैखानस' कहे जाते, वे दैव से (भाग्यवश) प्राप्त आजीविका पर जीवन बिताते हैं तपस्वियों को (बाल खिल्य) कहा जाता है पांच अग्नि आदि के साधक हैं सूर्य से 'पकाये हुये अन्न' को खाने वाले होते है वन में ही रहते हैं। वन का ही अन्न लेते हैं, जो नख लोम (केस) कटाते नहीं है। मल धारी ही होते हैं वे, औदुम्बर कहे जाते हैं वे वृक्षों के फल ही खाकर जीवन व्यतीत करते हैं नियम पूर्वक अरण्य वासी ही रहते हैं। जो वायु और जल का ही भक्षण करते है वे (फेनप) कहलाते हैं तपोवनादि में निवास तो पूर्व सिद्ध है ही।

सन्यासियों की चार बृत्तियां कहते हैं न्यास' पद का तात्पर्य संन्यास से है सन्यास में पहले कुटीचर का निरूपण करना हैं सन्यास में आयु के भाग के क्रम से आश्रम चतुष्टय पक्ष में ७५ वर्ष की आयु के बाद नित्य संन्यास होता है जिससे ब्राह्मण्य, आयुष्प 'पहले के आश्रमों के अनन्तर करने का नियम है इस 'नित्य संन्यास' में जिस वक्त ही ज्ञान हो जावे उस वक्त सन्यास लेना यह प्रयोजक नहीं है ३६ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन, यह वेदाध्ययन काल काल पक्ष भी वैकल्पिक है द्विज, आयु का पहला चतुर्थ भाग गुरु के गृह में रहे दूसरा भाग विवाह कर गृह में रहे मनु के इस वाक्यानुसार प्रत्येक आश्रम का समुदाय पक्ष निर्णय किया हुवा है इस पक्ष में समुदाय पक्ष नित्य है और चारों ही आश्रम क्रम से ब्राह्मण ही करे यों ही यहां ब्रह्मा ने सिद्ध किया है प्रत्येक पक्ष सकाम है । कितने ही अधिकार भेद से कहते है। साधारणों को ४ ही है जो ऊर्ध्वरेता हैं भक्त हैं उनके लिये ब्रह्मचर्यसदा के लिये है उनके लिये यह एक ही आश्रम ब्रह्मचर्य है इसी तरह जो सर्वथा वैराग्य रहित हैं कामनाएँ विशेष हैं उनके लिये गृहस्थाश्रम ही एक आश्रम है। गृहस्थाश्रम में रहकर परोपकारी हो के यथा शक्ति वेदाध्ययन कर शास्त्र विधि के अनुसार विवाह कर जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र धारण करे बहुत क्या कहा जावे, शरीर रहे तब तक उनके लिये अग्निहोत्र करने की आज्ञा है आपस्तम्बकार ने सिद्ध किया है कि सर्व आश्रमों में बिना उद्वेग के फल प्राप्त होता है अतः सर्व आश्रम समान है।

प्रजा की उत्पत्ति के लिये जो निन्दा के वाक्य हैं वे नैतिक ब्रह्मचारियों की प्रतिष्ठा-प्रशंसार्थं ही है, यों नहीं माना जायेगा तो श्रुतियों का परस्पर विरोध होगा, ब्राह्मणों को एक देश से भी श्रुतियों का विरोध नहीं करना चाहिये, इसी तरह वानप्रस्थ आश्रम में शक्ति के अनुसार ब्रह्मचर्य पूर्वक वेद का अध्ययन कर देह रहे तब तक बन में निवास तथा तपस्या करनी चाहिये ।

सन्यास में भी पूर्व जन्म में आयुष्य के भाग के क्रम से संन्यास किया और ज्ञान प्राप्त किया जिससे वैराग्य परिपक्व हो निरन्तर आत्म चिन्तन करने लगा, किन्तु भगवान् में प्रेम न होने से वह सन्यासी फिर जन्म लेता है किन्तु सत्पुरुषों (भक्तों) के गृह में उत्पन्न होता है, देहादि से सबंध होने से पूर्व जन्म का ज्ञान छिपा हुआ सा हो जाता है उस दूसरे जन्म में जब यज्ञोपवीत संस्कार करा के वेदाध्ययन करता है तब फिर पूर्व ज्ञान खुलता है तब 'यदहरेव विरजेत्तरहरेव प्रव्रजेत्" इस श्रुति की आज्ञा उसका कर्त्तव्य होता है, यदि उपनयन से पूर्व ही पूर्व जन्म का ज्ञान वैराग्य जागता है तो वह अनाश्रमी कहा जाता है जैसे सनकादिक अथवा शुकदेवादि वह अनाश्रमों वेद में और भगवत् शास्त्र में निंदित हैं। इस काल से ही ब्रह्मा ने सनकादि पर क्रोद्ध किया था, ब्रह्मा के पुत्र होते हुए भी मनुष्य भाव को प्राप्त हो गये। अनन्तर दैत्यत्व भी प्राप्त किया, प्रह्लाद रूप हुए, उस जन्म में भी क्लेश का अनुभव किया। शुकदेवदी ने इसको बाधक समझ कर, पूर्व जन्म ज्ञानादि सिद्ध थे तो भी अपने दो रूप (देह) धर कर एक से ब्रह्मचर्य धारण कर वेद पढे फिर गृहस्थाश्रम में रह कर पुत्र उत्पन्न किये, फिर दोनों रूपों को एक कर देहपात पर्यन्त भगवत्परायण रहे, वह यहां मर्यादा अर्थात् वैदिक मार्ग में नहीं गिना जाता है। इन आश्रमों में जो आयु के मार्ग के क्रम से चारों आश्रम पलते हैं वह वनवास के अनन्तर पुत्रों की बनाई हुई कुटिया में रहता है और उसका पोषण भी पुत्रादि करते हैं। उस समय आत्म-चिन्तन ही करता रहता है उसको कुटीचर कहा जाता है जो वनस्थ हो के पुत्रादि की अपेक्षा न कर स्वतंत्रता से यदि सन्यास करे तब वह सन्यासी 'बह्लोदक कहलाता है यदि वह निरपेक्ष हो किसी तीर्थ विशेष पर रहता है तो उसको तीर्थवासी कहा जाता है। इसमें वन में रहने के दो पक्ष हैं। एक स्त्री सहित और अग्निहोत्र की अग्नि भी साथ में लेकर वन में जावे तब आगे जाकर पुत्रों के पास स्त्री को बिठाकर स्वयं कुटीचर होवे, यदि पहले ही भार्या आदि का त्याग कर वनवासी बने तब जब तक तपस्या बन सके तब तक वह करे फिर संन्यास लेके 'बह्लोदक' सन्यासाश्रम धारण करें जो ब्रह्मचर्य के बाद ही पूर्वोक्त प्रकार से कहे हुए ज्ञानादि युक्त होवे तो तब सन्यास में हंसाश्रमी बने। सकल तीर्थ पर भ्रमण करे किन्तु निर्पेक्ष हो एक ही रात एक स्थान पर रहने की विधियां पाले। उस हंसाश्रमी के लिये मौन (वाग्दण्ड) इच्छा रहित तथा वायु (संयम) वर्षा एवं ताप को सहना, ये तीन दण्ड नित्य है। पूर्व जन्म में सिद्ध ज्ञान वाला हंस होकर देह त्यागता है तो वह दूसरे जन्म में योग भ्रष्ट ही महत्पुरुषों के गृह में उत्पन्न हो द्विजाति संस्कार प्राप्त कर जड़ भरत यदि रहे तो वह निष्क्रिय कहा जाता है उसने वस्त्रों का भी त्याग कर दिया है। उसका कौनसा आश्रम है वह पता नहीं लगता है। वह ऋषिदेवजी के समान आचरण वाला होता है लौक सबसे अर्थात् लौकिक तरह उसका पतित्व (पतितपन) देखने में आता है, जिससे वैसे ज्ञानादि सिद्ध न हो ऐसे ही न पुरुष को उसके (ऋषभ के) धर्मो का आचरण नहीं करने चाहिये, इस कारण से ही अधिकार की व्यवस्थानुसार संन्यास की चार वृत्तियां (प्रकार) कही है यदि उत्तम वृति न कर सके तब पहले

पहल कुटीचर होकर क्रम से (धीरे-धीरे) निष्क्रिय बने, यह ही शास्त्र का सिद्धांत है, वैसे पूर्वाश्रमों (ब्रह्मचर्यादि आश्रमों) में भी पहले उत्तम गति को प्राप्त करें अथवा दूसरे आश्रमों में उत्तम गति को प्राप्त करे ॥४२॥

आभास—एवमाश्रमान्निरूप्य 'उपवेदनयैः सह' इति निरूपणात् नीतिभेदान्निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह उपवेद और नय सहित उपवेदों का निरूपण कर अब इस श्लोक में कर्म पृथक२ प्रकार की नीतियां कहते हैं—

श्लोक—आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च ।
एवं व्याहृतयश्चाऽऽसन्प्रणवो ह्यस्य हृद्गतः ॥४३॥

श्लोकार्थ—आन्वीक्षिकी, तीन वेद, वार्ता और दण्ड नीति इसी तरह प्रकट हुये तथा व्याहृतियां प्रकट हुई इनके हृदय से प्रणव उद्भूत हुआ ॥४३॥

सुबोधिनी-**आन्वीक्षिकीति** । अन्वीक्षणमन्वीक्षा, तत्सम्बन्धिनी नीतिर्मर्यादा, **आन्वीक्षिकी**त्युच्यते एषा नीतिर्ब्राह्मणानामेव, तत्राप्याश्रमश्रेष्ठानाम् । **त्रयी** वेदत्रयी, वेदानुसारव्यवहारः कर्तव्यः, यज्ञाः कर्तव्याः, याजनादि च वृत्तिः । क्षत्रियाणां मुख्यैषा वृत्तिः । **वार्ता** चतुर्विधा, कृषिगोरक्षवाणिज्यकुसोदात्मिका वैश्यानां मुख्या । **दण्डनीति**र्दण्डप्रकारः, दण्डनार्थं वा नीतिः । यद्यप्ययं सजधर्मः, तथापि शूद्रेष्वेव दण्डः सर्वथा कर्तुं शक्यत इति तेषु प्रतिष्ठितः । एवं चतुर्द्धा नीतिः । यद्यप्यान्वीक्षिकी आत्मविद्या; त्रयी च वेदत्रयम्, यज्ञाश्च तदर्थाः; ते पुनर्नीतिमध्ये न वक्तव्याः; तथापि तेषां लौकिकेऽपि ब्राह्मणादीनां वा अन्वीक्षणादिरेव कर्तव्यः, न तु सर्वथा लौकिक इत्येतदर्थं नीतिशास्त्रेऽपि तयोरुपनिबन्धनम् । तथैव चेति पूर्ववत्, पूर्वादिमुखैरेवोत्पन्नां इत्यर्थः । एवं सात्त्विकबुद्धावाध्यात्मिकत्वेन वेदाद्युत्पत्तिमुक्त्वा, आधिदैविकं शब्दब्रह्मस्वरूपं निरूपयितुं प्रथमतो व्याहृतीनामुत्पत्तिमाह **एवं व्याहृतय इति** । यद्यपि वेद एव गायत्री, व्याहृतयः, प्रणवश्च निरूपिताः । समष्टिव्यष्टिभेदेन चतुष्टयम् । सप्तव्याहृतिपक्षेऽपि अष्टमस्त्रयाणां समष्टिः । **चकारादग्रे प्रण**वोऽपि । तस्य चतुर्विधत्वाभावात् केवलं स हृद्गतो हृदयादेव प्रकटीभूतः । अत एव ब्रह्मणा न प्रणव उच्चारितः, किन्तु '**ॐकारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ**' इति वाक्यात् प्रणवः स्वयमेव निर्गतः ॥४३॥

व्याख्या अन्वीक्षण को अन्वीक्षा कहा जाता है। उसके (अन्वीक्षा के) संबंध वाली नीति को मर्यादा नीति कहते हैं वह मर्यादानीति अन्वीक्षिक हैं। यह नीति ब्राह्मणों की ही है उसमें भी उत्तम आश्रम वालों की ही यह नीति है। वेद त्रयी अर्थात् वेदानुसार व्यवहार करना चाहिये जैसे यज्ञ करने चाहिये। द्रव्य से यज्ञ किया करना ही क्षत्रियों का मुख्य कर्म है। वैश्यों की आजीविका मुख्य चार प्रकार से की जाती है। जैसे (१) खेती (२) गौरक्षा (३) व्यापार तथा व्याज से होती है। 'दण्ड नीति' दण्ड करने की नीति (प्रकार) यद्यदि यह राज-धर्म है तो भी शूद्रों में ही सर्वथा दण्ड किया जा सकता है अतः उनमें ही यह क्रिया स्थित है (देखी जाती है) इसी तरह नीति चार प्रकार की है आन्वीक्षिकी अर्थात् आत्म-विद्या, त्रयी (वेद त्रय) और यज्ञ उसके लिये है अतः फिर नीति में नहीं कहने चाहिये. तो भी उनका लौकिक में भी ब्राह्मणादिकों को अथवा परम हंससादिकों को आन्वीक्षणादि (आत्म विद्या) करनी चाहिये न कि सर्वथा लौकिक है यों इसलिये ही नीति शास्त्र में भी इसको (अन्वीक्षिकी को) कहा है।

"तथैव च" का तात्पर्य है कि यह आन्वीक्षिकी की (आत्म विद्या) भी पूर्वादि मुख से प्रकट हुई है इसी तरह वेदादि आध्यात्मिक होने से सात्विक बुद्धि में उत्पन्न हुये यों कह कर शब्द ब्रह्म स्वरूप आधिदैविक है यों निरूपण करने के लिये, पहले व्याहृतियों[1] की उत्पत्ति कहते हैं 'एवं व्याहृतियों' यद्यपि वेद में ही गायत्री व्याहृतियों और प्रणय को निरूपण किया गया है, समष्टि और व्यष्टि भेद से व्याहृतियां चार हैं। [2]सात व्याहृतियां (भू, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः सत्यं) कितनों ही का मत है कि ये ऊपर के सात लोक हैं। इनको ही व्याहृतियां कहा है, इस पक्ष में भी तीनों की समष्टि आठवीं है, 'च' पद से यह सूचित किया है कि प्रथम प्रणव भी प्रकट हुआ है, वह चार प्रकार का न होने से केवल वह एक ही ब्रह्मा के हृदय में रहा और हृदय से ही उद्भूत हुआ (निकला)। अतः ब्रह्मा ने प्रणव (ॐ) का उच्चारण मुख से नहीं किया किंतु 'ॐकार आऽथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा' काठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ' अर्थ 'ॐकार' और 'अथ' शब्द ये दोनों पहले ब्रह्मा के कण्ठ को छेद (खोल) कर बाहर निकले, इससे दोनों मांगलिक हैं। इस वाक्य के अनुसार प्रणव स्वयं ही हृदय से प्रादुर्भूत हुआ है ॥४३॥

आभास—सप्तच्छन्दसामुत्पत्तिमाह—तस्योष्णिगासीदिति सार्द्धेन—

१—व्यहृति पद का अर्थ शब्द भी होता है।

२—भू, भव और स्वः ये तीन व्याहृतियां, इन तीनों के समूह को यहां चौथी व्याहृति कहा है। पूर्वादि मुख से ये चार व्याहृतियां प्रकटी है।

आभासार्थ—सात छन्दों की उत्पत्ति निम्न श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक – तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थनः प्रजापतेः॥
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत्॥४४॥

श्लोकार्थ—उस समर्थ प्रजापति के लोमों में से उष्णिक् त्वचा में से गायत्री, मांस में से त्रिष्टुप् स्नायुओं में से अनुष्टप् अस्थियों में से जगती मज्जा में से पंक्ति प्राण में से बृहती प्रकटे इसी तरह प्रजापति सर्वांग विशेष से छन्दों की उत्पत्ति हुई॥४४॥

सुबोधिनी—लोमभ्यश्चर्मभ्य **उष्णिगासीत्**। एतानि सप्तच्छन्दांसि न्यूनाधिकभावमापन्नानि। तत्रोत्पत्त्युपपत्तिभ्यां गायत्री बृहती च श्रेष्ठे। तत्र चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, अष्टाविंशत्यक्षरा उष्णिक्, द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप्, षट्त्रिंशदक्षरा बृहती, चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिः, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती। तत्र गायत्री त्रिपदा, अन्याश्चतुष्पदाः। तत्र उष्णिक् सप्ताक्षरपादा भवति, अतः प्रथमं निर्दिष्टा। अथवा उत्पत्त्याऽत्र विचारः कर्तव्यः। तत्र ब्रह्मणः शरीरे धातूनां स्थूलसूक्ष्मभेदेन छन्दसां स्थूलसूक्ष्म-भेदौ। क्रमश्चोत्पत्तौ धातुक्रमेणैव। उत्पत्तिविचारे सोमाहरणाद्गायत्री प्रतिष्ठिता। उपपत्तिविचारे अल्पाक्षरापि बृहती सर्वेभ्यश्छन्दोभ्यो महत्त्वात् बृहतीति नाम प्राप्तवती, '**स बृहतीमेवास्पृशत्**' इत्यादिश्रुतौ बृहत्या माहात्म्यप्रतिपादनात्। प्राणतस्तस्या उत्पत्तिरुच्यते, सर्वोपरि च। अस्थ्नां बाहुल्याज्जगत्या उत्पत्तिः। तदपेक्षया मांसस्य हीनत्वात् ततस्त्रिष्टुबुत्पत्तिः। ततो मज्जा हीनेति ततो हीनायाः पङ्क्तेरुत्पत्तिः। मध्ये बृहती निरूपितैव। स्नुतः स्नायुतोऽनुष्टुबुत्पत्तिः। त्वगपेक्षया चर्मणामाधिक्याल्लोम्नां स्पष्टमेवाऽऽधिक्यदर्शनात् बहिःस्थितत्वेन उष्णिक् प्रथमतो निरूपिता। मज्जापेक्षयापि प्राणानामन्तः स्थितत्वात् पश्चान्निरूपणम्॥४४॥

व्याख्या--चर्म में से उद्भूत (निकले हुए लोमो) (रुओं) में से उष्णिक, छन्द प्रकटा, ये निकले हुए सात छन्द न्यून तथा अधिक भाव को प्राप्त हुए उनमें उत्पत्ति से गायत्री और 'बृहती' श्रेष्ठ कहे गये हैं।

इन छन्दों में से २४ अक्षर वाला 'गायत्री', २८ अक्षर वाला उष्णिक, ३२ अक्षर वाला अनुष्टुप्, ३६ अक्षर वाला बृहती और ४० अक्षर वाला पङ्क्ति, ४४ अक्षर वाला त्रिष्टुप् है, ४८ अक्षर वाला जगती छन्द है। इन छन्दों में गायत्री छन्द तीन पाद वाला है, दूसरे चतुष्पाद (चार पाद) वाले हैं। इनमें उष्णिक् छन्द के पाद सात२ अक्षरों के हैं इसलिये पहले कहने में आया है

अथवा इसमें उत्पत्ति में विचार कर्त्तव्य है। इसमें ब्रह्मा के शरीर में धातुओं के स्थूल सूक्ष्म भेद के कारण छन्दों के भी स्थूल सूक्ष्म भेद हुवे हैं। उत्पत्ति में क्रम तो धातुओं के क्रम से ही हुआ है, उत्पत्ति के विचार में सोम ले जाने के कारण गायत्री की प्रतिष्ठा (प्रसिद्धि) हुई है और उत्पत्ति के विचार करने पर यद्यपि स्वल्पाक्षर (कम अक्षर) होते हुए भी बृहती ने सकल छन्दों से महत्वपूर्ण होने से 'बृहती' नाम को धारण (प्राप्त) किया है। 'सबृहती मेवा स्पृशत्' इत्यादि श्रुति में बृहती छन्द का महात्म्य प्रतिपादन किया गया है उसकी उत्पत्ति प्राण से कही है और इससे सर्वोपरि है। हड्डियां बहुत होती है उनसे जगती छन्द की उत्पत्ति हुई है उनकी अपेक्षा मांस कम (हीन) होने से उससे त्रिष्टुप् छन्द की उत्पत्ति हुई है उससे मज्जा हीन है इसलिये उससे हीन छन्द पंक्ति की उत्पत्ति हुई है -- मध्य में बृहती का निरूपण किया ही है, स्नायुओं से अनुष्टुप् छन्द की उत्पत्ति हुई है त्वचा से लोमों (रूंए) की अधिकता स्पष्ट दीखती है और बाहर ही स्थित है अतः उनमें से उत्पन्न 'उष्णिक' छन्द को प्राथमिकता दी है मज्जा की अपेक्षा प्राण भीतर स्थित है अतः 'बृहती' छन्द अन्त में कहा है ॥४४॥

आभास—स्पर्शस्तस्याऽभवदिति सार्द्धेन—

आभासार्थ— इसी तरह शब्द ब्रह्म की सामग्री का निरूपण कर अब इन निम्न श्लोकों में देह का वर्णन करते हैं।

श्लोक—स्पर्शस्तस्याऽभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः ।
ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तस्था बलमात्मनः ॥
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ॥४५॥

श्लोकार्थ—शब्द ब्रह्म का जीव 'स्पर्श' वर्ण (अक्षर) हुए, स्वर वर्ण देह हुई अष्टम (अक्षर) इन्द्रियां हैं अन्तस्थ वर्ण देह में शक्ति की है। इसी प्रकार प्रजापति के विहारार्थ सप्त स्वर शब्द ब्रह्म के खिलौने हैं अथवा बिहार से (संगीत के) सात स्वर उत्पन्न हुए ॥४५॥

सुबोधिनी—स्पर्शाः पञ्चविंशतिः. ते सर्वे एकीभूताः शब्दब्रह्मणो जीवोऽभिमानी, योऽहमिति मन्यते। स्वरा अकारादयः षोडश, संदेहः। **उदाहृत** इति प्रमाणम्। शषसहा **उष्माणः**, ते चत्वार इन्द्रियाणि। **आहुरित्यपि** प्रमाणम्। **अन्तस्था** यरलवाः, तस्य तेहस्य बलम्। एवं चतुर्मूर्तेः स्वरूपमुक्तम्। बाह्यक्रियामुदातादिरूपां वदन् विहारेण तेषामुत्पत्तिमप्याह कार्यकारणयोरभेदत्वाय—**स्वराः सप्तविहारेणेति**। **स्वराः** षड्जादयः सप्त। **विहारेण** गतिलीलया। **प्रजापतेरिति**। शब्दब्रह्मणोऽस्य चाऽभेदो निरूपितः ॥ ४५ ॥

व्याख्या—शब्द ब्रह्म के जीव का वर्णन करते हुये कहते हैं कि (व्याकरण में) वर्णों में जो २५ व्यंजन 'क' से 'म' तक 'स्पर्श' कहे जाते हैं वे इकट्ठे कर शब्द ब्रह्म का जीव रूप कहलाता है कि 'मैं' शब्द ब्रह्म हूं 'अ' से लेकर 'अ:'तक जो १६ अक्षर स्वर हैं वे शब्द मिल कर ब्रह्म की देह कहलाती है या मानी गई है यो प्रमाण है, एवं जो अक्षर 'श षसह' हैं ये चार उष्म वर्ण है वे शब्द ब्रह्म की चार इन्द्रिया कहलाती हैं यों भी प्रमाण है, और अक्षर 'य र ल व' ये चार अन्त:स्थ चार अक्षर हैं वे उस देह का बल (शक्ति) है। इसी तरह शब्द ब्रह्म की जो चतुर्मूर्त्ति है उसका स्वरूप बताया जाता है।

अब उदात्त, अनुदात्त और स्वारित रूप बाह्य क्रिया का वर्णन करते हुए बिहार से उनकी उत्पत्ति कही जाती है। 'कार्य और कारण' का परस्पर अभेद होता है, अत: प्रजापति के बिहार करते हुए गति की चाल से 'षड्ज' आदि सात स्वर उत्पन्न हुए, इससे प्रजापति एवं शब्द ब्रह्म का अभेद बताया है ॥४५॥

आभास—शब्दब्रह्मभावत्वेन वा जगज्जनकत्वम्, ततेवोपपादयन्नुपसंहरति—

आभासार्थ—ब्रह्मा एवं शब्द ब्रह्म का अभेद सूचित करते हुए इस श्लोक में यों बताते हैं कि ब्रह्मा ने शब्द ब्रह्म रूप से ही जगत् उत्पन्न किया है, यों कह कर विषय का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**शब्द ब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मन: परम्।**
विभाति ब्रह्म विततं नानाशक्त्युपबृंहितम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—व्यक्त (प्रकट) और अव्यक्त (अप्रकट) आत्मा (स्वरूप वाले) उस शब्द ब्रह्मात्मा का विस्तृत स्वरूप, अनेक प्रकार की शक्तियों से भरपूर स्वरूप परब्रह्म प्रकाश रहा है ॥ ४६ ॥

सुबोधिनी—**शब्दब्रह्मात्मन** इति। ननु शब्दब्रह्मण: कथं जगज्जनकत्वम् शब्दार्थयोर्द्वैरूप्यात्, ब्रह्मणैव अर्थात्मक स्य जगत उत्पादितत्वात्। तत्राऽऽह—**विभाति ब्रह्मे**ति। अर्थात्मकं जगदुत्पादितमपि, नामव्यतिरेकेण न प्रकाशत इति **विभातित्युक्तम्**। इदं सर्वं जगत् विततं ब्रह्मैव विभाति। बृहणत्वाच्च ब्रह्मण:। बृहत्त्वाद्विततम्, बृहणत्वान्नानाशक्त्युपबृंहितम्। शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मण: प्रकाशनं न भवति। शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते स्वप्रकाशमपि। स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैवोक्तम्। 'अनुपलब्धे तत् प्रमाणम्' इति न्यायात्। 'पराञ्चिखानि' इत्यादिवाक्यादनुपलब्धत्वम्। स्वप्रकाशमपि सौर तेज: दिवाभीतेन न दृश्यते। न च व्यवधानं किञ्चिदपेक्ष्यते, इन्द्रियाणामेवाऽग्राहकत्वात्। नह्याकाशाग्रहणे, चक्षुषा रसाग्रहणे वा, व्यवधायकमस्ति। यद्यपि

'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति व्यवधानमुक्तम्, तदपि स्वप्रकाशस्य सर्वात्मकस्य मनसि चक्षुषि च घटे पकाशमानस्य व्यवधायकं न भवति । अथ यदि संयुक्तेऽपितत् व्यवधायकमिति मन्यने, तदा चक्षुषामग्रहणमेव श्रौतमस्तु, किं व्यवधानेन । **'अन्यद्युष्माकम्'** इति तु भोगेच्छादिकं जातमवेनिन्दार्थमनूद्यते, न तु भित्त्यादिवत् व्यवधायकम् । यदपि मायिकं पूर्वमुक्तम्, तदप्यग्रहणादेव । हेतुत्वेन व्यपदेशोऽपि आत्मव्यतिरिक्तस्य सृष्टिपक्षे उपयुज्यते सृष्टिभेदानां निरूपणात् । अतः शब्देनैव ब्रह्मणो भानम् । **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** इति तु इन्द्रियरूपा वाक्, लौकिकश्च शब्दः, लौकिकं च मनः, अन्यथा **'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' 'मनसैवेतदाप्तव्यम्'** इति विरुद्धमापद्येत । माहात्म्यार्थं वा द्वयम् । उभयमपि शब्दब्रह्मण एव ज्ञायते । एतदेवाऽभिसन्धायाऽऽह-**व्यक्ताव्यक्तात्मन** इति । तस्य शब्द-ब्रह्मणो हृदयं क्वचिद्व्यक्तम्, क्वचिदव्यक्तम्, अन्यथा ब्रह्म स्पष्टतया ज्ञातं स्मात् । तथात्वे भगवत एव नियामकत्वम् । तदाह-**परमिति** । तत्र हेतु**र्नानाशक्त्युपबृंहितमिति** । अनेकाः शक्तयो भगवति वर्त्तन्ति इति तत्तदनुरोधेन तथा तथा वचनम्, अन्यथा तासां गुप्तशक्तीनां प्रकाशो न स्यात् अतः प्रकाशनिषेधं न वदति, किन्तु गुप्तानां स्वरूपमाह । अतो ब्रह्म प्रकाशार्थं प्रवृत्तं शब्दब्रह्म तत्कार्यमपि प्रकाशयतीति । क्रियया प्रकाश्यते ब्रह्मणा, ज्ञानेन प्रकाश्यते वेदेनेति ।। ४६ ।।

व्याख्या--शब्द ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि जगत् के 'शब्द' और 'अर्थ' ये दो रूप हैं ब्रह्मा ने 'अर्थ' रूप (दृश्य पदार्थ रूप) जगत् बनाया है यद्यपि ब्रह्मा ने अर्थ रूप जगत् बनाया है तो बिना नाम के वह कैसे प्रकाशित हो ? उसमें नाम भी है इसलिये ही कहा है कि 'विभाति ब्रह्म' यह ब्रह्म ही प्रकाश रहा है ब्रह्म बृहत् होने से विस्तृत हुआ है और ब्रह्म 'ब्रह्मत्' होने से अनेक शक्तियोंवाला है बिना शब्द ब्रह्म परब्रह्म प्रकाशित नहीं होता है, स्वप्रकाश होते हुए भी शब्द ब्रह्म को ही परब्रह्म प्रकाशित होता है वह स्वप्रकाश है यह भी तो वेद (शब्द ब्रह्म) ने ही कहा है 'अनुपलब्धे तत् प्रमाणम्' इतिष्यायात् न्याय है कि जहां किसी को उपलब्धि न हो तो उसकी उपलब्धि में वेद ही प्रमाण है, 'परा शिव खानि' श्रुति से इन्द्रियां वहां पहुँच नहीं सकती है इसलिये इन्द्रियों से जो उपलब्ध नहीं है अतः वेद ही उपलब्धि का साधन है जो दिन को नहीं देख सकता है स्वप्रकाश सूर्य तेज को भी नहीं देख सकता है इसमें किसी व्यवधान की भी आवश्यकता नहीं है । इन्द्रियां ही ग्रहण नहीं कर सकती हैं आंख यदि आकाश को न देख सके एवं जिह्वा यदि रस को न जान सके तो इसमें व्यवधान कारण नहीं है किन्तु इन्द्रियों की निर्बलता (अयोग्यता) ही कारण है ।

जो कि तुम्हें कोई प्रतिबन्ध (आवरण) था जिससे दिखा नहीं, वह रूकावट भी, स्वप्रकाशक सर्वात्मा को नहीं होती है, क्योंकि वह तो स्वप्रकाश होने से मन में, घड़े में, नेत्र मे, सर्वत्र प्रकाश रहा है, यदि संयोग होने पर हो आवरण होता है यों माना जाये तब भी नेत्रों का अग्रहणं, नेत्र दुर्बलता के वा अज्ञान के कारण ग्रहण नहीं कर सकती है यह ही वेदानुकूल सिद्ध, सिद्धांत है व्यवधान की क्या आवश्यकता है । 'अन्यत् प्रमाकम्' श्रुति ने प्रभु प्राप्ति में उत्पन्न विषयेच्छा रूप

ग्रावरणों की निन्दा की है न कि ये ग्रावरणभिति (दिवाल) ग्रादि की तरह के ग्रावरण हैं पहले जो सृष्टि का मार्ग ग्रावरण वाली कहकर मायिक कही है। वह भी न ग्रहण होने से ही कहा है वह कहना भी ग्रात्मव्यत्तिरिक्त ग्रन्य सृष्टियों के पक्ष में समझना चाहिये कारण कि सृष्टि के बहुत भेद हैं ग्रतः ब्रह्म का भान (प्रकाश-दर्शन-ज्ञान) शब्द से होता है, तो फिर यह जो 'मतो वाचो-निवर्त्तंते' जहां वाणियां लौट ग्राती हैं उसको पहुँच नहीं सकती है ग्रर्थात् जान या कह ग्रथवा बता नहीं सकती हैं। यह मिथ्या हो जायेगा, इस शङ्का व उलझन को ग्राचार्य श्री सुलझाते हैं कि यह वाणी शब्द लौकिक है जो लौट ग्राता है मन ग्रादि भी लौकिक है यदि ग्राधिदैविक दिव्य के लिये कहा गया होता तो ग्रन्यत्र "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" 'मन सौ वेत्तदाप्रव्यम्' श्रुतिभगवती में यों कहा जाता कि 'उपनिषदों में जिस पुरुष का प्रतिपादन है उसका प्रश्नकर्ता है ग्रर्थात् उसके लिये पूछता हूं तथा मन से ही यह पुरुष प्राप्त करने योग्य है' ये "श्रुति वाक्य विरूद्ध हो जावेगें ग्रतः दोनों रूप शब्द ब्रह्म के ही हैं उसके माहात्म्य प्रतिपादन के लिये दोनों ही रूप कहे हैं, यह ही ध्यान में लोक 'व्यक्ताव्यक्तात्मन' विशेषण दिया है कि ब्रह्म व्यक्त (प्रकट) व ग्रव्यक्त (ग्रप्रकट) भी है, उस शब्द ब्रह्म का हृदय कहीं तो स्पष्ट है ग्रौर कहीं ग्रस्पष्ट, है, यदि यों न होता तो ब्रह्म स्वरूप स्पष्ट सरलतया जानने में ग्रा जावे इसलिये इसमें भी भगवान् का ही नियामकपन ' परं ' शब्द से सिद्ध किया है, क्योंकि 'नाना शक्त्यु पबृहितम्' भगवान् में ग्रनेक शक्तियां हैं इस कारण से ही ऐसे वचन न होते तो भगवान् की उन गुप्त शक्तियों का पता कैसे लगे ? इसलिये प्रकाश का निषेध नहीं कर गुप्त शक्तियों का स्वरूप प्रकट करते हैं।

ग्रतः ब्रह्म के प्रकाश के लिये प्रवृत्त शब्द ब्रह्म के कार्य का भी प्रकाश करता हैं, ब्रह्म से ग्रर्थात् क्रिया से प्रकाशित होता है वेद से प्रकाशित होता है ग्रर्थात् ज्ञान से प्रकाशित होता है ॥ ४६ ॥

ग्राभास — एवमाधिदैविकसृष्टिमुक्त्वा सात्त्विकीमाधिभौतिकी सृश्टिमाह——

ग्राभासार्थ—यों ग्राधिदैविक सृष्टि कह कर ग्रब इस श्लोक में सात्विकी ग्राधिभौतिकी सृष्टि कहते हैं—

श्लोक—**ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे ।**
ऋसोणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ—ग्रनंतर ब्रह्माने दूसरी देहधारण कर ग्रन्य प्रकार की सृष्टि रचने की इच्छा की, यद्यपि वे ऋषि बहुत पराक्रमी थे तो भी सृष्टि का विस्तार न हुग्रा ॥४६॥

सुबोधिनी—ततोऽपरामुपादायेति। **ग्रपरां** तनुमुपादाय ग्रन्यादृशीं सृष्टिं कर्तुं **मनो दधे**। नन्वेतावतैव मरीच्यादिद्वारा सृष्टि र्भविष्यतीति किं प्रकारान्तरसृष्टयेत्याशङ्कयाऽऽह— **ऋषीणामिति**

यद्यपि भूरिवीर्याणि येषाम् । न हि मदपेक्षया ते वीर्यवन्तः उत्पादिता वा पञ्चषाः; तैः किम् ? तावता सर्गस्य विस्तारस्तु न भविष्यत्येव, प्रकारस्याऽनुत्पादितत्वात् । अतः प्रकारकरणार्थं शरीरान्तरेण कार्यं कर्तुं मनो दध इत्यर्थः ॥४७॥

व्याख्या—ब्रह्मा दूसरा शरीर धारण कर अन्य प्रकार की सृष्टि रचना पर ध्यान (मन) देने लगा, ऐसी ही सृष्टि मरीचि आदि रच देंगे तो फिर अन्य प्रकार की सृष्टि रचने से क्या लाभ ? इस पर कहते है कि, यद्यपि वे ऋषि बहुत पराक्रमी है तो भी मुझसे विशेष बलवान नहीं हैं फिर उनसे पांच छः ही उत्पन्न किये हैं, उनसे क्या होगा ? इतने से तो सृष्टि विस्तार नहीं होगी और सृष्टि का प्रकार भी नहीं बताया हैं । इसलिये अन्य प्रकार से करने के लिये दूसरा शरीर-धारण करने के लिये मन लगाया (ध्यान दिया) ॥ ४७ ॥

आभास—'अशक्ये हरिरेवाऽस्ति' इति न्यायमाश्रित्य पूर्वं तपस्यल्पीयसि कृते प्रसन्नोऽपि भगवान् पुनस्तप आदिष्टवान् । तथाऽपि, यद्यपि प्रकारः कर्त्तव्य इति निश्चितम्, तथापि कः प्रकारः कर्तव्य इति भूयश्चिन्तयामासेत्याह—

आभासार्थ—'अशक्ये हरिरेवाऽस्ति', इस न्याय का आश्रय कर, पहले तपस्या थोड़ी से भी भगवान् प्रसन्न हुए थे जिससे फिर तपस्या करने की आज्ञा दी है वैसे यहां भी यद्यपि प्रकार कर्त्तव्य है यों निश्चय हैं तो भी कोन-सा प्रकार करना चाहिये, यों फिर विचार (भगवत्स्वरूप का चिन्तन) करने लगे, जिसको इस श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**ज्ञात्वातद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव ! ।**
अहो ! अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्याऽपि नित्यदा ॥
नह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम् ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—हे कौरव ! वह हृदय में जानकर फिर उस स्वरूप का चिन्तन करने लगा । अहो ! यह अचम्भा है कि, हमेशा कार्य में रहने पर भी प्रजा की वृद्धि नहीं होती है अतः ये समझा जाता है कि इसमें दैव विघ्न है ॥ ४८ ॥

सुबोधिनी—ज्ञात्वेति । यस्मिन् स्वरूपे चिन्तिते उपायः कर्तव्य इति ज्ञातम्, पुनस्तदेव हृदये चिन्तयामास । **कौरवेति** आपाततो न कार्यानिवृत्तिः कर्तव्या, किन्त्वादेहपातपर्यन्तं कार्यं कर्तव्यमिति; यथा कुरुणा कृतमितीममर्थं ज्ञापयति । तस्य चिन्तामेवाऽऽह—**अहो इति** ।

कृतोऽपि प्रकार: भगवदानुगुण्याभावे न सेत्स्यति, अन्यथा उत्पादितैरेव सर्वै: सर्वकरणे जगत्पूरितमेव स्यात् । अहमेक एव यथा कृतवान्, तथा एतेऽपि मरीच्यादयो बीजरूपाः कुर्यु:, तदैतावता सर्वमेव 'पूरितं भवेत्, अत: किञ्चिदस्ति प्रतिबन्धकम् । तच्चिन्तनेन ज्ञात्वा आश्चर्येणाऽऽह—**अद्भुतमिति** । य एव भगवान् सृष्टयर्थमाज्ञापितवान्,स एव प्रतिबध्नातीति । न च सहकार्यभाव: शङ्कनीय इत्याह—**व्यापृतस्याऽपिनित्यदेति** । सर्वदा व्यापृतस्याऽपि मे **प्रजा:**, हि निश्चयेन, **नैधन्ते** वृद्धिं न प्राप्नुवन्ति । अतो दृष्टस्य प्रतिबन्धकस्याऽभावात् दैवमेव विघातकम् ॥४८॥

व्याख्या जिस स्वरूप के चिन्तन करने से यह ज्ञान हुआ कि सृष्टि के प्रकार तथा वृद्धि के लिये उपाय (तप) करो, उसी तरह स्वरूप का फिर हृदय में चिन्तन करने लगा ।

हे कौरव ! इस संबोधन से सूचना दी कि जल्दी ही कार्य से निवृत नहीं हो जाना, किन्तु जैसे कुरु ने किया वैसे देह पड़े तब तक कार्य करते ही रहना चाहिये अब उस (ब्रह्मा) की चिन्ता को कहते हैं ।

अहो ! आश्चर्य है ? प्रकार करते हुये भी बिना भगवान् की अनुकूलता की सिद्धि नहीं होगी यदि भगवत्कृपा हो तो जो यह सर्व उत्पन्न किया है उस सामग्री से हो सकल जगत् भरपूर हो जावे । जैसे मैंने अकेले ही जो किया था वैसे मारिचि आदि भी बीज रूप करें तब तो इतने से सब भर जावे, अतः ऐसा समझ में आता है कि कोई प्रति बंधक है यों सोच कर आश्चर्य से कहने लगा आश्चर्य है ! जिस भगवान ने सृष्टि रचनार्थ आज्ञा दी वह ही प्रतिबंधक बने हैं और उनका सहकार नहीं है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये । सदैव कार्य में लगे होने पर भी मेरी प्रजाएँ बढ़ती ही नहीं है दृष्ट (दिखने में) तो कोई भी प्रतिबंधक नहीं है किन्तु दैव ही विघ्न कर्ता है ॥ ४८ ॥

श्लोक—**एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ।**
कस्यरूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ—इस तरह जो उचित था वह किया फिर दैव क्या करता है जिसका निरीक्षण करने लगा तब ब्रह्मा की देह के दो भाग हो गए । जिस (देह) को (काय) नाम से लोक कहते हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—एवं निश्चित्य भगवदाज्ञां युक्तप्रकारेण कुर्वन् स्थितो भगवच्चिन्तनमेव कृतवान् । **तदा तस्यैवं** प्रकारेण **युक्तकृत:**, कदा भगवान् । प्रसन्नो भविष्यतीति **दैवं चाऽवेक्षत:**, तस्याऽशक्तिं ज्ञात्वा: भगवानेव **कस्य** ब्रह्मण:, रूपं द्विधा कृतवान् । तदा तस्य रूवं **द्वेधा अभूत्** । तदा

तच्छकलद्वयं **कायमभिचक्षते** लोकाः । का इयम्, कोऽयमिति वक्तव्ये, एकस्य विशेष्यम्, अपरस्य विशेषणं लोपयित्वा द्वयमेकीकर्तुं कायमित्याहुः । अनेन स्त्री स्वतो विशेष्यरहिता, पुरुषश्च विशेषणरहितः । अत उभयं मिलित कायशब्दवाच्यं भवति ॥४९॥

व्याख्या—इस प्रकार निश्चय कर भगदाज्ञा का उचित रीति से पालन करता हुआ भगवचिंतन ही करने लगा, तब उसके इस प्रकार से उचित करने से भी भगवान् कब प्रसन्न होगें वह समय देखने लगा, भगवान् ने देखा (सोचा) कि इसमें (ब्रह्मा में) शक्ति नहीं है तब भगवान् स्वयं ने ही ब्रह्मा के रूप के दो भाग किये जिससे ब्रह्मा के दो रूप बन गये, तब लोक उन दो भागों को 'काय' नाम से पुकारने लगे, इससे स्त्री भाग विशेष्य 'इयम्' का लोप किया जैसे कि 'केयम्' में का इयम् दो पद हैं 'इयम्' विशेष्य है जिसका लोप करने से शेष 'क' पद बना, और 'कोऽयनम्' में 'क' विशेषण है जिसका लोप होने से शेष 'अयम्' बचा, दोनों मिल 'काय' पद हुआ जिससे इसे लोक 'काय' नाम से कहने लगे ॥४९॥

आभास—ततः किं जातमित्यत आह—

आभासार्थ—इसके बाद क्या हुआ ? जो हुआ व इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ।**

यस्तु तत्र पुमान्सोऽभून्मनुः स्वायंभुवः स्वराट् ॥५०॥

स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ।

तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे॥५१॥

श्लोकार्थ—देह के उन दो विभागों से एक जोड़ा (जुगल—स्त्री पुरुष) उत्पन्न हुआ उसमें जो पुरुष था वह स्वायम् मनु, चक्रवर्ती हुआ वह स्त्री इस महात्मा मनु की पत्नी महाराणी हुई जिसका नाम शतरूपा धरा गया यों होने के बाद मिथुन धर्म से प्रजा निश्चित् रूप से बढ़ने लगी ॥ ५० । ५१ ॥

सुबोधनी—**ताभ्यामिति** । रूपस्य **विभागाभ्यां** शकलाभ्याम् । **ताभ्यामिति** भगवत्कृताभ्याम्, अन्यथा कार्यनाशे शकलाभ्यां न किञ्चिदुत्पद्येत अतो भगवत्कृताभ्यां शकलाभ्यामेकं **मिथुनं समपद्यत** । मिथुनमेकं कार्यम्, अन्यथा पुरुषोऽर्द्ध-खण्ड एव, '**अर्द्धवृगलम्**' इति श्रुतेः । **समपद्यतेति** भगवत्कृतमनायासेनैव जातमिति, ततोऽप्यग्रे कार्यं भविष्यतीति ज्ञापितम् । तद्युगलद्वयं **नाम्ना** निर्दिशति **यस्त्विति** । तयोर्मध्ये **यः पुमान् स मनुः**, मननाज्जात इति । या सृष्टिप्रकाररूपा, सा स्त्री । शतरूपेत्याख्या नाम यस्याः सा आसीदिति । मनुशब्दो यौगिक इति **स्वायंभुव**

इत्युक्तम् । **स्वराडिति** भगवदंशाज्जायत इति ज्ञापयति, ऐश्वर्यादिगुणवत्त्वात् । अतस्तेनापि सृष्टिः सेत्स्यतीति भावः । शतानि रूपाणि यस्या इति नित्यनूतनत्वेन मनोभोगाधिक्यं सृष्ट्याधिक्यं च सूच्यते । **महिषी सर्वकामघ्री** । निरूपण समये भगवदीयत्वेन भगवति प्रविष्टत्वात्, यत्र यत्र भगवांस्तत्र तत्र स इति, **अस्येत्युक्तम्** । इममेवाऽर्थं ज्ञापयति-**महात्मन** इति । महान् भगवान् आत्मा यस्य । तस्य मिथुनस्य बीजत्वं ख्यापयति-**तदेति** । **मिथुनं** मिथुनीभावः, स एव धर्म उपायः । तदा आनन्दे निविष्टाः प्रजा **एधाम्बभूविरे** । इममेवार्थम् **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'** इति हिशब्दः सूचयति । अत्रापि हिशब्दस्तमेवार्थमाह। स्वत एव एधाम्बभूविरे, नाऽऽज्ञादिकमपि तत्राऽपेक्षितम् ॥५०॥५१॥

व्याख्या—भगवान् ने जो ब्रह्मा रूप के दो भाग किये उनमें से एक युगल जोड़ी (स्त्री और पुरुष) उत्पन्न हुआ यह एक कार्य है यदि यह भाग भगवत्कृत न होते तो कार्य नाश होने पर भागों (टुकड़ों) से कुछ बनता नहीं, यों नहीं होता तो श्रुति के अनुसार पुरुष आधा खण्ड ही कहलाता 'अर्द्ध वृगलं' (इति श्रुतेः) भगवान् से बनने के कारण कुछ कष्ट भी न हुआ इससे आगे भी कार्य होता ही जायेगा कुछ रूकावट नहीं होगी यह सूचना इससे दे दी।

इन दोनों में जो भाग पुरुष था वह मनन करने से 'मनु' हुआ और जो भाग सृष्टि के प्रकार का रूप था वह 'स्त्री' हुई उसका 'शतरूपा' नाम धरा गया (मनु) शब्द यौगिक इसलिये स्वयंभुव; कहा गया स्वराट् विशेष से बताया है कि यह 'भगवदंश' से प्रकटा है क्योंकि इसमें ऐश्वर्यादि गुण मौजूद हैं अतः उससे भी सृष्टि होगी, शतरूपा नाम का आशय प्रकट करते है कि इस स्त्री के सैकड़ों रूप होने से इससे नित्य नूतनता है। जिससे मनु विशेष भाग और विशेष सृष्टि इसके द्वारा करेगा। 'महिषी' पद से बताया है कि यह सर्व प्रकार की कामनाओं को देने वाली है इसका जब निरूपण होता है उस समय इससे (मनु ने) भगवदीय होने से भगवान् में प्रवेश किया था जहां जहां भगवान् वहां वहां वह (मनु) भी है इसलिये 'अस्य' पद दिया है इसी ही अर्थ को 'महात्मनः' विशेषण से बताया है महान् (भगवान्) आत्मा जिसकी वह मनु है उस जुगल का बीजपन प्रसिद्ध करते हैं तथा मिथुन इस पाद से सृष्टि बढाने का प्रकार यह है कि 'मिथुन' मिथुनिभावः अर्थात् स्त्री पुरुष दोनों भागों का परस्पर मिलन, वह मिलन ही उपाय है किन्तु धर्म है तब इसमें आनन्द प्रविष्ठ प्रजाएँ बढती रहेगी, इसलिये ही श्रुति में इस वास्ते 'आनन्दाध्येव खंत्विमानि भूतानि जायन्ते' ये भूत मात्र आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं इसमें 'हि' पद ने निश्चितता बताई है इस श्लोक में भी 'हि' शब्द निश्चय वाचक है, आप ही आप स्वयं बढने लगे आज्ञादि की भी आवश्यकता नहीं है ॥ ५० । ५१ ॥

आभास—एवं मैथुनस्य प्रकारत्वमुपपाद्य प्रथमे तं प्रकारं योजयति—

आभासार्थ—इसी तरह मैथुन का नमूना जिससे प्रजा की उत्पत्ति होगी वह प्रतिपादन कर

पहले वह प्रकार इस श्लोक में कराके बताते हैं।

श्लोक—स चाऽपि शतरूपायां पञ्चाऽपत्यान्यजीजनत् ।
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत ! ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ! ।। ५२ ।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! उसने भी शतरूपा में से प्रियव्रत् और उत्तानपाद दो पुत्र तथा आकृति देवहूति एवं प्रसूति तीन कन्याएँ यों पांच सन्तति पैदा की ।।५२।।

सुबोधिनी—स चाऽपीति। स बीजभूतोऽपि, चकाराद्भगवानपि । अतस्तत्पुत्रयोर्द्विरूपत्वम् । मनुप्राधान्ये उत्तानपान्मुख्यः, स विसर्गोपयोगी । भगवत्प्राधान्ये प्रियव्रतः, स स्थानोपयोगी । कन्या चैका । भगवदीया द्वितीया, अतस्तस्याः प्राधान्यम् परं सर्गोपयोगित्वादत्रैव कथनम् । तृतीया कन्या स्त्रीप्रार्थनया । एवं समुदायेन पञ्चाऽपत्यानि । **शतरूपायामिति** तस्या अधिकरणत्वमेव, न तु जनकत्वम् । तेन पञ्चाऽपत्यान्यपि न प्राकृतानीति ज्ञापितम् । प्रियव्रतोत्तानपादौ पुत्रौ । पुरुषैः सह स्त्रीणां नाम न ग्राह्यमिति **तिस्रः कन्या** इत्युक्तम् । **भारतेति** मोहाभावाय । स्त्रीप्रसङ्गोऽपि मोहहेतुः । तासां नामानि निर्दिशति-**आकूतिरिति** । **इति**-शब्दो नामान्तरव्युदासार्थः । **सत्तमेति** पुनः संबोधनं पूर्ववत् पुरुषसंबन्धकथनात् ।। ५२ ।।

व्याख्या—वह बीजरूप (जीवरूप) एवं 'च' शब्द से भगवद्रूप था अतः, उसके पुत्र दो रूप वाले थे मनु के जीव प्रधानत्व से उत्तानपाद मुख्य था जिससे विसर्ग लीला में उपयोगी था भगवान् की प्रधानता से प्रियव्रत मुख्य था जिससे वह स्थान लीला के उपयोगी था एक कन्या थी दूसरी भगवदीया थी भगवदीया होने से उसकी प्रधानता थी किन्तु सर्ग में उपयोगी होने के कारण उसका यहां ही वर्णन किया है तीसरी कन्या स्त्री की प्रार्थना से हुई इस तरह सब मिलकर सन्तान हुए 'शतरूपायां' पद से स्त्री का अधिकरणपन ही कहा है न कि जनफल कहा है इससे ये पांच सन्तान भी प्राकृत नहीं है प्रियव्रत और उत्तानपाद पुत्र थे अतः पुरुष थे पुरुषो के साथ स्त्री के नाम नहीं लेने चाहिये इसलिये तीन कन्याएँ यो कहा, नाम नहीं लिये 'इति से यह भावार्थ प्रकट होता है।

हे भारत ! यह सम्बोधन विदुर को मोह के अभावार्थ दिया है स्त्री का प्रसङ्ग भी मोह का कारण होता है।

उनके नामों का अब पृथक निर्देश करते है अर्थात् कहते हैं कि आकृति देवहूति और प्रसुति ये नाम थे। 'इति' से यह भी सूचित किया है कि इनके दूसरे नाम नहीं थे सत्तम ! हे उत्तमः ! यह सम्बोधन फिर देने से पूर्व की तरह पुरुष सम्बन्ध है यों बताया है ।। ५२ ।।

आभास—तासां विनियोगमाह

आभासार्थ—निम्न श्लोक में कन्याओं के विनियोग को कहते हैं—

श्लोक— **आकूतिं रुचये आदात्कर्दमाय तु मध्यमाम् ।**
दक्षायाऽदात्प्रसूतिं च यत् आपूरितं जगत् ॥५३॥

श्लोकार्थ—'आकूति' रुचि को दी । बीचवाली कन्या कर्दम को और प्रसूति दक्ष को अर्पण की जिनसे जगत् परिपूर्ण हो गया ।

सुबोधिनी—**आकूतिमिति** । रुचिर्ब्रह्मपुत्रः कल्पान्तरोत्पन्नः । **कर्दमाय त्विति** तु शब्दः स्वापत्यतां वारयति । कर्दमोऽपिच्छायया जातः, छायायां कालएवोत्पादको भगवद्रूपः । अतो नाऽधर्मसंबन्धः केनाप्यंशेन । मध्यमामिति महत्या नाम पुनः पुनर्न ग्राह्यमिति सूचयति । **प्रसूतिरिति** नाम्ना स्त्रीप्राधान्यादुत्पन्ना देयैवेति । गुणान्तराभावेऽपि चातुर्यमेव दक्षेऽस्ति । अङ्गुष्ठाज्जात इति भगवज्जातत्वम् '**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च स माश्रितः**' इति श्रुतेः । अतः **प्रसूतिं दक्षायाऽदादिति** । प्रसूतिं चाऽदादिति चकारसंबन्धः, न तु दक्षाय प्रसूतिं चेति । ततो यज्जातं तदाह— **यत आपूरितं जगदिति** । महाभूतानां विस्तारेण यथा जगत् पूर्यते तथा पञ्चभिरेव जगत्पूरितमिति ॥ ५३ ॥

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्ष्मण भट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित विरचितायां तृतीये स्कन्ध द्वादशाध्याय विवरणम्

व्याख्या—रुचि कल्पान्तर में (दूसरे कल्प में) ब्रह्मा से उत्पन्न पुत्र था । 'कर्दमाय तु' इसमें 'तु' पद से कर्दम के पुत्रत्व का निषेध करता है । कर्दम छाया से उत्पन्न हुआ था । छाया में से उत्पन्न करने वाला भगवद्रूप 'काल' ही है इसलिये किसी भी तरह अधर्म का अंश नहीं है । नाम न लेकर मध्यमा क्यों कहा जिसका आशय प्रकट करते हैं कि महती (बड़ी) का नाम बार बार नहीं लेना चाहिये । 'प्रसूति' इस नाम से ही स्त्री प्राधान्य है । अतः देनी ही चाहिये, यद्यपि इसमें अन्य गुण नहीं थे किन्तु एक 'चातुर्य' गुण था और दक्ष 'अंगुष्ठा ज्जाता' इस वाक्य से दक्ष भगवान् (ब्रह्मा) के अंगुष्ठा में उत्पन्न हुवा है अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः इति श्रुतेः । श्रुति कहती है कि पुरुष अङ्गुष्ठ जितना है और यह पुरुष अङ्गुष्ठ का आश्रय कर रहता है । अतः प्रसूति दक्ष को समर्पण की 'च' कहने से दिखाया है दातृत्व का सम्बन्ध प्रसूति से था न कि दक्ष से था । यों करने से

जो हुआ सो कहते हैं कि यत 'आपूरितं जगत्' जैसे पंच महाभूतों से जगत् भरपूर हो गया है वैसे प्रसूति पांच सन्तानों से समग्र संसार भर गया है ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के बारहवें अध्याय की श्रीमद्वल्ल-भाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग गुर्जरी–रे मन मूरख जनम गंवायो ।
करि अभिमान विषय सों राच्यो श्याम शरण नहिं आयो ॥
यह संसार फूल सेंवर को सुन्दर देखि भुलायो ।
चाखन लाग्यो रुई उडि गई हाथ कछु नहिं आयो ॥
कहा भयो अबकें मन शोचै पहिले नहिं कमायो ।
कहत सूर भगवन्त भजन बिनु सिर धुनि धुनि पछतायो ॥ ६५ ॥

राग सारंग–फिरि फिरि सो इहै करतु ।
जैसे प्रेम पतङ्ग दीपक सों पावक हूँ न डरतु ॥
भव दुख कूप ज्ञान करि दीपक देखत प्रकट परतु ।
काल व्याल रज तम विष ज्वाला कत जड़ जन्तु जरतु ॥
अबि हित स्वादु बिबाद सकल मति इन लगि भेषु धरतु ।
यहि विधि भ्रमत सकल निशि दिन गत कछु न काज सरतु ॥
अगम सिंधु जतननि सजि नौका हठि क्रम भार भरतु ।
सूरदास के यहैं व्रत कृष्ण भजि भवजल निधीं उतरतु ॥ ६६ ॥

राग केदारो–रह्यो मन सुमिरन को पछतायो ।
वह तनु राचि राचि कै विरच्यो कियो आपुमन भायो ॥
मन कृत नदी तरंगतें जबहि बह्यो चरन्यौ जु सवायो ।
मेल्यो काल लाल जब खैंचे भयो मीन को हायो ॥
कीर पढ़ावत गणिका तारी अजामेल सुख पायो ।
ऐसो सूर गुण नाहिन दूजो दूरि करे जम दायो ॥ ६७ ॥

(सूर सागर से उध्रित)

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

(बन्ध सृष्टि) उपोद्घात प्रकरण

"अध्याय"—१३

वाराह अवतार की कथा

कारिका—एवं द्वादशधा सर्गस्त्रिविधो ह्युपपादितः ।
तस्य कारणरूपं हि यादृश तदिहोच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—ऐसे त्रिविध (तीन प्रकार की) सृष्टि का द्वादश (१२) प्रकार से निरूपण किया, अब १३ वें अध्याय में उस सृष्टि के कारण का जैसा रूप है वैसा कहा जाता है ॥ १ ॥

कारिका—सर्ववेदार्थरूपो हि वराह इति विश्रुतः ।
स एव कारणं सृष्टौ वैदिक्यामिति निश्चयः ॥ २ ॥

कारिकार्थ- प्रसिद्ध है कि वराह भगवान् वेद अर्थ रूप होने के कारण वैदिक सृष्टि का निश्चित कारण रूप है । यों निश्चय है ॥ २ ॥

कारिका—अन्यथा प्राकृती सृष्टिः, स्वप्नतुल्यैव सा भवेत् ।
अतो वैदिकसृष्टित्वज्ञापनाय वराहता ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—यदि समस्त वेद का अर्थ रूप भगवान् सृष्टि का उपादान न बने तो प्राकृति

सृष्टि भी स्वाप्निक सृष्टि के समान हो जावे अतः इस सृष्टि की वैदिकता बताने के लिये ही वराहता कही है। ॥ ३ ॥

कारिका— भूमिस्तु देवयजनं रोमभिर्बर्हिषो भवः।
पात्राणि सर्वावयवैस्तेन यज्ञस्त्रयोदशे ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—पृथ्वी यज्ञ करने का स्थान है। वराह यज्ञ का स्वरूप होने से वेदों का पदार्थ रूप हैं। अतः उसके रोमों से (बालों से) यज्ञ की सामग्री उत्पन्न होती हैं। जैसे वराह के अवयवों में से यज्ञ के पात्र बने हैं इसलिये १३ अध्याय में यज्ञ का निरूपण है ॥ ४ ॥

कारिका—सृष्ट्यर्थं, तस्य भवनमित्यर्थं, संगतिस्तथा।
ब्रह्मणा सह संवादो मनोः कल्पान्तरे पुनः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—सृष्टि की जगत् में प्रकृति होती रहे इसलिये यज्ञ रूपवराह भगवान् का प्राकटय हुआ है, तदनुसार ही संगति है मनु का ब्रह्मा के साथ संवाद दूसरे कल्प में हुआ है। कल्पान्तर की कथाओं के कारण ही यहां शंकाएँ होती हैं। अन्यथा कोई शङ्का नहीं ॥ ५ ॥

कारिका—रसातलान्तपर्यन्तं पृथिवी पूर्वमुद्धृता।
पश्चाङ्गुल्या पञ्च लोका ह्युद्धृता अतलादयः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—पहले रसातल तक पृथ्वी का उद्धार किया अनंतर पांच अङ्गुलियों से अतल आदि पांच लोकों का उद्धार किया यह प्रसंग पुराणान्तरादि का यहां कहा है ॥ ६ ॥

कारिका—यज्ञभूमित्वसिद्ध्यर्थं पुष्करे प्रथनं ततः।
एषा स्थितिः पूर्वकल्पे, रसातलगता ततः ॥ ७ ॥

कारिका—प्रजापतेरुद्धृतत्वान्निराधारा जलं विशेत्।
वराहकल्पे प्रथमे सर्वोत्पत्तिर्विनिश्चिता ॥ ८ ॥

कारिका—ततस्तद्भेदकल्पेषु नष्टोत्पत्तिर्न सर्वतः।
प्रक्रियान्तरभावेन ततः सृष्टिरिहोच्यते ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—अनन्तर पृथ्वी यज्ञ करने के योग्य हो तदर्थ उसको कमल पर धरा 'यही स्थिति पूर्व कल्प में थी इसके बाद प्रजापति ने कमल का तत्व निकाल लिया तब निराधार होने के कारण भूमि ने जल में प्रवेश किया। पहले वराह कल्प में सकल जगत् की उत्पत्ति हुई है यह निश्चय है वराह कल्प के बाद जो अन्य उपकल्प हुए है उनमें जो पृथ्वी नष्ट हुई है उस पृथ्वी का ही उद्धार किया

१— तैत्तिरीय उपनिषद् से कहा है (प्रकाश)

है (उत्पत्ति हुई है) न कि सम्पूर्ण पृथ्वी डूब गई, उसका उद्धार हुआ है अतः यहां दूसरे प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति होना कहा है ॥ ७-८-९ ॥

कारिका—हिरण्याक्षादिदैत्यानां रसातलगता स्थितिः ।
अपेक्षितानामर्थानां भिन्नकल्पेऽपि संभवे ॥ १० ॥

कारिका—लीलाकथनसिद्ध्यर्थमेकरूपेण वर्ण्यते ।
अतो नाऽत्र विरोधोऽस्ति केनाऽप्यंशेन निश्चितम् ॥ ११ ॥

हिरण्याक्ष आदि दैत्य रसातल में रहते थे सृष्टि की उत्पत्ति में आवश्यक पदार्थों की पृथक् कल्प में भी जरूरत पड़ती है अतः एक कल्प में उत्पन्न दूसरे में भी उपयोगी होते हैं इसलिये ही यह भगवान् की इस प्रकार की लीला है यों कहा जा सकता है अतः इनका एक प्रकार से ही वर्णन किया गया है जिसमें किसी अंश से भी विरोध नहीं है यों निश्चय है ॥ १०--११ ॥

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते सृष्टिनिरूपणार्थं मनुरुक्तः ।
तस्य कथं सृष्टिहेतुत्वमिति विचारः कर्तव्यः ।

आभासार्थ—इसी तरह पूर्वाध्याय के अन्त में सृष्टि के निरूपण के लिये मनु का वर्णन किया गया वह (मनु) सृष्टि का कारण है ? इसका विचार करना चाहिये ।

कारिका—यद्याधिदैविको देवस्तदर्थं संभविष्यति ।
कामादयश्च प्रबलास्तस्मात्सृष्टिस्तदा भवेत ॥ १ ॥

कारिकार्थ--यदि (जो) सृष्टि की उत्पत्ति के लिये आधिदैविक देव प्रकट हो और कामादि प्रबल होवे तो उसमें से सृष्टि हो ॥ १ ॥

कारिका--तत्रापि कामजनितो दोषश्चेन्न भविष्यति ।
अतो द्वितीयसृष्ट्यर्थ-मुपोद्घातद्वयं स्मृतम् ॥ २ ॥

उस सृष्टि में भी जो काम से उत्पन्न दोष न होवे तो सृष्टि उत्पन्न होवे अतः उसके लिये (अन्य सृष्टि के लिये) यों उपोद्घात[1] कहे हैं ॥ २ ॥

कारिका—प्रथमऽप्यत्र भावेन बीजमेतद् द्वयं मतम् ।
कारणद्वितयं लोके भगवान् जीव एव च ॥ ३ ॥

१—भगवत्प्राकट्य और दोष रहित काम

पहले में भी ये दो बीज कारण[1] रूप से कहे हैं लोक में भगवान् और जीव ये दो ही कारण हैं ॥ ३ ॥

आभास--अतो मनोः सृष्टिहेतुत्वसिद्धयर्थं सर्गद्वयमध्ये तस्य स्वरूपं निरूप्यते। इदं चरित्रं भगवदीयमिति ज्ञापयितुं स्वस्य दोषपरिहाराय विदुरमुखेन निर्णयं वदन् तत्प्रसङ्गमेव निरूपयति--

आभासार्थ—इसमें मनु सृष्टि का कर्त्ता बन सके तदर्थ दो सर्गों के मध्य में उसका स्वरूप निरूपण करते हैं यह चरित्र भगवदीय (भगवत्सम्बन्धी) है यों जताने के लिये अपने दोष के परिहार्थ अर्थात् हमको दोष न लगे विदुर के मुख द्वारा निर्णय कहलाने के लिए उस प्रसंग को ही शुकदेवजी निम्न श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**श्रीशुक उवाचः---निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप ! ।**
भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा हे नृप ! कथाकार मुनि की अति पवित्र वाणी सुन कर वासुदेव की कथा में आदर वाले विदुरजी ने फिर पूछा ॥ १ ॥

सुबोधिनी--निशम्येति । **वदतो मुनेर्वाचं निशम्य**। मुनिर्मननेन यदबाधितम्, भगवदाज्ञया प्रकटीकरणार्थमागतम्, तदेववदतीति तद्विस्तारस्तेनावश्यं कर्तव्य इत्यभिप्रेत्य **भूयः पप्रच्छ**। किञ्च, **पुण्यतमां वाचं** स्वाधिकारप्रवृत्तिक्रियारूपाम् । नृपेति संबोधनं राज्ञ, कथाश्रवणं राज्ञां सुखकरमिति ज्ञापकम् । विदुरस्य **कौरव्येति** विशेषणं दृढकर्तृत्वख्यापकम् । **वासुदेवकथादृत** इति प्रसङ्गादपि वासुदेवकथां कथयिष्यतीति, राजचरित्रप्रश्नः, न तु राजभावेन ॥ १ ॥

व्याख्या कथा कहने वाले मुनि (मैत्रेयजी) की वाणी सुनकर (मुनि के लक्षण प्रकट करते हुए) कहते हैं मनन करने से जो सत्य समझने में आया उसको (सत्य को) भगवदाज्ञा से प्रकट करने के लिये आये हैं अतः उस सत्य का उनको (मुनि को) अवश्य विस्तार करना चाहिये, यों मन में अभिप्राय समझकर फिर विदुरजी मैत्रेयजी से किञ्च अपने अधिकार की प्रवृत्ति रूप क्रिया, जो बहुत पुण्य वाली वाणी थी वह पूछने लगे। हे नृप ! यह संबोधन इसलिये दिया है कि राजाओं को कथा सुनना सुख कर होता है।

१-दोष रहित काम होने के भी प्रयोजन हैं (१) भगवान् का प्रादुर्भाव होवे तब सेवा करने वाले दैवी जीव भी चाहिये। (२) कर्म आदिनाश से सेवकों के उत्पन्न होने में सरलता।

विदुरजी को कौरव्य विशेषण देकर यह सिद्ध किया है कि विदुरजी अपने कर्त्तव्य में दृढ रहने वाले 'वासुदेव कथादृत (वासुदेव की कथा में आदर वाले) हैं यों प्रसंग भी वासुदेव की कथा का ही चल रहा है जिससे वे (मैत्रेयजी) अवश्य कहेंगे ही, इसलिये राजा (मनु) के चरित्र का प्रश्न किया है, न कि राजभाव से प्रश्न किया है ॥ १ ॥

आभास—तस्य कार्यं चरित्रं च श्रोतव्यत्वं च रूप्यते श्लोकत्रयेण, तत्र प्रथमं तस्य पूर्वस्थितिमनूद्य कार्यं पृच्छति—

आभासार्थ–निम्न तीन श्लोकों से उसका (मनु का) कार्य चरित्र, श्रवण की योग्यता है यह निरूपण करते हैं इनमें पहले उसकी निम्न श्लोक में पूर्वस्थिति का वर्णन कर तत्सम्बन्धी कार्य पूछता है—

श्लोक—**विदुर उवाच । स च स्वायंभुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयंभुवः ।**
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ! ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—विदुरजी पूछने लगे कि, हे मुने ! स्वयभू के प्रियपुत्र, सम्राट् स्वायंभुव ने प्यारी पत्नि प्राप्त कर अनन्तर क्या किया ?

सुबोधिनी—**स चेति** । द्विरूपत्वं ज्ञातमिति ख्यापनार्थं चकारः । **स्वायंभुवः** सम्राडिति उभयानुवाद- । अत एव स्वयंभुवः पुत्रो भगवदीय इति । तस्यैव **प्रियश्च** । पूर्वं स्वायंभुवत्वमनूद्य तस्य भगवदीयत्वं विहितम्, तेन भगवदीयत्वं मुख्यम् । अतश्चरित्रश्रवणे हेतुत्वेन प्रथममुक्तः, प्रश्नात्सृष्टिहेतुत्वार्थं भगवदीयत्वमनूद्य ब्रह्मणः पुत्रत्वं विधीयते । अतो न पौनरुक्त्यम् । **प्रियां पत्नीमि**त्यत्रापि द्विरूपता । भगवदीयत्वात् प्रियात्वम्, पतनात्पत्नीत्वमिति । प्रतिलम्भः पुनः प्राप्तिः, कल्पान्तरेऽपि तद्भावेनैव प्राप्तत्वात् । उभयं मिलित्वा **किं चकारेति** प्रश्नः । ननु मेलनमेव सुखात्मकमिति न किञ्चित्करिष्यतीत्याशङ्क्य **तत** इत्युक्तम् । **मुने** इति संबोधनं तस्य परिज्ञानार्थम् । कथं स सृष्टिं कृतवानिति प्रश्नः ॥ २ ॥

व्याख्या---श्लोक में 'स' के साथ 'च' कहा है जिस 'च' का आशय है कि विदुरजी कहते हैं कि मैंने मनु के दो स्वरूप जाने हैं एक 'भगवद्रूप' और दूसरा 'मानव रूप', स्वायंभुव और चक्रवर्ती पद से दोनों रूप कहे है इसलिये स्वयंभू (ब्रह्मा) का पुत्र भगवदीय है और उसको पुत्र प्रिय है यों कहा है । पहले स्वायम्भुवत्व कहकर उसका भगवदीयत्व सिद्ध किया है, इससे मनु में भगवदीयत्व मुख्य है अतः चरित्र श्रवण करने के लिए 'स्वायंभुव' पहले कहा, सृष्टि के हेतुत्वार्थ प्रथम भगवदीयत्व कहकर अनन्तर ब्रह्मा के पुत्रत्व का विधान किया, इसलिये वह पुनरुक्ति दोष नहीं है । 'प्रिया' और 'पत्नी' यहाँ भी शतरूपाके दो रूपत्व हैं उसके भगवदीय होने के कारण 'प्रियात्व' है और मनु को सृष्टि कार्य के व्यापृत करने से पत्नीत्व' है, 'प्रतिलम्भः' का आशय है फिर प्राप्ति करना, शतरूपा कल्पान्तर में भी पत्नी भाव से ही प्राप्त हुई थी, दोनों ने

मिलकर क्या किया ? यह प्रश्न है । मिलन ही सुखात्मक(सुखरूप) है अतः अन्य कुछ नहीं करेंगे, ऐसी शङ्का होने से 'ततः' यों कहा, हे मुने ! यों संबोधन उसका (मुनि का) ज्ञान बताने के लिये उसने (मनुने) सृष्टि कैसे की? यों प्रश्न हैं ॥२॥

आभास—चरित्रं पृच्छति—

आभासार्थ—इस श्लोक से चरित्र पूछते हैं—

श्लोक—चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम ! ।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—हे पुरुषश्रेष्ठ ! उस राजर्षि का, जो मूल राजा है, उसका चरित्र मुझ श्रद्धालु को कहिये क्योंकि उसने विष्णु भगवान् का आश्रय लिया है ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—चरितमिति । तस्येति भगवदीयत्वं चरित्रश्रवणे हेतुः । **राजर्षेरिति** धर्महेतुत्वम् । **सत्तमेति** मिथुनवार्तया क्षोभाभावात् चरित्रं वक्तव्यमेवेति निर्द्धारितम् । कथने हेतुः- श्रद्दधानायेति । श्रद्धायां हेतुः- **विष्वक्सेनाश्रय** इति । तत्रापि हेतुः- **असाविति** । भगवत उत्पन्न एव भगवदाश्रयो भवति, आश्रित एव भगवदीयचरित्रे श्रद्दधानो भवति ॥ ३ ॥

व्याख्या—'तस्य' पद से यह सूचित किया है कि उसके चरित्र श्रवण करने का कारण यह है कि वह भगवदीय है, राजर्षि' पद से उसकी धर्म परायणता प्रकट की है । हे सत्तम ! संबोधन से यों जताया है कि स्त्री पुरुष के मिलन से क्षोभ न हो, इस प्रकार आप चरित्र बताओगे 'श्रद्दधानाय' पद से कहा है कि चरित्र अवश्य कहा जाय जिसका कारण मेरे में श्रद्धा है, श्रद्धा क्यों हुई है ? उसके लिये कहा है कि इस राजा मनु को विष्णु का आश्रय है । इस कारण से श्रद्धा हुई है उसमें भी कारण 'ह्यसो' पद से बताते हैं कि भगवान् से उत्पन्न ही भगवदाश्रय करता है और जो आश्रित है वह ही भगवदीय के चरित्र में श्रद्धालु होता है ॥३॥

आभास—भगवदीयानामपि चरित्रं श्रोतव्यम् ।
निराश्रयं चरित्रं स्वस्या श्रयत्वं न संपादयति, ततो न स्थिरं भवेत् ।
अतो महता कष्टेन श्रुतमपि भगवच्चरित्रमस्थिरत्वान्न फलपर्यवसायीति
भगवदीयानां चरित्रं श्रोतव्यम् । एतदेवाऽऽह—

आभासार्थ—जिन्होंने भगवान् का आश्रय किया है उनका चरित्र श्रवण करना चाहिये, क्योंकि जो भगवदाश्रयी भगवदीय नहीं हैं उनके चरित्र श्रवण से अपना आश्रय सिद्ध न होकर वह स्थिर नहीं होता है अतः महान् कष्ट से सुनाहुआ भी भगवच्चरित्र अस्थिर होने से फलदायी नहीं होता है इसलिये भगवदीयों के चरित्र सुनने चाहिये यों इस श्लोक में कहते है—

श्लोक—श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—अहो ! पुरुषों ने विशेष परिश्रम कर बहुत समय तक जो सम्पूर्ण भगवद्‌गुणानुवाद श्रवण किया है उसकी कवियों ने प्रशंसा इसलिये की है कि जिन भगवदियों के हृदय में मुकुन्द भगवान् के चरण विद्यमान हैं उनके चरित्र पीछेवाले मनुष्य भी श्रवण कर गुण गावें ।। ४ ।।

सुबोधिनी—श्रुतस्येति । **नन्विति** कोमलसंबोधनेन अनुभवोऽत्र प्रमाणमिति सूचितम् । श्रुतस्य भगवद्गुणानां श्रवणस्य, अग्रे वक्ष्यमाण एव, अर्थः प्रयोजनं भवतीति **सूरिभिरीडितः** । अध्ययनादिना बुद्धिवैशद्यहेतुना यः कश्चन पदार्थः श्रुतस्तस्य वा फलमग्रिमवार्त्ताविशदा बुद्धिर्भगवद्गुणानां स्थित्यर्थं । पुष्कलापि बुद्धिरनेकगुणानां ग्रहणार्थे । महता श्रमेण श्रवणस्य ग्राहकत्वमपि भगवदर्थमेव । भगवदीया गुणाः श्रुताः स्थिराः फलपर्यवसायिनो मृग्यन्ते । तत्र स्थैर्यं भगवदीयचरित्रहेतुकमिति प्रथमतः श्रुतं चरित्रं स्वस्थित्यर्थं भगवदीयचरित्रश्रवणे रुचिमुत्पादयति, अतो भगवच्चरित्रस्यापि भगवदीयचरित्रश्रवणं फलम् । सुष्ठुचिर श्रमो यस्मिन् । **अञ्जसा** सामस्त्येन । सूरयो हि साधनमेव स्तुवन्ति, न फलम्; साधनाधीनत्वात् । तमर्थमाह**तत्तद्गुणानुश्रवणमिति** । येन येन गुणेन भगवद्भक्तसंबन्धिना भगवच्चरणारविन्दं तेषां हृदये तिष्ठति, स तदीयो गुणो भगवच्चरणारविन्दस्थापकः श्रवणस्य फलम् । पूर्वश्रवणस्य तत्तद्गुणानुश्रवणं फलमिति सजातीयत्वान्न विरोधः । भगवदीया एव गुणा भक्तेषु स्थितास्तथा भवन्तीति न विरोधः । फलमुखेन गुणानां निरूपणात् न गुणान्तरोद्भावनेन दूषणं शङ्कनीयम् । तस्माद्भगवच्चरणारविन्दस्थापका गुणाः श्रोतव्या इति मनोश्चरित्रस्य श्रोतव्यत्वम् । अनेन प्रियत्वादिकमपि तस्य सूचितम् । ४ ।।

व्याख्या—'ननु' (अहो) इस कोमल संबोधन से यह सूचित किया है कि इसमें अनुभव ही प्रमाण है । सुने हुए भगवद्‌गुणों का प्रयोजन कवियों ने प्रशंसा द्वारा बता दिया है कि उनके (गुणों के) श्रवण से व अध्ययनादि से बुद्धि का निर्दोष होना तथा विशद होना है, जो कुछ सुना, उसका फल भगवद्‌गुण स्थिर रहे तदर्थ यह बुद्धि की विशालता होना है अनेक भगवद्गुणों को ग्रहण करने के लिये विशाल बुद्धि की आवश्यकता है यह विशालता श्रवण द्वारा ही प्राप्त होती है, महान् श्रम से श्रवण का ग्राहकत्व भी भगवदर्थ ही है ऐसा इच्छा रहती है कि सुने हुए भगवद्‌गुण स्थिर रहें एवं फलदायी हों उसमें जो स्थिरता है वह भगवदीयचरित्र हेतुवाले हैं इसलिये पहले सुना हुआ चरित्र अपनी ही स्थिरता करने के लिये भगवदीय चरित्र श्रवण में रुचि पैदा करता है, अतः भगवच्चरित्र का फल भी भगवच्चरित्र श्रवण ही है जिसमें बहुत श्रम करना पड़ता है। सम्पूर्णतः श्रवण करने का जो कवि वर्णन करते हैं वह साधन रूप से है, न कि फल रूप से है, क्योंकि फल साधन के आधीन है वह 'तत्तद्‌गुणानुश्रवणं' पद से कहते हैं—जिस जिस भगवद्भक्त के सम्बन्धी गुण से भगवच्चरणाविन्द उनके हृदय में स्थित होते हैं वह उनका गुण भगवच्चरणारविन्दों का स्थापना करने वाला है अतः वह श्रवण का फल है । पूर्व जो श्रवण किया उसका उन उन गुणों का फिर श्रवण फल है, श्रवण एक ही जाति का है इसलिये विरोध नहीं है भगवाम् के ही गुण भगवदीय हैं अतः वे गुण भक्तों में स्थित होकर रहते हैं इसलिये कुछ विरोध नहीं है गुणों को

फल रूप कहा है वे दूसरे गुण उत्पन्न करेंगे यह दूषण शंका के योग्य नहीं है, इसी कारण से हृदय भगवच्चरणों को स्थापित करने वाले गुण सुनने ही चाहिये। इस मनु का चरित्र श्रवणीय है। इससे उसके चरित्र का प्रियत्वादिगुण भी है ॥४॥

आभास--एवं भगवच्चरित्रपरं श्रोतारमुपलभ्भ संतुष्टो मैत्रेय इत्याह--

आभासार्थ—भगवच्चरित्र में प्रेम वाला श्रोता पाकर मैत्रेयजी सन्तुष्ट हुए यों शुकदेवजी कहने लगे।

श्लोक-श्री शुक उवाच:-इति ब्रुवाणंविदुरं विनीतम सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम्।
प्रहृष्ठरोमा भगवत्कथायाम् प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥५॥

श्लोकार्थ--श्री शुकदेवजी ने कहा कि यों कहते हुवे विनय वाले और सहस्र मस्तक वाले के चरणों का आसन रूप विदुर को भगवत्कथा में प्रेरित होने से उत्पन्न आनन्द के कारण रोमाञ्चित वाले मुनि कहने लगे ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—इति **ब्रुवाणमिति** । **विदुरमिति** भगवदाज्ञापनविषयत्वं । बोधयति । **विनीतमिति** स्वतोऽपि कथने हेतुत्वम् । **सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानमिति** शास्त्रार्थतोऽपि तदाज्ञापरिपालनं कर्त्तव्यमिति महत्त्वम् । यथा भगवच्चरणस्थापका गुणाः, तथा विदुर इति । कृष्णः साक्षाद्भगवान्, अतः सहस्रशीर्षेत्युच्यते, तस्य चरणोपधानं विदुरः। चरण उपधीयते अस्मिन्निति । यदा भगवान् पादं प्रसारयति, तदा विदुरोत्सङ्गे प्रसारयतीति । अत एव विदुरे आवश्यकगुणत्रयस्य विद्यमानत्वाद्भगवत्कथाया वचनावश्यकत्वं ज्ञात्वा **प्रहृष्टरोमा** जातः । यतो भगवत्कथायां प्रकर्षेण नीयमानः, स्वभावतो **मुनिः**, **अभितोऽचष्ट** हेतुपूर्वकं सर्वमुक्तवान् । विपरीतं भगवच्चरित्रम्, यद्विदुरसङ्गादुत्तरोत्तरं मैत्रेयो भक्तो जायत इति । यथा तद्गतं ज्ञानमत्र संक्रमते, तथा विदुरभक्तिरपीतरत्र । अतः **प्रहृष्टरोमा** ॥ ५ ॥

व्याख्या—'विदुर' नाम से यह जताते हैं कि इसके लिये भगवान् ने उपदेश देने की आज्ञा की है। 'विनीत' पद का आशय है कि विनय युक्त होने से स्वतः विदुर भी मैत्रेय जी के कहने में कारण था। भगवान् के चरणों का निवास स्थान था अर्थात् भगवान् इसके अन्तःकरण में एवं गोद में विराजते हैं चरण स्थापित करते हैं इसलिये शास्त्र के तात्पर्य से भी यह ज्ञात होता है कि उस (विदुर) की आज्ञा पालनी चाहिये, यों महत्व है, जैसे गुण भगवच्चरणों के स्थापक हैं वैसे विदुर भी है। कृष्ण साक्षात् भगवान् हैं इसलिये 'सहस्रशीर्ष' कहे जाते हैं। उनके चरणों के रहने का स्थान विदुर है। जब भगवान् चरणों को लम्बा करते हैं तब विदुर की गोद में ही करते हैं, इस कारण से भी विदुर में तीन आवश्यक गुण मौजूद होने से भगवत्कथा का वाचन (कहना) आवश्यक समझा जाय। मैत्रेयजी के, हर्ष से रोम खड़े हो गये, जिससे भगवत्कथा कहने में यों बह गये जैसे लकड़ी बह जाती है तथा मैत्रेय जी स्वभाव से भी मुनि थे इसलिये सम्पूर्ण चरित्र

हेतु पूर्वक सुनाने लगे। भगवान् का चरित्र विपरीत है क्योंकि मैत्रेयजी जो ज्ञानी है उनको भक्त बना देते हैं। मैत्रेयजी का ज्ञान विदुर में खिंच जाता है जिससे विदुर ज्ञान युक्त हो जाता है। विदुर की भक्ति दूसरे में अर्थात् मैत्रेय में आ जाने से मैत्रेय के रोंगटे खड़े हो गये जिससे मैत्रेय आनन्द लुप्त हो गये ॥५॥

आभास—ब्रह्मप्रार्थनया सृष्टिं करिष्यतीति कथनार्थं ब्रह्मप्रसङ्गमाह—

आभासार्थ—ब्रह्मा की प्रार्थना से मनु सृष्टि रचेंगे यों कहने के लिये ब्रह्मा एवं मनु का प्रसंग इस श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**मैत्रेय उवाच :- यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायंभुवो मनुः ।**
प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा कि जब स्वयंभुव मनु पत्नी के साथ उत्पन्न हुआ तब हाथ जोड़ कर प्रणाम पूर्वक वेदगर्भ (ब्रह्मा) को यों कहने लगा ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—यदेति । **स्वभार्यया साकमिति** अनिषिद्धप्रजोत्पादनसामग्रीसहितः । **मनुरिति** स्वभावतो धर्मपरत्वम् । **स्वायंभुव** इति अन्यथा अनिष्कृतः स्यात्, तेन सृष्टयर्थमेवोत्पादनात् । विज्ञापनार्थं **प्राञ्जलिः, प्रणतश्च** मनोवाग्भ्याम् । कायवाङ्मनोभिर्नम्रता सूचिता । इदं वक्ष्यमाणम् । स्रष्टृज्ञानवत्त्वमाह - **वेदगर्भमिति** ॥ ६ ॥

व्याख्या—'स्वभार्ययासाकं' पद से जताया है कि मनु स्वभाव से धर्म परायण है अतः वह सृष्टि भी वैसी करेगा जो शास्त्र में निषिद्ध न हो अतः प्रजा के उत्पादन की सामग्री भी अपने साथ लाया है। 'स्वायंभुव' पद से यह सूचित है कि सृष्टि के लिये ही पैदा किया हुआ है अतः जो यों: सामग्री लाकर सृष्टि उत्पन्न न करते तो उसका उत्पादन ही व्यर्थ हो जाता है इसलिये प्रकट होते ही प्रार्थना करते हुए हाथ जोड़ और प्रणाम किया, जिससे शरीर वाणी और मन से नम्रता दिखाई। 'इदं' पद से ब्रह्मा को सृष्टि रचने का ज्ञान है यों बताया है ॥ ६ ॥

आभास—विज्ञापनामाह । त्वमेक इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—'त्वमेकः' श्लोक से दो श्लोक से मनु की प्रार्थना कहते है—

कारिका—**पुत्रस्य कार्यद्वितयं, पितृशुश्रूषणं पुरः ।**
तदाज्ञाकरणं चेति द्वयं संदिग्धमत्र हि । १ ।

कारिकार्थ—पुत्र के दो कर्त्तव्य हैं एक प्रथम पिता की सेवा करना दूसरा उसकी आज्ञा का पालन करना इन दोनों के करने में यहां संशय प्राय है ॥ १ ॥

आभास—अतोऽत्र प्रथमं पृच्छति -यद्यपि तव शुश्रूषापेक्षा नास्ति त्वयैव सर्वे सर्वे
सर्वभावेनोत्पाद्यन्ते पाल्यन्ते च । अतोऽस्माभिस्त्वदुत्पन्नैः, त्वया च

परिपालितैः, का शुश्रूषा तव भविष्यति ?तथापि अस्माकं स्वनिष्कृत्यर्थं पितृशुश्रूषणं कर्त्तव्यमिति शुश्रूषणं शुश्रूषणं च कदेव ; येन सेव्यस्म सुखं भवति, परितुष्यति च । वक्तःम् । तदज्ञातमस्माकमिति प्रश्नः निरपेक्षतायां हेतुत्रयम्-सर्वभूतामां जन्मदातातृत्वम् वृतिदात्त्वं, असहाय-शूरत्वं ह । तत्राऽसहायशूरत्वं जन्मादेरपि प्रयोजकमिति प्रथममाह—

आभासार्थ-इसलिये यहां पहले पूछता है कि यद्यपि आपको सेवा की अपेक्षा नहीं है आप ही सर्व को सर्व प्रकार से उत्पन्न करते हैं एवं पालते हैं, इस कारण से आपसे उत्पन्न तथा पालित हमसे आपकी कौनसी सेवा हो सकेगी तो भी आपने निष्कृति (उद्धार) के लिये पितृ सेवा करनी ही चाहिये तदर्थ वह सेवा बतलाइये, सेवा उसको कहा जाता है कि जिससे सेव्य को सुख हो और वह प्रसन्न हो जिसका हमें ज्ञान नहीं है, इसलिये प्रार्थना है कि वह बतलाइये ? आपको सेवा की अपेक्षा नहीं है जिसके तीन कारण है--

(१) सर्वभूतों के जन्मदाता आप है (२) सर्व को आजीविका आप देते हैं (३) बिना सहायता के शूरता भी आपमें है, इसमें असहाय शूरत्व जन्मादि का भी प्रयोजक है अतः पहले वह पूछता है ।

श्लोक--**मनुरुवाच । त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः पिता ।**
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ।। ७ ।।

श्लोकार्थ---मनु ने कहा कि केवल आप अकेले ही सर्व भूनों को उत्पन्न करने में तथा आजीविका देने में समर्थ पिता हो, फिर भी हम जो आपकी संतति हैं वह किस तरह सेवा करे ? ।। ७ ।।

सुबोधिनी—**त्वमेक इति । त्वमेवैकः समर्थः** सर्वत्र, किं सेवया । किञ्च, **त्वमेवैकः सर्वभूतानां जन्मकृदुत्पादकः** । वृत्तिर्जीविका, तां प्रयच्छतीति **वृत्तिदः**, अतो न सेवापेक्षा । किञ्च **पिता** भवान्, सर्वभूतानामेव । स्नेहोऽनेन निरूप्यते, प्रतिबन्धकः सेवायाम् । **अथापि** प्रयोजनाभावे प्रतिबन्धके च विद्यमाने, **नः प्रजानामुद्धारार्थे ते शुश्रूषा केन वा भवेत्** ? तत्कथयेत्यार्थिकोऽर्थः ।। ७ ।।

व्याख्या—आप एक ही सर्व कार्य करने में समर्थ हो फिर सेवा की क्या आवश्यकता है, किञ्च आप हो एक सकल भूतों के पैदा करने वाले हैं आजीविका भी देते हैं इस आजीविका देने वाले भी आप हैं अतः सेवा की अपेक्षा नहीं है और समस्त भूतमात्र के पिता भी आप ही हैं इससे स्नेह प्रकट होता है जो हमारी सेवा में प्रतिबन्धक बनता है यों होते हुए भी अर्थात् प्रयोजन के अभाव तथा प्रतिबन्धक की मौजूदगी में, हम जो आपकी प्रजाएँ हैं उनके उद्धार के लिये आपकी सेवा किससे वा कैसी हो ? यह बतलाइये इस आशय की यह प्रार्थना है ।। ७ ।।

आभास---किञ्च, आज्ञापनं च कर्तव्यम्, परं यत्र कार्येऽस्माकं शक्तिरित्याह—

आभासार्थ—प्रार्थना के फल स्वरूप आज्ञा तो अवश्य कीजिये किञ्च वह ऐसी हो जिसके करने की हमारे में सामर्थ्य हो, यों निम्न श्लोक में कहा है ।

श्लोक—**तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु ।
यत्कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः ।। ८ ।।**

श्लोकार्थ—हे स्तुति करने योग्य आपको प्रणाम है जिस कार्य को करने की मुझमें शक्ति है वैसे भी ऐसे कार्य कहिये जिनसे इस लोक में यश हो और परलोक में गति (मोक्ष) हो ।। ८ ।।

सुबोधिनी—**तद्विधेहीति** ननु सेवाकार्ययोः स्पष्टयोः कथमज्ञानम्? तत्राऽऽह-**नमस्तुभ्यमिति** । एतावदस्माभिः कार्ये सेवायां च ज्ञातम्, यत्त्वं नमस्य इति । नमनातिरिक्तमशक्यमप्रयोजकं च, तथापि यदि प्रयोजकत्वेन ज्ञायते शक्यं वा भवेत्, तद्वक्तव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह-**कर्मस्विति** । स्तोत्रमपि सर्वैरेव स्तुतस्य अशक्यमेव । तदाह-ईड्येतिसंबोधनेन । **आत्मशक्तिषु** । आत्मनः सामर्थ्यं येषु, स्वशक्येष्वित्यर्थः । तत्रापि यो भवति धर्मजनकः, यो वाऽप्यपकीर्त्यजनकः, लोकवेदाविरुद्ध इत्यर्थः । **विष्वग्यश** इति एकदेशेऽपि यथा नाऽपकीर्तिजनकत्वम्, यथा देशविशेषे निषिद्धकरणम् । **अमुत्र चेति** परलोकेऽपि यशो गतिश्च ।। ८ ।।

व्याख्या—सेवा तथा तत्सम्बन्धी कार्य स्पष्ट है उनका अज्ञान कैसे है, इस पर कहते हैं कि, आपको प्रणाम है, सेवा और उसके कार्य में मैं इतना ही जानता हूं कि आप नमन करने योग्य है, नमस्कार करने के सिवाय दूसरा कुछ हमसे होना कठिन है तथा बिना प्रयोजनवाला है, तो भी यदि आप प्रयोजनवाला तथा शक्य जानते हो तो वह कहिये इस अभिप्राय से 'कर्मस्व' पद दिया है अर्थात् प्रयोजन वाले और हो सके वैसे कर्म की आज्ञा दीजिये स्तुति भी अशक्य है क्योंकि सकल स्तुति कर रहे है इसलिये 'ईड्य' पद से कहा है कि आप सत्य हो आपकी स्तुति ही करनी चाहिये, 'आत्मशक्तिषु' जिन कर्म करने में अपनी शक्ति हो, शक्ति अनुसार कर्म हो एवं धर्म-जनक हो जिन कर्म करने से धर्म हो जो कर्म, अपयश करने वाला नहीं और लोक एवं वेदशास्त्र विरुद्ध न हो, विष्वग्यशः पद से यह सूचित किया है कि कहीं भी अपयश न हो सर्वत्र लोक में यश हो और परलोक में भी यश तथा सद्गति (मुक्ति) हो ।। ८ ।।

आभास—तत्र ब्रह्मा एकं कृतमेवेत्याह--प्रीत इति द्वाभ्याम् ।। ९ ।।

आभासार्थ—एक तुमने किया ही है यह निम्न दो श्लोकों से ब्रह्मा कहते हैं—

श्लोक—**ब्रह्मोवाच:--प्रीतस्तुभ्यमहं तात ! स्वस्तिस्ताद्वां क्षितीश्वर ! ।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनाऽर्पितम् ।। ९ ।।**

श्लोकार्थ—हे तात ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ क्योंकि तुमने 'हमको आज्ञा करो' यों विनय पूर्वक निष्कपट हृदय से कह कर आत्मा सहित सर्व समर्पण कर दिया है अतः हे क्षितिपति आप दोनों का कल्याण हो ।। ९ ।।

सुबोधिनी--शुश्रूषा सफला भवति । फलेन ज्ञायते शुश्रूषा जातेति, अतस्तत्फलमेव निर्दिशति । प्रीतिरपि महती यतः सफला । तस्याः फलमाह-**स्वस्ति स्ताद्वामिति** । युवयोः कल्याणं भवतु । संसारप्रवृत्तिरूपत्वात् कार्यस्य बन्धशङ्कयामेव-मुक्तम । **क्षितीश्वरे**त्यपरमपि फलं संबोधनेन निर्दिष्टम्, भूम्यैश्वर्यं भवत्विति । ननु शुश्रूषा काऽस्माभिः कृता, कथं वा संतोष इत्याशङ्क्याऽऽह-**यन्निर्व्यलीकेन हृदेति** । निष्कपटेन हृदयेन मामाज्ञापयेति यदात्मना सह सर्वस्वनिवेदनम् तदेव शुश्रूषणम् । तद् यौधनवत्कापट्येनाऽपि भवतीति **निर्व्यलीकेन हृदे**त्युक्तम् । **आत्मनेति** सहार्थे तृतीया । अनेनैहिकं पारलौकिकमपि आत्मगामि सर्वं निवेदितमिति ज्ञापितम् । एतदेवाऽऽत्मसमर्पणं नाम । न ततोऽन्यत् प्रभोः शुश्रूषणमस्ति । ।। ९ ।।

व्याख्या—सेवा फल वाली होती है फल से ही जाना जाता है कि सेवा हुई है इस कारण से ब्रह्मा सेवा का फल ही बताते हैं कि, 'प्रीत' मैं प्रसन्न हुआ हूं यह प्रीति भी विशेष है जिससे सेवा सफल हुई है, 'स्वस्तिस्ताद्वां' इस पद से तुम दोनों का कल्याण हो, कहकर अपनी प्रसन्नता और सेवा हुई है दोनों का सूचन किया हैं दोनों को करने का कार्य संसार में प्रवृत्ति रूप होने से कार्य में बंधक होगा ऐसी शंका होने से यों कहा हे 'क्षितीश्वर' ! संबोधन से दूसरा भी फल का सूचक पद कहा कि भूमि का ऐश्वर्य प्राप्त हो।

हमने कौनसी सेवा की। कैसे आपको संतोष हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यन्निर्व्यलीकेन-हृदा' मुझे आज्ञा करो यों शुद्ध कपट रहित हृदय से आत्मा सहित सर्वस्व अर्पण ही सेवा है, वह सेवा दुर्योधन को तरह कपट से भी हो सकती है किन्तु आपने शुद्ध हृदय से प्रेम पूर्वक की है, आत्मना' पद तृतीया विभक्ति में देकर बताया है कि आत्मा के साथ सब व्यर्पण किया, इससे ऐहिक और पारलौकिक भी आत्मगामी है यों बताया है. इसको ही आत्मसमर्पण कहा जाता है इसके सिवाय कोई दूसरी प्रभु की सेवा नहीं है ।। ९ ।।

आभास—अन्यदपि ततो भविष्यतीत्याशङ्क्य परिहरति-

आभासार्थ—इससे दूसरी भी कोई सेवा होगी ? इस शंका को निम्न श्लोक से दूर करते हैं-

श्लोक—**एतावत्यात्मजैर्वीर ! कार्या पितरि पुत्रकैः ।**
शक्त्याऽप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ।। १० ।।

श्लोकार्थ—हे शूर वीर ! पुत्रों को पिता की इतनी ही सेवा करनी चाहिये, जिससे सावधान हो और ईर्ष्या रहित हो कर आदर पूर्वक शक्ति के अनुसार आज्ञा का पालन हो ।। १० ।।

सुबोधिनी—**एतावत्यात्मजैरिति** । **एतावत्येव** शुश्रूषा आत्मजैः कर्तव्या; यो यत् यतः प्राप्तवान् तदेव तस्मै निवेद्यमिति । **पितरि पुत्रकैरिति** प्राप्तमेवोपपादयति । **गुरावपचितिरित्यपि** पाठे, गुरूपदिष्टस्य पदार्थस्य सिद्धयर्थं निस्तार्यमेव निवेदयेत् । स हि आत्मात्मीयनिस्तारार्थमुप-

दिशदि। तदस्याऽशक्यमिति तस्मै निवेदनीयम्, स हि स्वात्मानमुद्धरतीति । उपदेशसार्थकत्वेनैव तस्याऽपचितिः, अन्यथा तस्य सेवाधीनत्वं स्यात् । अत उभयेषां कार्यार्थमात्मसमर्पणमेवाऽपचितिः सेवा, प्रत्युपकार इति यावत् । आत्मसमर्पणस्य निदर्शनमाह--**शक्त्याऽप्रमत्तैरिति**। स्वशक्त्यनुसारेण सावधानैस्तद्वाक्यं सादरं गृह्येत । 'मृदमानय' इत्युक्ते स्वशक्त्यनुसारेण आदरपूर्वकं मृदानयनमात्मसमर्पणस्य निदर्शनम् । अयुक्तकारणेऽपि स्वोत्कर्षार्थं मामयुक्तं कारयतीति तस्योत्कर्षासहनरहितैः ॥ १० ॥

व्याख्या—जिसने जो कुछ जिससे प्राप्त किया है वह उसको अर्पण करना चाहिए, इसीतरह पुत्रों को भी पिता से प्राप्त पदार्थ पिता को ही अर्पण करना चाहिए इतनी ही सेवा पुत्रों की है 'गुरावपचिति इस पाठ में भी गुरूजी ने उपदेश दिया है उसकी सिद्धि के लिए शिष्य को अपनी आत्मा का समर्पण करना चाहिये क्योंकि गुरु शिष्य का उद्धार हो इसीलिये ही उपदेश देता है अतः गुरु आज्ञानुसार शिष्य सर्वार्पण गुरु को करता तो सर्व, गुरु का ही परिकर हो जाता है जिसने गुरु अपने साथ परिकर का भी उद्धार करेंगे, यों उपदेश सफल होगा, इससे इसको सेवा कहा जाता है यदि यों आज्ञानुसार आत्मसमर्पण न किया जायेगा तो उपदेश से जो उद्धार होने वाला है उसकी हानि होगी अर्थात उद्धार न होगा अतः दोनों कार्यों की सिद्धि के लिए आत्मसमर्पण ही सेवा है अर्थात प्रत्युपकार करना ही उचित है आत्मसमर्पण का स्वरुप बताते हैं 'शक्त्यप्रमत्तै' अपनी शक्ति के अनुसार सावधान होकर गुरु के वचनों को आदर सहित अपनाना चाहिये, यदि गुरु आज्ञा करे 'मृदमानय' मृत्तिका (मिट्टी) ले आओ, तब अपनी शक्ति अनुसार आदर पूर्वक मृतिका ले आनी चाहिये यही आत्म समर्पण का प्रमाण है अयुक्तकार्य गुरु करावे तो उसमें शिष्य को अपना उत्कर्ष समझना चाहिये कि गुरु की मुझ पर कृपा है और मुझ पर प्रसन्न है जो ऐसी सेवा भी मुझसे ही ली है ॥१०॥

आभास—एवं सेवामुपपाद्य कर्तव्यमाज्ञापयति--

आभासार्थ—यों सेवा का स्वरूप प्रतिपादन कर अब इस श्लोक में कर्त्तव्य बताते है—

श्लोक—**स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः ।**
उत्पाद्य, शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ--वह (कर्तव्य) वह तुम इस स्त्री द्वारा अपने सदृश गुणों वाले पुत्र उत्पन्न करो, पुत्र पैदा करके धर्मानुसार पृथ्वी का पालन यज्ञ द्वारा भगवत्पूजन कर करो ॥११॥

सुबोधिनी - स त्वमिति । मत्पुत्रत्वे सति यत्कर्तव्यं तत्कृतमेव, यद्भगवदीयत्वेन कर्तव्यं तदुचितमिति ज्ञापयितुं स इत्युक्तम् । अस्यामित्यपि तथैव । अत एव आत्मनः सदृशैर्गुणैरपत्यान्युत्पादयेत्याज्ञा प्रथमा, एतदनन्तरं धर्मेण गां शास परिपालयेति द्वितीय, यज्ञैः पुरुषं भगवन्तं यजेति तृतीया । तत्र द्वयं भगवत्प्रीतिहेतुभूतमित्यवधृतम्, पृथिवीपालनस्य क्षत्रियधर्मत्वात्

यज्ञानां वैदिकधर्मत्वात् । श्रौतस्मार्ताश्च धर्माः स्वधर्माः, अतः स्वधर्मेण भगवदाराधने कृते भवान् वेदगर्भो भगवांश्च परितुष्यतीत्यविवादम् ॥ ११ ॥

व्याख्या—'सः' वह पद का अभिप्राय बताते हैं कि मेरा पुत्र होने से जो कर्त्तव्य करना था वह तो कर लिया अब जो भगवदीय होने से उचित कर्त्तव्य करना है उस कर्त्तव्य को बताता हूँ इसलिये 'स' कहकर भगवदीय रूप से जो कर्त्तव्य है वह बताता है, 'अस्यां' पद का भी यह तात्पर्य है जैसे आप का भगवदीय रूप है वैसे इसका भी भगवदीया रूप है उस भगवदीय रूप में से अपने सदृश गुणों वाले पुत्र उत्पन्न करो, यह पहली आज्ञा है इसके बाद धर्म पूर्वक पृथ्वी का पालन करो यह दूसरी आज्ञा है, यज्ञों से भगवान् की सेवा करो, यह तीसरी आज्ञा है, इसमें यों भगवान् के प्रसन्न होने के कारण वाली है भूमि का पालन करना क्षत्रिय धर्म होने से 'यज्ञ' वैदिक धर्म होने से कर्त्तव्य है, श्रोत और स्मार्त धर्म अपने धर्म है इसलिये अपने धर्मानुसार भगवान् की आराधना (सेवा) करने से, वेद गर्भ (ब्रह्मा) तथा भगवान् प्रसन्न होंगे इसमें शंका ही नहीं है ॥ ११ ॥

आभास—प्रजोत्पादने तु भवान्, भगवान् वा, परितुष्यतीत्यत्र न किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—किन्तु प्रजा उत्पादन करने से आप और भगवान् प्रसन्न होंगे । इससे यह कोई प्रमाण नहीं है ऐसी शंका मन को होने पर कहते है—

**श्लोक—परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया मम ! ।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति ॥ १२ ॥**

श्लोकार्थ—मैंने जो प्रजा उत्पन्न की है उसको उत्पादन द्वारा बढ़ा कर रक्षा करोगे तो मेरी यह सेवा होगी इस प्रजा का भरण करने वाले इन्द्रियों के स्वामी भगवान् प्रसन्न होंगे ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—**परं शुश्रूषणमिति** । पुत्रेण हि पितुः शुश्रूषा कर्तव्या । तत् **प्रजारक्षयैव मम** परं शुश्रूषणं भवति, मत्कर्त्तव्यकरणात् । 'भगवत्कर्तव्यकरणं भगवच्छुश्रूषणं परम्' इति पूर्वमवोचाम । तस्मान्मया प्रजोत्पादनीया पालनीया, सा त्वयैव क्रियत इति परं मम शुश्रूषणम् । अनेन भगवांश्च परितुष्यतीत्याह—**भगवांस्ते प्रजाभर्तुरिति** । **प्रजाभर्तुः** प्रजारक्षकस्य ते भगवान् परितुष्यति, प्रजारक्षाया अपि धर्मत्वात् । किञ्च, **हृषीकेश** इति प्रजोत्पादने प्रजारक्षायां च सर्वेन्द्रियाणामुपभोगात् इन्द्रियाधिष्ठाता हृषीकेशो भगवान् परितुष्यति ॥ १२ ॥

व्याख्या—पुत्रों को ही पिता की सेवा करनी चाहिये वह मेरी सेवा प्रजा रक्षण द्वारा ही होती है क्योंकि मेरा जो कर्त्तव्य है वह तुम कर रहे हो इसलिये ही कहा कि भगवान् का कार्य करना महती भगवत्सेवा है यों पहले कह चुका हूँ इस कारण से मुझे जो प्रजा उत्पन्न करनी है और पालन करनी है वह तुम ही कर रहे हो यह ही मेरी बड़ी उत्तम सेवा है, इससे भगवान् प्रसन्न होंगे

यों कहते हैं 'भगवांस्ते प्रजाभर्तु' प्रजा के पालक तुम पर भगवान् प्रसन्न होगे क्योंकि प्रजा रक्षण भी राजा का धर्म होने से अर्थात् धर्म है इस धर्म के पालन करने से भगवान् प्रसन्न होंगे, इस प्रसन्नता की युक्ति पूर्वक पुष्टि करते हैं कि भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं सर्व इन्द्रियों की प्रजाओं का उत्पादन और रक्षण में सार्थकता (उपयोगिता होने से उनके स्वामी अवश्य प्रसन्न होंगे ही, वह भी साधारण बात नहीं है परन्तु पूर्ण है इसलिये 'परितुष्यति' पद दिया है।। १२ ।।

आभास—ननु प्रजानां स्वस्य चेन्द्रियभोगस्य प्रवृत्तिरूपत्वात्, प्रवृत्तेः संसारहेतुत्वाच्च, तुष्टोऽपि भगवान् सांसारिकमेव फलं दास्यतीति मुक्त्यसाधकत्वात् किं प्रजयेत्याशङ्क्य परिहरति---

आभासार्थ—यदि मनु के हृदय में यह शंका उत्पन्न होवे कि प्रजाएँ तो खुद और उनकी इन्द्रियां भोग प्रवृत्ति रूप हैं और प्रवृत्ति संसार में फसने का कारण है, अर्थात् फसाने वाली है इसलिए प्रसन्न होकर फल तो भगवान् सांसारिक ही जो देंगे जिससे मुक्ति की सिद्धि नहीं होगी इस प्रकार को सेवा जो मुक्ति का साधन न होकर उसमें रुकावट वाली है ऐसी प्रजा की उत्पत्ति करने से क्या लाभ ? ऐसी शंका को निम्न श्लोक में मिटाते हैं-

श्लोक—येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः ।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नाऽऽदृतः स्वयम् ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—यज्ञ लिङ्ग:जनार्दन भगवान् जिन पर प्रसन्न नहीं हुए हैं उनका किया हुआ सकल परिश्रम व्यर्थ है क्योंकि उसने स्वयं भगवान् जो कि सब की आत्मा है उसका आदर नहीं किया है ।। १३ ।।

सुबोधिनी—येषां न तुष्टो भगवानिति। स हि हृषीकेशः सर्गलीलायां जातेषु सर्गानुकूलकृत्यैव परितुष्यति, विपरीतान्न तुष्यति। तदतोषे तु सर्वनाशः, यतो भगवान्। तस्मिन्नतुष्टे ऐश्वर्यादिवत् ज्ञानादिकमपि न सिद्ध्येत्, अतो मोक्षोऽपि दूरे। किञ्च यज्ञलिङ्गो भगवान्, यज्ञा लिङ्गानि यस्य। भगवदपरितोषे यज्ञफलमपि न स्यात्, तदा 'नाऽयं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य' इत्यैहिकामुष्मिकफलासिद्धिः। किञ्च, जनार्दनो भगवान्, जनामविद्यामर्दयतीति, तेनाऽविद्यानाशोऽपि न भवेत्। अतो मोक्षो नाऽस्ति। एवं ज्ञानाभावः, क्रममुक्तौ लोकाभावः, अविद्यानाशाभावात् मुक्त्यभावश्चेति तेषां परलोकार्थम्, मुक्त्यर्थं वा, श्रमोऽपार्थः व्यर्थः। तत्रोपपत्तिरुक्तैव। ननु धर्मस्य कृतत्वात् कथं वैयर्थ्यम् ? उपपत्तिविचाराभावेऽपि उत्पत्तिविचारेण फलं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह **यदात्मा नादृतः स्वयमिति**। न हि कृतघ्ने धर्मोऽस्ति, आत्मानात्मनोर्विरोधे आत्मा बलीयान्, अन्तरङ्ग बहिरङ्गन्यायेनाऽपि, मुख्यगौणन्यायेनाऽपि, सर्वस्यात्मार्थत्वात्। 'अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीयान्' इति न्यायेनाऽपि आत्मानादरे न देहादिभिर्धर्मः सिध्यति। यथा विक्षिप्तेन्द्रियस्य न शारीरो धर्मः फलाय, नाप्यैन्द्रियो धर्मो विक्षिप्ते मनसि; तथा भगवद्विमुखस्य न कोऽपि धर्मः सिध्यति। यदि देहाद्यनुरोधेन, लोकानुरोधेन वा, देहादिलोकानां बाधकत्वाद्वा, भगवदा-

दरं न कुर्यात्, तदा तेषामेव दोषो भवेत् । भगवांश्च तानेव दण्डयेत्, यदि स्वयमेवात्मा नादृतः। स्वयमित्यव्ययम् । स्वत एव यदि भगवन्तं न मन्येत्, तस्य सर्वनाशो भवेदिति संग्रहः ॥ १३ ॥

व्याख्या—जिनका जन्म इस सृष्टि लीला में हुआ है उन पर हृषी केश, जो इन्द्रियों के स्वामी भगवान हैं वह जब प्रसन्न होते है तब सृष्टि उत्पन्न करने और रक्षा करने के अनुकुल कृत्य करते हैं यदि उनके विपरीत करते है गर्भ विरोधादिकृत्य जिससे सृष्टि उत्पत्ति और रक्षा में विघ्न पड़ते हैं उनसे अप्रसन्न होते हैं प्रभु आत्मा के अप्रसन्न होने पर सर्वनाश होता है क्योंकि वह आत्मा षड़ैश्वर्य्य सम्पन्न होने से भगवान् हैं, उनके अप्रसन्न होने से जैसे ऐश्वर्यादि नाश हो जाते हैं वैसे ही ज्ञानादि की भी सिद्धि नही होती है अर्थात वे भी प्राप्त नहीं होते हैं, यदि हैं तो नाश हो जाते हैं ज्ञानादिनाश हो गए तो मोक्ष होना तो दूर हुआ ही किन्तु जिस भगवान के प्रसन्न होने के चिन्ह 'यज्ञ' है वे अप्रसन्न हुवे तो यज्ञ करने पर भो उसका फल नहों मिलेगा तब 'नाऽयं लोको स्त्ययज्ञस्यः'इस शास्त्र वचनानुसार इस लोक और परलोक के फल की सिद्धि भी नहीं होगी किञ्च, भगवान् जनार्दन हैं वे अविद्या को नाश करनेवाले हैं अप्रसन्न होने पर अविद्या भी नाश नहीं होगी, अतः मोक्ष भी नहीं होगा यों ज्ञान का अभाव और क्रम मुक्ति में लोकाभाव भी होगा ।

अविद्या नाश नहीं होने से मुक्ति नहीं मिलेगी । जिससे उन मनुष्यों ने मुक्ति के लिये एवं परलोक प्राप्ति के लिये जो कुछ श्रम किया वह सर्व व्यर्थ हुआ उसको हेतु देकर सिद्ध किया ही है ।

धर्म कर्म करने पर वे व्यर्थ कैसे जायेंगे ? उपपत्ति (सिद्धि) हेतु से विचार न किया जावे तो भी धर्म की उत्पत्ति हुई है इसलिए फल तो होगा ही, ऐसी शंका का निवारण करने के लिये कहते हैं 'यदात्मा नाहृता स्वयंम्' की जिस स्वयं (खुद) ने आत्मा का आदर नहीं किया है अर्थात् उसको प्रसन्न नहीं किया है वह कृतघ्न है क्योंकि जिस आत्मा ने इतनी कृपा की है उसका आदर नहीं किया है, अतः 'न हि कृतघ्ने धर्मोऽस्ति' इस शास्त्र वाक्यानुसार कृतघ्न में धर्म रहता ही नहीं है आत्मा और अनात्मा के विरोध में आत्मा ही बलवान मानी जाती है अन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायानुसार भी आत्मा बलवान है, मुख्य और गौण न्याय से भी आत्मा बलवान है क्योंकि सर्व की आत्मा ही 'अर्थरूप है अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीयान्' अर्थ और द्रव्य (वस्तु) के विरोध अर्थ ही बलवान माने जाते है इस न्याय से भी आज्ञा के अनादर करने पर देह आदि से धर्म की सिद्धि नहीं होती है, जैसे विक्षेप वाली जिन की इन्द्रियां है उनका शरीर धर्म फलदायक नहीं होता है इसी तरह यदि मन विक्षिप्त होता ऐन्द्रिय (इन्द्रियों का) धर्म फलदायक (आनन्द दायक) नहीं होता हैं वैसे ही भगवद्विमुख का कोई धर्म सिद्ध नहीं होता हैं ।

जो देहादि के अनुरोध से अथवा लोक के अनुरोध से कोई प्रतिबन्ध हो जिससे भगवान का आदर न बन सके तो, इसमें उनका ही दोष है भगवान् उनको ही दण्ड देंगे जो स्वयं ने आत्मा का आदर नहीं किया हो तो स्वयं दण्ड्य होगा 'स्वयं' यह अस्पष्ट है स्वतः ही यदि कोई भी भगवान को नहीं मानता है तो उसका सर्वनाश होगा ही यह सर्व का संग्रह अर्थात सारांश है ॥१३॥

आभास—मनुना एतत्प्रार्थनं सत्यलोके कृतम्, सत्यस्थश्च ब्रह्मा तथाऽऽज्ञां दत्तवान् । सोऽप्यविचारयन् भूमेर्मज्जनं, न जानाति, अज्ञात्वैव पृथिवीपरिपालनादिकं कुर्वित्युक्तवान् । तदा पृथिवीमज्जनं ज्ञापयति—

आभासार्थ—मनु ने यह प्रार्थना सत्य लोक में की थी एवं सत्य लोक में स्थित ब्रह्मा ने ही मनु को वैसी आज्ञा दी थी । वह आज्ञा देते समय पृथ्वी का डूबना नहीं जानते थे बिना इस ज्ञान के ही आज्ञा दे दी कि पृथ्वी का पालन आदि करो, तब पृथ्वी का डूबना मनु इस श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयाऽमीवसूदन ! ।
स्थानं त्विहाऽनुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—हे पापशमन करने वाले ! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा किन्तु हे प्रभु ! मेरे और प्रजाओं के रहने का स्थान बताइये ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—आदेशेऽहं भगवत इति । अहं तु **भगवतो** भवत आदेशे आज्ञायामेव **वर्तेय** तिष्ठामि । हे **अमीवसूदन** पापनाशक । अमीवं पापम्, तन्नाशक । परं प्रजार्थं मदर्थं च, इह सत्यलोके, **स्थानमनुजानीहि** आज्ञापय, देहीत्यर्थः । यतः प्रजानां मम च भवानेव रक्षको रक्षणसमर्थः । तदाह-प्रभो इति ॥ १४ ॥

व्याख्या—मैं तो आप भगवान् की आज्ञा का पालन करने में तत्पर हूँ परन्तु हे पापनाशक ! अमीव अर्थात् पाप के 'नाशक' (नाश करने वाले) मुझे और प्रजा के रहने के लिये सत्य लोक में स्थान दीजिये क्योंकि मेरे और मेरी प्रजा के रक्षा के रक्षण में आप ही समर्थ हैं इसलिये प्रभो ! विशेषण देकर समर्थता प्रकट की है ॥ १४ ॥

आभास—पृथिवी तु मग्नेत्याह—

आभासार्थ—यहां सत्य लोक में स्थान क्यों मांगते हो इस पर इस श्लोक में कहते हैं कि पृथ्वी तो जल में मग्न है—

श्लोक—यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि ।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव ! देव्या विधीयताम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—सकल प्राणधारियों के रहने का स्थान जो पृथ्वी है, वह प्रलय जल में डूबी हुई है । हे देव ! पृथ्वी को जल से निकाल लाने का प्रयत्न कीजिये क्योंकि वह देवी है ॥ १५ ॥

सुबोधिनी—यदोक इति । सर्वसत्त्वानां यदोकः स्थानम्, सा मही महाम्भसि प्रलयोदके (च) मग्ना । तस्या उद्धरणे यत्नो वा विधीयताम् । देवेति संबोधनात्सत्यलोकस्थानदानापेक्षयापि भूम्युद्धारयत्न एव मुख्यः, यतो भूमिर्देवयजनम् । यज्ञाश्च कर्तुं शक्याः । किञ्च, देव्याः पृथिव्याः । सा पृथिवि त्वयैवोत्पादिता, आदिवराह कल्पे ब्रह्मणैवोद्धृत्य पुष्करपर्णे प्रथितत्वात् । तस्मात्सत्यादौ वा स्थानं देयम्, भूम्युद्धारयत्नो वा कर्त्तव्यः । उभयोर्मध्ये भूम्युद्धारयत्न एव विशिष्टः, अत एव न वाशब्दः । अत्र श्लोकत्रयं विगीतमस्ति 'इत्याकर्ण्य' इति मैत्रेय वचनम्, ब्रह्मणो वचनद्वयम्, 'पीतं मया जलम्, सरीसृपः' इति च ।। १५ ।।

व्याख्या सर्व प्राणी मात्र के रहने का जो स्थान पृथ्वी है वह जल में डूब गई हैं किन्तु वह महान् जल वा प्रलय जल है अतः उससे बाहर लाने का प्रयत्न कीजिये, देवः ! इस सम्बोधन से यह सूचना की है कि सत्य लोक के दान करने से भूमिदान करना उत्तम है अतः उसके उद्धार में प्रयत्न कीजिये कारण कि भूमि, देवयजन करने का साधन है उस पर ही यज्ञ किये जा सकते हैं, आपने उसको उत्पन्न किया है इसलिये वह (भूमि) ही देव यजन कहलाती किञ्च आप ही पृथ्वी देवी के आदि वराह कल्प में ब्रह्मा ने ही उद्धार कर पुष्कर (कमल) पत्र पर उसको स्थापित किया है इसी से चाहे सत्यादि लोक में स्थान दीजिये अथवा भूमि के उद्धार में प्रयत्न कीजिये दोनों कार्यों में से भूमि के उद्धार में यत्न करना उत्तम है इसलिये यत्न के लिये 'वा' शब्द नहीं दिया है ।

इस विषय में यहां तीन श्लोक संगति रहित हैं, (१) मैत्रेय वचन (२) ब्रह्मा के दो वचन 'पीतं मया जलं' (३) सरी सृपः ।। १५ ।।

आभास—एवं मनुवचनं श्रुत्वा तद्वचनपरीक्षणार्थं ज्ञानदृष्टया भूमिं दृष्टवान् । तदा खिन्नां तां दृष्ट्वा ब्रह्मा यत्कृतवान्,तदाह—

आभासार्थ—इस प्रकार का मनु वचन सुनकर उसके वचनों की परीक्षा करने के लिये ज्ञान दृष्टि से पृथ्वी को देखा, उसको दुःखी देखकर ब्रह्मा ने जो किया, मैत्रेयजी वह निम्न श्लोक में कहते हैं--

श्लोक--मैत्रेय उवाचः--परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम् ।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया धिरम् ।। १६ ।।

श्लोकार्थ--मैत्रेयजी ने कहा ब्रह्मा ने पृथ्वी को जल में वैसे डूबती हुई देख बुद्धि से बहुत समय विचार करने लगे कि मैं इसको जल से किस तरह निकालूँ ।। १६ ।।

कारिका--**स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां स्वतो युक्तिविचारणम् ।**
भगवत्येव भारस्य स्थापनं चिन्तितं स्थिरम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ--ब्रह्मा युक्ति पूर्वक विचार करने लगे कि इसका उद्धार किस तरह किया जाये मैं खुद स्वतन्त्रता से करूं वा परतंत्रता से करूं ? अन्त में यही पक्का निश्चय किया कि भगवान् के इस कार्य का भार रखना चाहिये ।। १ ।।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं पूर्ववत्सामर्थ्येन तस्या उद्धारे यत्नं कृतवान् । तत्र हेतुः-**परमेष्ठीति** ।परमे सर्वोत्कृष्टे आसने तिष्टतीति तुशब्दः सत्यादौ स्थानदानपक्षं निवारयति । **अपां मध्ये तथा सन्नामिति** । पूर्वमपि तस्यास्तथावस्था स्मृता । पूर्णं तु पुष्करपर्णे उपविष्टः, नालस्याऽऽधारस्य विद्यमानत्वात्, भगवदाश्रयत्वाच्च नालस्य, तत्र रसातलपर्यन्तादानीय पुष्करपर्णे प्रथितवान् । इदानीं तु सत्यलोके स्थितः कथं तामुन्नेष्य इति, क्व वा स्थापय इति भवति चिन्ता । पूर्णं परमेष्ठित्वादिसिद्धयर्थं चिन्तायां क्रियमाणायां साधनभूता यज्ञादयः पदार्था मनस्याविर्भवन्ति तथा अत्रापि भविष्यतीति कालकृतदोषपरिहाराय **चिरं दध्यौ** । तत्रापि विवेकवत्या, बुध्द्या, यथा सर्वथा साधनं स्फुरत्येव । ।। १६ ।।

व्याख्या—पहले ब्रह्मा ने आगे की तरह अपनी सामर्थ्य से उद्धार करने का विचार किया, क्योंकि आप परमेष्ठि अर्थात् बड़े सिंहासन पर विराजते हैं 'तु' शब्द से सूचित करते हैं 'सत्य' लोक में स्थान और दान दोनों पक्षों का निषेध करते हैं 'अपांमध्ये तथा सन्ना' पद से कहते हैं कि पूर्वकाल में पृथ्वी की यह अवस्था हुई थी, उस समय मैं पुष्कर (कमल) पत्र पर बैठा था, मुझे नाल का आधार था और नाल का भगवदाश्रय था तब वहाँ रसातल से लाकर पुष्कर पत्र पर स्थापित कर दी अब तो सत्यलोक में स्थित हूँ । उसका उद्धार कैसे कर सकूंगा जल से ऊपर कैसे ला सकूंगा और स्थित करूंगा यह चिन्ता हो रही है, पहले तो परमेष्ठिपन सिद्ध था जिससे चिन्ता करने पर यज्ञादि साधन सिद्ध हो मन में प्रादुर्भूत हो जाते थे, वैसे अब भी होंगे इसलिय कालकृत दोषों के परिहारार्थं विशेष समय तक ध्यान करने लगे, वह ध्यान भी विवेक बुद्धि से ऐसा करने लगे जैसे सर्व प्रकार साधन स्फुरण ही हो जावे ।। १६ ।।

आभास--तथाप्यस्फुरणे स्वातन्त्र्यं परित्यज्य भगवदधीनतया भगवत्कृपया साधनं स्फुरिष्यतीति सोपालम्भमिव तस्य चिन्तामाह--

आभासार्थ—तोभी साधन स्फूर्ति न होने पर अपनी स्वतन्त्रता छोड़ भगवान् की आधीनता तथा उनकी कृपासे साधन की स्फूर्ति होगी, यों उपालम्भ (उलहाने) की तरह ब्रह्मा के चिन्तन का दूसरा प्रकार मंत्रेयजी इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक--**सृजतो मेऽक्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता ।**
अथाऽत्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।। १७ ।।

श्लोकार्थ—इन्द्रियों से वाणियों से मैं सृष्टि कर ही रहा था इतने में पृथ्वी डूबती हुई धीरे २ रसातल में चली गई अब सृष्टि निर्माता हम लोगों को इस विषय में क्या करना चाहिये ।। १७ ।।

सुबोधिनी—सृजत इति । पूर्वं स्थापिताऽपि इयं भूमिर्भारेण पुनर्निमग्ना । भारे हेतु - मे अक्षिभिरिन्द्रियैः, वाग्भिश्च सृजतः सतः । अक्षिभिर्वाग्भीरिति स्त्रीपुरुषाविव निर्दिष्टौ । तथाभावसर्गे दैत्यांशा एव प्रायेणोत्पन्ना इति तेषां भारहेतुत्वं पूर्वमुक्तम्, वक्ष्यते च । अत एव प्लाव्यमाना जले निमग्ना रसातलं गता, तदवच्युद्धतत्वात् । अथ तदनन्तरम्, अत्र एतादृशेऽर्थे, अस्माभिः किं कर्तव्यम् । न च तूष्णीं स्थातुं शक्यते सर्गयोजितैः, सर्गकरणमेव ह्यस्मदादीनां प्रयोजनम् ।। १७ ।।

व्याख्या-पहले इस भूमि को स्थापित करके भी दिखाया था किन्तु फिर भार के कारण डूब गई, भार का क्या कारण था इस पर कहते हैं कि मैं इन्द्रियों से और वाणिओं से सृष्टि रचना कर ही रहा था, इन्द्रियों एवं वाणियों का अभिप्राय स्त्री तथा पुरुष है, इस प्रकार की (युगल की) सृष्टि उत्पन्न में प्रायः दैत्यांश ही उत्पन्न हो गये, वे ही पृथ्वी पर भार रूप थे यों पूर्व में भी कहा है आगे भी बताएंगे, इस कारण से ही जल में डूबती हुई रसातल में गई यों कैसे जाना ? इस पर कहते हैं कि उसका (पृथ्वी का) एक किनारा (कुछ कोण रूप) से बाहर निकला हुआ था। 'अथ' पद से कहते हैं कि यों हो गया तो अब मुझे इस विषय में क्या करना चाहिये जो सृष्टि उत्पन्न करने के लिये उत्पन्न हुए हैं वे बिना उसकी रचना के शान्त रह नहीं सकते है क्योंकि 'ह्यस्मदादी' इनके उत्पन्न होने का कारण सृष्टि करनी ही हैं ।। १७ ।।

आभास- एवं पारतन्त्र्येणाऽपि विचारे क्रियमाणे यदोपायो न स्फुरितः,
तदा भगवत्येव भारं दत्तवान् । भारदाने हेतुमाह—

आभासार्थ—इसी परतंत्रता से की जावे वो विचार करते हुए भी यदि कोई उपाय ध्यान में न आया तब भगवान् पर ही भार धरा, इस श्लोक में जिसका हेतु कहते हैं—

श्लोक--**यस्याऽहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ।**
कर्त्तव्यं करुणासिन्धुस्तीर्थकीर्तिरधोक्षजः ।। १८ ।।

श्लोकार्थ--जिसके हृदय से मैं पैदा हुआ हूं जो करुणासिन्धु तीर्थ रूप है, वह अधोक्षज (इन्द्रियातीत) ईश मेरा कर्त्तव्य पूरा करे ।। १८ ।।

सुबोधिनी--यस्याऽहमिति । यस्य हृदयात्, विचारपूर्वकं यस्मादहं जातः सर्गार्थमेनमुत्पादयामि, अनेन कार्यं सेत्स्यतीति प्रथममेव विचार्य ब्रह्मा सर्गे नियोजितः । ततो ज्ञायते-इदमपि कार्यं मम चेदशक्यम्, तदा भगवानेव करिष्यति, यत इदमपि पूर्वमेव विचारितवान्--अयमसमर्थः,

इदमप्यहमेव करिष्यामि । यत ईशः समर्थेन हि कर्तव्यम्, न तु सेवकेनैवेति नियमः । उभयोः सामर्थ्ये सेवकेनैव कर्त्तव्यम् । अत्र तु स एव ईश इति मे कर्तव्यं विदधातु । नन्वशक्तोऽपि लोके सेवक एव करोति, न प्रभुः शक्तोऽपि । तत्राऽऽह- करुणासिन्धुरिति । सेवकस्याऽतिकष्टेन कार्यं सिध्यति, स्वस्य त्वनायासेन । तदा करूणावान् स्वयमेव करोति, परदुःखेन दुःखितत्वात् । ननु करूणावानपि ऐश्वर्यगुणयोगात् अशक्तैः सेवकैरेव कार्यं कारयति, अन्यथेशत्वं न स्यात् । तत्राऽऽह तीर्थकीर्तिरिति करूणासिन्धुत्वेन परिहारे सिद्धेऽपि दृष्टान्तार्थमिदं विशेषणम् । तीर्थरूपा कीर्तिर्यस्येति । तीर्थं हि सर्वेषां पापं दूरीकरोति, तत्पापं तीर्थे एव तिष्ठति । एवं जानन्नपि भगवान् स्वस्य कीर्ति तीर्थरूपां कृतवान् । अतो यथैतत्क- रोति, तथा स्वयमेव भूम्युद्धारमपि करिष्यतीति भावः । किञ्च अधोक्षजो भगवान्, अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात् । इन्द्रियातीतोऽपि सर्वेषां सर्वेन्द्रिय- हितं करोति, ज्ञानरूपो भूत्वा मोक्षं प्रयच्छतीति । अथवा, व्यवहारातीतत्वेन लोकानामुद्धारार्थे कीर्तिमेव तथा कृतवानिति तथा करणे अधोक्ष- जत्वं हेतुः ॥ १८ ॥

व्याख्या--जिनके हृदय से मैं उत्पन्न किया गया हूं, उन्होंने यह विचार कर कि सर्गोत्पत्ति के लिये ही इसको उत्पन्न करता हूं, क्योंकि इससे ही वह कार्य सिद्ध होगा यों पहले ही सोच कर मुझे (ब्रह्मा) को सृष्टि में लगाया इससे जाना जाता है यदि यह कार्य मुझसे होना कठिन होगा तो स्वयं भगवान् ही करेंगे कारण कि उन्होंने पहले ही विचार कर रखा होगा कि यह असमर्थ है अतः यह कार्य भी मैं ही करूंगा क्योंकि ईश (समर्थ) हूं समर्थ को ही करना चाहिये न कि अशक्त (सेवक) को करना चाहिये, यह नियम है, दोनों समर्थ होवे तो सेवक को करना चाहिये ।

यहां (इस कार्य करने में) तो वे ही ईश (समर्थ) हैं इसलिये मेरा कार्य सिद्ध करें । लोक में तो देखा जाता है कि सेवक अशक्त होता है तो भी वही कार्य करता है समर्थ स्वामी होते हुए भी आराम लेता है, कार्य नहीं करता है, इस पर कहते हैं कि आप तो दया के सिन्धु हैं आप समझते हैं कि कार्य करने में सेवक को अति कष्ट होगा क्योंकि अशक्त है अपने को तो कार्य करने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा यों जब विचार से जानते हैं तब स्वतः करुणा कर स्वयं करते हैं कारण कि पर दुःख से दुःखी होते हैं एवं पर दुःख सहन भी नहीं कर सकते हैं लोक में दयावाला भी यदि ऐश्वर्य वाला होता है तो अशक्त सेवकों से ही कार्य कराता है यदि उनसे कार्य न करावे तो उसका ईशत्व ही न रहे, इस शंका के निवारण के लिये कहा है कि आप 'तीर्थ कीर्तिः' है यद्यपि करुणासिन्धु विशेषण से शंका मिट गई तो भी दृष्टान्त के लिये यह विशेषण दिया है प्रभु की कीर्ति तीर्थ रूप है जैसे तीर्थ सबके पापों को दूर कर अपने में धर लेते हैं यों जानकर भी अपनी कीर्ति को तीर्थ रूप बनाया है, अर्थात् जो मनुष्य आपकी कीर्तिगान करेगा उसके पाप की कीर्ति द्वारा आप ग्रहण कर उस मनुष्य को शुद्ध पवित्र कर देंगे अतः जैसे आप यह कार्य स्वयं करते हैं वैसे भूमि का उद्धार भी स्वयं करेंगे, यह भाव हैं, किञ्च भगवान् अधोक्षज है अर्थात् इन्द्रियज्ञान से वे जाने नहीं जा

सकते हैं इन्द्रियातीत होते हुए भी सर्व के सकल इन्द्रियों का हित ही करते हैं स्वयं ज्ञानरूप होकर मोक्ष भी देते हैं, अथवा आप व्यवहारातीत्व है अतः लोगों के उद्धार के लिये कीर्ति को ही यह कार्य दे दिया है, यों करने का कारण अधोक्षजत्व है ।। १८ ।।

आभास—अयं पक्षः फलपर्यवसायी जात इत्याहु—

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में कहते हैं कि यह पक्ष फल प्राप्त करने वाला हुआ—

श्लोक—इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसाऽनघ ! ।
वराहतोको निरगाद ङ्गुष्ठपरिमाणकः ।। १९ ।।

श्लोकार्थ—हे निष्पाप ! इस प्रकार ब्रह्मा ने विचार करते हुए ही उस के नासिका के छेद से, अंगुष्ठ परिमाण वाले वराह बाल स्वरूप से प्रभु ने दर्शन दिये ।। १९ ।।

सुबोधिनी—इत्य भिध्यायत इति । इति अमुना प्रकारेण, अभितो ध्यायतः । स एवैतत्कार्यं करिष्यतीति निर्द्धार्य, तथैव चित्तं दृढं विधाय भावयन्, तथैव क्षणे क्षणे कदा भगवान् केन रूपेण करिष्यतीति अभितो ध्यानं करोति । तदा कार्याविष्टचित्तेन यज्ञरूपे भगवति ध्याते कृतेः स्थानाभावाद् आध्यात्मिकं रूपमप्रकटमेव कृत्वा आधिदैविकेन रूपेण प्रकटो जातः । क्रियापि तत्र प्रविष्टेत्याधिदैविकत्वम् । इतः पूर्वं तु आध्यात्मिक एव यज्ञः । स त्रेधा संपद्यते–यजमाननिष्ठप्रयत्नेन, वैदिकज्ञानेन, ध्यानारूढस्वरूपेण च । स त्रिविधोऽपि एकीभूतो भगवान् वराहः । तस्य क्रिययैव यजमानस्य क्रिया, स्वरूपं तु तदेव सर्वयज्ञात्मकं साधिकरणम् । श्रुतिस्तत्रैवान्तर्भूतेति ज्ञापयितुं ब्रह्मणः श्वासमार्गात् निर्गतः, 'निःश्वसितमस्य वेदाः' इति श्रुतेः । वरानाहरतीति वराहः, सर्वकामप्रदः, स चासौ तोकश्च । तोको बालकः । अध्यात्मिकादिरूपेषु प्रबुद्धस्यैव फलसाधकत्वम्, एकदेशत्वात् । अत्र तु तोकोऽपि फलसाधकः, सफलत्वात् । सहसेती ध्यानांशव्यावृत्त्यर्थम्, अन्यथा एकेनाप्यंशेन आध्यात्मिकता स्यात् । अनघेति संबोधनं विश्वासार्थम्, न हि केनाप्यंशेन स पापो विश्वासमेति । तस्य रूपस्य कालसारेश्वररूपत्वज्ञापनाय उत्पत्तौ अङ्गुष्ठपर्वमात्रप्रमाणेन बहिर्निर्गतः । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठम् च समाश्रितः' 'ईशः सर्वस्य जगतः' 'प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक्' इति श्रुतेरङ्गुष्ठमात्रप्रमाणस्यैव विश्वभोक्तृत्वमीशत्वंचोच्यते । यज्ञरूपस्यैव विश्वभोक्तृत्वम् । तस्यैव हि सर्वमन्नं सर्वे पशवः । अङ्गुष्ठशब्दः सर्वत्राऽङ्गुष्ठशिरोवाची ।। १९ ।।

व्याख्या—इस प्रकार से ब्रह्मा चारों तरफ ध्यान करता था कि वे भगवान् ही यह कार्य करेंगे, यों निर्णय कर वैसे ही चित्त को दृढ बनाकर वैसी ही भावना करता हुआ क्षण क्षण में यों ही सोचता था कि भगवान् कब किस रूप से यह कार्य करेंगे, तब इसी ही कार्य में प्रविष्ट चित्त से यज्ञ रूप भगवान् के ध्यान करते हुए, क्रिया करने का स्थान न होने से, आध्यात्मिक रूप प्रकट न

कर आधिदैविक रूप से प्रकट हुए, क्रिया भी उस आधिदैविक स्वरूप में ही स्थित हुई इससे पहले वराहावतार से पहले यज्ञ का स्वरूप आध्यात्मिक ही था, वह यज्ञ तीन प्रकार से सिद्ध होता था- १- यजमान स्थित प्रयत्न से २- वैदिक ज्ञान से और ३- ध्यान में दर्शन दिये हुए स्वरूप से, वह तीन प्रकार का आध्यात्मिक भी एक रूप आधिदैविक भगवान् वाराह है उनकी क्रिया से ही यजमान की क्रिया सर्वयज्ञात्मक अधिकरण (सर्वसामग्री) सहित यज्ञस्वरूप तो वे ही हैं वेद भी इस स्वरूप में अन्तर्हित (छिपा हुआ) है, यों जताने के लिये ब्रह्मा के श्वास मार्ग (नासाछिद्र) से प्रकटे, श्रुति भगवती जैसे कहती है कि 'निःश्वसितमस्य वेदाः' वेद इनके श्वास है 'वराह' पद का भावार्थ है वरों (कामनाओं) को पूर्ण करने वाला 'वराह' कहलाता है वह आधिदैविक वराह बाल रूप से दर्शन दे रहे हैं यह बाल होते हुए भी फल सिद्धि करने वाले हैं आध्यात्मिकादि रूपों में तो अवयवत्व है अतः उनमें जो प्रबुद्ध होता है वह फल देता है एक देशत्व होने से फलद है यह आधिदैविक वराह बाल स्वरूप से भी फल दे सकते हैं क्योंकि फल सहित होने से दे सकते हैं 'सहसा' पद से यह सूचित किया है कि यह स्वरूप, ध्यानांश वाला नहीं है, यों न होवे तो एक अंश से भी इस स्वरूप में आध्यात्मिकता आजावे। हे अनघ ! यह सम्बोधन विदुरजी को विश्वास आवे इसलिये दिया है, विदुरजी निष्पापी है इसलिये विश्वास करेंगे किन्तु वह पापी किसी भी अंश से विश्वास नहीं करेगा उसके रूप को कालसीव (कालाधिदैविक) का ईश्वर रूपत्व जताने के लिए उत्पत्ति समय अङ्गुष्ठ के पर्व जितने प्रमाण जितने ही प्रकट हुए जैसे कि श्रुतियां कहती हैं 'अङ्गुष्ठ मात्रः 'पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः' 'ईशः सर्वस्य जगतः 'प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक्' यों श्रुतियों द्वारा ही अङ्गुष्ठ मात्र प्रमाण वाले स्वरूप का ही विश्वभोक्तृत्वम् तथा ईशत्व कहा गया है, यज्ञस्वरूप ही विश्वभोक्ता है, उसके लिये ही सकल अन्न एवं सर्वपशु हैं अङ्गुष्ठ पद, सर्वत्र अङ्गुष्ठ के शिरो भाग को कहता है।।१९।।

आभास—एवमाधिदैविकस्योत्पत्तितः स्वरूपमुक्तम् । ज्ञप्तितः स्वरूपं वक्तु भगवत्त्वज्ञापनाय कालादेः परिच्छेदकत्वाभावाय तस्यैव सूक्ष्मस्य स्थूलतां निरूपयति--

आभासार्थ—इस प्रकार उत्पत्ति से आधिदैविक का स्वरूप कहा ज्ञान से स्वरूप कहने के लिये उस स्वरूप का भगवत्त्व बताने के वास्ते कहते हैं कि इस स्वरूप के कालादि परिच्छेदक नहीं है अतः सूक्ष्म-स्वरूप हैं उसी सूक्ष्म स्वरूप की इस श्लोक में स्थूलता निरूपण करते हैं-

श्लोक—तस्याऽभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत ! ।
गजमात्रं प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत् ।। २० ।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! उसके देखते हुए आकाश में स्थित वह वराह का बालक निश्चय से हाथी जितना बढ़ गया वह बहुत अद्भुत लीला हुई ।। २० ।।

सुबोधिनी—तस्याऽभिपश्यत इति । तस्य ब्रह्मणो ऽभितः सर्वतः पश्यतः सतः । रूपान्तरग्रहणे लोके जवनिकाऽपेक्ष्यते । अत्र तु पश्यत एव पूर्णमङ्गुष्ठमात्रोऽपि पश्चाद्गजमात्रं जातः । तिरोभावशङ्कानिवारणार्थं खस्थः क्षणेनेत्युक्तम् । आकाशस्थितत्वान्नाऽऽवरणम् । वृद्धो लौकिकस्य कालस्याऽभावान्नानावरणेन तस्यैव वृद्धिः । **किलेति** प्रसिद्धेः, नाऽत्र प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः । **भारतेति** विश्वासार्थम् । एवं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं श्रोतृदोषं परिहृत्य स्थूलं रूपमाह—**गजमात्रं प्रववृध इति** । गजो हस्ती, तन्मात्रमिति षष्टिहायनरूपम् । वैष्णवशास्त्र—प्रसिद्धगजो वा गजेन्द्रः । मात्रपदमनिर्द्धारणा-सूचकम्, अन्यथा द्वितीयक्षणे ततोऽपि तावन्मात्र-वृद्धः स्यात् । तथा च, क्षणस्येन्द्रियार्थसंयोग एवोपक्षीणत्वात् क्षणेनेति वचनं व्यर्थं स्यात् । प्रकर्षेण ववृधे । प्रकर्षः सर्वावयवेषु यथायोग्य-वृद्धिः, अत एव तदद्भुतमभूत् । यत्रैव पश्यतां युक्त्यस्फुरणं कार्यदर्शनं च तदेवाऽद्भुतम् । **महदिति** कार्यदर्शनमपि संदिग्धम् । न हि समुद्रः सान्तो द्रष्टुं शक्यते, तथा भगवच्छरीर-मित्यर्थः ।। २० ।।

व्याख्या—वह ब्रह्मा चारों तरफ देख रहा था बिना जवनिका (पर्दे) दिए हुए उस वराह ने दूसरा बड़ा रूप ग्रहण कर लिया जो कि लोक के पर्दे के सिवाय नहीं होता वह पहला रूप अङ्गुष्ठ मात्र था जिससे हाथी जितना हो गया पहले रूप को छिपा लिया यों नहीं, क्योंकि आकाश में स्थित था एवं क्षण मात्र में गज सा महान् बन गया, आकाश में स्थित होने से किसी प्रकार का आवरण नहीं हो सकता था लौकिक काल भी व्यतीत न हुआ आवरण भी नहीं था तो भी वृद्धि हो गई यह वराह बालक आकाशस्थ होने से ककड़ी[1] की तरह नहीं बढ़ा था, तथा सामुद्रिक पक्षी[2] के अण्डे की तरह भी नहीं बढा था इसलिए आकाशस्थ एवं क्षणमात्र में बढ गया यों कहा है सो तो प्रसिद्ध है इसमें प्रमाण कहने की आवश्यकता नहीं है भारत ! यह संबोधन विश्वास के लिए दिया है इसी तरह माहात्म्यज्ञान पूर्वक श्रोता के दोष का परिहार कर अब स्थूल रूप कहते हैं 'गजमात्रं प्रववृध इति' हस्ती जितना साठ वर्ष का हो गया अथवा वैष्णव-शास्त्र में प्रसिद्ध गजेन्द्र मात्र पद से उसको निश्चितता बताई गई है, नहीं तो दूसरे क्षण में उससे भी उतना और बढ़ जावे, इन्द्रिय और अर्थ के संयोग में क्षण बीत जाने से एक क्षण कहना व्यर्थ हो जावे, इसलिये 'प्रवृद्धे' पद से बताया है सर्व अवयवों में एक ही क्षण में यथा योग्य वृद्धि हो गई यही अद्भुतता थी।

जहां देखते हुए ही कोई युक्ति ध्यान में न आई और कार्य होना दिख रहा था वह ही अद्भुत था 'महत्' पद से यह सूचित किया है कि वह कार्य महान् होने से जैसे समुद्र सम्पूर्ण नहीं दिखता है

१—ककड़ी की बेल की तरह एक रात की अवधि में नहीं बढ़ा था परन्तु क्षण मात्र में बढ़ा।

२—समुद्री पक्षी उड़ते उड़ते अण्डे देता है वह अण्डा नीचे पहुँचने के पहले हो फूटकर उसमें से पक्षी निकल कर उड़ने लग जाता है उतना समय भी वराह बालक को बढ़ने में नहीं लगा। (प्रकाश)

कि कितना है वैसे भगवान् का शरीर सम्पूर्ण कितना है वह देखने में नहीं आया ॥ २० ॥

आभास—तदा तेषां वस्तुनिर्द्धारार्थं विमर्शो जात इत्याह-

आभासार्थ—तब वस्तु के निर्णय करने के लिए ये विचार करने लगे यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह ।**
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा वैसे सूकर स्वरूप को देखकर, मरीचि जिन में मुख्य है वैसे ब्राह्मण तथा कुमार एवं मनु के साथ अनेक प्रकार से तर्क करने लगा ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—**मरीचिप्रमुखैरिति**। मरीचिरेव प्रमुखो मुख्यो येषां ब्राह्मणानाम्। त्रिविधास्तव ब्रह्मणः पुत्राः, ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः, कुमाराश्च। कुमाराः सनकादयोऽनुपनीताः। अष्टमे वर्षे ह्युपनयनम्, ते तु पञ्चवर्षा भगवदस्मरणाक्षणैः; तावता कालेन पञ्चवर्षाणामेव निष्पादितत्वात्, देहोपभोक्तृकालस्यैव कर्मनियामकत्वात्। विशेषेण प्रान्ति पूरयन्तीति **विप्रा** ब्राह्मणा एव। **मनुः** क्षत्रियः एवं मार्गत्रयस्थितैः सर्वैः सह **चित्रधा** विचित्रप्रकारेण। '**सङ्ख्याया विधार्थे धा**' इत्यत्र योगविभागाच्चित्रधेति सिध्यति। **तत्सौकरं रूपमिति**। लोके निन्दितरूपत्वाद्यथा मलान्मधुकैटभादेरुत्पत्तिः, तथाऽस्यापि भवेद्वराहस्य। दैत्योऽपि वराहः श्रुतिसिद्धः, '**वराहोऽयं वाममोषः**' इति श्रुतेः। '**पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः**' इति क्रोधावतारो वाभवेत्। एवमनेकप्रकारेण तर्कितवन्तः। तर्को नाम प्रत्यक्षतो दृष्टस्य पदार्थस्य निर्वाहिकोपपत्तिः, यस्मिन्पदार्थे कल्प्यमाने दृष्टोऽर्थ उपपद्यते। तत्र प्रकृते कोऽपि पक्षो न निर्द्धारित इति **चित्रधेत्युक्तम्** ॥ २१ ॥

व्याख्या--वहां तीन प्रकार के ब्रह्मा पुत्र थे–१ ब्राह्मण, २ क्षत्रिय ३ यज्ञोपवीत वाले सनकादि कुमार, जिनमें मरीचि ही ब्राह्मणों में मुख्य था। यज्ञोपवीत अष्टम वर्ष में होता है वे सनकादि तो पांच ही वर्ष के थे भगवद् स्मरण से गिनि हुई क्षणों से पांच वर्ष आयु होती है, कर्म नियामक काल वह है जिसमें देहोपभोग हुवा हो अतः पांच वर्ष के होने से अनुपनीत थे जो विशेष प्रकार से पूर्ण करते हैं वे ब्राह्मण 'विप्र' कहलाते है. मनु क्षत्रिय था. इसी तरह तीन मार्गों में स्थित सब के साथ अनेक प्रकार से जुदी जुदी तरह, ब्रह्मा तर्क करने लगे 'धा' प्रत्यय व्याकरण नियमानुसार संख्या के नानात्व दिखाने के लिए दिया जाता है वह सूकर रूप कैसा है, वराह रूप की लोक में निन्दा है, क्योंकि जैसे मधु और कैटभ दैत्य की उत्पत्ति मल से हुई है वैसे ही इस वराह की भी मल से उत्पत्ति हुई होगी वराह दैत्य है यह भी श्रुति से सिद्ध है जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि 'वराहोऽयं वाममोष' यह 'वराह' देव द्रव्य का चोर है और 'पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः' पशुओं का जो क्रोध है वह वराह है अतः यह वराह पशुओं के क्रोध का अवतार होगा इसी तरह ब्रह्मा मरीचि आदिकों से अनेक प्रकार से तर्क करने लगे ' तर्क ' पद का अर्थ है जो पदार्थ प्रत्यक्ष देखने में आ रहा हो उसका

उपपत्ति पूर्वक (युक्ति पूर्वक) निर्णय कर निश्चय करना जिस पदार्थ की कल्पना करने पर इष्ट अर्थ सिद्ध हो जावे वहां (अर्थात् चालू विषय में) कोई भी पक्ष सिद्ध नहीं हुआ इसलिए "चिन्तधा" यों कहा है ।। २१ ।।

आभास---यदा लोकवेदानुसारी तर्कः पदार्थनिर्द्धारणे अशक्तः, तदा अलौकिक-प्रकारेण पदार्थमुत्प्रेक्षते--

आभासार्थ—जब लोक एवं वेदानुसारी तर्क पदार्थ निर्णय नहीं कर सका तब ब्रह्मा ने अलौकिक प्रकार से पदार्थ का निर्णय करने का विचार किया वह इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक----**किमेतत्सूकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम् ।**
अहो बताऽऽश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम् ।। २२ ।।

श्लोकार्थ----अहो ! वराह के आकार वाला कौनसा दिव्य प्राणी आकाश में स्थित है जिससे खेद और आश्चर्य दोनों हो रहे हैं क्योंकि ऐसा दिव्य रूप मेरी नासिका से प्रकट हुवा है ।। २२ ।।

सुबोधिनी—**किमेतदिति** । सूकरइति व्याजमात्रम्; दिव्यमेवैतत्सत्त्वम्, न प्राकृतम् । दिव्यत्वं निरूपयति-**अहो** इत्याश्चर्ये । बतेति खेदे । तेजः प्रागल्भ्यादेः परिदृश्यमानत्वादस्मदाद्यपेक्षयाऽप्य-लौकिकतेजस्त्वात् किञ्चित्कारणभूतं तत्त्वमेव परं तस्य सूकररूपताऽत्याश्चर्ये हेतुः । खेदस्तु महतो विरूपत्वात् । आश्चर्यान्तरमाह-**आश्चर्यमिदमिति** । कालकर्मस्वभाववशेन महतोऽपि हीनभावः संभवति, तथापीदमत्याश्चर्यम्, यन्ममैव नासापुटान्निःसृतम् । न हि पुरुषात्सूकरा उत्पद्यन्ते, तत्राऽपि नासिकायाः । अनेन योनिरपि विजातीयानास्तीत्युक्तम् ।। २२ ।।

व्याख्या—सूकराकार तो केवल व्याज (मिष) है, वस्तुतः यह अलौकिक सत्त्व है न कि प्राकृत है, इसका अलौकिकपन बताते हैं 'अहो' पद आश्चर्य सूचक है और 'बत' खेद प्रकट करता है तेज तथा प्रागल्भ (चालाकी) आदि देखने से मालूम होता है कि हम लोगों से भी विशेष अलौकिक तेजादि इसमें है' इससे जाना जाता है कि कुछ कारणभूत अलौकिकता ही यह है किन्तु इसकी सूकरता अति आश्चर्य प्रदर्शित करती है फिर खेद इसकी महत्ता और निरूपता से होता है, दूसरा आश्चर्य प्रकट करते हैं काल कर्म और स्वभाव से महान् भी हीन भाव हो जाता है तो भी यह अति आश्चर्य है जो ही मेरे नासापुट् से ये प्रकट हैं । पुरुष से सूकर पैदा नहीं होते हैं उसमें भी फिर नासिका से, इससे यों सूचित किया है कि उत्पत्ति स्थान (योनि) भी विजातीय नहीं है अर्थात् लौकिक (सूकर) न होकर अलौकिक है ।। २२ ।।

आभास—आश्चर्यान्तरमाह--

आभासार्थ—अन्य (दूसरा) आश्चर्य इस श्लोक में बताते हैं—

श्लोक---**दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलोपमः ।**
अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः ।। २३ ।।

श्लोकार्थ---अङ्गुष्ठ के शिरो भाग मात्र से जो पहले देखने में आये वे ही एक क्षण में पर्वत से गिरी हुई बड़ी बड़ो शिला जैसे **बन** गये, निश्चय वास्तव में यह यज्ञ भगवान् ही मेरे मन को खेदित करते हुए लीला **कर** रहे हैं ।। २३ ।।

सुबोधिनी--दृष्ट इति । अङ्गुष्ठस्य शिर उत्तमं पर्व, तावन्मात्रा प्रमाणं यस्य । **दृष्ट इति** । प्रथमदर्शनम् । नासाद्वारस्य तावन्मात्रत्वादुपपत्त्योक्तम्, ब्रह्मणो ज्ञानस्य कालाद्यतीन्द्रिय-विषयत्वाद्वा । अत एव **क्षणादित्युक्तम्** । ब्रह्म-वाक्यत्वान्न लौकिकन्यायेनाऽल्पः कालो लक्ष्यते । पर्वताच्च्युताः स्थूलाः पाषाणा गण्डशिलाः, तैरुपमीयत इति पुरुषगुरुत्वादिभिरुच्यते । अचेतनदृष्टान्तः स्वस्य खेदसूचकः । स्वस्य पर्वतत्वेन वज्रेण पक्षच्छेद इव खेदसूचकत्वात् । आश्चर्य-खेदौ वा क्रमेण निरूपितौ । एवमलौकिक-प्रकारेणाऽपि पदार्थे तर्क्यमाणे निर्द्धारो न भवति । बीजमेव हि तर्केण निर्द्धारितम्, न प्रयोजनम् । न हि दिव्यस्याऽपि सत्त्वस्य प्रकृते प्रयोजनमस्ति । भूम्युद्धारार्थं भगवान् ध्यातः. अत एव स एव भूम्युद्धारार्थमेवंरूपेण प्रकट इति सम्भावना । ननु पुरुषोत्तमस्य किं लोकवेदनिन्दितरूपेण प्राकट्ये कारणमित्याशङ्क्य, स्वखेदजनकत्वमेव **कारणमुत्प्रेक्षते-मे खेदयन् मन इति** । **अपीति** सम्भावनायाम् । **स्विदिति** निश्चये । पूर्वं बहवः **पक्षा** उत्प्रेक्षिताः, तत्रायं निर्द्धारित पक्षः । **अतो** भगवान् परमेश्वर एवाऽयम् । तस्याऽनन्तरूपेषु यज्ञश्चाऽयं भवितुमर्हति, प्रकृतोपयोगित्वात् । कालमन्युरूपत्वेन दैत्यत्वं च संभाव्यते, **रूपेण**; अन्यथा दैत्यवधो न स्यात्, मर्यादायां क्रूरेणैव क्रूरहननात् । इयं यज्ञरूपा भूमिर्वराहेणैव संरक्ष्यते । तत्र दैत्यानां यज्ञाधिकरणं वदिर्दैत्यवधं कृत्वा यद्यानीयते, तदा देवानां पूर्णो यज्ञो **भवति** । ब्रह्मणा हि सर्वेभ्यो यज्ञा दत्ताः साधिकरणाः, तेषां च वाममोषो वराहः । हननं तु विपक्षे सति । अतस्तादृगरूपमवश्यकर्तव्यमापतितमिति, ब्रह्माणमुपालभमान इव, यज्ञ एव वराहरूपं **कृतवान्** । अन्यस्य बीज-प्रयोजनोत्पादकत्वं न **सम्भव** त ॥ २३ ।।

व्याख्या—अङ्गुष्ठ (अंगुठे) का शिर उत्तम भाग है इतना **ही इसके** आकार का प्रमाण देखा गया है यों पहले दर्शन हुए, प्राकट्य का स्थान नासापुट भी इतना था इस लिये उसकी उप-पत्ति (हेतु पूर्वक युक्ति) बताई, अथवा ब्रह्मा का ज्ञान कालादि से अतीत इन्द्रियों के विषय वाला होने से उसने समझ लिया अतएव कहा कि 'क्षणात्' क्षण में ही ब्रह्मा का वाक्य होने से लौकिक न्याय से थोड़े समय में विचारा हुआ नहीं है । पहाड़ से जो स्थूल शिलाएं गिरती हैं उनको गण्ड शिला कहते हैं उनके समान वह आकार हो गया यों बहुत बड़े भारवाला है । यह जड़ पर्वत का दृष्टान्त आप (ब्रह्मा) के खेद की सूचना देता है कारण कि **स्वयं** (ब्रह्मा) पर्वत रूप हो

उसकी पाँख वज्र से कट जावे तो खेद ही उत्पन्न होता है इसी तरह आश्चर्य और खेद क्रम से निरूपण किये इसी तरह अलौकिक प्रकार से भी तर्क द्वारा पदार्थ का निर्णय नहीं हो सका तब बीज क्या है ? इसके तर्क से निर्णय किया न कि प्रयोजन का दिव्य (अलौकिक) सत्व (प्राणी) का चालू विषय में कोई प्रयोजन है । भूमि के उद्धारार्थ भगवान् का ध्यान किया जिससे वह (भगवान्) ही भूमि के उद्धार के लिये इस प्रकार के रूप से प्रकट हुए हैं । पुरुषोत्तम प्रभु का लोक और वेद में निंदित इस रूप में प्रकट होने का क्या कारण है इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'मे खेदयन् मनः' मेरे मन को खेदित करना ही कारण है 'अपि' शब्द सम्भावना अर्थ में दिया है, 'स्वित्' शब्द निश्चय के अर्थ में दिया है पहले बहुत पक्षों के अनुमान-पूर्वक विचार किये, किंतु अन्त में यह पक्ष ही निर्णित हुआ, अतः भगवान् परमेश्वर हैं, उनके अनेक रूपों में से यह 'यज्ञ' रूप ही हो सकते हैं, क्योंकि वर्तमान कार्य के लिये यह उपयोगी है, आकृति से काल और क्रोध के रूप वाले होने से दैत्यत्व की सम्भावना हो सकती है, यों नहीं होवे तो दैत्य का वध न बनें, कारण कि मर्यादा मार्ग में यह ही नीति है कि क्रूर से क्रूर का नाश किया जाता (होता) है, यह भूमि यज्ञ रूप है, वराह भी यज्ञ रूप है इसलिये उस स्वरूप से ही इसकी रक्षा हो सकती है । भूमि पर यज्ञ करने के लिये जो वेदा चाहिये वह दैत्य है, अतः जब दैत्य वध करके लाया जाय तब देवों का यज्ञ पूर्ण होता हैं ।

ब्रह्मा ने ही सबको अधिकरण सहित यज्ञ दिये हैं, उन (असुर और देवों के यज्ञों) के धन का चोर वराह हैं, वराह अब देव पक्ष में हैं, अतः वध नहीं किया, जब शत्रु पक्ष में होगा तब वध करने योग्य होगा । इस कारण से इस प्रकार का रूप अवश्य धारण करना पड़ा है यों ब्रह्मा को उपालम्भ देने के लिए यज्ञ भगवान् ने ही वराह रूप धारण किया है इसके सिवाय दूसरा कोई भी बीज[1] प्रयोजन को उत्पन्न करने वाला हो नहीं सकता हैं । ।२३ ।।

आभास—अयमपि पक्षः कार्ये निर्व्यूढे फलतो निर्द्धारितो भविष्यतीति फलनिष्पत्तिपर्यन्तं ब्रह्मणो विचार एव जात इत्याह—

आभासार्थ—यह भी एक पक्ष है । कार्य पूर्ण होकर फल का निश्चय होने तक ब्रह्मा को विचार हो रहा, यह इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः ।**
भगवान्यज्ञपुरुषो जगर्जाऽगेन्द्रसंनिभः ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मा पुत्रों के साथ विचार कर ही रहे थे तब उस उत्तम पर्वत के समान भगवान् यज्ञ पुरुष ने गर्जना की ।। २४ ।।

१—पृथ्वी को रसातल से ले आना यह 'बीज' है बीज और प्रयोजन भगवान् ही सिद्ध कर सकते हैं । (प्रकाश)

सुबोधिनी—इतीति । सूनुभिर्मरीच्यादिभिः सह ब्रह्मणो विचारं कुर्वत एव सतः, शीघ्रं विचारान्तरानुत्पत्तये, तेषां हृदयं ज्ञात्वा **भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्ज** । पूर्वं गण्डशैलसमानोऽपि पुनस्तथा वृद्धया मेरुसदृशो जातः । **भगवानिति** ऐश्वर्यादेः प्रकटितत्वान्न हेत्वस्फूर्तिः । यज्ञांशे वराहरूपता, अधिष्ठातृरूपत्वे तु पुरुषत्वम्, तेनाऽर्धपुरुषो वराहः अनेन ब्रह्माणं प्रति स्वस्य पुरुषरूपमपि प्रदर्शितमिति खेदोऽपि निराकृत प्रायः । यथा समेघः पर्वतो गर्जति, एवं भगवानेक एव गर्जतीत्यर्थः । सशब्दार्थश्चाऽयम् ।।२४।।

व्याख्या—वराह- हरि है, इसलिये दुःख हरण तथा गर्जना करना इनका स्वभाव है, अतः आपने (भगवान् ने) देखा कि ब्रह्मा मरीचि आदि पुत्रों से विचार कर रहे हैं किन्तु शीघ्र विचार से कोई निर्णय की उपपत्ति नहीं हो सकी है यों उनका हृदय जानकर भगवान् यह पुरुष (वराह रूप भगवान्) स्वभानुसार गर्जना करने लगे पहले पर्वत की शिला के समान भी फिर, वैसे ही बढ़ते हुए मेरु पर्वत के समान हो गये । भगवान् हैं अतः ऐश्वर्यादि प्रकट होने से हेतु की स्फूर्ति न हुई अर्थात् अधिक बढने से प्रकट ऐश्वर्यादि गुणों को छुपा न सके यज्ञांश में वराह रूपता अधिष्ठाता के रूप में तो पुरुषत्व था, इससे अर्ध पुरुष वराह थे इससे ब्रह्मा को आपने अपना पुरुष रूप भी दिखाया जिससे ब्रह्मा का खेद भी प्रायः मिटा दिया, जैसे मेघ सहित पर्वत गर्जता है, वैसे ही भगवान् ने अकेले ही गर्जना की, यह 'सं' शब्द का भावार्थ है ।। २४ ।।

आभास—अत एव ब्रह्मणो हर्षो जात इत्याह—

आभासार्थ—इस कारण से ब्रह्मा को हर्ष हुवा यों इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोक-**ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान् ।**
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ प्रभु ने दिशाओं में प्रघोष करने वाली अपनी गर्जना से ब्रह्मा तथा उन द्विजोत्तमों को हर्षित किया ।। २५ ।।

सुबोधिनी-ब्रह्माणमिति । हरिरिति तथात्वं स्वभाव **तानिति** मीमांसकान् । ब्रह्मणो द्विरूपो हर्षः, तेषामेकरूप इति भिन्नतया निर्देशः । हर्षणे हेतुः - **द्विजोत्तमानिति** । यज्ञत्वात्तेषां हर्षः । चौर्यनिराकरणार्थं तथा गर्जनं कृतवान्, यथा सर्वत्र दिक्षु प्रतिध्वनिर्जातः । तदाह—**ककुभः प्रतिस्वनयता स्वगर्जितेनेति** । ननु किमित्येवं कृतवान् तत्राऽऽह**विभुरिति** ।। २५ ।।

व्याख्या—'हरि' पद से उनका स्वभाव प्रदर्शित किया है, 'तान्' पद से यह प्रकट किया है कि उनको (परस्पर विचार विनिमय करने वाले ब्रह्मा मरीचि आदि को), ब्रह्मा को दो तरह से हर्ष हुआ कि इससे मुझे कार्य में सहायक मिला और यह यज्ञ रूप हरि हैं इस ज्ञान से दूसरा हर्ष हुआ । अन्य मरीचि आदि को एक प्रकार का हर्ष हुआ । इसलिये उनको पृथक् कहा है उनको हर्ष क्यों हुआ ? इस पर कहा है कि द्विजोत्तम होने से यह यज्ञ स्वरूप है इसलिये हर्ष हुआ चौर्य

कृत्य (चोरी के काम) के निराकरण के लिए गर्जना की है, जैसे सर्वत्र दिशाओं में प्रति ध्वनि पहुँचे, ऐसो ध्वन न कैसे कर सके जिस पर कहते हैं कि 'विभु' सर्व प्रकार समर्थ हैं ॥ २५ ॥

आभास—हृष्टानां कार्यमाह—

आभासार्थ—प्रसन्न होकर जो उन्होंने कार्य किया वह कहते हैं—

श्लोक—**निशम्य ते घर्घरितं स्वखेदक्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।**
जनस्तपः सत्यनिवासिनस्ते त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन्स्म ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—ऐच्छिक सूकर को अपने खेद को नाश करने वाली गर्जना सुनकर जन, तप और सत्य लोकवासी मुनिओं ने पवित्र वेदत्रयी से वराह स्वरूप की स्तुति की ॥ २६ ॥

सुबोधिनी—**निशम्येति** । **घर्घरितमिति** तज्जात्यनुकरणशब्दः, भाषायां गृहवाची । सर्वेषामेव गृहं संपादयिष्यामीति, गृहोपरि व गृहम् ; शरीरं गृह चेति वा । अत एव **स्वखेदक्षयिष्णु** । सर्वेषां भूमावेव प्रतिष्ठा, जनादिष्वपि भूमेरेवाऽन्नसिद्धिः । संबन्धिनामुद्धारार्थं व अधिकारिणां खेदनिवृत्त्यर्थं वा, स्वमीमांसितरयाऽङ्गीकारेण वा ! ननु पश्वनुकरणेन कथं खेदनिराकरणम्, तत्राऽऽह—**मायामयसूकरस्येति** । दैत्यान् व्यामोहयितुं मायया तथारूपं कृतवान् । मायामयत्वमतिवञ्चनाप्रदर्शकत्वम्, वेदे हि कर्ममार्गे अत्यन्तभ्रमजनकत्वात् । **जनस्तपः सत्यनिवासिन** इति त्रिविधा अपि सात्त्विका उक्ताः, तैरेव स लोकः प्राप्यत इति । **त्रिभिः पवित्रैर्वेद**-त्रयेण मार्जनीयैः, पवमानादिभिर्वा । एतेषां तु कथा भगवत्प्रसिद्ध्यर्थम् । मननाज्ज्ञानदार्ढ्यम् । **स्मेति** लौकिकी प्रसिद्धिः ॥ २६ ॥

व्याख्या—'घर्घरित' घर्घर एक प्रकार की गर्जना की ध्वनि है, यह सूकर जाति का अनुकर शब्द है । भाषा में 'घर' रहने के स्थान को कहते हैं, इस ध्वनि से यह सूचित किया है कि सर्व के लिये घरों (मकानों) का प्रबन्ध करूंगा जिससे सर्व अपने घर बनाकर उनमें रहे अथवा शरीर एवं घर दोनों दूंगा यों करने से ही मेरा (ब्रह्मा का) खेद नाश कर रहे हैं, सबकी स्थिति पृथ्वी पर ही होगी मनुष्यों को अन्नादि की सिद्धि भी पृथ्वी से ही होगी, अथवा सम्बन्धियों के उद्धार के कारण वा अधिकारियों का खेद मिटाने के कारण अथवा हमने जो अन्तिम निश्चय किया उसको स्वीकार करने से खेद निवृति हुई ।

पशु रूप धारण से खेद निवृति कैसे हुई ? इस पर कहा है कि 'मायामय सूकरस्य' दैत्यों को मोहित करने के लिये स्वेच्छा से रूप का दिखावा किया है क्योंकि यह वेद के कर्म मार्ग में अत्यन्त भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं ।

कारिका—**आलम्भने फले चैव यज्ञरूपे तथोगद्रुमे ।**
उपाख्यानेषु सर्वेषु भ्रमो वै जायते श्रुतौ ॥ १ ॥

आधिदैविकरूपेऽपि मोहकत्वं तथा सुरे ।
यथा स्वस्मिन्नीचबुद्धिःततोऽपि भगवत्युत ।। २ ।।
सूकर इति 'षू प्रसवे' इति प्रसवकर्त्ता ।

कारिकार्थ—जब यज्ञ का स्वरूप वैसा प्रकट होता है तब वेद में आलम्भन (पशुवध) एवं फल (यज्ञ फल) सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न होता है ।। १ ।।

जब यज्ञ पुरुष भगवान् आधिदैविक स्वरूप से प्रकट होते हैं तब भी असुरों की जैसी अपने में तीव्र बुद्धि होती है उससे भी विशेष नीच बुद्धि अपने में कराते हैं ।। २ ।।

'सूकर' शब्द का अर्थ है प्रसव करने वाला क्योंकि यह 'सूकर' पद 'षू प्रसवे' धातु से बना है--

कारिका—**वेदा उत्पादिताः सर्वे मुक्त्यर्थं हीनभावताम् ।**
धारयिष्यन्ति समलास्ततः सूकरउच्यते ।। ३ ।।

कारिकार्थ—सकल वेद तो मुक्ति के लिए प्रकट किये हैं, किन्तु वे मल वाले हो हीन भाव को प्राप्त करेंगे इस कारण से सूकर कहलायेंगे ।। ३ ।।

व्याख्या जन, तप, और सत्य लोक के निवासी सात्त्विक कहे हैं । वे ही वह लोक प्राप्त करते हैं । इन तीन पवित्र वेदों के मन्त्रों से मुनिओं ने स्तुति की है, मुनियों की कथा तो भगवान् की प्रसिद्धि करने के लिये की है मनन करने से ज्ञान दृढ होता है 'स्मेति' का भावार्थ है कि यह प्रसिद्ध है ।। २६ ।।

आभास—एवं सर्वान् ज्ञापयित्वा यदर्थमवतीर्णस्तत्कृतवानित्याह—

आभासार्थ—यों सर्व को जतलाकर जिस कार्य के लिए अवतार धारण किया वह कार्य करने लगे जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक----**तेषां सतां वेदवितानमूर्तिर्ब्रह्माऽवधार्यात्मगुणानुवादम् ।**
विनन्द्य भूयो विबुधोदयाय गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ।। २७ ।।

श्लोकार्थ---वेद में कहे हुए समस्त यज्ञों के रूप भगवान् ने सत्पुरुषों के अपने गुणों का या फिर अनुवाद करते हुवे वेद का पूर्ण निश्चय किया, देवों के उदय के लिये, गजेन्द्रसम लीला करते हुए जल में प्रवेश किया ।। २७ ।।

सुबोधिनी--**तेषामिति** । **तेषां** स्तोत्रकर्तॄणाम् **ब्रह्म** वेदम् भगवतो यज्ञस्य गुणानुवादनरूपम् । **अवधार्य** निश्चित्य । वेदोक्तो यज्ञवितानो मूर्तिर्यस्य वेदविताना वा मूर्तौ यस्य । भगवतोऽनन्तरूपत्वादनन्तशाखात्वम् । **सतामिति** तथाकरणे ज्ञाने च हेतुः । **विनन्द्य** । विनन्दनमभिनन्दनम्, भूयोऽभिनन्दनं प्रत्येकम् । ब्रह्मवद्भगवानपि दैत्यादीनामप्युपकारं करिष्यतीत्याह **कृपयाऽऽह**-

विबुधोदयायेति । देवानामेवाऽभ्युदयो न दैत्यानामिति । ननु भगवान् सर्वसमर्थः सर्वगश्च; तत्पाताल एवाऽऽविर्भूतः कथं न भूमिमाहृतवान्। तत्राऽऽह- **गजन्द्रलील इति** । गजेन्द्रस्य लीलेव लीला यस्य । कथमत्र गजेन्द्रो जले प्रविष्टः क्रीडितवानिति तां क्रीडिमनुकर्तुम्, गजेन्द्रस्य वा भक्तत्वख्यापनाय । स हि भगवल्लीलामेव कृतवानिति ॥ २७ ॥

व्याख्या—स्तुति करने वालों के, यज्ञ रूप भगवान् के गुणानुवाद रूप वेद का निश्चय कर जल में प्रवेश किया, वेद में कहे हुए यज्ञों के विस्तारवाली मूर्ति वाला अथवा जिसकी मूर्ति में वेद विस्तृत है ऐसे भगवान् जैसे अनन्त रूप हैं वैसे वेद अनन्त शाखात्व है 'सतां' पद से यह बताया है कि यों करने में तथा ज्ञान में यही कारण है 'विनन्द्य' पद से अभिनन्दन देना प्रकट किया है दुबारा अभिनन्दन का हेतु प्रत्येक को अभिनन्दन देना है वेद की तरह भगवान् भी दैत्यादिकों का भी उपकार करेंगे क्या ? इस शंका निवारण के लिये 'विबुधोदयाय' देवों के उदय के लिये प्रकटे है । देवों का ही उपकार करेंगे न कि दैत्यों का भी । भगवान् सर्व समर्थ हैं एवं सर्वत्र गमन कर सकते हैं, तब पाताल में ही प्रकट होकर पृथ्वी को क्यों न ले आए ? इस पर कहते हैं कि 'गजेन्द्र-लीला' आपकी लीला गजेन्द्र के समान है वह कैसे ? यहां गजेन्द्र जल में प्रविष्ट हुआ और क्रीड़ा की, उसका अनुकरण करने के लिये अथवा गजेन्द्र का भक्तत्व प्रकट करने के लिये, उस गजेन्द्र ने भगवान् की ही लीला की थी ॥ २७ ॥

कारिका—**एका भगवतो लीला नानाकार्यप्रवर्तिका ।**
भक्तानां सर्वसौख्यार्थं लीलां चक्रे तथाविधाम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—भगवान् की एक लीला अनेक कार्यों की सिद्धि करती है भक्तों को सर्व प्रकार के सुख देने के लिए वैसे प्रकार की लीला की है ॥ १ ॥

आभास—तदानीन्तनां भगवन्मूर्तिं लीलासहितां वर्णयति—**उत्क्षिप्तबाल** इति द्वाभ्यां स्वरूपक्रियावर्णनभेदेन । तत्र प्रथमं स्वरूपं वर्णयति—

आभासार्थ—स्वरूप तथा क्रिया के वर्णन के भेद से उस समय की लीला सहित भगवन्मूर्ति का निम्न दो श्लोकों में वर्णन करते हैं उसमें से पहले स्वरूप का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**उत्क्षिप्तबालः खचरः कठोरः सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक्**
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्रवीक्षाज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—पूंछ को ऊपर कर रखा है आकाश में फिर रहे हैं भयानक केसरी सिह का धुन्वन (गर्जना) करते हैं जिसकी त्वचा कठोर (सख्त) रोमों वाली है खुरों से मेघों को बिखेर रहे थे सफेद दाढवाले और प्रकाशित दृष्टि वाले भगवान् महीध्र सुशोभित हो रहे थे ॥ २८ ॥

सुबोधिनी—ऊर्द्ध्वं क्षिप्तो बालः पुच्छं येन । पुच्छं तस्य दीक्षात्मकम्, दीर्घं कृशहेतुश्च । **स** एव यज्ञे उच्चताहेतुरिति ज्ञापयितुम् । **खचर** आकाशचरः, स हि सर्वेषु यज्ञियपदार्थेषु आविष्ट इवाऽसंलग्न एव तिष्ठतीति । अनेन यज्ञः पशुषु प्रतिष्ठितः क्रियामय इति ज्ञापयितुम् (?) । बलकार्यत्वात् **कठोर**: कठिनो निष्ठुरात्मको मन्युरूपत्वात् । खरा रोमशा त्वग्यस्य । परुषा हिंसादिजननात्, रोमशा बर्हिषो भूयस्त्वात् **त्वगुपरितनो** भागः । आकृतिस्तु लोकप्रसिद्धैव तादृशी । खुरैराहतान्यभ्राणि येन । भगवतः पादचतुष्टयं स्तोमरूपं मिलितं सत् सवनद्वयात्मकं भवति । तत्रैव पशवः सोमश्च सर्वो वृष्टिकार्यरूपो हन्यते, सवनाभ्यामेव सर्वजननात् कृतं मेघैरिति । यैर्मेघैर्जलं पूरितम्, तेऽवश्यं दूरीकर्तव्याः, अन्यथा तेषु पृथिवीस्थापने पृथिव्य अस्थिरता स्यात् । जल–मेघयोर्मध्ये स्थापनेऽपि मेघैः प्लावनं स्यात् । खुरैरेवाहतत्वादन्यत्र स्थितास्तत्र वृष्टिं करिष्यन्तीति मेघानां न सर्वथानाशः । सिता दंष्ट्रा यस्य । वीक्षैव ज्योतिर्यस्य । पृथिव्याः स्थापनशोषणार्थं दंष्ट्रावीक्षयोः कीर्तनम्, मृत्योरतिक्रमार्थं कृपावलोकनार्थं च । अतो भूमावेव मृत्योरतिक्रमो भगवत्कृपा चेति विज्ञापितम् । **बभास इति** । सर्वप्रमाणेन स्तुतः । **महीध्र** इति पृथिव्युद्धारेण सर्वोपकारकरणात् सर्वैः स्तूयमानत्वम् । सर्वे हि महीध्रा लोकप्रसिद्धाः पर्वताः, अयं तु भगवान्महीध्रः । ऐश्वर्यादिगुणयुक्तोऽपि भारं वहतीति दयालुत्वम् ।। २८ ।।

व्याख्या जिस (वराह भगवान्) ने अपनी पूंछ को ऊपर कर रखा है, आप की पूंछ यज्ञ की दीक्षा का रूप है, वह (ऊपर करना ही) दीर्घ और कृशता का हेतु है एवं व ही यज्ञ में उच्चता का कारण है, यों जताने के लिये ऐसा (ऊपर) किया है, आकाश में विचरण करते थे वह हो सकल यज्ञ के पदार्थों में प्रविष्ट हाकर भी मानो संलग्न नहीं थे, इससे यह जताया है कि क्रियामय यज्ञ पशुओं में प्रतिष्ठित हुए हैं पृथ्वी के उद्धार का कार्य कठिन है, ऐसे कार्य करने के लिये आप भी क्रोध रूप होने मे कठोर (कठिन--सख्त) हो गये हैं, जिसकी त्वचा (चमड़ी) कठिन और रोमों वाली है तथा यज्ञ में हिंसादि कार्य होने से कुशादि बहुत होते हैं जिससे शरीर का ऊपर का भाग त्वचा कठिन थी शेष आकार तो वैसा ही था जैसे लोक में प्रसिद्ध है जिसने खुरों से बादलों को बिखेर दिया भगवान् के चार चरण सोम रूप मिलने से दो सोमों के होम रूप बनते हैं, इस (होम) से वहां हो पशु और सोम होकर सकल वर्षा का कार्य खतम हो जाता है क्योंकि सोमों से सर्व अन्नादि उत्पन्न हो जाने से मेघों की आवश्यकता नहीं रहती है जिन मेघों ने बहुत जल बरसाया उनको दूर ही कर देना चाहिये नहीं तो वहां पर पृथ्वी स्थापित की जायेगी तो पृथ्वी स्थिर न रह सकेगी जल और मेघों के मध्य से स्थापन की जावे तो मेघ डुबो देंगे ।

खुरों मे दूर करने के कारण उनका सर्वनाश न होने से मेघ दूसरे स्थान में रह कर वृष्टि करते रहेंगे, जिसकी दंष्ट्रा (दाढ) सफेद है और दृष्टि ज्योति (प्रकाश) रूप ऐसे वराह भगवान् थे । वराह भगवान् के दंष्ट्रा एवं दृष्टि का कीर्त्तन पृथ्वी के स्थापन तथा शोषण के लिये किया है और मृत्यु के अतिक्रमण के लिये एवं कृपा दृष्टि डालने के लिये किया है ।

अतः यह बता दिया है कि पृथ्वी पर ही मृत्यु का उल्लङ्घन तथा भगवान् की कृपा हो सकती

है 'बभासे' पद का आशय है, सकल शास्त्रादि आपकी स्तुति करते हैं। 'महीध्र' शब्द से जताया है कि भूमि उद्धार से सर्व का उपकार किया है, इसलिये सर्व ने स्तुति की है समस्त 'महीध्र' लोक प्रसिद्ध 'पर्वत' है किन्तु यह तो भगवान् महीध्र है। इस कारण से ऐश्वर्य आदि षड्गुण सम्पन्न होते हुए भी भार का वहन करते हैं। यह इनकी प्रकट दयालुता है।। २८ ।।

आभास—एवं रूपं वर्णयित्वा क्रियां वर्णयति—

आभासार्थ—इस प्रकार ऊपर स्वरूप का वर्णन कर अब इस श्लोक में क्रिया का वर्णन करते हैं—

श्लोक—घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन् क्रोडापदेश- स्वयमध्वराङ्गः ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्यामुद्वीक्ष्य विप्रान्गृणतोऽविशत्कम् ।। २९ ।।

श्लोकार्थ—जिसके यज्ञ अङ्ग हैं और जिसने वराह की आकृति दिखावे मात्र के लिये धारण की है अतः उस आकृति के अनुकूल छल से नाक द्वारा पृथ्वी के मार्ग को सूंघने लगे। भयावनी दाढों वाले होते हुए भी सौम्य नेत्रों से स्तुति करने वाले विप्रों को देखते हुये जल में प्रवेश कर गये।। २९ ।।

सुबोधिनी—घ्राणेनेति । पृथ्व्याः पदवीं घ्राणेन विजिघ्रन् । सा हि गन्धवती, गन्ध एव तस्या व्यावर्तकः। येन मार्गेण पृथ्वी गता, स एव मार्गस्तस्य गमने साधीयान्, तत्र हि जलं विरलम् । विशेषतो घ्राणं **क्रोडापदेश** इति वराहरूपलीला व्याजार्थमेव। सर्वज्ञोऽपि गृहीतावतारो देहानुसारेणैव चेष्टां करोतीति घ्राणेनैव पृथिवीमार्गज्ञानम्। क्रोडनस्य विचारात्मकस्य मीमांसाशास्त्रस्य व्यपदेशमात्रमत्र, यत्कर्मप्राधान्यमिति देवताया एव प्राधान्यात् तामेवोपपादयति **स्वयमध्वराङ्ग इति** । अध्वरा अङ्गानि यस्य, सर्वयज्ञात्मक इत्यर्थः। अध्वनि रवो यस्येत्यध्वरः, सर्वत्रैव मार्गे अस्यैव शब्दः। न हि यज्ञव्यतिरेकेण कश्चिन्मार्गोऽस्ति, अन्ये खण्डिताः। तादृशानामप्यप्रामाण्यार्थमङ्गपदम् । यद्यप्ययं पशूनां घातकत्वेन प्रसिद्धः, तथाप्यग्रे ज्ञानप्रद इति सर्वोपास्य इति ज्ञापयितुमाह-**करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्यामिति । विप्रानुद्वीक्ष्येति** । सर्वेषां हि सर्वथा हि प्रवर्तृषु भगवतो ज्ञानं कृपा चेति । **गृणत इति** ज्ञानकृपयोर्भक्तिर्हेतुरित्युक्तम् । **कं** जलमाविशत् । भक्तान् ज्ञानसंपन्नान् कृत्वा अशेषामुद्धारार्थं स्वयं सुख इव जले प्रविष्टः ।। २९ ।।

व्याख्या—नाक से पृथ्वी कहां है, उसके मार्ग को ढूंढ निकालने के लिये सूंघते हुए (वराह भगवान्) जल में प्रवेश कर गये)। सूंघने का कारण यह था कि पृथ्वी का गुण गन्ध है इस गुण से अन्य पदार्थों से पृथ्वी पृथक् समझी जाती है जिस मार्ग से पृथ्वी गई है। उस मार्ग से ही जाने से पृथ्वी सरल रीति से देखने में आयेगी क्यों कि वहां जल स्वल्प (थोड़ा) था विशेष रूप से सूंघने का कारण था वह (पृथ्वी) कहां है उस का विचार करना यह केवल वराह रूप की लीला के दिखावे के लिये ही था, वास्तव में तो आप सर्वज्ञ थे किन्तु अवतार धारण किया था, अवतार दशा में जैसी

देह धारण करते हैं। उस देहानुसार ही सकल चेष्टा कर दिखाते हैं इसलिये वराह देहानुसार चेष्टा दिखाने के लिये आप नाक से खूब भूमि को सूंघने लगे थे, क्योंकि सूंघने से ही पृथ्वी के मार्ग का ज्ञान इस देह में हो सकेगा।

यहाँ तो यह मीमांसा शास्त्र अर्थात् पृथ्वी को ढूढ़ने का सूघंने से विचार करना केवल व्याज मात्र (दिखावा) ही है क्योंकि मीमांसा (विचार) शास्त्र में कर्म की प्रधानता है और यहाँ तो देवता को प्रधानता है जिसका प्रतिपादनार्थ कहते हैं कि 'स्वयमध्वराङ्ग' जो आप सर्व यज्ञ रूप है अर्थात् इसके सर्व अङ्ग यज्ञ रूप हैं 'अध्वर' पद का भावार्थ बताते हैं कि 'अध्वनि' मार्ग में 'रवो यस्य' जिसकी ध्वनि सर्वत्र हो रही है वह 'अध्वर' यज्ञ भगवान् है यज्ञ के सिवाय कोई मार्ग नहीं है अन्य मार्ग टूटे फूटे हैं ऐसे टूटे फूटे यज्ञ मार्ग भी अप्रमाणिक हैं इसलिये उनको बताने के अर्थ 'अङ्ग' पद दिया है।

यद्यपि यह 'वराह' (यज्ञ) पशुओं का घातक है तो भी अन्त में ज्ञान, देनेवाला है अतः सबों का उपास्य है यों जताने के लिये कहते हैं कि कराल 'दंष्ट्रोऽप्यकराल दृग्भ्यां' भयानक दंष्ट्राओं (दाढों वाला) होते हुए भी सौम्य नेत्रों से स्तुति करने वाले विप्रों को देखते हुये जल में प्रविष्ट हुये।

सबों का सर्व प्रकार से हित करने वालों में जो है वह भगवान् का ज्ञान तथा कृपा ही है, इससे यह बताया है कि भगवान् का ज्ञान और भगवान् की कृपा होने का कारण भक्ति है अर्थात् जो भगवान् की भक्ति करते हैं उनको ही ज्ञान एवं भक्ति प्राप्त होती है, यज्ञ भगवान् (वराह रूप) भक्तों को ज्ञान प्राप्त कराके दूसरों के उद्धार के लिये आप 'कं' सुख में प्रविष्ट होने वाले की तरह 'कं' जल में प्रविष्ट हुए, जल सुख है ॥ २९ ॥

आभास---मध्ये जलस्य सापराधत्वात् दण्डं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—जल के अपराधी होने से जल के बीच में उसको शिक्षा (दण्ड) दी, यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—स वज्रकूटाङ्गनिपातवेगविशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान्
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवाऽऽर्तश्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—वज्र समूह के समान अति कठिन अङ्गों के पड़ने (ऊपर गिरने से) जिसकी कुक्षि फट गई है वैसा वह समुद्र निःश्वास लेते हुए दुःखी की तरह ऊपर अपनी लम्बी तरङ्ग रूपी भुजाओं से महती ध्वनि करते हुए कह रहा था कि हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥

सुबोधिनी—स वज्रेति । यस्मिन् जले भगवानाविष्टः, येन च पृथिवी मज्जिता, स उदन्वान् । **वज्रकूटवत् वज्रसमूहवदतिकठिन** यत् जाज्वल्यमानमङ्गम् । न हि वज्रातिरिक्तस्य तेजो जले तिष्ठत्यधिकं वा जायते । स हि मेघान् जलं त्याजयति । **तादृशाः सर्वे** यद्येकत्र भवन्ति तदा समुद्रादपि जलं त्याजयन्ति । ते पुनः कपटेन चेदागच्छेयुः, स्वरूपमेव नाशयेयुः । तद्रूपश्चाऽयं भगवान् । तादृशाऽङ्गस्य यो निपातः । वज्रपात एव न कोऽपि जीवति, तत्राऽपि समूहः, तत्रापि कापट्यम्, तत्रापि तदङ्गमेव यस्य । तस्याऽपि पातोऽनवधानदशायामुपरिपतनम् । पतनेऽपि महान् वेगः, यथा बाणो भित्त्वा गच्छति । तेन कृत्वा विशीर्णा कुक्षिर्यस्य । अनेन कुक्षेः कुक्षिनिवार्यते, अन्यथा स्वकुक्षिरेव न पूर्येत । उदन्वानिति जलवत्त्वं तत्कुक्षावेव तिष्ठति, अतः कुक्षिभङ्गे नातः परं जलवृद्धिरिति सूचितम् । तथात्वं जातमिति ज्ञापयितुं तत्कार्यमाह—**उत्सृष्टेति** । उर्द्ध्वं सृष्टाः प्रसारिता दीर्घा ऊर्मय एव भुजाः, तैरुपलक्षितः । **आर्त्त इवेति** पातेऽप्यानन्दमयः पततीति स्त्रीभुजबन्धनवत् सुखमेव भवतीत्यार्त्त इवेत्युक्तम् । सर्वजलशोषे स्वरूपमेव नश्यति, कुक्षिविदारे वृद्धयभावः । तदा वर्षाशोषणाभ्यां समता भवति, तदकरणे भूमेः स्थापनमेव न भवेत् । **चुक्रोशेति** स्पष्टमेव । तस्मिन् देवतारूपे समुद्रे दैत्यानामाधारभूते दण्ड उचित एव । तथापि देवतात्वात् सर्वदेवतामोजकं भगवन्तं प्रार्थयते-**यज्ञेश्वर पाहि मेति** । समुद्रस्याऽपि देवतात्वम्, 'समुद्राय स्वाहा' इति 'समुद्रियाभ्यः स्वाहा' इति श्रुतेः । **यज्ञेश्वरेतिसंबोधनं** स्वसंबन्धज्ञापनार्थम् । दैत्यानां हननेऽपि मां पालयेति ॥ ३० ॥

व्याख्या—जिस जल में भगवान् प्रविष्ट हुये, (घुसे) जिस जल ने भूमि को डुबो दिया था वह समुद्र था उसके जल में वह जिसका अङ्ग वज्र समूह के समान अति ही कठिन एवं चमकता हुआ श्री अङ्ग था वह जल में अचानक प्रविष्ट हुआ वज्र के सिवाय अन्य किसी पदार्थ का तेज जल में नहीं रह सकता है और अधिक भी नहीं होता है वह (वज्र) ही वज्र मेघों से जल को छुड़ाता है ऐसे सर्व वज्र यदि इकट्ठे हो जावे तो समुद्र का भी शोषण कर डाले, वह (वज्र) यदि कपट से अचानक आवे (आकर गिरे) तो स्वरूप को ही नाश कर डाले, ऐसे स्वरूप वाले इस प्रकरण में भगवान् ही थे, ऐसे भगवान् के अंग का जो वज्र-पात की तरह अचानक एवम् कपट रूप से जोर से ऊपर से गिरना, गिरने से महान् वेग का होना उस वेग ने जैसे बाण तोड (छेद) कर निकल जाता है। वैसे ही इसने भी कुक्षि को चीर डाला, समुद्र भगवान् का कुक्षि है, कुक्षि से ही कुक्षि का चीरना नहीं होता है यदि यों होवे तो अपनी कुक्षि पूरित न होवे।

"उदन्वान्" समुद्र जल वाला (जलमय) होता है । समुद्र के जल का स्रोत जहां रहता है वह 'कुक्षि' है, उस स्थान (कुक्षि) को चीरने का आशय यह था कि समुद्र का जल बढे नहीं, बढेगा तो पृथ्वी स्थिर नहीं रह सकेगी वैसा हुआ यों जताने के लिए उसके कार्य का वर्णन करते हैं। 'उत्सृटेति' तरंग रूपी भुजाएं ऊपर प्रसारित की हैं अर्थात् फैलाई जिससे देखने में दुःखी जैसा लक्ष में आ (दिख) रहा है। 'आर्त इव' पद का भावार्थ है कि ये तरंगें ऊपर से आके गिरने पर

भी ग्रानन्द देनेवाली जैसी होती है। जैसे स्त्री का ग्रालिङ्गन ग्रानन्द देता है यदि सब जल का शोषण किया जाता तो स्वरूप का ही नाश हो जाता ग्रतः कुक्षि के चीरने से वृद्धि रोक दी तब एक तरफ जल का शोषण ग्रौर दूसरी तरफ वर्षा के होने से समता हो गई यदि यों न किया जाता तो भूमि स्थापना न हो सकती थी "चक्रोश' जोर से चीस मारकर पुकारा यह स्पष्ट कही है। क्यों कि समुद्र देव होकर दैत्यों को ग्राश्रय देवे तो उसको दण्ड देना ही चाहिये किन्तु समुद्र स्वयं देवता है इस लिए सर्व देवताग्रों के भोग कराने वाले भगवान् की प्रार्थना करता है कि 'यज्ञेश्वर पाहिमेति' हे यज्ञों के ईश्वर प्रभु मेरी रक्षा करो समुद्र भी देवता है ग्रतः 'समुद्राय' स्वाहा' इति 'समुद्रियाभ्यः स्वाहा इति श्रुतेः यों श्रुतियां हैं यज्ञेश्वर सम्बोधन ग्रपने साथ सम्बन्ध जताने के लिए दिया है दैत्यों का हनन करने (मारने) पर भी मेरी रक्षा करो ।।३०।।

ग्राभास—एवं समुद्रदण्डने कृत्वा, पुनर्यथा मज्जनं न करोति तथा शिक्षां दत्त्वा, स्वमं भूम्युद्धारार्थं प्रवृत्त इत्याह—

ग्रभासार्थ—इस प्रकार समुद्र को दण्ड देकर यह शिक्षा दी कि फिर पृथ्वी को नहीं डुबाना, स्वयं वराह ने भूमि के उद्धार के लिए प्रवृत्ति की वह इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम् ।**
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ।। ३१ ।।

श्लोकार्थ—तीक्ष्ण खुरों से जिस जल का पार दूर है ऐसे जल को विदारण करते हुए यज्ञवराह ने रसातल में पृथ्वी देखी जो भूमि जीवों का ग्राधार बनी है उस पर भविष्य में सोने की इच्छा वाले प्रभु ने उसका (भूमि का) उद्धार किया ।। ३१ ।।

सुबोधिनी—खुरैः क्षुरप्रैरिति । तीक्ष्णैः खुरैस्तदापो दरयन् विदारयन् । उद्गतः पारो यस्य, तस्याऽपि पारो यथा भवति तथा । त्रिपरुर्यज्ञवराहः । त्रीणि पर्वाणि यस्य । पादद्वयं द्वयमेकैकं पर्व, मुखं चैकम्; तथैवं सोमस्य प्रवृत्तेः । 'पड्वृचां द्वे सवने समगृणान्मुखेनैकम्' इति श्रुतेः । 'द्वौ स्तोमौ प्रातः सवनं वहतः' इत्यादि श्रुत्या प्रातः सवनस्य द्विरूपत्वम् । मुखमपि द्विरूपमोष्ठाभ्याम् । रसायां स्थितां गां ददर्श । ततस्तामुद्धृतवानिति वदंस्तत्र हेतुमाह-तत्र सुषुप्सुरग्र इति । तत्र पृथिव्यामविकृतायाम् । पृथिव्याधिष्ठातृदेवता भगवतः शय्या भवतीति । भार्या तु सिद्धैव । ग्रग्रे उद्धारानन्तरम् । भूमिमुद्धृत्य तस्मिन् शयनं करिष्यामीति प्रलये भगवान् शेषे शयनं कृतवान् । सृष्टौ पुनः सर्वेषु पुरेषु शयनं करोतीति, पुरुषशब्दव्युत्पत्तेः, सर्वपुरनिर्माणार्थं भूमिमुद्धरिष्यतीत्यर्थः । ननु भूमिः किमिति बहूनि शरीराणि करिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—यां जीवधानीमिति । या पृथिवी सर्वेषां जीवानामाधारभूता, सा हि सर्वेषां देहान् संपादयति । ग्रतः स्वयमभ्यधत्त, तदुद्धारे सर्व एव जीवा उद्धृता एव भवन्तीति ।। ३१ ।।

व्याख्या तीक्ष्ण खुरों से उस जल को चीरते हुए जैसे उस जल का भी पार निकले यों करने लगे 'त्रिपरुः' अर्थात् यज्ञ वराह भगवन् जिनके तीन पर्व हैं प्रत्येक पाद एक एक पर्व है तथा एक पर्व मुख है इस तरह तीन पर्व हैं तथा यों सोमयज्ञ की प्रवृत्ति हुई है। 'पद्भ्यां द्वे सवने समगृह्णान्मुखेनैकम् इति श्रुतेः' पादों (पैरों) से दो सवनों की और मुखसे एक सवन को स्वीकार किया है इसी तरह सोम की प्रवृत्ति कराई है 'द्वौ स्तोमौ प्रातः सवनं वहतः' इस श्रुति से प्रातः काल के सवन के दो रूप हैं। मुख भी दो होटों के कारण द्विरूप है। रसातल में स्थिति पृथ्वी को देखा वहां मे उसका उद्धार किया अर्थात् उसको निकाला जिसमें कारण कहते हैं कि 'तत्र सुषुप्सुरग्रे' उस पृथ्वी को विकार रहित कर उस पृथ्वी का अधिष्ठाता देवता भगवान् कि शय्या होगी भार्या तो सिद्ध ही है। 'अग्रे' पद का तात्पर्य है। उद्धार करने के अनन्तर भूमि का उद्धार कर उसके अधिष्ठाता देवता पर शयन करूँगा अर्थात् इस लिए भगवान् प्रलय में शेष पर शयन करते हैं सृष्टि के समय फिर सकल पुरों में (देहों में) शयन करते हैं पुरुष शब्द का भावार्थ ही यह है। सर्व पुर (देह) निर्माण के लिए भूमि का उद्धार करेंगे (करते हैं)।

भूमि क्या है ? जो बहुत शरीर धारण करेगी ? इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं कि 'यांजीवधानीमिति' पृथ्वी सकल जीवों का आधार है। वह ही समस्तों के देहों को रचती है। अतः उसके उद्धार से सब जीवों का उद्धार हो जाता है। इसलिए भगवान् स्वयं ने इस (भूमि) का उद्धार किया है ॥३१॥

आभास—एवं तां गृहीत्वा निर्गच्छन्तमनुवर्णयति—

आभासार्थ—पृथ्वी को इस प्रकार लेकर बाहर पधारते हुए भगवान् का निम्न श्लोंको में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां समुत्थितः संरुरुचे रसायाः ।**
तत्राऽदिदैत्यं गदया पतन्तं सुनाभसंदीपिततीव्रमन्युः ३२ ॥
जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं स लीलयेभं मृगराडिवाऽम्भसि ।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—जल में पूर्ण डूबी हुई पृथ्वी को अपनी दंष्ट्रा (दाढ) से बाहर निकाल कर रसातल में ही खड़े हुए वराह भगवान् सुशोभित होने लगे ऐसे भगवान् को देखकर आदिदैत्य गदा लेकर वहां दौड़ता हुआ आने लगा वह ऐसा था कि जिस का पराक्रम सहन न हो सके। बाहर आने के मार्ग को रोक लिया था, क्रोध तो पहले ही था किन्तु सुदर्शन ने उस (वराह) के क्रोध को विशेष

बढ़ाया था ऐसे उस (वराह) ने जैसे खेलता हुआ सिंह हस्ती (हाथी) को मार देता है वैसे ही जल में दैत्य को मार डाला जैसे हस्ती जंगम (प्राणी) को चीरने से उसके रक्त के पङ्क (कीचड़) से गण्डस्थल और मुख सहित भी रञ्जित हो जाता है वैसे ही यह (वराह) भी हो गये ।। ३२-३३ ।।

सुबोधिनी—स्वदंष्ट्रयेति । दैत्यानामतिबलत्वाद्भूमेरानयनप्रतिबन्धमाशङ्क्य **स्वदंष्ट्रयेत्युक्तम्** । न हि यमगृहीतः केनचिन्मोचयितुं शक्यते, तत्राप्याधिदैविकयमेन, अन्यथा तद्रक्षकास्तत्र विघ्नं कुर्युः । दंष्ट्राया एकत्वं महत्त्वख्यापनाय । **उद्धृत्येति** वचनं नीयमानायाः पृथिव्या देवता संबन्धकरणख्यापनार्थम् । **नितरां मग्नामिति** भूमेः सहजासुरत्वं गिराकृतम् । निराधारस्याऽधस्ताद्गतिः, उपरिगतिरपि पक्षिणामिव संभवति, न तूत्थानम्, तत्राऽपि स भारः । अतस्तां गृहीत्वा सम्युगुत्थितः सम्यक् रुरुचे । **समिति** चोरुरूपेण समागतोऽपि भाराकान्तो न रोचते । भूम्या सह स्त्रियेवाऽन्तः संतोषेण, बहिः शोभया च, रोचनं संशब्दार्थः । तत्रापि रसाया उत्थितो लोके न रोचते, अयं तु रसातलात् । अनेन पञ्चखण्डा पृथिव्युद्धृतेति ज्ञापितम् स्वदंष्ट्रापदद्वयेन आध्यात्मिकाधिभौतिकयोर्दैत्ययोर्निराकरणमुक्तम् । आधिदैविकस्य निराकरणमाह-**तत्राऽऽदिदैत्य मिति** । आदित्वमाधिदैविकत्वेन । आदौ वा दैत्यत्वं प्राप्तम् । **गदया पतन्तमिति** शूरत्वं भगवदी त्वमतिप्रतिबन्धकत्वं च सूचितम् । **सुनाभेन** सुदर्शनेन **संदीपितस्तीव्रो** मन्युर्यस्य । सुदर्शनेन मन्युजननं गदादीनां प्रतिघातसूचकम् । गदादीन्यस्त्राणि तद्युद्धे प्रतिहतानि । पश्चाद्गृहीतं सुदर्शनं विचारयति-यद्यक्रोधेन भगवान्मां क्षिपेत्, तदा गदादिरिवऽहमपि व्यर्थः स्याम्; अतो भगवतः क्रोध उत्पादनीय इति तदीया ब्रह्मद्रोहादयः भगवते स्मारिताः; तदा क्रोधेन सुदर्शनं प्रक्षिप्तवानिति सम्यग्दीपन फलपर्यवसायि । तीव्रत्वं फले विलम्बाभावाय । अत एव **जघान** क्रोधेन हननात् पुनरुत्पत्तिः । ननु दोषगुणयोर्विद्यामानत्वात् कथमेकान्ततो वध एव कृत इत्याशङ्क्याऽऽह-**रुन्धानमिति** । स हि गतिप्रतिबन्धको न भवेद्यदि, तदा न हतोऽपि स्यात् । प्रतिबन्धकत्वादवश्यं हत इत्यर्थः । नन्वचिन्त्यशक्तिर्भगवांस्तत्र तिरोहितो भवेत्, तं वा वञ्चयेत् हननमेव कुतः कृतवानित्याशङ्क्याऽऽह—**असह्यविक्रममिति** । न सह्यो विक्रमः पराक्रमो यस्य । ननुतथाप्यपराधान्तरे मारणीयः, न तु स्वापराधे, '**वधानुकल्पः स्वद्रोहः**' इति भगवच्छास्त्रात् । तत्राऽऽह-**स इति** । स दैत्यवधार्थमेव वराहरूपं गृहीतवान्, अन्यथा क्रियान्तरेणेच्छया वा भूमिं जलोपरि स्थापयेत् । ननु कल्पान्तरव्यवस्थयेव भूमिमन्यत्र स्थापयित्वा पश्चान्मारयेदित्याशङ्क्याऽऽह—**लीलयेति** । ननु पूर्वभक्तिमेव तस्योररीकृत्य, तं भक्तं विधाय, कृतार्थमेव कथ न कृतवान् ? सर्वसमर्थत्वात्; इत्याशङ्क्योभयोस्तादृशरूपग्रहणं संवृत्तं वध्यघातकभावापन्नम्, अतो हतवानित्याह दृष्टान्तेन—**इभं मृगराडिवेति** । अनेन शाश्वतिको विरोधः सूचितः । दृष्टान्तेन प्रप्तं भक्षणदोषं परिहरति-**अम्भसीति** । उभावपि स्थलचरौ; जले मारणं स्वर-

क्षार्थमेव, न भक्षणार्थमिति लोके तदपि प्रदर्शितमित्याह–**तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्ड** इति । अनेन स बलादग्रे समागम्य भूमिं धृतवानिति लक्ष्यते, अन्यथा तदुदरं न विदारयेत् । अत एव कल्पान्तरे विदारणं नोक्तम् । तस्य हिरण्याक्षस्योदरभेदेन यद्रक्तं स्नुतम्, तदेव किञ्चित्कालं स्थितं पङ्कप्रायं जातम्; तेन अङ्कितं गण्डपर्यन्तं तुण्डं यस्य । तस्योदरे बहुदूरे मुखं गतम्, यथाऽन्तर्गतं तस्य जीवतत्त्वं स्वमुखे समायाति, अन्यथा भगवतो भगवदीयानां च द्रोहेण तस्य नरकपातः स्यात्, नीचयोनिर्वा भवेत् । अतो भगवांस्तं स्वस्मिन्नेव स्थापितवान् । इममर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति-**यथा गजेन्द्र इति** । स हि कमलादीनां कन्दमात्मसात्करोति । इन्द्रपदं दूरेऽपि विद्यमानं मूलं सप्ररोहमुत्पाटयतीति ज्ञापयति । **जगतीमिति** । यस्यां पृथ्व्यां । जङ्गमदेहा जायन्ते, तादृशपृथ्वीभेदनेन स्वाभिलषितस्वजातीयदेहोत्पादकपृथिव्यवयवसहितकन्दं भक्षयति । एतत्परिज्ञानार्थमपीन्द्रपदम् । एवं भगवानपि हिरण्याक्षस्य जीवम्, तदिन्द्रियवर्गम्, तस्याग्रिमदेहोत्पादकावयवसहितं विद्यमानदेहसंबन्धिनं दूरीकृत्य, आत्मसात् कृतवानित्यर्थः । इतरनिराकरणपूर्वकस्वग्रहणमेव विशेषभेदनम् ।। ३२ ।। ३३ ॥

व्याख्या—'स्वदंष्ट्रया' वराह भगवान् ने अपनी दंष्ट्रा (दाढ़) से भूमि का उद्धार किया जिसका आशय यह है कि दैत्य अति बलवान होते हैं भूमि को यों ही लाने में कदाचित् प्रतिबन्ध कर डाले, जो वस्तु यम ले जाता है उसको कोई नहीं छुड़ा सकता है उसमें लेने वाला आधिदैविक यम हो तो छुड़ाना असंभव हो जाता है । अन्यथा (दाढ पर न ले आवे तो) उसके रक्षक लाने में विन्ध करते हैं, अतः यहां वराहजी का माहात्म्य बताने के लिये एक (दष्ट्रा) कही है तथा पृथ्वी को उस पर ले जाने का यह भी भाव था कि पृथ्वी को देवता का संबंध है कि यह पृथ्वी जो निमग्न हुई है वह सहज (मामुली) असुर नहीं है ।

निराधार की गति निम्न होती है, पक्षिओं की तरह ऊपर गति भी होती है किन्तु खड़ा होना नहीं होता है । उसमें भी यदि भार हो तो खड़ा हो ही नहीं सकता अतः भगवान् वराह उसको लेकर अच्छी तरह से खड़े हो सुशोभित होने लगे, 'समिति' सुन्दर रूप से आये हुवे भी यदि भार से आक्रान्त हो तो शोभता नहीं किन्तु यह (वराह भगवान्) भूमि के साथ स्त्री की तरह अन्तः (अन्दर) सन्तोष होने से और बाहर शोभा से भी सुशोमित होने लगे 'रोचनं' 'सं' शब्द का अर्थ है उसमें भी निम्न लोक से उठा हुआ लोक में शोभता नहीं है यह तो रसातल से आये हैं यों कहने से बताया है कि पांच खण्डों वाली पृथ्वी का उद्धार किया है ।

'स्व' और 'दंष्ट्रा' इन दो पदों से आध्यात्मिक और आधिभौतिक ने दैत्यों का निराकरण किया है, अब आधिदैविक दैत्य का निराकरण करते हैं 'आदि दैत्यं' इस पद में 'आदि' पद देकर आधिदेविकत्व बताया है अथवा पहले ही दैत्यपन को प्राप्त हुआ है, 'गदया पतन्त' कहने से उसकी सूरवीरता, भगवदीयता तथा अति प्रतिप्रबन्ध करने वाला है यों सूचित किया है ।

सुदर्शन से जिसका क्रोध विशेष प्रज्वलित होने (बढने) लगा है सुदर्शन से क्रोध का उत्पन्न होना गदादिका प्रतिघात करने वाला है यों सूचित करता है गदा आदि अस्त्रयुद्ध में निरर्थक हो गये यह देख भगवान् का ग्रहण किया हुआ सुदर्शन विचार करता है कि जो भगवान् बिना क्रोध के शान्ति से ही मुझे शत्रुपर फेंकेंगे तो गदा आदि अस्त्रों की तरह मैं भी निकम्मा हो जाऊँगा इसलिये भगवान् में पहिले तीक्ष्ण क्रोध उत्पन्न करना चाहिये, इसलिये सुदर्शन ने भगवान् का 'दैत्य ने जो' ब्रह्मद्रोहादि दुष्कर्म किये थे वे स्मरण कराये तब भगवान् में तीक्ष्ण क्रोध उत्पन्न हुआ उसके उत्पन्न होते ही क्रोध से सुदर्शन को फेंका जिससे फेंकना फल वाला हुआ। तीव्र क्रोध हुआ जिससे फल में विलम्ब न हुआ इसलिये उस (दैत्य) को मारा क्रोध से मारने के कारण इसका फिर जन्म हुआ है ।

दैत्य में दोष के साथ गुण भी थे ऐसी अवस्था में उसका सर्वथा नाश कैसे किया जिस शंका का निवारण करते हैं कि 'रुन्धानं', भगवान् का मार्ग रोकलिया था, यदि मार्ग न रोकता तो न भी मारते, प्रतिबन्धक होने से अवश्य मारना पड़ा। भगवान् अचिंत्य शक्ति है अतः तिरोहित हो जाते (छिप जाते) अथवा उसको किसी प्रकार ठग लेते, परन्तु मारा क्यों ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'असह्य विक्रम' भगवान् किसी दूसरे का पराक्रम सहन नहीं कर सकते हैं, इसने अपना पराक्रम भगवान् को दिया जिसको सहन न करने के कारण मार डाला अपना अपराध करे तो उसको मारना नहीं चाहिये किन्तु दूसरी कोई शिक्षा देनी चाहिये यों भगवत् शास्त्र कहता है। दूसरे अपराध से मारना चाहिये इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स' वह (वराह-भगवान्) इस दैत्य के वध के लिये ही प्रकटे हैं अन्यथा यदि यों न होता तो दूसरे प्रकार से या इच्छा से भूमि को जल के ऊपर स्थापित कर देते अन्य कल्प की व्यवस्थानुसार पृथ्वी को दूसरे स्थान पर धर कर पीछे आ कर दैत्य को मारते ? इस शङ्का में उत्तर देते हैं कि 'लीलया' लीला से यों किया, प्रभु जब सर्व समर्थ हैं तब उसे (दैत्य) ने जो पहले भक्ति की है वे उसका स्मरण कर उसको भक्त समझ उसको कृतार्थ कर देते इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि दोनों ने इस प्रकार के रूप ग्रहण किये थे, एक ने वध्यभावना वाला रूप धारण किया दूसरे ने घातक भाव वाला, अतः यही लीला करनी थी जिसमे घातक भाव वाले वराह ने मध्यभाव वाले दैत्य को मारा यह दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'इभं मृगराडिव' हस्ती को जैसे सिंह नाश करें। इससे दोनों का सदा का विरोध है। यों सूचित किया है। दृष्टान्त से प्राप्त भक्षण दोष का परिहार किया है। ''अम्भसि' पद से दोनों स्थलचर होते हुए भी अपनी रक्षा के लिये जल में मारा नहीं खाने के लिये लोक में वह भी दिखाया इसलिये 'तद्रक्तपङ्काङ्कित गण्ड तुण्ड' इति उसके रक्त रूप कीचड़ से जिसके गण्डस्थल और समग्रमुख (सारा मुंह) लिप्त हो गया है इससे बल पूर्वक आगे आकर उसने पृथ्वी को पकड़ रखा यदि यों होता तो उसके उदर को नहीं चीरते, इसलिये कल्पान्तर में

उदर चीरना नहीं कहा है। उस हिरण्याक्ष के उदर चीरने से जो खून निकला वह कुछ समय रहने से कीचड़ जैसा हो गया, जिससे गण्ड (गाल) पर्यन्त मुख लिप्त हो गया कारण कि मुख उसके उदर में बहुत दूर चला गया था। जैसे उसके भीतर गया हुआ जीव तत्व अपने मुख में आ जावे जो यों नहीं किया जावे तो इस (हिरण्याक्ष) ने भगवान् और भगवदीयों का जो द्रोह किया था उससे इसका नरक में पात होता अथवा नीचे योंनि मिलती। अतः भगवान् ने कृपा कर इसको अपने में ही स्थापित कर लिया, इस अर्थ को दृष्टान्त से स्पष्ट करते है 'यथा गजेन्द्रः' जैसे गजेन्द्र, कमल आदि कंद को अपने में समा लेता है 'इन्द्र' पद का तात्पर्य पदार्थ दूर भी मोजूद हो तो भी उसको समूल उखेड़ लेता हैं। यह जताने के लिये 'इन्द्र' पद दिया है। 'जगती' जिस पृथ्वी में जङ्गम् (प्राणी) देह उत्पन्न होते हैं वैसी पृथ्वी के भेदन में अपने अभिलषित अपने जातीय देह के उत्पादक पृथ्वी के अवयव सहित कन्द का जैसे गजेन्द्र भक्षण करता है वैसे भगवान् भी हिरण्याक्ष के जीव एवं उसके इद्रिय वर्ग को, उसके अग्रिम देह को उत्पादन करने वाले अवयवों सहित विद्यमान देह का सम्बन्ध हटा कर आत्मसात् कर लिया (अपने में समा लिया) विशेष चीरने का भावार्थ यह है कि दूसरों के सम्बन्ध को हटा कर अपना सम्बन्ध स्थिर कर आप ही उसको ग्रहण कर लेना ॥ ३२-३३ ॥

आभास—एवं दैत्यानां त्रिविधानामपि निराकरणमुक्त्वा भूम्युद्धारमुपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार तीन तरह के (आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधि दैविक) का निराकरण कह कर भूमि के उद्धार की कथा की समाप्ति करते हैं-

श्लोक—तमालनीलं सितदन्तकोट्या क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाऽङ्ग ! ।
प्राज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकैर्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! (प्रिय !) सफेद दांत की कोटि (अणी) से श्याम पृथ्वी को हस्ती की लीला की तरह ऊपर धारण करनेवाले वराह के स्वरूप को पहचान कर ब्रह्मा जिनमें से मुख्य हैं ऐसे देव दोनों हाथ जोड़ अनुवाकों से प्रभु की स्तुति करने लगे ॥ ३४ ॥

सुबोधिनी—तमालेति । ईशमुपतस्थुरिति संबन्धः। तैरेवेशत्वं प्रत्यक्षतो दृष्टम्। अयं यज्ञपुरुष इति प्राज्ञाय। **बद्धाञ्जलय** इति यज्ञारम्भे नमस्काराञ्जलिर्विहितइति, **'भुवनमसि'** इत्यत्र तथोक्तत्वात्। यज्ञारम्भे च प्रातरनुवाक उच्यते। प्रकृते कालस्य नियामकत्वाभावादनुवाक इत्येवोक्तम्। सर्वैः क्रियमाणानामनुवाकानां यागभेदेनाऽपि बहुत्वात् बहुवचनम्। आधिदैविकत्वाय **विरिञ्चिमुख्या इति**। तस्य यज्ञत्वमीशत्वं च साधयति-तमालनीलां क्ष्मां सितदन्तकोट्या उत्क्षिपन्तमिति। तमालैर्नीला, तमालवद्वा नीला। तमालास्तमोवन्नीलवृक्षाः। सृष्टावज्ञानं

भयं च हेतुः । तमस्त्वज्ञानभूतम्, वनं वृक्षरूपं भयहेतुः । निलोऽपि गुणः शृङ्गारवद्रसजनकः । त्रितययोगे सर्गो रसालो भवति । सर्गोत्पादनसामर्थ्यख्यापनाय क्षमाधर्मयोगात् क्ष्मेत्युच्यते । अस्याः सजीवत्वनिराकरणार्थं दन्तकोटिसंबन्धः । देहाऽविशीर्णत्वाय सितत्वम् । दंष्ट्राऽपि स्वस्य प्रियत्वज्ञापनाय दन्तत्वेनोक्ता । कोटिपदेन भगवतो महात्म्यम् । सर्वेषामेवेशानां भूमौ स्नेहातिशयख्यापनाय सङ्ख्यावाचकपदप्रयोगः । उत्क्षेपणमुत्तोलनम्, अनेन भूमिः स्वरसान्नागतेति ज्ञापितम् । कोटचा भूमिस्पर्शनेन वेदिरिव स्पृश्येनोद्धृता निरूपिता । ऐश्वर्यं स्पष्टमेव । गजलीलयेत्यनेनापि ऐश्वर्यम्, यज्ञत्वम्, भक्तकृपालुत्वं च पूर्वोक्तमुपसंहृतम् । अङ्गेति कोमलसंबोधनं परिज्ञानार्थम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'ईशमुपतस्थुः' इति सम्बन्ध भगवान् की स्तुति करने लगे यह अन्वय है उन (देवों ने) प्रभुत्व प्रत्यक्ष देखा, यह (वराह) यज्ञ पुरुष है यों जान कर हाथ जोड़ कर सब देव खड़े हो गये क्योंकि यज्ञ के प्रारम्भ में हाथ जोड़ नमस्कार करने की आज्ञा है 'भुवनमसि' आप भुवन हो, इस मन्त्र में इस प्रकार हाथ जोड़ कर प्रणाम करने की आज्ञा है। यज्ञ प्रारम्भ में प्रातः प्रथम 'अनुवाक' कहा जाता है इस समय काल समय काल नियामक न होने से 'अनुवाको' से ही कार्य किया गया है सबों ने अनुवाक कहे (किये) यागभेद से भी बहुत होने से बहुवचन कहा है। वराह यज्ञ स्वरूप आधिदैविक थे अतः देवों में ब्रह्मा मुख्य थे, उनका यज्ञत्व और ईशत्व सिद्ध करते हैं जिससे तमाल जैसी श्याम भूमि को सफेद दांत की कोटि (नोंक) पर उठाते हुवे पधारते थे, पृथ्वी, तमालों के कारण श्याम थी अथवा तमाल जैसी श्याम थी, 'तमाल' तम (अन्धकार) के समान वा अज्ञान के समान भयजनक श्याम वृक्ष होता है अतः सृष्टि में अज्ञान और भय हेतु है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति अज्ञान से होती है एवं भयजनक है 'तम' अज्ञान रूप है वन वृक्ष रूप भय हेतु है नील गुण भी श्रृङ्गार की तरह रस जनक है, तीनों के योग से सर्ग (सृष्टि) रसाल (रसवाली) होता है सृष्टि उत्पादन की सामर्थ्य बताने के लिये उसमें क्षमा धर्म का सम्बन्ध है यह बताने के लिये पृथ्वी का नाम 'क्ष्मा' कहा है, यह अब जीववाली नहीं है यह बताने के वास्ते दांत को टोच के साथ सम्बन्ध बताया है ये विशीर्ण नहीं हुई है यह दिखाने के लिये दांत को श्वेत दिखाया है दंष्ट्रा भी अपने को प्रिय है इसलिये उसको दांत कहा है 'कोटि' पद देकर भगवान् का माहात्म्य प्रकट किया है सकल ईशों को भूमि में अतिशय प्रेम है यह बताने के लिये संख्या वाचक 'कोटि' शब्द का प्रयोग किया है 'उत्क्षेपणम्' ऊपर उठाना, इससे यह बनाया है कि पृथ्वी अपनी इच्छा से नहीं आई है भूमि का वराह के दांत के व कोटि से स्पर्श स्फेय से उद्धृत वेदी की तरह है इससे आपका ऐश्वर्य स्पष्ट ही है, 'गजलीलया' से भी ऐश्वर्य दिखा दिया है एवं यज्ञत्व तथा पूर्वोक्त भक्त कृपालुत्व का उपसंहार कर लिया है, अङ्ग! यह कोमल सम्बोधन परिज्ञान कराने के लिये है। ३४॥

कारिका--द्वादशार्कसमैः श्लोकैः कर्मनिर्णय उच्यते ।
ब्रह्मादीनामुत्तमत्वात् द्विविधं कर्म रूप्यते । १ ।

कारिकार्थ—सूर्य १२ होते हैं अत: उनके समान श्लोकों अर्थात् १२ श्लोकों से कर्म के स्वरूप का निर्णय कहा जाता है ब्रह्मा आदि उत्तम है अत: कर्म भी दो प्रकार से निरूपण करने में आता है, एक प्रकार प्रमाणानुकूल प्रमेय वाला कर्म का स्वरूप, दूसरा प्रकार स्वतन्त्र प्रमेय वाला कर्म का स्वरूप ॥ १ ॥

कारिका--उभयोर्भगवत्त्वाय षड्भि षड्भिर्गुणास्तथा ।
प्रमाणेन प्रमेयेन निर्णयो द्विविधो यतः ।
तत्र प्रमाणरूपं हि षड्भिरादौ निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ--दोनों प्रकार के कर्म स्वरूप भगवद्रूप हैं यों बताने के लिये छ छ श्लोकों से उनके गुण इसी तरह वर्णन करते हैं क्योंकि प्रमाण तथा प्रमेय के कारण निर्णय दो प्रकार का होता है ॥ २ ॥

जिसमें पहले प्रमाण रूप कर्म का छः श्लोकों से वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

आभास—ब्रह्मादीनां देवतात्वेऽपि यज्ञे ऋषीणामेव प्रयोजकत्वात् 'ऋषय ऊचुः' इत्याह । प्रथमतो यज्ञस्य सर्वोत्कृष्टत्वं प्रामाणिकत्वं च वदन् नमस्यति---

आभासार्थ—यद्यपि ब्रह्मा आदि देवता हैं तो भी यज्ञ में कार्य कर्ता होने से ऋषि बन जाते हैं क्योंकि यज्ञ क्रिया में ऋषि ही प्रयोजक होते हैं, इसलिये 'ऋषय ऊचुः' कहा है ये ऋषि पहले यज्ञों का सर्वोत्कृष्टत्व और प्रामाणिकत्व कहते हुवे नमस्कार करते हैं—

**श्लोक-ऋषय ऊचुः—जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणविग्रहाय ते॥३५॥**

श्लोकार्थ---ऋषियों ने कहा, हे अजित ! हे यज्ञोत्पन्नकर्ता ! आपने जीता, जीता अर्थात् आपने सर्वथा जीत लिया, तीन वेद रूप अपने शरीर का धुनन करने वाले आपको नमस्कार है, जिनके रोम कूपों में यज्ञ लीन होकर विराजे हैं, उन यज्ञ के कारण रूप विग्रह (शरीर) वाले आपको नमस्कार है ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी—जितं जतमिति । ते जितमेव जितम् । यज्ञार्थं शत्रुहननं वेदे निरूप्यते, न केवलं शत्रुजयः; हननस्य दोषजनकत्वात् । अतो यज्ञार्थं शत्रुजयात् त्वयैव जितम् । किञ्च, कालेन सर्वे जिता, । कालमुखमपि भङ्क्त्वा तद्भक्षितां पृथिवीमानीतवानसोति त्वयैव जितम् प्रलये काल ग्रस्तान्वा उत्पादयतीति सर्वोऽपि सावधारणः' इति ते जितमेव जितमित्युक्तम् । कदाचित्कस्यचिज्जया-

दिक्रिया उत्कृष्टा बह्वर्थसाधिका च भवति काकतालीयन्यायेन । नैतावता जयनिर्द्धार इत्याशङ्क्याऽऽह–हे **अजितेति** । न कदाऽपि केनाऽपि जित इति । एतादृशजयस्तस्य सर्वदेत्यर्थः । यज्ञैः सर्वे पदार्था भाव्यन्ते उत्पाद्यन्ते, अयं तु यज्ञान् भावयति । अतोऽपि जयनिर्द्धारः । एवं स्तुत्वा नमन्ति **त्रयीं तनुं परिधुन्वते नमः इति । रूपविशेषे नमनं न कर्त्तव्यम्**' इति विषेधोऽत्र न घटते, **अस्यैव वेदरूपत्वात् । अथर्वाङ्गिरसां** मुख्यतया ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् ब्रह्मोपयोगित्वेन त्रयीशेषत्वेऽपि ज्ञानशेषत्वमेव मन्यमानाः, प्रमाणप्राधान्येन शास्त्रनिरूपकाः कर्मणि वेदत्रयमेव निर्द्धारितवन्तः । अतो वराहरूपंत्रयीमयमेव, वेदानामपि तस्मिन् शरीरे प्रवेशस्योक्तत्वात् । तस्य च परितः कम्पनं वेदानां विक्षेपार्थम्, अन्यथा त्रय्याश्चतुर्थशेषत्वे वेदानां यज्ञे तात्पर्यं न स्यात्, तथा सति सर्वमुक्तिरेव स्यात् । परितो धूनने न हीनभावमपि प्रमाणस्य दृढकार्यजनकत्वात् प्रापणतीति भयादपि नमनम्, सृष्टिसाधकत्वादपि । अनेन स्वार्थं वेदभ्रामणं न कारणीयमिति प्रार्थना सूचिता । ननु भवतां वेदभ्रामणे किंस्यात्? योगेन यज्ञान् दृष्ट्वा, दर्शनानुसारेण तान् विधाय, कृतार्था भविष्यन्ति भवन्त इत्याशङ्क्य, परिधूनने यज्ञदर्शनमेव न भविष्यतीत्यत्र हेतुं वदन्तो नमस्यन्ति–**यद्रोमगर्तेष्विति** । यस्य भगवतो रोमोद्गमस्थाने ये कूपाः, ते विशाला गर्ता इत्युच्यन्ते । तेषु सर्वे यज्ञा निलीनाः । स हि जलादुद्गत उपरिनिविष्टान् वेदान् विधूननेन दूरीकरिष्यतीति ज्ञात्वा स्वस्याऽपि दूरीकरणशङ्कया श्रुत्या संबद्धा रोमगर्तेषु निलीनाः । तत्र रोमावलम्बनमस्तीति रोम्णां बहिष्ट्वात् यज्ञानां चलनेन स्कन्दनदोषोऽपि न भवति । 'अस्कन्नं हि तत् यद्बर्हिषि स्कन्दति' इति श्रुतेः । अतः सर्ववेदानां यज्ञानां च कारणभूतः । उभयप्रसवकर्ता देहो यस्य, तादृशायान्यत्कर्तुमशक्ता नमनं कुर्वन्तीत्यर्थः । **'कारणसूकराय ते'** इत्यपि वा पाठे तुल्योऽर्थः ।। ३५ ।।

व्याख्या—आपने जीता हो जीता । वध करने मे दोष उत्पन्न होता है तो भी 'यज्ञ' सिद्ध हो उसमें विघ्नकर्ता शत्रु को मार डालने की आज्ञा वेद में दी गई है केवल शत्रु को जीत लो नहीं कहा है, अतः यज्ञ के लिये शत्रु को जीतने मे आपने जय प्राप्त की है किञ्च काल ने यद्यपि सब को जीत लिया है तो भी आपने इस काल के मुख को भी तोड़ कर उससे भक्षण की हुई पृथ्वी को लौटा कर लाये अतः आपने जय प्राप्त की अथवा काल प्रलय के समय में सब पदार्थों को ग्रस लेता है उन सब को फिर आप उत्पन्न कर देते हो, यह समग्र वाक्य समूह निश्चित है इस लिए 'ते जितमेव जितम्' यों दो बार जीत शब्द कहा है इसी तरह कदाचित् किसी की जयादि क्रिया काकतालीय न्याय से उत्कृष्ट एवं बहुत अर्थों को सिद्ध करने वाली होती है इससे जय का निर्द्धार नहीं होता है, यों शंका कर कहते हैं, कि हे अजित ! आप कभी भी किसी से जीते नहीं गये हो, अतः ऐसी जय तो उसकी (अजित की) सर्वदा ही होती रहती है सकल पदार्थ यज्ञों से उत्पन्न होते हैं किन्तु यह वराह भगवान् तो यज्ञों को उत्पन्न करते हैं इससे भी इनके जय का निर्णय

होता है यों स्तुति कर प्रणाम करते हैं 'त्रयीं तनुं परिधुन्वते नमः' तीन वेद रूपी शरीर का धुनन करने वाले स्वरूप को नमस्कार है इसके सिवाय अन्य साधारण रूप को नमस्कार नहीं करते इस स्वरूप को ही प्रणाम करते हैं क्यों कि यह वेद रूप है। अथर्वाङ्गिरसों के मंत्र मुख्यता से ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं अतः ब्रह्मोपयोगी होने से ज्ञानशेषत्व ही मानते हुए प्रमाण के मुख्यता के बिना शास्त्र निरूपक कर्म में तीन वेदों का ही निर्द्धार किया है, अतः वराह रूप त्रयीमय ही है। तीन वेदों का उसके शरीर में प्रवेश कहा है। उसका चारों तरफ कम्पन वेदों के विक्षेप के लिये है। यदि यों न होवे तो वेद त्रयी चतुर्थ वेद का शेष होने से वेदों का यज्ञ में तात्पर्य ही न होवे यदि यों होवे तो सर्व की मुक्ति ही हो जाय ?

शरीर को चारों तरफ धुनन करने से हीन भाव न हो जाय इस भय से तथा प्रमाण को दृढ नहीं कर सकता है इस कारण से प्रणाम करने लगे एवं यह (वराह) ही सृष्टि कर्ता है इसलिये भी नमन करने लगे इससे यह भी सूचित किया कि कृपा कर हमारे (ऋषियों के) लिये वेदों का भ्रमण न कराइये। शंका करते हैं कि वेदों के भ्रमण से आपकी क्या हानि होगी ? योग से यज्ञों के दर्शन कर दर्शन के अनुसार उनकी क्रिया कर आप कृतार्थ हो जाओगे फिर क्यों डरते हो आप परिधुनन करोगे तो फिर योग से भी यज्ञ के दर्शन हमको न होंगे क्योंकि भगवान् के रोमोत्पत्ति के स्थान पर जो कूप (छिद्र) हैं वे विशाल खड़े हैं, धुनन से सर्व यज्ञ उनमें विलीन हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते हैं।

वह (वराह) जल से प्रकट हुवे हैं शरीर के ऊपर धरे हुए वेदों को धुनन से दूर कर देंगे, यज्ञों ने जाना कि हम को भी दूर कर देंगे, इस शंका से श्रुतियों से सम्बन्धवाले होने से वराह से भी सम्बन्ध वाले यज्ञ भगवान् के विशाल रोम कूपों में छिप गये वहां उनकों रोमों का आधार मिल गया है, रोम कुशरूप है उन में श्रुति के अनुसार गिरने का भय भी यज्ञों को न रहा, अतः सर्व वेदों का तथा यज्ञों का कारण रूप वराहजी हैं वेद और यज्ञों को प्रकट करनेवाला जिसका यह (वराह) श्री अंग है उसको दूसरा कुछ भी कर सकने में अशक्त ऋषिगण 'नमन' ही करते हैं 'कारण सूकरायते' यों पाठ हो तो भी यही अर्थ होता है ॥ ३५ ॥

आभास—एवं पुरुषोत्तमत्वम्, वेदयज्ञरूपताम्, स्वस्वामित्वं च निरूप्य तदुपपादयन्तोऽतज्ज्ञान् निन्दन्ति—

आभासार्थ—इस तरह पुरुषोत्तमपन, वेद एवं यज्ञ रूपता और अपना स्वामी है यों सिद्ध करते हुए भी जो यों नहीं समझते हैं निम्न श्लोक में उनकी निन्दा करते हैं—

श्लोक—रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ--हे देव ! यह जो आपका यज्ञ स्वरूप श्री अंग है जिसकी त्वचा में छंद रोमों में कुश नेत्रों में घृत, चरणों में चार होता या उनके कर्म विराजते हैं ऐसे दिव्य श्री अङ्ग का दर्शन पापियों को नहीं होता है, क्योंकि वे अधिकारी नहीं है ।। ३६ ।।

सुबोधिनी--**रूपमिति** । तवैतद्रूपं निश्चयेन दुष्कृतात्मनां पापसंस्कृतभूम्यवयवनिष्पादितदेहानां, द्रष्टुमप्ययोग्यम्, यथा दिवाभीतस्य सूर्यरूपम् । ज्ञानभजनादिकं तु दूरे । नैतावता कर्ममार्गे काचित् क्षति । तत्र हेतुद्वयमाह-हे **देव यदध्वरात्मकमिति** । देवाः पापेभ्यस्तिरोहिता भवन्ति । धर्मश्च यज्ञ, अधर्मे न प्रकाशते । अंशान्तरं तु वराहे नास्ति, यतस्तद्रूपमध्वरात्मकमेव । एवं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वमुक्त्वा वेदत्वमादावुपपादयन्ति-**छन्दांसि यस्य त्वचीति** । छन्दांसि गायत्र्यादीनी सप्त, अनन्तानि वा तानि त्वचि अन्तर्बहिर्व्याप्तायाम् । अनेन तत्र सर्ववेदनिवेशनमुक्तम् । अर्थरूपाणि वा । छन्दसामपि विनियोगात् तदाऽध्वरात्मकतैव निरूप्यते । त्रयी तु तत्रोत्पत्तिकसंबन्धयुक्ता । **बर्हिरोमसु** । यज्ञियाः पदार्थाः पुरुषावयवैरुत्पादिताः । तदधिष्ठातृदेवतारूपे वराहे निवेश्यन्ते तदा सदेवाभवन्तीति । रोम्णां च बर्हिरुत्पादकत्वं वक्तव्यम् । अतो बर्हिरधिष्ठातृरोम्णां बिधुननेन पतितानाम कुशकाशमय बर्हिष्ट्वम् । **आज्यं दृशि** । आध्यात्मिकं रूपमाज्यम्, आधिदैविकं चक्षुः । अत एव चक्षुषा आज्याभिघारणम् । चक्षुषः सत्यत्वमाज्यस्य प्रजापतित्वं च तत्त्वख्यापकम् । तुशब्दः पक्षान्तरं व्यावर्त्तयति । **'वसन्तो अस्यासीदाज्यम्'** इति । **'सरसमहवसन्ताय प्रायच्छत्'** इति श्रुतेर्वरप्राप्तमेव वसन्तादे राज्यादिरूपत्वम् । तदत्र योपयुज्यते । अङ्घ्रिषु चरणेषु चातुर्होत्रं चतुर्होतृवर्गः ।। ३६ ।।

व्याख्या--आपका यह दिव्य यज्ञात्मक श्री अङ्ग निश्चय से, जिनका शरीर पाप से संस्कृत भूमि के अवयवों से बना है के पापी से बना है वे पापी इसके दर्शन करने के योग्य नहीं हैं जैसे दिवाभीत (घूवड़) सूर्य का स्वरूप देखने योग्य नहीं है ज्ञान और भजन तो दूर रहे, इससे कर्म मार्ग में किसी प्रकार हानि नहीं, जिसमें दो कारण हैं 'हे देव ! यदध्वरात्मकम्' १- हे देव ! २-'यदध्वरात्मकम्', १-देवस्वरूप पापियों को दृष्टि-गोचर नहीं होते हैं २-यज्ञ धर्म रूप होने से जहां अधर्म है वहां प्रकाशित नहीं होता है, यज्ञ सिवाय तो अन्य कोई अंश वराह देह में नहीं है वे साक्षात् दिव्य रूप भगवान् यज्ञस्वरूप विष्णु ही हैं, अतः यह स्वरूप दुष्टों को दुर्ज्ञेय आदि है कहकर, पहले उसका वेदत्व प्रतिपादन करते हैं 'छंदांसि यस्यत्वचो' जिसकी त्वचा में गायत्री आदि सातों छन्द अथवा अनन्त छन्द भीतर बाहर व्याप्त है जिससे यह सूचित किया है कि इस स्वरूप में सकल वेद स्थित हैं अथवा अर्थरूप वेद स्थित है छन्दों के उपयोग करने से यह सूचना दी है कि यह 'यज्ञ रूप' स्वरूप ही है तीन वेद तो उत्पत्ति के सम्बन्ध से श्री अङ्ग से सम्बन्धित हैं ही, रोमों में कुश हैं, यज्ञ के समस्त पदार्थ पुरुष (भगवान्) के अवयवों से उत्पन्न किये गये हैं वे उसके अधिष्ठाता देव वराह में स्थापित किये हैं

इसलिये सदैव उत्पन्न होते रहते है रोमों की उत्पत्ति का स्वरूप कहना चाहिये, कुशों के अधिष्ठाता रोमों के धूनन करने से जो रोम गिरे वे कुश और काश रूप वर्हिष हुवे नेत्रों में धृत है धृत आध्यात्मिक रूप है नेत्र आधिदैविक रूप है इसलिये धृत नेत्रों में धारण किया जाता है इसके नेत्र की सत्यता और धृत का प्रजापतित्व तत्त्व सूचित किया है 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि दूसरे मत झूठे हैं 'वसन्तो अस्यासीदाज्यम्' वसन्त इस का धृत है । 'सरसमह वसन्तायप्रायच्छत्' वास्तव में रससहित वसन्त को दिया, वसन्त को ऋतुराज होने का वर प्राप्त हुआ है वह यहां उपयोगी नहीं है वराह के चरणों में चतुर्होत्र अर्थात् चार होता का वर्ग रहता है ।। ३६ ।।

आभास---एवं द्रव्यर्त्विजां निवेशनमुक्त्वा, पात्राणां निवेशनं वराहावयवेषु सफलमाह--

आभासार्थ – इस तरह यज्ञ के द्रव्य तथा ऋत्विजों को वराहजो के देह में स्थिति कह कर अब इस श्लोक में फल सहित पात्रों की स्थिति कहते हैं—

श्लोक----**स्रुक् तुण्ड आसीत्स्रुव ईश ! नासयोरिडोदरे चमसा: कर्णरन्ध्रे ।**
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ।। ३७ ।।

श्लोकार्थ—हे ईश ! आपके मुख के अग्र भाग में स्रुक् (धृत होमने का पात्र) है नासिका छिद्रों में 'स्रुवा' सोम होमने का पात्र है, उदर में इडा (यज्ञीय भक्षण पात्र) कान के छिद्रों में (चमस) है मुख में प्राशित्र (ब्रह्मभाग पात्र) कण्ठ के छिद्र (जिससे ग्रास उदर में जाता है) में ग्रहो (सोम पात्र) है । हे भगवान् ! आपकी चबाने की क्रिया वह 'अग्निहोत्र' है ।। ३७ ।।

सुबोधिनी—स्रुक् तुण्ड इति । स्रुगिति जात्यपेक्षया एकवचनम्, जुह्वभिप्रायेण वा, तुण्डे मुखे आसीत् । **स्रुव** इति जात्यपेक्षया एकवचनम् । स्रुवौ अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासयोर्भेदेन स्रुवविधानात् । **इडापात्रमुदरे** । अस्य भगवत सर्वत्र यागे, सर्वत्र तत्तत्पात्रेषु सान्निध्यसामर्थ्यार्थमीशेति संबोधनम् । इडाभागस्योदरप्रवेशसाम्येन आकृतिसाम्येन च उदरे इडापात्रस्य निवेशनम् । **चमसा:** सोमपानपात्राणि । **कर्णरन्ध्रइति** आधिदैविके चमसे यश: स्थापितम् । तदाध्यात्मिकपरव्याख्याने प्राणत्वेन निरूपितम्, तथापि यशोरूपमिति तत्कर्णे पेयमिति कर्णरन्ध्रे चमसानां निवेशनम् । **प्राशित्रं** ब्रह्मपात्रम्, तदास्ये मुखविवरे ब्रह्मभागस्य दन्तास्पर्शनेन गिलनविधानात् । ग्रसने गिलनात्मके कर्मणि जिह्वमूले वा सर्वे ग्रहा:, ऐन्द्रवायवादिपात्राणि । तुशब्देन पात्राणां निवृत्तिरुच्यते, वाक्यमध्ये तुशब्दस्य विद्यमानत्वात् । ग्रसनस्य क्रियारूपत्वात् ग्रहा अपि सोमा एवाऽत्र ग्राह्या:, तत्पानं वा । **यस्य ते** भगवतश्चर्वणक्रियैवाऽग्निहोत्रं कर्म । **'अग्निहोत्रफला वेदा:'** इति सर्वेषामेव यज्ञानामग्निहोत्रानुप्रवेशात चर्वणत्वम् ।। ३७ ।।

व्याख्या—यज्ञ में घृत होमने के पात्र अनेक होते हैं फिर यहां एक वचन क्यों ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि जाति के अभिप्राय से अथवा अग्नि की जिह्वा (जीभ) के अभिप्राय से एक वचन कहा हैं, 'स्रुव' यह भी जाति की अपेक्षा से एक वचन कहा है। 'स्तुवौ' अग्निहोत्र और दर्शपूर्ण मास के भेद से दो होते हैं। उदर में इड़ा❀ पात्र है।

इस भगवान् में सर्वत्र यज्ञ में यज्ञ के सर्वपात्रों में स्थित रहने का सामर्थ्य है यह दिखाने के लिये 'ईश !' संबोधन दिया है, इड़ा पात्र का उदर में स्थान व प्रवेश इसलिये है कि इड़ा नाड़ी का भाग भी उदर में प्रविष्ट है दोनों की आकृति भी समान है, 'चमसा' चमस सोमपान के पात्र होते हैं कर्णरन्ध्र आधिदैविक है उस चमस में यश की स्थापना की है, उसकी यदि आध्यात्मिक प्रकार से व्याख्या की जावे तो प्राणत्व से निरूपित होती है तो भी यशोरूप हैं इसलिये वह कर्ण द्वारा पेय है, अतः चमसों का कर्णरन्ध्रों में स्थापन है (प्राशित्र) अर्थात् ब्रह्मपात्र वह मुख के छिद्र (ग्रसने के स्थान) में रखा है क्यों कि जो ब्रह्मका भाग होता है वह दांतो से छुआ भी न जाय ऐसे ग्रसा (निगला) जाता है, ग्रसन क्रिया के समय में सर्व ग्रह (इन्द्र वायु आदि देव पात्र हो) जिह्वा (जीभ के) मूल में विराजते हैं 'तु' शब्द से पात्रों का निवारण करते हैं क्योंकि इसलिए वाक्य के मध्य में 'तु' शब्द दिया है। ग्रसन क्रिया रूप है अतः सोम आदि को अथवा उनके पान को ग्रह समझना। जिसे आप (भगवान्) का चबाना ही अग्निहोत्र कर्म है। वेद अग्निहोत्र रूप फल वाले हैं, इस वाक्यानुसार सर्व यज्ञों का अग्निहोत्र में समावेश होने से चर्वणत्व है ॥ ३७ ॥

आभास—क्रियाणां साधिकरणानां भगवति निवेशनमाह—

आभासार्थ इस श्लोक में अधिकरण[1] सहित क्रियाएँ भगवान् में स्थित बताते हैं—

श्लोक—**दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।**
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते॥३८॥

श्लोकार्थ—दीक्षा के अनुसार क्रमपूर्वक आप के जन्म होते हैं। गरदन उपसद है आपकी दोनों दाढें प्रायणीय और उदयनीय इष्टयां हैं जिह्वा प्रवर्ग्य है (एक प्रकार का यज्ञ में होने वाला कर्म है) आपका मस्तक यज्ञ रूप है, सभ्य आवसथ्य और चिति आपके प्राण हैं ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी—**दीक्षानुजन्मेति**। भगवान् वराह इदानीमवतीर्णः । पुनर्यजमानरूपेणाऽवतरति प्रतियज्ञम् । '**यज्ञो यजमानः**' इति,' **गर्भो वा एष यद्दीक्षितः**' इति च '**क्रीते सोमे पूर्णतेजा जायत एव**' इति च श्रुतेः । दीक्षासंस्कारो दीक्षाख्यदेवताया यजमाने स्थापनम्, तदिष्ट्या क्षौरादिना

❀ होम करने के बाद शेष द्रव्य रहता है वह जिस पात्र में रखकर परस्पर बांट लेते हैं उस पात्र को इड़ा कहते हैं—प्रकाश

१– क्रिया का अधिकरण 'अग्नि' है उसके साथ—प्रकाश

च सिध्यति । उपसदो ग्रीवा, स एव शिरोधर-शब्देनोच्यते शिरो बिभर्तीति व्युत्पत्त्या, 'ग्रीवा उपसदः' इति श्रुतेः। प्रायणीयोदनीये इष्टी। उपसदादौ सोमक्रयात पूर्वं सोमान्ते च क्रियेत्युभयोरेकं द्रव्यमेका च देवता, एकं च पात्रमिति कालसंज्ञाभेदात् कर्मभेदः । ग्रहाणां मुखमध्ये स्थानात्प्रायणीयोदयनीययोः पार्श्वयोः स्थानमुचितमेव । उभयोर्दंष्ट्रात्वं दिक्परिज्ञापकत्वेन सर्वो हि मृत्युभिर्हतो दिशः परिजानाति, अन्यथा भवाटवीन्यायेन रजस्वलाक्षो दिशो न जानाति। मृत्युनैव हि दिश परिज्ञाप्यन्ते। **जिह्वा प्रवर्ग्य** इति प्रवर्ग्यपात्रमेव शिरः, कर्म चाऽऽध्यात्मिकम् । आहुत्यनन्तरं या ज्वाला, सा आकृतिसाम्याज्जिह्वा स एव पुनः प्रवर्ग्यस्तव क्रतुरूपस्य शीर्षकं शिरः। एवं क्रियानिवेशनमुक्त्वा तदधिकरणनिवेशनमाह—**सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि त इति**। सभ्यावसथ्ययोरिष्टकाचयनाभावात् पृथङ्निर्देशः । शालामुखीये धिष्ण्येषु चयनं स्पष्टमेव, दर्शपूर्णमासादिष्वपि चयनविधानात् । '**अग्निहोत्रे दर्शपूर्णमासयोः पशुबन्धे चातुर्मास्येषु**' इति श्रुतेः । दक्षिणाग्निप्राजहितयोरपि चयनत्वम् । शामित्रं तु प्राजहितमाहवनीयो वा । निर्मन्थ्यपक्षस्त्वनुकल्पः । **असवः** प्राणाः । नव वै पुरुषे प्राणाः । धिष्ण्यान्यपि नव । गार्हपत्यो दशमः ।। ३८ ।।

व्याख्या—भगवान् वराह रूप से अब प्रकट हुवे हैं, फिर यजमान रूप से प्रत्येक यज्ञ में प्रकट होते हैं, कारण कि 'यज्ञ' यजमान हैं, यह जो दीक्षित है वह गर्भ है। सोम ले आने पर पूर्ण तेजस्वी होते ही हैं, यों ये श्रुतियां कहती हैं, दीक्षा संस्कार का आशय है कि यजमान (दीक्षा लेने वाले) में दीक्षा का जो देवता है उसकी स्थापना करना वह आशय इष्टि से वा क्षौरादि से सिद्ध होता है। उपसद ग्रीवा (गरदन) है वह शिरोधर शब्द से कही गई है ग्रीवा ने शिर को धारण कर रखा है इस व्युत्पत्ति से शिरोधर का अर्थ ग्रीवा अर्थात् गरदन होता है श्रुति कहती है ग्रीवा उपसद' अर्थात् गरदन प्रायणीय तथा उदयनीय इष्टियां हैं उपसद के आदि प्रारम्भ में सोम लाने से पहले और सोम (होम) के अनन्तर जो क्रिया होती है उन दोनों का द्रव्य एक और देवता भी एक होता है, तथा पात्र भी एक होता है, काल की संज्ञा के भेद से केवल कर्म का भेद है, ग्रहों को मुख में स्थापित करने से प्रायणीय तथा उदयनीय दोनों को दोनों पार्श्वों(बाजूओ) में रखना उचित ही है, दोनों दिशाओं का ज्ञान कराते हैं अतः दाढ़ रूप है, क्योंकि मृत्यु द्वारा हत(मरीहुई) दिशाओं का उनको ही ज्ञान है यदि यो न हो तो भवाटवी न्यायानुसार जैसे धूलि से भरे नेत्रों वाला दिशा नहीं जान सकता है और भटकता ही रहता है वैसे ही वह भव संसार रूप वन में भटकता ही रहता है, मृत्यु ही दिशाओं का ज्ञान कराती है प्रवर्ग्य पात्र, जिस कर्म में उस पात्र द्वारा दूध का होम किया जाता है वह कर्म आध्यात्मिक है, होमानन्तर जो ज्वाला निकलती है, उसको आकृति की समानता से जिह्वा कहा है वह ही फिर प्रवर्ग्य क्रतुरूप (सोम रूप) आपका शिर माना गया है इस प्रकार, वराह भगवान् के श्री अङ्ग में समस्त क्रिया स्थित है यह दिखाकर अब उनके अधिकरण की स्थिति का वर्णन करते हैं 'सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि त' सभ्य आवसथ्य और

चितियो, आप के प्राण हैं जिस अग्नि में होम करने में नहीं आता है उस अग्नि को 'सभ्य' कहा जाता है जिस अग्नि की केवल उपासना की जाती है वह 'आवस्थ्य' अग्नि है, इन दोनों अग्नियों को ईंटों की वेदी की आवश्यकता नहीं है अतः ये जुदी कही गयी है 'अग्निहोत्र दशपूर्ण मासयोः पशुबन्धे चातुर्मास्येषुः इति श्रुतेः' । अग्निहोत्र में दर्श अमावस्या और पूनम के इष्टि यज्ञों में एवं पशुबन्धन यज्ञ में तथा चातुर्मास्य में इन यज्ञों में ईंटों की वेदी (कुण्ड) में अग्नि स्थापन की आज्ञा हैं अत. शाला मुखीय और धिष्ण्य अग्नियों की स्थापना भी कुण्डों में करनी यह स्पष्ट ही है । दक्षिणाग्नि तथा प्राजहितग्नि भी कुण्डों वा वेदियों पर धरी जाती है, 'शामित्र' अग्नि तो 'प्राजहित' अथवा 'आहवनीय' अग्नि है, अग्नि को मन्थन कर निकालना तो अनुकल्प है असवः पद का अर्थ प्राण है, पुरुष में नव प्राण है, कारण अग्नि के स्थान भी नव हैं गार्हपत्य अग्नि का स्थान दशवां है ।। ३८ ।।

आभास—नामधेयानां विनियोगमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में नामों का आशय स्पष्ट कर बताते हैं—

श्लोक—**सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः संस्थाविभेदास्तव देहधातवः ।**
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धिस्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ।। ३९ ।।

श्लोकार्थ—'सोम' तो आपका वीर्य है, सवन अवस्थाएँ हैं, पृथक् २ संस्थाऐं आपके देह की धातुएँ हैं सर्व यज्ञ आपके देह के सन्धि स्थान (जोड़) हैं आपके बन्धन (नसें) सर्व यज्ञ और क्रतु हैं ।। ३९ ।।

सुबोधिनी--सोम इत्यत्र । सोमयाग इति सिद्धान्ते सोमशब्दो यज्ञनामधेयम् । 'यज्ञग्निष्टोमः सोमः पुरस्तात् स्यादुक्थ्यं कुर्वीत, यद्युक्थ्यं (?) स्यादतिरात्रं कुर्वीत, यज्ञक्रतुभिरेवाऽस्य देवता वृङ्क्ते' इत्यत्र सोमपदस्याऽग्निमादिसामानाधिकरण्यात्, कुर्वीतेति क्रियालिङ्गात्, यज्ञक्रतुभिरित्युपसंहाराच्च, अत्राऽपि सवनादिनाम्नामेव प्रायपाठे द्रव्यादेर्निवेशायोगाच्च । आधुनिकमते तु तत्र मत्वर्थे लक्षणाऽऽश्रीयते, तदा सोदपदं द्रव्यवाचकमिति तस्मिन् पक्षे कथं सोमस्य रेतस्त्वमित्यत आहुः—**सोमेनेत्यादि** । पक्षान्तरमाहुः—**ग्रहाणा-**मित्यादि । तेषां ग्रसने निवेशस्योक्तत्वादत्र तथा वक्तव्य इत्यर्थः । **सप्तदशा** श) इति । आश्रावयादिसप्तदइष्टयो दर्शपूर्णमासादयः । **बन्धनानि** नसाः ।। ३९ ।।

व्याख्या—'सोम' शब्द से सोम यज्ञ कहा है 'सोमेन यजेत्' इस श्रुति में सोम पद मत्वर्थ के आश्रयवाला होने से सोम शब्द सोम ओषधवाचक है अतः इस पक्षानुसार देवतापन से सृष्टि करने वाला होने से वीर्यत्व कहा है । ग्रहपक्ष में सोम गिना जावे तब विकार रहित सोम को 'वीर्य' कहना चाहिये, सवन (सोमवती बेल) से सोम रस निकालने को सवन कहते हैं वह प्रातः मध्यान्ह और संध्या को तीन समय निकाला जाता है अतः सवन तीन कहे हैं । आपकी जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति

की तीन अवस्थायें ये तीन सवन हैं अग्निष्टोमादि संस्थाएँ (सोम यज्ञ के प्रकार) तीन पांच या सात हैं उनके सब ही भेद आपके शरीर की धातुएँ हैं चर्म, मांस और अस्थि ये तीन, पांच के पक्ष में चमड़ी, मांस, स्नायु अस्थि और मज्जा आती है सात के पक्ष में चर्म और रुधिर (रक्त) का भी समावेश करना, सस्था के चार भेद मानने के पक्ष में ऊपर की तीन और चौथा रुधिर लेना है, सर्व प्रकार के विचार से आपके देह की धातुएँ ही सकल संस्था (सोम यज्ञ के प्रकार) के भेद हैं, एक दिन से लेकर एक सहस्त्र वर्ष पर्यन्त के समस्त सत्र उनके जो भी भेद हैं वे सब आप के शरीर की अस्थिओं के सन्धि स्थान हैं, सर्व यज्ञ एवं क्रतु आप ही हैं यज्ञ १७ हैं तथा १२ दिन चलने वालों में से आरंभ कर अश्वमेघ पर्यन्त एक ही वेदी में धरी हुई अग्नि वाले यज्ञ क्रतुएँ हैं अमावस्या और पूर्णिमा के इष्टि होम हैं ये समस्त आपके बन्धन (नसों) मांसपेशियां हैं ॥ ३९ ॥

आभास--एवं सर्वनिवेशनमुक्त्वा यज्ञरूपमुपसंहरन् नमस्यति--

आभासार्थ--इस तरह वराह के देह में सब का स्थान कहकर निम्न श्लोक में इस विषय का उपसंहार करते हुवे वराट भगवान् को प्रणाम करते हैं—

श्लोक--**नमो समस्तेऽखिलमन्त्रदेवताद्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।**
वैराग्यभक्त्याऽऽत्मजयानुभावितज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—समस्त मन्त्र देवता, द्रव्य, क्रतु और क्रिया रूप आपको बार बार प्रणाम है वैराग्य, भक्ति अन्तःकरण की जय से आप ज्ञान स्वरूप का अनुभव कराते हो, विद्याप्रद गुरु भी आप हो हैं अतः गुरु रूप होने से भी आप को पुनः पुनः प्रणाम है ॥ ४० ॥

सुबोधिनी--**नमो नमस्त इति** । आदरे वीप्सा, स्वस्य स्वभोगस्य च तत्फलत्वात् । अस्य रूपान्तरत्वव्यावृत्त्यर्थं **त इति** । **अखिला मन्त्रा**, इषेत्वादयः, वस्वादयो **देवताः**, **द्रव्याणि** ब्रीह्यादीनि । देवतोद्देशेन द्रव्यं मन्त्रेण देवतायै समर्प्यत इत्यलौकिको यागो मन्त्रदेवताद्रव्यात्मको भवति पुरुषप्रयत्नस्तु लौकिकः, अभिनयरूपत्वात् स न यागः, प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । सर्वयागभेदरूपाय । **क्रियात्मने** । अभिनयोऽपियागाविर्भावहेतुरिति क्रियाप्यतीन्द्रिया कैश्चिदाश्रिता, वस्तुतस्तु तत्रैवाऽन्तर्भूता मन्त्राधिकरणिका यजमानाविष्टभगवन्निष्ठा । एवं सर्वत्र क्रियारूपत्वेन रूपेण स्वर्गादिसाधकत्वेन रूपेण नमस्कारं कृत्वा ब्रह्ममीमांसानुसारेण वेदार्थरूपोऽप्ययमेवेत्याह-**वैराग्येति** । **वैराग्यं** विषयवैतृष्ण्यम् । **भक्तिर्भगवति** श्रवणादिः, स्नेहो वा । **आत्मजयो**ऽन्तःकरण जयः । त्रयमप्यन्तःकरणशोधकम् । अत एव तैरनुभावितं यज्ज्ञानं ब्रह्मात्मानुभवः, तद्रूपाय । **विद्या** उपनिषत्, वाक्यार्थज्ञानरूपा, तज्जनको गुरुः । उत्तरकाण्डे त्वेतावत्येव सामग्री षड्गुणा भगवद्रूपा । पुनर्नमनं काण्डभेदात् ।

॥ ४० ॥

व्याख्या—वह वराह स्वरूप अपने और अपने भोग का फल स्वरूप होने से उनको दो बार प्रणाम कह कर आदर प्रदर्शित किया है। ये कोई दूसरे रूप वाले नहीं हैं यों दिखाने के लिये 'ते' पद दिया है अर्थात् 'आपको'। इषेत्वादि सकल मन्त्र, वसु आदि देवताओं व्रीहि (चावल) धानादि द्रव्य, देवता के उद्देश्य से मन्त्र पढ़ कर द्रव्य देवताओं को दिया जाता है इसी प्रकार अलौकिक यज्ञ मन्त्र देवता तथा द्रव्यात्मक होता है। पुरुष का प्रयत्न तो लौकिक है अतः वह चेष्टारूप तथा प्रत्यक्ष होने से यज्ञ नहीं है 'सर्वक्रतवे' सर्व क्रतुरूप यज्ञों के जो भी भेद हैं उन सब के आप ही रूप हैं ऐसे आप को प्रणाम है, 'क्रियात्मने' क्रिया रूप आप को नमस्कार है। चेष्टा भी यज्ञ के आविर्भाव में कारण होती है क्रिया भी इन्द्रियातीत (अलौकिक) है यों कितने ही मानते हैं वास्तव में तो मन्त्र रूप स्थान वाली क्रिया यजमान (यज्ञ) ये आविष्ट भगवान् में वहाँ ही अन्तर्भूत हो जाती है।

इसी तरह सर्वत्र क्रिया रूपत्व और स्वर्गादिसाधकत्व रूप से नमस्कार कर ब्रह्म मीमांसा के अनुसार वेदर्थ रूप भी यह ही है यों कहते हैं १–वैराग्य अर्थात् विषयों से तृष्णा का मिट जाना २–भगवद्गुणानुवाद श्रवण और उसमें स्नेह (भक्ति), ३–आत्मजयः अन्तःकरण की शुद्धि करने वाले ये तीन ही हैं, इसलिये इनसे अनुभव में आया हुआ ४-जो ज्ञान अर्थात् ब्रह्मात्मा का अनुभव, ऐसे ज्ञान रूप आपको प्रणाम है ५–'विद्या' अर्थात् वाक्य एवं अर्थ के ज्ञान रूप उपनिषद् ६–वैसा ज्ञान कराने वाले गुरु उत्तरकाण्ड में षड्गुण भगवद्रूप की इतनी सामग्री है काण्ड के भेद होने से फिर प्रणाम करते हैं ॥४०॥

आभास—एवं षड्भिर्यागरूपत्वं निरूप्य आधिदैविकं रूपं प्रकृतोपयोगि निरूपयति षड्भिः—

आभासार्थ—इस प्रकार छः श्लोकों से यज्ञ स्वरूपत्व का प्रतिपादन कर अब इस श्लोक से लेकर छः श्लोक में प्रकृत विषय (चालू प्रसंग) के उपयोगी आधिदैविक रूप का निरूपण करते हैं—

श्लोक—दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता विराजते भूधर ! भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निस्सरतो दता धृता मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—हे भूमि को धारण करने वाले भगवान् ! आपने जिस पर्वत सहित पृथ्वी को अपने दाढ़ों की आगे वाली नोंक पर धारण किया है वह ऐसे सुशोभित हो रही है जैसे बन से निकले हुवे मदमस्त गजेन्द्र के दांतों पर रखी हुई पत्र सहित कमलिनी शोभती है ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी—दंष्ट्राग्रकोट्येति दंष्ट्राया अग्रम् तस्य कोटिरेकदेशः। माहात्म्यार्थमेवमुक्तम् : ऊर्ध्वं धारणात्तथैव भवति। तादृश्याः क्रियाया असंभाः वितत्वमाशङ्क्य भगवन्निति संबोधयतिः तत्रापि

भगवत्प्रयत्न एव व्यापृत इत्याह—**त्वया धृतेति**। अन्यधृतायाः तत्रापि दंष्ट्र ग्रभिन्नाया अशोभामाशङ्कयाऽऽह—**विराजत इति**। **भूधरेति** संबोधनं योगस्य दर्शनान्माहात्म्यार्थम्। इतर-भूधरसाम्याभावाय **सभूधरेत्युक्तम्**। सपर्वता भूमिर्धृतेत्यर्थः। सपर्वताभूमिर्निम्नोन्नता शोभा-रहितेव भवति। विशेषशोभायां हेतुमाह—**यथा वनादिति**। **वनाज्जलात्** स्थलकमलिनीं गृहीत्वा वनादेव वा। अवनात् रक्षणाद्वा हेतो-र्निःसरतो मत्तगजेन्द्रस्य दन्तेन धृता पत्रसहिता **पद्मिनी** कमलिनी। भगवदर्थमुद्धृता गजेन्द्रेण कमलिनी शोभत इत्यविवादम्। तथा यज्ञार्थं यज्ञेन समुद्धृता भूमिः सर्वपुरुषार्थसाधिकेति, भर्तृसहितेति,भर्तृपूजितेति वा, उद्ध्यं निर्गच्छन्ती वा, कैलासशिखरे मेघवत् विराजत एव। प्राकृतवनादपि निःसरता गजेन धृता (भूमिः) शुभ्राधिकरणा, आश्चर्येण लोकैर्दृश्यमाना, चित्ररूपमध्यगतेव विराजते। आकृतिः प्रकृतेऽपि तुल्या ॥ ४१ ॥

व्याख्या—दाढ़ का अग्र भाग उसकी कोटि (नोक) उस पर भूमि को धारण किया है वह क्रिया असम्भव दीखती है, ऐसी शंका निवारण के लिये भगवान्' विशेषण दिया है, आप ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त हैं। अतः आप पृथ्वी को ऊँचा कर लेजा सकते हैं, इस क्रिया में आप (भगवान्) का ही प्रयत्न है इसलिये कहा है कि 'त्वया घृता' हे भगवान् इस भूमि को धारण आपने किया है अर्थात् दाढ़ ने धारण को है उसमें भी दाढ़ के अग्रभाग (नोक) से बिंधी हुई होने से तो भूमि शोभा से हीन हो गयी होगी ? यह शंका मिटाने के लिये कहते हैं कि 'विराजते' विशेष शोभित हो रही है। भू धर ! यह सम्बोधन वराह और पृथ्वी का सम्बन्ध दिखा कर माहात्म्य प्रकट करने के लिये दिया है दूसरे भूधर (पर्वत) इसके समान नहीं हैं यह सिद्ध करने के लिये कहा है कि 'समूधरा' पर्वतों सहित भूमि को आपने उठाली है। पर्वतों सहित भूमि तो सम नहीं होती है कहीं नीची कहीं ऊंची होती है। अतः वह शोभा रहित होती है, इस शंका का उत्तर इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में दृष्टांत द्वारा देते हैं कि जैसे वन से (जल से या स्थल पर से) कमलिनी को लेकर अथवा वन से उसकी रक्षार्थ निकलते हुये मत्त (मस्त) गजेन्द्र के दान्त में पकड़ी हुई पत्तों सहित कमलिनी (शोभा देती है वैसे ही वराह शोभित थे) गजेन्द्र से भगवान् के लिये उठाई हुई जो कमलिनि है वह शोभती रहती है और कुम्हलाती भी नहीं (इस कथन में किसी प्रकार का विवाद नहीं है) वैसे ही यज्ञ के लिये यज्ञ रूप वराह से धारण की हुई भूमि सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करने वाली है, भर्ता के साथ है और पति से सम्मानित हुई। ऊपर बाहर निकलती हुई जैसे कैलाश के शिखर पर मेघ शोभते हैं, वैसे शोभित हो रही थी (है)। (वराह भगवान् पृथ्वी को धारण किए हुए ऐसे शोभते थे) जैसे प्राकृत वन से निकले हुए हस्ती (हाथी) से धारण की हुई है। कमलिनि शुभ्र (श्वेत) अधिकरण आसन वाली होने से लोक उसे आश्चर्य से यह अद्भुतता से ऐसे देखने लगे जैसे चित्र में अंकित हो जावे वैसे विराजते हुए शोभित थे। प्रकृत (बाल) प्रसंग में वराह को गजेन्द्र और पृथ्वी को कमलिनि की उपमा दी गई है ॥ ४१ ॥

आभास—एवं भगवत्संबन्धात् भूमेः सौन्दर्यातिशयमुक्त्वा, भगवतस्तादर्थ्यदोष-परिहाराय तथा कृत्वा, भगवतो रूपातिशयमाह—

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् के सम्बन्ध से भूमि की अतिशय सुन्दरता कह कर, भगवान् ने भूमि की सुन्दरता अपने लिये बढ़ाई है, (ऐसी शंका हो तो) भगवान् में इस दोष का परिहार, करने के लिये इस श्लोक में भगवान् का रूप सौंदर्य वर्णन करते हैं—

श्लोक—**त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं भूमण्डलेनाऽथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥४२॥**

श्लोकार्थ--आपके दांतों पर रखे हुए भूमण्डल सहित आप का यह वेदत्रयी सुन्दर रूप ऐसे शोभा दे रहा है जैसे पर्वतों के शिखरों पर छायी हुई मेघमाला से उत्तम पर्वतों के कुल की शोभा होती है ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी—**त्रयीमयमिति**। सोकरमपीदं रूपं वेदत्रयात्मकत्वेन स्वरूपतो महदपि, विराजमानमपि, दता धृतेन भूमण्डलेन भिन्नप्रक्रमेणाऽधिकं चकास्ति । वेदादिभानेनाऽलौकिकं रूपमाहात्म्यम्, न तु लौकिकम् । इदं तु दन्ताग्रे भूमण्डलस्थापनेन लोकप्रसिद्धत्वात् अलौकिकापेक्षयाऽप्यधिकम् । यथा तुरगाद्यपेक्षयाऽपि चित्रादिस्थितास्तुरगादयोऽतिशोभायुक्ता भवन्ति, तथा वर्णान्तरभावमापन्ना वर्णान्तरेण धृता वर्णान्तरस्य शोभाजनिका भवति । इममेवार्थं वर्णाकृतं शोभातिशयं दृष्टान्तेन स्पष्टयति **शृङ्गोढघनेनेति** । श्वेतशृङ्गे आरूढेन नीलमेघेन स्थूलेन तथा मेरुः शोभते । तत्राऽपि त्रयाणामन्योन्यस्नेहेन सचेतनत्वे विलासो भवति । तदा दृश्यमानरूपमिव तद्भवतीत्यभूतोपमा विभ्रमशब्देनोच्यते ॥ ४२ ॥

व्याख्या—यद्यपि यह स्वरूप वराह का है तो भी (ये) वेदत्रयी रूप होने से उत्तम स्वरूप वाले हैं एवं सुशोभित हो रहे हैं, फिर भी दांत पर भूमि मण्डल को धारण करने से अब दूसरे प्रकार से विशेष सुशोभित हो रहे हैं। वेदादि के प्रकाश से तो स्वरूप का अलौकिक माहात्म्य है न कि लौकिक माहात्म्य है। यह तो भू मण्डल को दांत के कोण पर स्थापन करने से लोक प्रसिद्ध ही है। अलौकिक की अपेक्षा से भी अधिक है, जैसे जीवित अश्वों की अपेक्षा भी चित्रों में चित्रित अश्वों की शोभा विशेष होती है क्योंकि चित्र में रंग अन्य रंगों से मिलने से दूसरे रूप को धारण कर विशेष शोभा वाले होते हैं। इसी ही भाव को वर्णो (रंगों) से हुए विशेष शोभा का दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं कि 'शृंगोघढनेनेति' पर्वत को 'श्वेत' शिखर पर छाये हुए श्याम मेघों से मेरू (पर्वत) उसी तरह शोभायमान होता है, उसमें भी जो परस्पर प्रेमातिशय से सजीव हो विलास करते हैं तो विशेष आनन्द तथा शोभा होती है। दृश्यमान (प्रत्यक्ष) रूप की तरह होताहै यह अभूतोपमा 'विभ्रम' शब्द से कही है।।४२।।

आभास—एवं दम्पत्योरन्यतरसंबन्धेनाऽन्यतरशोभामुक्त्वा, तयोः पितृत्वं स्थापयन्तः स्वार्थं भूस्थापनं प्रार्थयन्ति—

आभासार्थ—इसी तरह पति और पत्नी के आपस के सम्बन्ध से दोनों की शोभा हो रही है यों कह कर उसका मातृ पितृपना सिद्ध करती हुई पृथ्वी की स्थापना करने की प्रार्थना इस श्लोक में करते हैं -

श्लोक—संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां भवाय पत्नीमसि मातरं पिता।
विधेम चाऽस्यै नमसा सह त्वया यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवाऽरणावधाः॥४३॥

श्लोकार्थ—स्थावर (अचल) और जंगम (चल) प्राणियों की उन्नति के लिए एवं सुख पूर्वक रहने के लिऐ जो आपकी पत्नी और जगत् की माता है उस पृथ्वी की अब स्थापना करो, कारण कि आप पिता हैं, जिस तरह आपने अरणि में अग्नि स्थापित की है वैसे ही इस (भूमि) के भीतर भी (आपने) अपना तेज स्थापित किया है अतः आपके साथ इसको भी हम प्रणाम करते हैं॥ ४३॥

सुबोधिनी—संस्थापयेति। एनां **जगतां** स्थावरसहितानामुद्भवाय, सर्वेषां **मातरं** तव **पत्नी** पितृत्वात् सम्यक् स्थापय। यथा पुत्राणामर्थे भार्यां स्थापयित्वा गृहस्थो देशान्तरे गच्छति, तथा त्वयाऽपि विधेयम्, यतस्त्वं पिताऽसि। अनेन प्रत्युपकारमनपेक्ष्यैव त्वयेयं स्थापनीया, इयं च तथैव परिपालयत्विति निरूपितम्। तथाप्यस्माभिः स्वानण्याय पूर्णकामयोर्युवयोर्नमस्कारातिरिक्तं कर्तव्यं न भवतीति त्वया सह अस्यै **नमसा विधेम**। नमः आ समन्तात् विधेमेत्यर्थः। नमसेत्यव्ययम्, कर्तव्यनिर्देशो वा। नमस्कारपुरःसरं पूजां करिष्याम इत्यर्थः। अथवा, अस्यै अस्याः प्रियार्थं नमसा सह त्वया सह च विधेम। भक्ति यज्ञादिकं च कुर्वाणा आज्ञाकारिणो भविष्याम इत्यर्थः। किञ्च, इयं स्थापनीयैव, यत इयं गर्भिणी। भगवदाकृतिविशेषान् भक्तिसाधकान् प्रसविष्यतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**यस्यां स्वतेज** इति। मार्गद्वयप्रवर्त्तको भवान्, यथा अश्वत्थे अग्नीमयमग्निं यज्ञसिद्ध्यर्थमधाः, एवमस्यामपि **स्वतेजः**, स्वस्य पुरुषोत्तमाकृतिम्, पुरुषाकृतिं वा भूमौ स्थापितवान्॥ ४३॥

व्याख्या—हे नाथ! आप पिता हैं, अतः सर्व को माता और आपकी पत्नी इस भूमि को स्थावर एवं जङ्गम प्राणियों के सुख और उन्नति के लिये अच्छे प्रकार से स्थापित करें। जैसे लोक में भी पिता पुत्रों के रक्षार्थ स्त्री को घर में बिठाकर आप विदेश जाता है वैसे ही आपको भी करना चाहिये क्योंकि आप सब के पिता हैं। यों प्रार्थना करने से यह सूचित किया है कि प्रत्युपकार (उपकार के बदले) की अपेक्षा (चाह) न रख कर ही आपको इसकी यहां स्थापना करनी चाहिये,

और यह वैसे ही सर्व जगत् की पालना करे यों निरूपण किया है, तो भी हम इस ऋण से अपने को छुड़ाने के लिये पूर्ण काम आप दोनों को नमस्कार करने के सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकते हैं। आपके साथ इसको भी प्रणाम करते हैं। सर्व प्रकार से नमन करेंगे। यहीं तात्पर्य है। 'नमसा' अव्यय है, इससे कर्त्तव्य का निर्देश भी किया है। तात्पर्य यह है कि प्रणाम पूर्वक पूजा करेंगे, भक्ति तथा यज्ञ करते हुए आप के आज्ञाकारी होकर रहेंगे किन्तु अन्य विशेष कारण यह है कि यह गर्भिणी हैं। अतः इसकी स्थापना करनी आवश्यक है।

यह भूमि भगवान् के समान विशेष कृतिवाले, भक्ति की सिद्धि करने वाले व प्रचार करने वाले महापुरुषों को प्रकट करेगी इस अभिप्राय से कहते हैं 'यस्यां स्वतेज्या' जिसमें आपने अपना तेज स्थापित किया है आप दोनों मार्गो के प्रवर्तक हैं? जैसे अश्वत्थे (पीपल) में वेदत्रयी रूप अग्नि (तेज) को रखा है वैसे ही इस भूमि में भी अपना तेज (पुरुषोत्तम आकृति अथवा पुरुषाकृति रूप) धरा है ॥ ४३ ॥

आभास—इमां प्रार्थनामुक्त्वा कर्तव्यान्तरं नावशिष्यत इत्यभिप्रायेण तस्य पूर्वकृतमेव चरित्रमनुवदन्तः स्तुवन्ति---

आभासार्थ—इस प्रार्थना को करने के अनन्तर कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा है इस अभिप्राय से वराहजी के किये हुवे पूर्व चरित्रों का अनुवाद करते हुए स्तुति करते हैं—

श्लोक---कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो! रसां गताया भुव उद्विबर्हणम्।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम्॥४४॥

श्लोकार्थ---हे प्रभो! रसातल में गई हुई भूमि को वहाँ से बाहर लाने का कार्य आपके सिवाय दूसरा करेगा इस पर कौन विश्वास करेगा? क्योंकि ऐसे विस्मय कारक कार्य तो आप ही कर सकते हैं कारण कि ऐसे विस्मय (आश्चर्य) कारक कार्य तो आप ही कर सकते हैं जिन आपमें विस्मयरूप विश्व रहता है और इस विस्मय (आश्चर्य) रूप जगत् को आपने अपनी इच्छा रूप माया शक्ति से रमणार्थ तथा सबको आश्चर्य में डालने के लिये बनाया है किन्तु आप से किसी कार्य का होना आश्चर्य कारक नहीं है ॥ ४४ ॥

सुबोधिनी—कः श्रद्दधीतेति। अन्यतमस्त्वत्तोऽन्यो भूत्वा महानपि भुव उद्विबर्हणमुद्वाहम्, वहनम्, उद्धरणं वा, अन्यैरुच्यमानमपि श्रद्धां कुर्यात्। त्वन्माहात्म्यमवाङ्मनसगोचरं दृष्टवाऽप्युक्तं न विश्वासं जनयति। स्वस्य माहात्म्यमेतादृशका- र्यासक्तिं च मत्वा, असम्भावनया उपाख्यानानां मिथ्यात्वं परिकल्प्य, न कदाचिदनीदृशं जगदिति मन्यन्ते। तद्वाक्येनान्येऽपि च भ्रान्ता भवन्ति। यत्राऽन्यकरणमपि न मन्यन्ते, तत्र स्वकरणं दूरे। तव त्वेतदाश्चर्यहेतुरपि नेत्याह- **न विस्मयोऽसा-**

विति । असावुद्धारस्त्वयि न विस्मयः, आश्चर्यं न भवति, तव वा गर्वहेतुर्न भवति । तत्र हेतुः - **विश्वविस्मय इति** । विश्वमेव तव विस्मयरूपम् । यथा रेतो रूपाज्जलान्मयूरादिः पुरुषादिर्वा जायते, बीजाद्वटादिर्वा । किञ्च, विश्वमेव विस्मयमाश्चर्यं यस्मिन्निति भवत्येवेदं माहात्म्यसूचकम् ।इतोऽप्यन्यन्महन्माहात्म्यं तदाह--**यो मायये दमिति** । इदमेव जगत्, मायया स्वप्नादौ प्रतिपुरुषं **भिन्नप्रकारेण**, एकस्मिन्नपि पुरुषे क्षणादन्यथारूपं च, **ससृज** इति । **सृजत** इति पाठे 'यो भवान्' इति । तत्राप्यतिविस्मयम्, पर्वताग्रे समुद्रः, दिवसे नक्षत्राणि, स्वशिरश्छेदादिर्वा; स्वयं तेनैव रूपेण पश्यतीति ॥ ४४ ॥

व्याख्या—आपके सिवाय दूसरा कोई महान् पुरुष पृथ्वी को रसातल से ले आया है यदि दूसरे यों कहे तो भी उन पर कौन विश्वास करेगा ? आपका माहात्म्य,वाणी और मन से अगोचर (नहीं जाना जाय ऐसा) देखकर भी आसुरी जीवों को भूमि के उद्धार कार्य पर विश्वास नहीं होता है, वे समझते हैं कि हम ऐसे शक्तिशाली उत्तम होते हुए भी यहां कार्य नहीं कर सकते हैं तो यह भूमि के उद्धार की असम्भावना युक्त कथा कल्पित (बनावटी) होने से मिथ्या है, कभी भी ऐसा जगत् में नहीं हुआ है उनके ऐसे वाक्यों से दूसरे भी भ्रमित (शंकाशील) हो जाते हैं जब दूसरों ने यह कार्य किया यों ही नहीं मानते हैं तो स्वयं का करना तो दूर ही रहा आप में तो यह कार्य आश्चर्य का हेतु नहीं है 'न विस्मयोऽसेडे', इस पंक्ति में यह आशय प्रकट किया है कि यह भूमि का उद्धार करना आपमें विस्मयरूप नहीं है, इससे आश्चर्य भी नहीं होता है और आपके गर्व का कारण भी वह नहीं है, उसमें कारण बताते हैं कि 'विश्व विस्मय 'इति' आपका प्रकट किया हुआ यह विश्व ही विस्मय रूप है जैसे रेत (वीर्य) रूप जल से मयूर आदि एवं पुरुष आदि उत्पन्न होते हैं अथवा बीजों वृक्षादि उत्पन्न होते हैं, ऐसा विश्व ही आपका विस्यम रूप कार्य है और विश्व ही आश्चर्य रूप जिसमें हैं । यह पद माहात्म्य सूचक है इससे भी दूसरा विशेष माहात्म्य है, वह 'योमायये दमिति' इस पद से प्रकट करते हैं कि यह ही जगत् माया से स्वप्नावस्था में प्रत्येक पुरुष को पृथक् पृथक् प्रकार से क्षण क्षण में में खेल खिलाता है 'सृजत' ऐसा पाठ हो वहां भी आपकी लीला अति विस्मय कराने वाली है पर्वत के नोक पर समुद्र, दिन को तारों का देखना अपना कटा हुआ सिर देखना आदि यह सब स्वयं उस ही रूप से देखता है ॥ ४४ ॥

आभास---ननु तथापि भवद्भ्यो ज्ञानं मोक्षो वा देयः, तदर्थमधिकारो वा सम्पादनीयः । तत्कथमेतावतैव विरमणमित्याशङ्क्याऽऽहुः---

आभासार्थ—आप लोगों को ज्ञान वा मोक्ष देना है । जिसके लिये अधिकार प्राप्त करना चाहिये तो फिर कैसे ? स्तुति करके ही शांत हो जाते हो इस शंका का उत्तर इस श्लोक में देते हैं—

श्लोक—विधुन्वतो वेदमय निजं वपुर्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभिर्विमृज्यमाना भृशमीश ! पविताः ।।४५।।

श्लोकार्थ—हे ईश ! जब आप अपने वेदमय श्री अङ्ग को हिलाते हैं, तब आपके गरदन के बालों से उड़ती हुई शीतल कल्याण रूप जल की बूंदें पड़ती हैं, जिनसे जनलोक तपलोक, सत्यलोक में रहने वाले हम पवित्र हो जाते हैं ।। ४५ ।।

सुबोधिनी—विधुन्वत इति । इदं वेदात्मकं **वपुः** जलादुद्धृतं **विधुन्वतस्तव** सतः **प्रसङ्गादेव** वयं **जनस्तपः सत्यनिवासिनस्तत्सटाशिखोद्धूत-**शिवाम्बुबिन्दुभिः, पुनः पुनरागतैर्विशेषेण **मृज्य-माना** घर्षणपूर्वकं प्रक्षाल्यमाना अत्यर्थमन्तर्बहिः पाविताः । अतिपवित्रैर्ज्ञानादिकं प्राप्यत एव । मुखे मन्त्रं पठन् हस्तेन मार्जनादौ लोकः किल पावितो भवति । तत्र वेदमयेनैव शरीरेण वेदार्थरूपेण बर्हिषा कण्ठोद्गतेन पवमानेन वाहिर्मुष्टयाकृतिरूपेण । तत्रापि तवाऽऽलोडनेन कल्याणरूपाम्बुभिर्मार्जने किं वक्तव्यमित्यर्थः । त्रिविधानां ग्रहणमेकविधाधिकारसिध्यर्थम् ।। ४५ ।।

व्याख्या—हे ईश ! जल से प्रकट यह आपका वेदमय अङ्ग जब आपने हिलाया तब आप की गरदन बालों से निकलती हुई कल्याण कारक जल की बूदें बार बार हम पर पड़ती थी, जिन से हमारे शरीर से घर्षण (घिसने) से स्वच्छ होने के साथ में हम बाहर और भीतर से पवित्र हो गये हैं, जो इस तरह पवित्र हो जाते हैं उनको ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है जब मुख से मन्त्रोच्चारण करने तथा हाथ से भार्जनादि करने से लोक निश्चय पूर्वक पवित्र हो जाते हैं। तो वेदमय शरीर से वेदों के अर्थ रूप कुशों से, कण्ठ से निकलते हुए पवन (श्वास) से, मुष्टि के समान सुन्दर आकृती बाले स्वरूप से, वहाँ भी आपके हिलाने से प्रकट कल्याण रूप जल की बूदों से मार्जन (स्नान) हो तो कैसी पवित्रता होगी ? कहीं नही जाती है, जन, तप और सत्य लोक तीनों को ग्रहण इसलिये किया है कि तीनों लोकों के निवासियों का अधिकार समान सिद्ध है।। ४५ ।

आभास--एवं भगवन्तं स्तुत्वा, स्तोत्रमुपसंहरिष्यन्तः, स्वल्पं स्तुतमिति स्वस्य दोषं परिहरन्ति

आभासार्थ—इस तरह भगवान् की स्तुति कर, स्तुति का उपसंहार करते हुए निम्न श्लोकों में स्तुति स्वल्प की है । अपने इस दोष को मिटाते है ।

श्लोक—**स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैषतेयः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।**
यद्योगमायागुणयोगमोहितं विश्वं समस्तं भगवन् ! विधेहि शम् ।।३६।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य असीम कर्म (लीलाओं) वाले आपके अनन्त कर्मों का पार (अन्त) जानना चाहता हैं। वह वास्तव में भ्रष्टमति (बुद्धि) वाला है। यह समस्त विश्व आपकी योग माया के गुणों के सम्बन्ध होने से मोहित हो गया है। अतः हे भगवन् ! आप कल्याण करो ।। ४६ ।।

सुबोधिनी—स वै बतेति। तव गुणानुवर्णनरूपे स्तोत्रे अल्पं बह्विति विभागो व्यर्थः, त्वद्गुणानामानन्त्यात्। स्वबुद्ध्यनुसारेण तु स्तुतमेव यस्तु पुनः सर्वाण्येव भगवच्चरित्राणि कथयिष्यामीति प्रारभते, स विभ्रयेन भ्रष्टमतिः भ्रष्टस्वमर्यादो भवतीति बतेति खेदे। भगवद्गुणेषु चित्तं प्रसारयन्नपि भ्रष्टबुद्धिर्जात इति तस्य बुद्धिभ्रंशमेवाऽऽह—अपारकर्मणः कर्मणां पारं य ईषते, भगवतः सर्वानेव गुणान् कथयिष्यामिति, तदेयं बुद्धिःसमीचीना भवेत्, यदि कर्मणामन्तो भवेत्। जातानामप्यन्तो नाऽस्ति, जनिष्यमाणानां चेति वक्तुमपारकर्मण इत्युक्तम्। तत्रापि ये सर्वज्ञा वेदाः, अन्ये वा भगवद्भावं प्राप्ताः, ते वदन्तु नाम, ये पुनर्मायया मोहिताः ते कुतो वदेयुः? विश्वस्मिन् सर्व एव च मोहिताः। तदाह—यद्योगमायेति। यद्यस्मात्कारणात् समस्तमेव विश्वं योगमायायाः सत्वादिगुणैर्मोहितम्। सा हि जगत्कर्त्री स्वकार्यसिद्ध्यर्थं मोहयत्येव, अतो मायामोहिताः स्वरूपमेव न जानन्ति, कुतो भगवद्गुणान्। अतः सर्वानेव त्वं पालयेत्याहुः—भगवन्विधेहि शमिति। पूर्ववाक्यं दयाजनकम् ।। ४६ ।।

व्याख्या—आपके गुणों के वर्णित स्तोत्र में स्वल्प या बहुत यह विभाग करना व्यर्थ है। क्योंकि आपके गुण असीम होने से उनका वर्णन हो नहीं सकता जैसे अपनी बुद्धि के अनुसार ही सम्पूर्ण प्रत्येक वर्णन कर सकता है। वैसे हमने भी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया है। यदि कोई डींग मारता है कि मैं समस्त भगवच्चरित्र कहूँगा यों कहकर कार्य आरम्भ करता है, वह निश्चय से भ्रष्ट मति (पागल) है। जो भ्रष्ट होता है। उससे मर्यादादि नहीं रहती है। इसलिये इसका खेद है। भगवान् के गुणों में बुद्धि (चित्त) को बढ़ाते हुए भी भ्रष्टबुद्धि हो जाती है। भ्रष्ट बुद्धि का यही प्रमाण (सबल) है कि असाम कर्म वाले प्रभु के कर्मों की सीमा करना चाहता है। यदि अपने कहे अनुसार भगवान् के गुणों का अन्त कर दिखावे तो वह बुद्धि उत्तम कही जावे वह होता नहीं अतः वह बुद्धि भ्रष्ट है। विशेष क्या कहें, जो कर्म (लीलाएँ) अब तक हुई हैं अन्त कोई नहीं पा सका है; तो होने वाले कर्मों को गति को कौन जान सकता है? कारण कि, प्रभु अपार कर्मा है इसमें भी जो सर्वज्ञ वेद हैं अथवा वे जो भगवद्भाव को प्राप्त हैं वे भले कहे[1] शेष जो माया से मोहित हैं वे कैसे कह सकते हैं? जगत् में सब ही मोहित हैं, वह बताते है "यद्योगमायागुण योग मोहितं" जिस कारण योग माया के सत्वादि गुणों से सम्पर्क होने ने समस्त ही विश्व मोहित है। वह भगवान् की योग माया जगत् को रचनादि करने वाली है। अतः अपने कार्य सिद्धि के लिये सब को मोहित करती ही है, इस कारण से माया से मोहित मनुष्य स्वरूप को ही नहीं जानते हैं, तो

(१) जो वस्तुतः वे भी यों नहीं कहते हैं।

फिर भगवद्गुणों को कैसे जान सकेंगे ? आप भगवान् हैं अतः आप सबका पालन (कल्याण) करो, पहले कहे वाक्य दटा जनक (पैदा करने वाले) हैं ॥ ४६ ॥

आभास—तेषां स्तोत्रं सफलं जात मित्याह—

आभासार्थ—उनकी की हुई स्तुति सफल हुई यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**मैत्रेय उवाच—इत्युपस्थीयमान स्तैर्मुनिभिर्ब्रह्म वादिभिः ।**
सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्ताऽविताऽवनिम् ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे कि हे विदुरजी ! उन ब्रह्मवादी मुनियों से इस प्रकार स्तुति किये गए सर्व रक्षक प्रभु अपने खुरों से जल को स्थगित कर उस पर भूमि को स्थापित करने लगे ॥ ४७ ॥

सुबोधिनी—**इत्युपस्थीयमान इति** । इतीति समाप्तिः, प्रकारवाचो वा । **तैर्मुनिभिरेवमुपस्थीयमान** उपस्थानविद्यया स्तूयमानः । ब्रह्मवादिनां वचनमन्यथा मा भवत्विति, **स्वखुराक्रान्ते सलिले अवनिमुपाधत्ता** स्थापितवान् । यतोऽयम**विता**, सर्वेषां रक्षकः । **खुरराक्रान्त** इति जले मर्यादां भयं च सूचयति, भगवत्खुराक्रान्तत्वात् । तावज्जलं देवतारूपं जातमिति भूमेरतः परं न काऽपि चिन्ता ॥ ४७ ॥

व्याख्या—'इति' शब्द समाप्ति बताता है अथवा इस प्रकार कहता है, उन मुनियों से इस तरह उपस्थान विद्या से मुक्ति किये हुए प्रभु ने ब्रह्मवादियों के वचन असत्य न होने चाहिये इसलिये अपने खुरों से जल को स्थिर कर उस पर भूमि को धरा क्योंकि आप सबों के रक्षक हैं । जल को खुरों से स्थिर किया कारण कि जल में मर्यादा एवं भय था शायद फिर पृथ्वी को न डूबो दे इसलिये अब खुरों से जितना भाग आक्रान्त हुआ (घिर गया) वह देवता रूप हो जाने से भूमि को भय कर्त्ता नहीं रहा इसलिये अब कोई चिन्ता नहीं है ॥ ४७ ॥

आभास—एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वोपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के चरित्र कहकर इस श्लोक में उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**स इत्थं भगवानुर्वी विष्वक्सेनः प्रजापतिः ।**
रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—इस तरह रसातल से खेलते हुवे लायी हुई भूमि को विष्वकसेन प्रजापति भगवान् जल पर धरकर आप (हरि) पधार गये ॥ ४८ ॥

सुबोधिनी—स इत्थमिति । इत्थममुना (?) प्रकारेण **रसायाः** सकाशात् उर्वीमुद्धृत्य **अप्सु न्यस्य ययाविति** संबन्धः । एकाकिना कथमुद्धृता ? कथं वा स्थापितेति शङ्काव्युदासार्थमाह—**विष्वक्सेन इति ।** विष्वक् परितः सेना यस्य, तस्य भगवतः सर्वकार्यकरणार्थं महत्येव सेना वर्तते । स्थापने हेतुः—**प्रजापतिरिति ।** गमने हेतुः—**हरिरिति ।** ईश्वरसान्निध्यं प्रजानां स्वाच्छन्द्यप्रतिबन्धकम् ।। ४८ ।।

व्याख्या—'इत्थं' इसप्रकार रसातल से पृथ्वी को (ऊपर के लोक में) जल पर धरकर आप अन्तर्धान हो गये यों वाक्य का संबन्ध है । अकेले कैसे पृथ्वी ले आये और अकेलों ने कैसे धर दी ? इन शंकाओं को मिटाने के लिये 'विष्वक् सेन' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आप एकांकी (अकेले) नहीं हैं । इन भगवान् के चारों तरफ सकल कार्य करने के लिये बड़ी ही सेना मौजूद है । जल पर धर देने का कारण बताने के लिये 'प्रजापति' विशेषण दिया है । और आप अन्तर्धान हो गये जिस का कारण 'हरि' शब्द से बता दिया है, यदि आप पधारते नहीं तो प्रजा स्वतंत्रता से व्यवहार नहीं करासकती थीं ।। ४८ ।।

आभास—प्रकरणं समाप्तमिति सूचयितुमेतच्छ्रवणस्य फलमाह त्रिभिः—

आभासार्थ—यह प्रकरण समाप्त हुआ इसकी सूचना देने के लिये तीन लोकों से इस प्रकरण के श्रवण का फल कहते हैं:—

श्लोक—**य एवमेतां हरिमेधसो हरेः कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।**
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं जनार्दनोऽस्याऽऽशु हृदि प्रसीदति ।।४६।।

श्लोकार्थ—जिस किसी की भी यदि हरि में बुद्धि है, वह जब कथनीय माया वाले हरि की कल्याण रूप कमनीय कथा का भक्ति से श्रवण करता है । अथवा अन्यों को श्रवण कराता है, तब जनार्दन भगवान् उस पर अपने हृदय में शीघ्र प्रसन्न होते हैं ।। ४६ ।।

सुबोधिनी—य एवमेतामिति । य एतां पूर्वोक्तां भगवतः सृष्टिरूपां लीलां **शृण्वीत श्रवयेत वा**, तयोर्भगवान् प्रसीदतीति फलम् । ननु दुःखनिवृत्तिः कथं न फलत्वेनोच्यत इत्याशङ्कयाऽऽह—**हरिमेधसो हरेरिति ।** भगवद्विषयिणी स्वकीयैव बुद्धिः सर्वं दुःखं हरति, भगवानपि हरति स्वतन्त्रतया अस्मृतोऽपि । एवं सति दुःखनिवृत्तिः स्वत सिद्धा कथं फलत्वेन वक्तव्येत्यर्थः । ननु स्वर्गादिः कथं नोच्यते ? तत्राऽऽह **सुभद्रामिति ।** सर्वेभ्यः स्वर्गादिभ्योऽपि कथैव सुभद्रा, अतिकल्याणरूपा । पूर्णानन्दरूपेति यावत् । ननु कथमुच्यते सर्वत्र फलत्वेन स्वर्गादिः ? तत्राऽऽह—**कथनीयमायिन इति** कथनीया माया अस्याऽस्तीति । सर्वेषां वाचि माया वर्तत इति यथासुखं वदन्तीत्यर्थः । विहितत्वात् श्रवणकीर्तनेन धर्मो भवतीति, तस्याऽभ्युद—

यनिःश्रेयसहेतुत्वं सिद्धमिति, तन्निराकरणार्थं श्रवणकीर्तनयोर्भक्तित्वख्यापनाय मध्ये भक्त्येति-पदम् । भक्त्या प्रेम्णा । अत एव क्रियाद्वयमपि च्छान्दसम्, शृणुयात् श्रावयेदित्यर्थः । प्रत्येकं हेतुत्वज्ञापनार्थं वाशब्दः । श्रवणं तुस्वरूप—सौन्दर्यादेव भविष्यतीत्यर्थः । तदाह-उशतीमिति । उशतीं कमनीयाम् अविद्यानाशकस्तस्य हृदय एव प्रसन्नो भवति ॥ ४९ ॥

व्याख्या—जो इसके पहले कही हुई भगवान् की सृष्टि रूप लीला का श्रवण करे या जो करावे उन दोनों पर भगवान् प्रसन्न होते हैं । यह फल है । भगवान् की प्रसन्नता को फल कहने से दुःख निवृत्ति को क्यों नहीं फल कहा जाता है ? इस शंङ्का पर कहते हैं । कि 'हरिमेधसो हरे' भगवान् के विषय वाली अर्थात् जो बुद्धि भगवान् में ही आसक्त है । वह अपनी ही बुद्धि स्वयं समस्त दुःखों का हरण कर लेती है । ऐसे मनुष्य के दुःखों का स्मरण न करने पर भी भगवान् स्वतन्त्रता पूर्वक स्वतः (अपने आप) हर लेते हैं । जब यों दुःख की निवृत्ति स्वतः सिद्ध है तो उसको फल रूप कैसे कहा जावे ? तो स्वर्ग आदि को फलरूप क्यों नहीं कहा जाता है ? इसके उत्तर मैं कहते हैं, कि 'सुभद्रां' अर्थात् सकल स्वर्ग आदि सुखों से भी भगवत्कथा विशेष कल्याण रूप हैं । अर्थात् पूर्णानन्द रूप है । आप यों कैसे कहते हो ? सर्वत्र स्वर्गादि ही फल रूप से कहे हैं इस पर 'कथनीय मायिनः' विशेषण दिया है । इस आपकी माया के गुण सब गा रहे हैं । सुख पूर्वक बोल रहे हैं । शास्त्र में विधान है कि श्रवण और कीर्तन से धर्म होता है । धर्म से ही अभ्युदय (उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त होता है । केवल श्रवण और कीर्तन धर्म से सिद्धि के निराकरण के लिये श्रवण कीर्तन का भक्तिपन प्रसिद्ध करने के लिये मध्य में 'भक्तया' पद दिया है । जिसका तात्पर्य है 'भक्तया' प्रेम से अर्थात् श्रवण कीर्तन भी प्रेम से करने पर भक्तिरूप होते हैं और तब आनन्द देते हैं । अतः एवं यहाँ 'श्रण्वीत' और 'श्रवयेत' ये दोनों क्रियाएँ वैदिक कही है जिसका अर्थ भाव) है सुने और सुनावे प्रत्येक फल देने वाली है इसलिये 'वा' पद दिया है । 'श्रवण' तो कथा के स्वरूप को सुन्दरता से होता है । वह 'उशती' पद से सूचित किया है । 'उशती' का अर्थ कमनीय है । प्रभु का नाम यहां जनार्दन देकर सूचित किया है कि वे अविद्यानाश करने वाले भगवान् हैं उन का हृदय ही प्रसन्न होता है 'जिसका भाव है कि हृदय की प्रसन्नता ही सम्पूर्ण प्रसन्नता की सूचक है ॥४९॥

आभास—ततः किं स्यादतआह —

आभासार्थ—उससे क्या हो? ऐसे प्रश्न पर निम्न श्लोक कहा है ।

श्लोक—**तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।**
अनन्यदृष्टया भजतां गुहाशयः स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—सकल के आशिषों के देने की शक्ति वाले प्रभु के प्रसन्न होने के बाद क्या नहीं मिल सकता है अर्थात् सब कुछ प्राप्त होता है । अतः तुच्छ कामनाओं से कौनसा प्रहोजन है ? हृदय को जानने वाले प्रभु पुरुषोत्तम स्वयं अनन्य भक्तों को अपना परम पद स्वतः देते हैं ॥५०॥

सुबोधिनी--तस्मिन्प्रसन्न इति। तस्य प्रसाद एव दुर्लभः, प्रसन्ने न किञ्चिद् लभम्। तत्र हेतुः-**सकलाशिषाँ प्रभाविति**। ऐहिकामुष्मिक-मोक्षाणां प्रभुः स्वामी तियन्ता। अनेन सर्वमेव तस्य भगवति प्रसन्ने सिद्धमेवेति ज्ञापितम्। ननु भगवद्भक्तानामपि सर्वविषयाभावो दृश्यते, तत् कस्य हेतोस्तत्राऽऽह--**ताभिर्लवात्मभिरल-मिति**। क्षणमात्रं सुखाभासजनकैर्विषयैरलम्। तर्हि कदाचिदुत्पन्ना विषयेच्छा भक्तानामपूरिता स्यादित्याशङ्क्याऽऽह-**अनन्यदृष्टचेति**। **गुहाश-**यस्तेषां हृदय भिप्रायवित्, स्वयमेव **गतिं** वैकुण्ठाख्यां **विधत्ते**। **पर इति** पुरुषोत्तमः। **परामिति** स्वसदृशं करोतित्यर्थः। यथा स्वस्य भोगे न काऽपि न्यूनता, तथा तस्याऽपीति भावः। परमनन्यदृष्टचा भजनं कर्तव्यम्, भगवदर्थमेव भगवान् सेव्यः ।। ५० ।।

व्याख्या--प्रभु प्रसन्न हो पहले यही दूर्लभ है यदि वे प्रसन्न हुवे तो बाद में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। जिसमें कारण है कि आप को सब आशिषों को देने में शक्ति शाली विषेशण दिया है इस लोक एवं परलोक के फल, मोक्षादि के प्रभु स्वामी, अर्थात् नियन्ता हैं, इससे यह बताया है कि उस भगवान् के प्रसन्न होने पर सब कुछ सिद्ध ही हुआ है यों समझ लेना चाहिये भगवद्भक्तों में भी सर्व विषयों का सुख नहीं दीखता है, अर्थात् उनको भी सर्व सुख प्राप्त नहीं है। उसका 'ताभिर्लवात्मभिरलं' क्या कारण हैं? इस पर कहते हैं। कि उन क्षणमात्र सुखाभास देने वाले विषयों से भक्तों का कोई प्रयोजन नहीं है, तो अचानक कभी उत्पन्न विषयों की इच्छा भक्तों की पूर्ण नहीं होगी इस का उत्तर देते हैं। अनन्यदृष्टया' वे भक्त हरि के सिवाय कुछ नहीं चाहते हैं, उनकी दृष्टि तो केवल आनन्द रूप हरि की लीलाओं में ही है, और भगवान् भी 'गुहाशय' हैं जिससे उनके हृदय के भावों को जानते ही हैं, अतः स्वयं ही उनकी वैकुण्ठ नाम वाली गति करते हैं। 'पर' पद से पुरुषोत्तम का सूचन किया है। 'परां' पद का आशय है कि अपने समान उनको बना देते हैं, अर्थात् जैसे स्वयं भगवान् के योग में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है वैसे ही भक्त के भी भोग में कमी नहीं करते है किन्तु अनन्य दृष्टि (भाव) से भजन करना चाहिये, भगवान् प्रसन्न हो उनको किसी प्रकार श्रम न होवे इस भावना से ही भगवान् की सेवा चाहिये ।। ५० ।।

आभास--नन्वेवं सति महाफखं भगवत्कथाश्रवणं यथा निर्वहति, तथोपायो वक्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह---

आभासार्थ—यदि यों है तो बताइये कि भगवत्कथा श्रवण से उत्तम फल कैसे प्राप्त होगा? इस पर उत्तर में यह श्लोक कहते है--

श्लोक----**को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्पुरा कथानां भगवत्कथामुधाम्।**
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो! विरज्येत विना नरेतरम् ।। ५१ ।।

श्लोकार्थ—संसार में नरेतर (पशुओं के) सिवाय, पुरुषार्थ के सार को जानने वाला कौन मनुष्य होगा जो भव (संसार) को नाश करने वाली पुराने भगवच्चरित्र

रूप सुधा का कर्णपुटों से स्वल्प (थोड़ा) भी पानकर फिर उनसे मन को हटा सके ? ॥ ५१ ॥

सुबोधिनी—को नाम लोक इति । नाऽत्रोपायो वक्तव्यः, कथासौन्दर्यमेव सहजं तत्र हेतुः। ये भगवत्कथारसिकास्ते प्रवर्तन्त एव, ये वृषभास्ते उपेक्षणीया एव । अथ प्रवृत्ताः कियत्कालानन्तरं कथां परित्यज्य रसान्तरे प्रविष्टा भविष्यन्तीति, तेषां रसान्तरव्यावृत्त्यर्थमुपायो वक्तव्य इति चेत्, तादृशो नाऽस्तीति निरूपयति—**को नाम प्रसिद्धः** । कोऽपि **लोके** माहात्म्यमज्ञात्वाऽपि, स्वतन्त्रो भूत्वा, पुरुषार्थानां सारासारविभागविदपि भूत्वा, **पुरा कथानां** पूर्ववृत्तान्तानां मध्ये **भगवत्कथासुधां** निपीय प्रसङ्गादपि भगवत्कथां श्रुत्वा, तस्या माधुर्यं मृत्युनिवर्तकत्वं च ज्ञात्वा । तत्रापि भगवत्कथावक्तृमुखान्निःसृतां कथां **परितः शृण्वन्** अक्षरमात्राऽभिप्रायमप्यत्यजन् विरज्येत, को वा अलमिति मन्येत ? ब्रह्मसायुज्यमप्राप्तः । यत इयं कथा **भवापहा** । ननु विरक्ता अपि लोके दृश्यन्ते तत्राऽऽह—**अहो** इत्याश्चर्यमेतत् । अत्र को हेतुरिति जिज्ञासायां स्वतः स्फुरितं हेतुमाह—**विनेति** । स प्रायेण नर एव न भवति, वानरो वा अन्यो वेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्ष्मण भट्टात्मज श्रीमद्वल्लभ दीक्षित विरचितायां तृतीय स्कन्धे त्रयोदशाध्याय विवरणम् ।

व्याख्या—कथा श्रवण से महाफल प्राप्ति हो ऐसा उपाय कहिये जिसके उत्तर में कहते हैं कि इस विषय में उपाय नहीं करना चाहिये क्यों कि कथा श्रवण में कथा की सुन्दरता हेतु(कारण)है और महाफलदाता है। जो भगवत्कथा श्रवण के रसिकजन हैं वे स्वतः उसमें प्रवृत्त हो जाते हैं। जो बैल हैं वे उपेक्षणीय ही (तिरस्कार के पात्र) है यदि कहो कि कथा श्रवण प्रवृत हो कुछ समय के बाद उस कथा का त्याग कर दूसरे रस में प्रविष्ट होते हैं। उनकी अन्य रस मे निवृत्ति होवे तदर्थ तो उपाय कहना चाहिये इस पर कहते हैं कि ऐसा कोई है ही नहीं, यों निरूपण करते हैं, कि 'कोनाम' कौनसे प्रसिद्ध पुरुष का मन कथा मे उठ गया है, वे बताइये तो सही? लोक में माहात्म्य जानकर भी स्वतंत्र होकर पुरुषार्थों के सार को विभाग के जानकार होकर भी भगवान् के पुराने चरित्रों की सुधा का पान कर, प्रसंगानुसार भगवत्कथा का श्रवण कर उसकी मधुरता तथा मृत्यु निवर्त्तकत्व जानकर उसमें भी भगवत्कथा वाचक के मुख से निकली हुई सुनते हुए अक्षर और मात्रा के आशय भी न छूटें ऐसी अवस्था हो तो फिर कैसे मनुष्य उसमे विराम पावे ? कोई नहीं सिवाय उसके कि जिसने इस रस का पान न कर ब्रह्म सायुज्य नहीं पाया है, क्योंकि यह कथा संसार (आवागमन) को मिटाने वाली है।

लोक में कथा से विरक्त जन भी देखने में आते है। इस पर 'अहो' पद कहा है कि यह तो आश्चर्य है, मनुष्य होकर कथा से विरक्त है इसका कौनसा कारण हैं, इस जिज्ञासा के होने पर स्वतः स्फुरित हेतु कहते हैं कि वह प्रायः नर (मनुष्य) ही नहीं है, किन्तु वानर (बंदर) या अन्य कोई पशु आदि है। ५१ ॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के त्रयोदश अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

सूर विनय के पद

राग सोरठ:—

ग्रौर न जानै जन की पीर ।
जब जब दीन दुखित भये तब तब कृपा करी बलवीर ॥
गज बल हीन विलोकि बतहु दिश तब सुख शरण परो ।
करुणा सिन्धु दयालु दरश दै सब सन्ताप हरो ॥
मागध मथे हते नृप बन्धन मृतक विप्र सुत दीनों ।
गोपीगाय गोप गोसुत लगि सात द्योम गिरि लीनो ॥
श्री नृसिंह बपु धारि ग्रसुर हति भगत वचन प्रति पारो ।
सुमिरत नाम द्रुपद तन या कह पट समूह तन धारो ॥
मुनि मद मेटि दास व्रत राख्यो ग्रंबरीष हित कारी ।
लाक्षा गृह बन बसतु सैन्य तें पड़ि विपति निबारी ॥
वरुण पास नृपति मुकराये दावानल दुख टारो ।
गृह ग्रपनें वसु देव देवकी कंस महा खलु मारो ॥
सोइ श्रीपति जुग जुग सुमिरन बस वेद बिसद जस गावै ॥
ग्रशरण सूर शरण जाचत है कोऊ सुरति करावै ।

राग धनाश्री:—

माधो गज ग्राह तें छुड़ायो ।
निगमनि हु मन वचन ग्रगोचर प्रकट स्वरूप दिखायो ॥
शिव विरञ्चि सुरपति सब देखन बहुत दिननि दुख पायो ।
बिनु बदले उपकार छपन कों काहू करत न ग्रायो ॥
चितवत ही चित में चिन्तामणि चक्र लिये कर धायो ।
ग्रति करुण कातर करुणानिधि गरुड़ों जिहि बिसरायो ॥
सुनियत जश जुगजुग जन कारण कबहुं गहरु न लायो ।
ना जानिये सूर यहि ग्रौसर कौन दौष बिसरायो ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

(बन्ध सृष्टि) मतान्तर प्रकरण

"अध्याय"—१४

दिति का गर्भ धारण

कारिका—वर्णिता सर्गलीलाऽत्र त्रिविधा भगवत्कृता ।
उपोद्घातस्तु तस्या वै, मतान्तरमिहोच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस स्कन्ध के (१२) बारह अध्यायों में भगवान् की की हुई तीन प्रकार की सृष्टि का वर्णन किया। फिर उस लीला का तेरहवें अध्याय में उपोद्घात कहा, अनन्तर उस उपोद्घात की लीला से सम्बन्ध वाला मतान्तर का यहां निश्चय से कहा जाता है ॥ १ ॥

कारिका—लौकिकी चाऽन्यभाषा च समाधेः पोषिके तु ते ।
ते प्रमाणमभिप्रायात्तु सर्वथा पूर्ववन्न हि ॥ २ ॥

कारिकार्थ—लौकिकी और दूसरी (परमत्त) भाषा, वे दोनों भाषाएँ समाधि भाषा की पोषक हैं। वे दोनों अभिप्राय से प्रमाण है समाधि भाषा की तरह पूर्णतः प्रमाण नहीं है ॥ २ ॥

कारिका—यदेव भिन्नरीत्याऽत्र रूप्यते तन्मतान्तरम् ।
न तद्विरोधो दोषाय पदशास्त्रार्थयोः क्वचित् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—पृथक् प्रकार से कहा गया है वह ही 'परमत' है यदि उसमें (परमत में) शास्त्र तथा अर्थ से विरोध देखने में आवे तो उससे कुछ दोष नहीं समझना चाहिये ॥ ३ ॥

कारिका—कामेन क्रोधलोभाभ्यां कर्ममार्गादिनाशनम् ।
वर्ण्यते येन जीवानां मुक्तानामिह सम्भवः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—काम क्रोध और लोभ से कर्म मार्ग आदि के नाश का वर्णन करने में आता है जिससे यहां मुक्त जीवों की उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

कारिका—**सर्गस्थित्यन्तकथनं त्रिभिस्तेषां निरूप्यते ।**
अतः षड्भिरिहाऽध्यायैः सर्गोपोद्घात उच्यते ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—मुक्त जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश, प्रथम तीन अध्यायों में कहा है, अतः यहां छः अध्यायों से सृष्टि का उपोद्घात कहा है ॥ ५ ॥

कारिका—**मतान्तरे शिवोत्कर्षो ब्राह्मणोत्कर्ष एव च ।**
भक्तस्य विष्णोश्चैवाऽत्र लीला व्यामोहिका मता ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—यह मतान्तर है इसमें चार कारण बताये हैं, १- शिव का उत्कर्ष, २- ब्राह्मणों का उत्कर्ष, ३- भक्त की लीला और ४- विष्णु की लीला मोह में डालने वाली है ॥ ६ ॥

कारिका—**अन्यथा भगवल्लीला सर्गो नैव भवेद्ध्रुवम् ।**
चतुर्दशे तु कामेन कर्मनाश इहोच्यते ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—यदि[1] यों न होवे तो यह सृष्टि भगवान् की लीला न बने । चौदहवें अध्याय में कर्म का नाश 'काम' से हुआ है ॥ ७ ॥

कारिका—**आधारकथनं त्वादौ गर्भे जीवस्य संक्रमः ।**
तामसः काम एषो हि ततोऽत्र शिवसंकथा ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—पहले आधार (गर्भ स्थिति का आश्रय-दिति) का वर्णन किया है और जीव का गर्भ में आना बताया है, यह काम तामस है जिससे यहां शिव की कथा कही गई है । ८ ॥

कारिका—**क्रोधोऽपि कामसबन्धी प्रसादो भक्तिहेतुकः ।**
पूर्वाध्याये वराहस्य चरित्रं तु निरूपितम् । ९ ॥

कारिकार्थ—क्रोध भी काम का सम्बन्धी (साथी) है, भक्ति का कारण प्रसन्नता है पहले अध्याय में वराह का चरित्र कहा ही है ॥ ९ ॥

आभास—तत्र हिरण्माक्षवधः संक्षेपेण निरूपितः, तं विस्तरेण श्रोतुं भगवतो युद्धलीलायामासक्तमनाः विदुरः पृच्छतीत्याह—

१—जो कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्ग का नाश न हो तो भगवान् अवतार ही न लेवे, जो व्यामोहिका लीला न करें तो मुक्त जीव उत्पन्न न होवे तो सृष्टि कर्म से ही हुई मानी जावे और भगवान् की लीला से न होय । (प्रकाश)

आभासार्थ—वहाँ (तेरहवें अध्याय में) हिरण्याक्ष का वध संक्षेप में कहा है भगवान् की युद्ध लीला में विदुर का मन आसक्त है इसलिए विस्तार से वह चरित्र पूछता है—

श्लोक-श्रीशुक उवाच । निशम्य कौषारविणोपवर्णितां हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलिर्न चाऽतितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ।। १ ।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि जिस की देह में यज्ञ मौजूद हैं ऐसे सूकर रूप हरि की कथा विदुर जी कौषारवि से सुनकर भी फिर हाथ जोड़ नम्रता से वह कथा विशेष रूप से पूछने लगे क्योंकि कथा से पूर्ण तृप्त नहीं हुवे थे तथा कथा श्रवण का ही व्रत धारण किया था ।। १ ।।

सुबोधिनी—निशम्येति । कौषारविणेति पितृसंबन्धात् युद्धलीलां कथयिष्यतीति ज्ञापितम् । हरेरिति तत्र च क्लेशाभावः । कारणभूतो यः सूकरो यज्ञः स आत्मनि यस्य । अनेन वराहावतारस्वरूपं तेन ज्ञातमिति सूचितम् । वराहावतारकथा पूर्वं पृष्टा, प्रकारान्तरेण पुनः पृच्छति - उद्यताञ्जलिरिति । कथां भिक्षामिव प्रार्थयति । तथा प्रार्थने हेतुः न चाऽतितृप्त इति । विदुर इति देशकालाभिज्ञत्वेन निपुणता । अवश्यप्रश्ने हेतुः—धृतव्रत इति । स हि धृतभगवद्व्रतः, भगवत्कथाश्रवणव्यतिरेकेण स्थातुं न शक्नोति ।। १ ।।

व्याख्या—मैत्रेय नाम न कहकर कौषारवि पिता के नाम से पूछने का कारण यह है कि पिता के सम्बन्ध दिखाने पर युद्ध लीला जिसके सुनने की मुझे इच्छा है वह बताएंगे 'हरेः' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् की युद्ध लीला है यह क्लेश नहीं देगी किन्तु आनन्द ही देगी किन्तु कारणभूत जो सूकर यज्ञ है वह जिसकी देह में है यों कहने से यह सूचित किया है कि विदुर जी ने वराहावतार का स्वरूप जाना है, यद्यपि वराहावतार की कथा पहले पूछी एवं सुनी भी है तो भी फिर दूसरे प्रकार से पूछते हैं, 'उद्यताञ्जलिः, जैसे हाथ जोड़ कर किसी वस्तु की भीख मांगी जाती है, उसी तरह ही कथा सुनाने की प्रार्थना करते हैं यों प्रार्थना करने का कारण यह है कि कथा श्रवण से पूर्ण तृप्त नहीं हुए हैं विदुरजी ने देश तथा काल को जानने से निपुणता प्राप्त की है, यह प्रश्न साधारण रीति का नहीं किन्तु आवश्यक है जिसका कारण यह है कि विदुरजी का हरि की कथा ही सुननी अन्य कुछ नहीं सुनना ऐसा व्रत लिया हुआ था, अतः उसको सुने बिना इसकी स्थिति नहीं रहती । १ ।।

आभास— संक्षेपेण पूर्वोक्तां प्रकृतोपयोगिनी भगवत्कथामनुवदति—

आभासार्थ—पहले संक्षेप में कही हुई कथा चालू प्रसंग में भी उपयोगी होने से फिर भगवत्कथा का अनुवाद करता है (फिर कह कर सुनाता है)

श्लोक—विदुर उवाच । तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ ! हरिणा यज्ञरूपिणा ।
आदिदैत्यो ।। २ ।। हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ।। २ ।।

श्लोकार्थ—विदुरजी ने कहा –हे मुनि श्रेष्ट ! उस ही यज्ञ रूप हरि ने आदि दैत्य हिरण्याक्ष का वध किया यों सुना है ।। २ ।।

सुबोधिनी—तेनैव त्विति । तेनैव वराहेणैव । मुनिश्रेष्ठेति ज्ञाने हेतुः । हरिणेति विरोधः, कथं सर्वदुःखहर्ता तं मारितवानिति । एतद्विरोधपरिहारार्थमेव बहु वक्तव्यम् । यज्ञरूपिणेति । दैत्यत्वान्मारणस्याऽवश्यम्भावः । आदिदैत्य इति पदद्वयं मारणे अमारणे च हेतुः । आदित्वात् दैत्यानां मूलोच्छेदक एव स्यात् । हिरण्याक्ष इति । हिरण्यरूपे अक्षिणी यस्य । अनेन तस्य निधिरूपत्वं प्रदर्शितम् । एतदप्यमारणे हेतुः, मारणे वा । तद्दृष्टिस्पष्टभूमौ सुवर्णत्वसम्भवात् सर्वसुवर्णत्वे अमृतत्वेन सृष्टिर्नस्यादिति । अनुश्रवणमुच्चारणानन्तरम्, भ्रमात् श्रुते उत्तरासम्भवात् ॥ २ ॥

व्याख्या–विदुरजी ने कहा मुनिश्रेष्ठ ! इस सम्बोधन से यह बताया है कि इनको (मैत्रेयजी को) इस विषय का ज्ञान है 'तेनैव'–उस (वराह) ने 'हरि' (दुःख हर्ता) होते हुए वध का कार्य किया जो उनके विरुद्ध है। हरि होके इसका (हिरण्याक्ष का) वध कैसे किया ? हरि तो सबके दुःखों को मिटाते हैं स विरोध का मिटाने के लिये बहुत कहना चाहिये, 'यज्ञ रूपिणा' हरि होते हुए भी यज्ञरूप थे हिरण्याक्ष दैत्य था, अतः मारना आवश्यक था 'आदि दैत्यः' इन दो पदों से मारना या न मारना दो भाव बताए हैं 'आदि' शब्द से न मारने का भाव बताया है क्योंकि यह दैत्यों की आदिमूल होने से इसके वध से दैत्यों की जड़ नष्ट हो जायेगी 'हिरण्याक्ष' नाम से सूचित किया है कि इसके नेत्र हिरण्य (अमृत) रूप हैं यह भी इसके न मारने का कारण बताया है किन्तु इससे उसको मारना चाहिये यों भी सूचित किया है; क्योंकि इसको दृष्टि जिस पृथ्वी पर पड़ेगी वह अमृतमय हो जायेगी तो फिर सृष्टि हो नहीं सकेगी[1] अनुश्रवणं उच्चारण के बाद भ्रम से सुना हो अर्थात् पूर्ण रीति से (समझ से) सुनने में नहीं आया हो तो इसका उत्तर देना असम्भव है ।।२।।

आभास--अथ प्रतिबन्धकत्वेन समागतो हत इति पक्षेणाऽस्य कथं प्रतिबन्धकत्वमिति पृच्छति—

आभासार्थ—वराहजी ने हिरण्याक्ष का वध इसलिए किया कि वह आपके कार्य में प्रतिबन्धक होने के लिये आया था, अतः विदुरजी पूछते हैं कि वह कैसे प्रतिबन्धक हुआ ?

१–हिरण्य का अर्थ अमृत है जब सृष्टि के जीवों पर हिरण्याक्ष की अमृतमयी दृष्टि पड़ती तो वे अमर हो जाते जबकि सृष्टि में मरण धर्म मुख्य है इस प्रकार सृष्टि नहीं बन सकती थी ।

श्लोक—**तस्य चोद्धरतः क्षोणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया ।**
दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् ! कस्माद्धेतोरभून्मृधः ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! अपनी दंष्ट्रा की नोक से खेल में पृथ्वी को ऊपर ले आते हुए उस (वराह) की दैत्यराज (हिरण्याक्ष) से किस कारण लड़ाई हुई ? ।।३।।

सुबोधिनी—**तस्य चोद्धरत इति** । द्वयोः संबन्धिनोः षष्ठ्या निर्देशः संबन्धदार्ढ्यार्थः एकः कार्यसाधकः कौतुकी, अपरो दैत्यराजत्वात् सिद्धसमस्तार्थः ! अतः स्वभावतः कलहहेतोरभावात् **कस्माद्धेतोरभून्मृध** इति प्रश्नः ।। ३ ।।

व्याख्या—दोनों (वराह और हिरण्याक्ष) के लिये एक ही षष्ठी विभक्ति से यह सूचित किया है कि दोनों का सम्बन्ध दृढ एवं समान है एक ने रमण करते हुए अपना कार्य पूर्ण किया है, अर्थात् वराहजी के लिए भूमि का उद्धार खेल के समान था और दूसरे हिरण्याक्ष को सर्व पदार्थ स्वतः प्राप्त थे क्योंकि दैत्यराज था अतः परस्पर युद्ध का कोई कारण नहीं था फिर भी लड़े जिसका क्या कारण था ? इसी प्रकार का प्रश्न है ।।३।।

आभास—भगवत्कथाभिनिविष्टं दृष्ट्वा तमभिनन्दति मैत्रेय—

आभासार्थ—मैत्रेयजी ने देखा कि विदुर की वृत्ति भगवत्कथा श्रवण की ही है अतः उसका अभिनन्दन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**मैत्रेय उवाच—साधु वीर ! त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः ।**
यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविनाशिनीम् ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा—हे वीर ! तुमने जो प्रश्न किया है वह श्रेष्ठ है क्योंकि भगवान् के अवतार की कथा पूछी है भगवत्कथा, मरने वालों के मृत्युपाश को तोड़ देती है अतः प्रश्न तो साधु है ही, पूछने वाला भी साधु है ।। ४ ।।

सुबोधिनी—**साधु वीरेति** । **वीरेति** संबोधनं तादृशलीलायां मनसोऽभिनिवेशद्योतकम् । यथाकथञ्चिदपि मनोनिवेशने कृतार्थो भवेदिति **त्वया साधु पृष्टम्** कर्म पूर्वोक्तमेव साधुत्वेन निर्दिष्टम् । पृष्टस्य वा साधुत्वं विधीयते । सर्वथैव तद्वाक्यं भिन्नम् । साधुत्वमुपपादयति—यद्यस्मात्कारणात् **हरेरवतारकथां पृच्छसि** । साधवो हि परदुःखनिवारकाः । प्रश्नस्य साधुत्वं विषयसाधुत्वात् । विषयस्य कथारूपस्य साधुत्वमुपपादयति-**मृत्युपाशविनाशिनीमिति** । मृत्योः पाशं विनाशयतीति ।। ४।।

व्याख्या—हे वीर ! इस संबोधन से यह प्रकट किया है कि मरने वालों की मृत्यु को नाश

करनेवाली कथा में मन को लगाना ही वीरत्व है वह तुमने किया है अतः तुम वीर हो, लोक में यदि कोई थोड़ासा भी मन भगवत्कथा में लगावे तो कृतार्थ हो जावे इसलिए तुमने श्रेष्ठ प्रश्न किया है पूर्वोक्त कर्म ही साधु (श्रेष्ठ) है यों दिखाया है, सर्वथा हि वह वाक्य पृथक है प्रश्न की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हैं कि, हरि की कथा का ही प्रश्न किया है जो भी साधु है वे दूसरों के दुःखों को मिटाते हैं। विषय साधु (श्रेष्ठ) होने से प्रश्न भी साधु हो जाता है। विषय भगवत्कथा है वह साधु इस कारण से है, कि मरणशीलों की मृत्यु का नाश करती है ।।४।।

आभास—मृत्युपाशविनाशित्वमुपपादयति—

आभासार्थ—भगवत्कथा मृत्यु के बन्धन की नाश कारिणी है इस श्लोक में यह सिद्ध करते हैं—

श्लोक—यथोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयाऽर्भकः ।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ।। ५ ।।

श्लोकार्थ—मुनि की गाई हुई हरिकथा से उत्तानपद का बालक पुत्र मृत्यु के शिर पर चरण धर कर हरि के पद को प्राप्त हुआ ।। ५ ।।

सुबोधिनी—यथेति । यया कथया उत्तानपदः पुत्रोध्रुवो मुनिना नारदेन गीतया सुखार्थमपि श्रुतया मृत्योर्मूर्ध्नि अङ्घ्रि कृत्वा स्थापयित्वा हरेः पदमारुरोह । स हि ध्रुवः शरीरमत्यक्त्वैव ध्रुवपदं गतः । वीरः स्ववीर्येणाऽभिनिवेशित-चित्तः कथायां भवति तपस्तु पूर्वसिद्धमेवेति तस्य न मृत्युनाशकत्वम् । भगवत्प्रसादोऽपि कथाया व्यापाररूपत्वान्न भिन्नतया साधकः । अतो नारदोपदिष्टः सर्व एव मार्गः कथारूपो जातः । यद्यपि मात्रा भजनमुपदिष्टम्, तदपि मुनिनैव निर्द्धारितम् । भजनकथाश्रवणयोः प्राप्ताप्राप्त-विवेके क्रियमाणे तपस्यादेरप्रयोजकत्वात् कथा-भिनिवेश एव फलसाधकः । तत्राप्यभिनिवेशस्य स्वरूपमध्यपातात् भिन्ना कथैव हेतुः । उत्तानः पादो यस्येति । पूर्वं सोऽपि ऊर्ध्वपादस्तपः कृतवानिति ज्ञायते । तादृशस्याऽपि नरकरक्षको जात इति स्वपरपुरुषार्थसाधकत्वं कथाया निरूपितम् अर्भक इति कालादेरसाधकत्वम् । विमाने समागते देहं त्यक्ष्यतीति बुद्ध्या मृत्युरपि समागतः, तदा कथाव्याप्तदेहस्य भगवच्चरणारविन्दच्छायया शान्तस्य हेयत्वाभावात्, मृत्युनोत्तोलितदेहो विमानपर्यन्ते मृत्योर्गमनाभावमाशङ्क्य तस्य मस्तके पादं दत्वा तेनैव शरीरेण विमानम्, पश्चाद्ध्रुवलोकं चाऽऽरुरोह । अतः कथाऽभिनिवेशोमहाफलः, स विदुरे जात इत्यभिनन्दनम् ।

।। ५ ।।

व्याख्या—नारद मुनि की गाई हुई कथा सुख प्राप्त करने के लिये, भी सुनकर, उत्तानपद के बालक पुत्र ध्रुव ने देह सहित मृत्यु के शिर पर चरण धर कर हरि के ध्रुव पद को प्राप्त किया जो वीर होता है वह ही अपने वीर्य (बहादुरीसे) कथा में चित्त को आसक्त करता है ध्रुव ने

तपस्या की जिससे हरि पद प्राप्त किया होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि तपस्या तो पूर्व सिद्ध थी जिस कारण से ऐसे महत्कुल में जन्म हुआ था, तपस्या से मृत्यु का नाश नहीं होता है भगवत्प्रसाद (अनुग्रह) भी कथा का ही व्यापार(सम्बन्धी)होने से साधन है केवल साधन नहीं है, भला तभी भजन से हरिपद प्राप्त हुआ होगा,?यद्यपि माता ने भगवद्भजन का उपदेश दिया किन्तु उसका भी निर्णय मुनि ने हो किया, भजन और कथा श्रवण के प्राप्ति और अप्राप्ति का जब विवेक पूर्वक विचार किया जाता है तब यही सिद्ध होता है कि तपस्यादि मृत्यु पर विजय पाने में अप्रयोजक है कथा में अभिनिवेश(प्रवेश) ही फल साधक है। कथा में अभिनिवेश स्वरूप मध्यपाती होने से केवल कथा ही मृत्यु से विजय पाने का कारण है, अतः नारद जी से दिया गया उपदेश समग्र ही मार्ग कथा रूप हुआ, 'उत्तानपद' का भावार्थ है जिसका पाद(चरण)ऊँचा किया हुआ है पहले उसने भी उर्ध्वपाद हो तपस्या की थी यों समझा जाता है, ऐसे उसका भी नरक से रक्षक ध्रुव हुआ, इसलिये अपने और दूसरे के पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली कथा ही है यों निरूपण किया है वह (ध्रुव) अब अर्भक(बालक) ही था काल आदि साधक नहीं थे. विमान आने पर मृत्यु ने समझा कि अब देह का त्याग करेगा अतः देह को लेने के लिये मृत्यु भी आ गई, किन्तु उसकी (ध्रुव) की देह तो भगवत्कथा से व्याप्त थी जिससे भगवच्चरणारविन्द की छाया से देह शान्तरूप हो गई थी इससे उसका त्याग हो नहीं सकता था, यद्यपि मृत्यु ध्रुव की देह को उठाने का प्रयत्न करे तो भी विमान तक पहुँचने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी, इस कारण से ध्रुव से स्वयं मृत्यु के सिर पर चरण धर कर उस ही शरीर से विमान पर पहुंचा फिर विमान द्वारा ध्रुव लोक में चढ़ गए अतः कथा में अभिनिवेश (प्रवेश) ही महाफल है वह (अभिनिवेश) विदुर में भी है इसलिए मैत्रेयजी ने विदुर का अभिनन्दन किया है ।। ५ ।।

आभास—यस्मिन् कल्पे वराहहिरण्याक्षयोर्युद्धकथा अतिसमीचीना, तां वक्तुं प्रक्रियान्तरमारभते—

आभासार्थ—जिस कल्प में वराह और हिरण्याक्ष के युद्ध की कथा बहुत सुन्दर थी, उसका वर्णन करने के लिये निम्न श्लोक में दूसरी प्रक्रिया (तरीका) प्रारम्भ करते है—

श्लोक—अथाऽत्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा ।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम् ।। ६ ।।

श्लोकार्थ—अब इस विषय में भी देवों के देव ब्रह्मा ने जो देवों के पूछने पर किया था वह इतिहास मैंने सुना है ।। ६ ।।

सुबोधिनी—अथेति । अत्राऽप्ययमितिहासः पूर्वं मया श्रुतः, इतिहासत्वात् । व्यासात्, पराशराद्वा । वेदसारोद्धारः समाधिभाषायाम्, इतिहाससारोद्धारो मतान्तर इति विवेकः इतिहासः पुरावृत्तकथा, गर्वहेतुर्हास्यहेतुर्वा, आश्चर्याश्रयरूपता वा । **अयमिति** बुद्धचुपस्थितः । पुरा ब्रह्मणा देवानामनुपृच्छतामर्थे वर्णित इगि पुरावृत्तत्वं समर्थितम् । ब्रह्मणा बालकचेष्टाया वर्णित-

त्वात् हासहेतुत्वम्, देवतानां निदानपरिज्ञापकत्वेन गर्वहेतुत्वम्, सर्वलीलायाश्च मुक्तजीवविषयत्वेन आश्चर्याश्रयत्वम् । गर्भास्थितौ जय विजयौ देवानां प्रश्नहेतुभूताविति तद्धेतुकथनार्थमयमध्यायः । प्रकरणस्याप्युपोद्घात इति ब्रह्मानुक्तोऽप्यर्थ उच्यते । उक्तो वा ततः संकृष्य हेतुत्वार्थं भिन्नतया निरूप्यते । **देवदेवेनेति** देवानामिष्टदेवत्वात् कथायाः प्रामाणिकत्वम् । **अनुपृच्छतामिति** तत्रापि भगवत्कथायामेव तैरपि पृष्टमिति ज्ञायते ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस विषय में भी यह इतिहास मैंने पहले व्यास वह पराशर से सुना है **क्योंकि** इतिहास है, समाधि भाषा और मतान्तर के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, जिस में वेद का सार समझाया गया हो वह समाधि भाषा जाननी चाहिये और जिसमें इतिहास का सार कहा गया हो वह मतान्तर जानना चाहिये यही विवेक है, इतिहास किस को कहा जाता है वह स्पष्ट करते हैं जो कुछ पूर्व के गर्व के हेतु वाले चरित्र हुवे हैं, अथवा हास्य के हेतु वाले चरित्र हुवे है और आश्चर्य में चकित (गलने वाले) चरित्र हुवे हैं इत्यादि पहले के हुवे चरित्रों को इतिहास कहा जाता है, 'अयं' का अक्षरार्थ यह है जिसका आशय जो सामने दिख रहा हो किन्तु इतिहास जो आगे (पहले) हुई बात है, अतः इसका आशय स्पष्ट करते हैं कि मेरी बुद्धि (समझ) में स्थित है अतः प्रत्यक्ष ही है आप कैसे कहते हैं ? यह इतिहास है ? जिसके समर्थन में कहते हैं कि, आगे देवों के पूछने पर ब्रह्मा ने यह कथा सुनाई थी, अतः यह चरित्र हुआ है जिससे कहा जाता है कि यह पुरावृत्त अर्थात् इतिहास है ब्रह्मा ने बालक की चेष्ठा (क्रिया) वर्णन की है अतः हास्य का हेतु है, देवों को कारण का परिज्ञान करानेवाली होने से गर्व का हेतु है । इस सर्ग लीला में उसका जन्म हुआ है जो 'जीव' मुक्त थे इसलिये आश्चर्य का हेतु है, देवों ने यह प्रश्न किया हे ? जिसका कारण 'जय विजय' जो मुक्त जीव थे वे गर्भ में क्यों और कैसे आये ? उनके जन्म का हेतु कहने के लिये यह अध्याय है तथा प्रकरण का उपोद्घात भी है जिससे ब्रह्मा का न कहा हुआ भी अर्थ कहेंगे अथवा यह दूसरा पक्ष बताते हैं क्योंकि वहाँ कहा हुआ और सुना हुआ यों दो प्रकार बताये हैं, अतः उनमें से चित्त खेंच कर पृथक् प्रकार से हेतु के लिये कहते हैं 'देव देवेन' पद से यह सूचित किया है कि ब्रह्मा देवों का इष्ट देव होने से उसकी कही हुई वा सुनी हुई कथा प्रमाण ही हैं पूछने वाले देव हैं अतः उन्होंने भगवत्कथा में ही प्रश्न किया है यों जाना जाता है ।। ६ ।।

आभास—हेतुभूतां कथामारभते—

आभासार्थ—इस श्लोक में कारण रूप बनी हुई कथा प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् ।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ।। ७ ।।

श्लोकार्थ—हे जितेन्द्रिय ! काम से पीड़ित दक्ष की पुत्री दिति ने सन्तान (पुत्र) प्राप्ति के लिये मरीचि के पुत्र कश्यप से सन्ध्या के समय मिलने की प्रार्थना की ।।७।।

सुबोधिनी— दितिरिति । दाक्षायणीति पुरुषस्वभावा धृष्टा । दक्षोऽपि प्राचेतसो गर्वादिदोषयुक्तो बहुभर्तृकापुत्रः, अन्यथा तस्यास्तथा धाष्टर्यं नोपपद्येत । **क्षत्तरिति** जितेन्द्रियत्वेन संबोधनम्, कामलीलाया वक्ष्यमाणत्वात् दोषाभावाय । **मारीचमिति । 'मरीचिर्मनसोऽभवत्'** इति मनसः सङ्कल्पजनकत्वात्, संकल्पस्य कामजनकत्वाच्च । कश्यपः कामावतार इति सूचितम् अन्यथा तथा क्षोभो न भवेत्, न वा स प्रवर्तेत । **कश्यपमिति ।** ब्रह्मणः शापरूपोऽयम् । यथा **'आसन् मरीचेः षट् पुत्राः'** इति कल्पान्तरे, तथाऽस्मिन् कल्पे मरीचिपुत्रत्वादस्याऽप्युयहासः सम्भवति जितेन्द्रियाभिमानिनः । तदा ब्रह्मणा अयमपि शप्त इति लक्ष्यते, पौत्रीविवाहात्, एवं प्रसङ्गात्, नामनिरुक्तेश्च । पतित्वान्नात्यन्तमनौचित्यम । बहुस्त्रीकत्वात्तदतोऽयं रतिकाम्यया प्रवर्तते । **यथा**ऽग्निहोत्रादिधर्मः, तथा व्रतमपि धर्म इति । **परं** विधर्मत्वात् क्रोधजनकत्वम्, अपत्ये दोषसम्भवाच्च । **अपत्यकामेति न** वैराग्यादिना परिहर्त शक्या । **सन्ध्यायामिति** निषिद्धकामस्योद्गमनहेतुरुक्तः । **हृच्छयः** कामः । हृदये **स्थित एव** तदानीमुद्गतः, तेनार्दिता भिन्नमर्मा ॥ ७ ॥

व्याख्या—दिति का दाक्षायणी विशेषण से यह सूचित किया है कि दक्ष की पुत्री होने से पुरुष स्वभाववाली तथा ढीट थी, जिसका पिता प्राचेतस दक्ष भी गर्व दोष वाला था, बहुत पति वाली स्त्री का पुत्र था, यदि दिति ऐसे पिता की पुत्री न होवे तो ऐसी ढीटाई न करे, विदुर को-जितेन्द्रिय विशेषण देकर यह बताया है कि काम लीला होते हुए भी उसमें किसी प्रकार के काम का विकार उत्पन्न नहीं होगा ।

कश्यप को मरीचि के पुत्र कहने का आशय यह है कि वह 'कश्यप' काम का अवतार था, कारण कि मरीचि मन से उत्पन्न हुआ है, मन सङ्कल्प उत्पन्न करता है और सङ्कल्प कामोत्पत्ति करता है, कामावतार होने से ही कश्यप में क्षोभ उत्पन्न हुआ जिससे ही दिति की इच्छा पूर्ण की, 'कश्यप' नाम से यह भी सूचित किया है कि ब्रह्मा के शाप रूप है जैसे कल्पान्तर में मरीचि के छः पुत्र हुवे थे । उन्होंने ब्रह्मा का उपहास किया था जिससे ब्रह्मा के शाप से असुर हुए थे वैसे इस कल्प में कश्यप भी मरीचि का पुत्र है यों कहकर, संयमी होने के अभिमान वाले इसने भी ब्रह्मा का उपहास किया है तब ही ब्रह्मा ने इसको भी शाप दिया है यों अनुमान होता है, इस कारण से ही पौत्री से विवाह किया है, इस प्रकार के प्रसङ्ग से तथा कश्यप नाम के अर्थ से भी यों जचता है 'कश्यं 'मद्यं' पिबति इति कश्यपः'शराब पीता है वह कश्यप दिति का पति था । इसलिये पत्नी की प्रार्थना से काम-क्रीड़ा में प्रवृत्ति विशेष अयोग्य नहीं थी ।

'न काञ्चन परिहोत्' यों वामदेव्य सामोपासन व्रत रखने वालों को शास्त्राज्ञा है कि कोई भी स्त्री काम तप्त काम शान्ति के लिये आये तो उसका परित्याग न कर उसकी काम शान्ति करनी

चाहिये यह भी जैसे अग्नि होत्र व्रत धारियों को अग्नि होत्र अवश्य करना धर्म है वैसे इस व्रत वालों के लिये यों करना धर्म है। यह धर्म नहीं था किन्तु विधर्म था इसलिए क्रोध उत्पन्न हुआ और सन्तान में दोष उत्पन्न हुए 'दिति' अपत्य (पुत्र) की कामना वाली थी, अत: वैराग्य से वह मिटाई नहीं जा सकती थी, सन्ध्या समय निषिद्ध काम को उत्पन्न करने में हेतु है 'हृच्छय:' काम हृदय में ही रहता है उस समय ही प्रकट हुआ, जिससे दिति पीड़ित होने लगी अत: उसको रोक न सकी जिससे उसकी शान्ति के लिये पति को ही प्रार्थना की ॥७॥

आभास—कश्यपं कर्मणि प्रवृत्तं नाशयितुं प्रवृत्तेति कथनार्थं तस्याऽग्निहोत्र-कर्मोच्यते—

आभासार्थ—अग्निहोत्र कर्म में प्रवृत्त कश्यप का नाश करने के लिये दिति प्रवृत्त हुई अत: निम्न श्लोक में अग्निहोत्र कर्म का स्वरूप कहते हैं—

श्लोक—**इष्ट्वाऽग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् ।**
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम् ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—यजुर्वेद के स्वामी अग्नि जिव्हा वाले यज्ञ पुरुष का दूध से होम कर, सूर्यास्त समय होने पर, अग्निशाला में ध्यान करते हुए कश्यप को दिति ने प्रार्थना की ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—**इष्ट्वाऽग्निजिह्वमिति** । अग्निरेव जिह्वा यस्य । यदा वीतार्चिर्लेला यद्विभाति तद्देवानमास्यम्, यदा नीलोऽप्रकाशोऽर्चिरुदेति सोऽग्निर्भगज्जिह्वा । पयसा नित्यहोम: । **'रेत: सिञ्चति प्रजनने'** इति प्रकृतोपयोगित्वं च । अग्निहोत्रस्य चर्वणरूपत्वाद्यागरूपत्वाच्च **पुरुषमिस्ट्वेत्युक्तम्** । **यजुषां पतिमिति**, यजुर्वेदेनाऽग्निहोत्रमिति वाक्यात् । **निम्लोचत्यर्क इति** । अत: **'अस्तमिते होतव्यम्' 'सन्धौ होतव्यम्'** इति च पक्ष आदृत: । **आसीनमिति** अनुपस्थानपक्ष उक्त:, अन्यथा प्रजायेत । अन्यथा प्रजायेत । अग्न्यागार एवाऽऽसीनम् । **समाहितमिति** सावधानान्त:करणो भूत्वा, इष्टं भगवन्तं ध्यायतीति लक्ष्यते ॥ ८ ॥

व्याख्या—जिसकी (यज्ञ पुरुष की) अग्नि ही जिव्हा है जब शान्त हुई ज्वालावाली अग्नि फिर प्रज्वलित होकर प्रकाश मान होवे तो तब वह अग्नि देवों का 'मुख' समझना, और जब प्रकाश रहित नील ज्वाला का उदय हो तब वह अग्नि भगवान् की जिव्हा समझनी चाहिये, 'पयसा नित्यहोम:' अग्नि होत्र में जिस दूध से होम होता है 'रेत: सिञ्चनि प्रजनने' उत्पत्ति में वीर्य का सिञ्चन इसी तरह इसका प्रकृत (चालु) प्रसङ्ग में उपयोगीपन है। अग्निहोत्र चर्वणरूप (अन्न रूप) तथा यज्ञ रूप होने से 'पुरुषं इष्ट्वा' पुरुष (यज्ञ पुरुष) को होम कर (पयकी आहूति देकर) यों कहा है, 'यजुषां पतिम्' इसलिए कहा है कि यजुर्वेदोनाग्नि होत्रम्' यजुर्वेद से अग्नि होम करने की

आज्ञा है, होम करने के दो समय बताये हैं, 'अस्तमिते होतव्यम्' सूर्य अस्त हो तब होम करना, 'सन्धौहोतव्यम' सन्ध्या समय में होम करना चाहिए, कश्यप ने इस पक्ष को लेकर होम किया था 'आसीनं' बैठे थे (ध्यान करते थे) इससे यह सूचित किया है कि होम करने का समय नहीं था, यदि होम करने का समय होता तो अग्नि प्रज्वलित होती थी कश्यप अभी तक अग्निशाला में ही थे, वहां कैसे बैठे थे इस पर कहते हैं कि, 'समाहितम्' अंतःकरण को सावधान कर अपने इष्ट (भगवान्) का ध्यान कर रहे थे ॥८॥

आभास—दितिः शड्भिः सोपपत्तिकं संबन्धं प्रार्थयते—

आभासार्थ—दिति छः श्लोकों से कारण सहित अपने सम्बन्ध की योग्यता जताकर ही सम्बन्ध करने की प्रार्थना करती है—

कारिका—**एष इति । कामपीडाप्रतीकारो यशसाऽनुग्रहस्तथा ।**
वैषम्यस्य च निर्द्धारो द्वाभ्यामन्ते तु याचनम् ॥ १ ॥

कारीकार्थ—१- काम से उत्पन्न पीड़ा, २- उसका उपाय, ३- यशसे कृपा एवं दो श्लोकों से पक्षपात का निर्णय, अन्तिम श्लोक में सम्बन्ध करने की प्रार्थना ॥६॥

आभास—प्रथमं काम पीड़ामाह सर्व हेतुभूताम्—

आभासार्थ—इस श्लोक में दिति पहले सर्व के कारण भूत, कामपीड़ा को कहती है—

श्लोक—**दितिरुवाच । एष मां त्वत्कृते विद्वन् ! काम आत्तशरासनः ।**
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—हे विद्वान् ! जिस तरह मदमत्त हस्ती, केले के वृक्ष को मसल डालता है इस प्रकार इस धनुर्धारी कामदेव ने मुझ दीन अबला पर आपके लिए हमला किया है, जिससे मैं बेचैन बन गई हूँ ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—**एष इति** देवतारूपः कामः प्रत्यक्षो जात इति दर्शयति । **कामशास्त्रे काम:** पुरुषमेव बाधते, न तु स्त्रियम्, तस्याः स्वपृतनारूपत्वात् । पुरुषार्थश्च पुरुषस्यैव, अन्यथा पुरुषस्य स्त्रीशेषत्वं स्यात् । तस्मात्कथं बाधत इत्याशङ्कयाऽऽह—**त्वत्कृत** इति । त्वदर्थं मां बाधते । त्वां बाधितुमसमर्थस्त्वद्बाधार्थं मां बाधत इत्यर्थः । अतोऽहं कामप्रेरिता त्वद्बाधां करोमीति भावः । **विद्वन्निति** नाऽत्र किञ्चिन्निरूपणीयम्, कामातुराया शास्त्रसिद्धत्वात् । **आत्तशरासन** इति त्वद्बाधायामकृतायां मां जीवतो मारयिष्यतीति सूचितम् । साक्षात्कारः स्वस्य पृतनात्वसूचकः । अत एव 'भ्रुवोर्भङ्गो जायते' इति 'रसदृष्ट्योऽपि निर्गच्छन्ति' इति शरवत्त्वम् । **दुनोति** पडियति । **दीनामिति** तस्य निर्दयत्वं सूचितमस्य दयोत्पादनार्थम् । **विक्रम्येति** तस्याऽत्यन्तमाग्रहः । **रम्भामिव महागज इति** नाशनार्थं प्रवृत्तिः ॥ ६ ।

व्याख्या—दिति दिखाती है कि, देवता रूप काम प्रत्यक्ष हो गया है काम शास्त्र में कहा है कि काम पुरुष को ही पीड़ा करता है, न कि स्त्री को क्योंकि स्त्री जाति उसकी सेना है, काम तो पुरुष का ही पुरुषार्थ है, यदि यों न होता तो पुरुष स्त्री के अधीन हो जाता। इसलिए तुझे (स्त्री को) कैसे पीड़ा देता है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'त्वत्कृते' पद दिया है जिसका भावार्थ है कि आपके लिए मुझे पीड़ा दे रहा है कारण आपको पीड़ा देने की उसमें शक्ति नहीं है, अतः आपको पीड़ा हो इसलिए मुझे पीड़ा देता है जिस कारण से ही मैं आपको बाधा कर रही हूं, 'विद्वन् !' सम्बोधन से यह बताया है कि आप सब जानते ही हैं अतः इस विषय में कुछ विशेष निरूपण करने की आवश्यकता नहीं है, काम से व्याकुल की दशा कैसी होती है यह शास्त्र सिद्ध है आप विद्वान होने से उसको जानते ही हो, काम अब प्रकट हुआ हैं जिसका प्रमाण (सबूत) है धनुष लेकर खड़ा है ऐसी दशा में यदि मैं आपको बाधा न करूं तो काम जीते हुए मुझे मार डालेगा, काम का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष दर्शन) कैसे कहती हो ? जिसके उत्तर में कहती है कि मैं उसकी सेना में हूं इसलिए मैं समझ सकती हूं, इस कारण से ही 'भ्रुवों' का भङ्ग होता हैं; दृष्टियां भी रसपूरित हो प्रकट होती है। इसलिये स्त्रियों को काम का बाण कहा गया हैं, 'दुनोति' पद बताया है कि पीड़ा कर रहा है, 'दीनां' पद से सूचित किया है मैं दीन हूं तो भी काम को दया नहीं आती है जिससे उसका (काम का) निर्दयीपन प्रकट होता है, एवं 'दीना' पद से यह भी सूचित किया है कि आप निर्दयी नहीं अतः आप दया कर इस पीड़ा की निवृत्ति कीजिये। 'विक्रम्य' इस प्रकार काम ने जो हमला किया है उसका तात्पर्य है कि आप मुझसे सम्बन्ध करो यह काम का दृढ़ आग्रह है 'रम्भामिव महाराजः' दृष्टान्त से यह सूचित किया है कि, काम, मुझे नाश करने के लिए प्रवृत्त हुआ है अतः आप दयालु हैं मुझे नाश से बचाइये ॥९॥

आभास—तस्मान्नाऽहमुपेक्षणीया, किन्तु कृपा कर्तव्येत्याह—

आभासार्थ—इस कारण से मेरी उपेक्षा न कीजिए किन्तु मुझ पर कृपा कीजिये यों निम्न श्लोक में प्रार्थना करती है—

श्लोक—**तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः ।**
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—इस कारण से प्रजावतः सौतों की समृद्धियों से जलती हुई मुझे आप कृपा कर बचाइए, आपका कल्याण हो ॥ १० ॥

सुबोधिनी—तद्भवानिति । कामादयः षट् बाधकाः प्रत्येकं सर्वत्र लोके । मम तु सर्वे संभूय बाधका इति ज्ञापनार्थं कामबाधां निरूप्य मात्सर्यमाह—**सपत्नीनां** प्रजावतीनां **समृद्धिभिर्दह्यमानायां मय्यनुग्रहमायुङ्क्ताम्** । लोट आत्मनेपदम् । सपत्न्येव दाहहेतुः, तत्रापि बह्व्यः, तत्रापि मद-

पेक्षया तासां समृद्धिः, तत्रापि प्रजावत्त्वम् । अतो दोषचतुष्टयेन मात्सर्येण दाहः तन्निवृत्यर्थमनुग्रहः कर्तव्यः समृद्धिप्रजादाने ततोऽप्यधिकदाने वा दाहाऽभावः सुखं च भविष्यतीति भावः । भद्रं त इति पूर्वं बाधकत्वेन स्वस्य निरूपणात्, प्रवृत्तावपि कदाचिद्बाधः स्यात, तथा सत्यप्रवृत्तिरेवाऽस्त्विति शङ्कां परिहरति । १० ॥

व्याख्या--लोक में सर्वत्र कामादि षट्विकार सर्व को पीड़ा करते हैं। मुझे तो सब मिल कर पीड़ा करते हैं यों जताने के लिए पहले काम बाधा का निरूपण कर अब मत्सरता बताती है, प्रजावाली सौतों की सुख समृद्धि देख कर जलती हुई मुझ पर कृपा कीजिये 'आयुंक्ष्व' आत्मनेपदी लोट्लकार है। जलने का कारण सौतें हैं। फिर एक नहीं बहुत हैं और वे मुझसे विशेष सुख समृद्धि वाली हैं उसके साथ वे प्रजावाली (सन्तानवाली) भी हैं। अतः इन चतुष्टय दोषों से उत्पन्न मात्सर्य से दाह हो रहा है, समृद्धि और प्रजा के दान से भी अधिक (सम्बन्ध) दान दोगे तो दाह का अभाव तथा सुख प्राप्ति होगी, कहने का यही भाव है, 'आपका कल्याण हो' पहले जो अपने को बाधकपन से निरूपण किया तथा प्रवृत्ति में कदाचित् बाधा होवे यों प्रवृत्ति ही न करनी चाहिये इस शंका को (आप का कल्याण हो) इस पद से मिटाया है ॥१०॥

आभास—त्वदनुग्रहेण न केवलं दोषाभावः, किन्तु गुणो भविष्यतीत्याह—

आभासार्थ—आपकी कृपा से केवल दोषाभाव (दोष ही दूर) नहीं होगा किन्तु गुण भी होगा, यों इस श्लोक में कहती है—

श्लोक—भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः ।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—जिस स्त्री का पति सम्मान करता है उस स्त्री का यश लोक में फैलता है, और जिस स्त्री से पति अपने समान पुत्र रूप से उत्पन्न होता है उस स्त्री का यश तो लोक में विशेष रूप से प्रसरता है (फैलता है) ॥ ११ ॥

सुबोधिनी--**भर्तरीति** । सामीप्ये सप्तमी । भर्तृसमीपे **आप्तोरुमानानां यशो लोकानाविशते** । गर्भाधानादिसंस्कारेषु भर्त्रा सह एकासने स्त्रीणां संमाननमिति तत्कीर्तनम् । भर्तृकर्तृकं वा माननम् । तद्यशसो लोकप्रवेशमुपपादयति-- **पतिर्भवद्विध इति** । यासां स्त्रीणां भवद्विधः पतिः प्रजया पुत्ररूपेण निश्चयेन जायते, **'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः'** इति श्रुतेः ॥ ११ ॥

व्याख्या—'भर्तरि' शब्द सप्तमी विभक्ति में सामीप्य बताने के लिये कहा है, पति के समीप में अर्थात् पति द्वारा जिन स्त्रियों का आदर होता है उन स्त्रियों का लोकों में यश फैलता है, तथा इसलिए भी यों कहा है कि, गर्भाधानादि संस्कारों के समय पति के साथ एक आसन पर बिठाकर

उनका सम्मान (आदर) किया जाता है वह यश लोक में फैलता है उसके प्रतिपादनार्थ कहते हैं कि, 'पतिर्भव द्विधा' जिन स्त्रियों से पति अपने जैसा पुत्र रूप से अवश्य उत्पन्न होता है वह स्त्री ही स्त्री कही जाती है जैसा कि भगवति श्रुति ने कहा है 'तज्जायाजाया भवति यदस्यां जायत पुनः' वह ही स्त्री, स्त्री कहला सकती है जिससे पति स्वयं पुनः रूप से उत्पन्न होता है ॥११॥

आभास—एवं गुणदोषौ निरूप्य नीतिमपि निरूपयति—पुरेतिद्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस तरह गुण और दोष का निरूपण कर अब नीति का भी निरूपण दो श्लोकों से करती है—

श्लोक—पुरा पिता नो भगवान् दक्षो दुहितृवत्सलः ।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—पुत्रियों पर प्रेम करने-वाले हमारे पिता प्रजापति दक्ष ने हमसे असग अलग पूछा कि, हे पुत्रियों ! आप किसको वर रूप से स्वीकार करती हो॥१२॥

सुबोधिनी—विवाहात्पूर्वं नोऽस्माकं पिता दक्षः । भगवानिति सर्वसमर्थः । चन्द्रमिव त्वामपि करिष्यतीति भयं जनयति । दक्ष इत्यभिचरेद्वा । दुहितृवत्सल इति स्नेहादौदासीन्याभावः । अत एव हे वत्साः कं वृणीतेत्यपृच्छत पृथक् । पृथक् इत्यन्यानुरोधाभावाय । नोऽस्मान् । विभक्त्यन्तरत्वान्न पौनरुक्त्यम् । अनेन तस्य विचारभङ्गे महानुपद्रवो भविष्यतीति प्रवृत्तौ हेतुरुक्तः ॥१२॥

व्याख्या—विवाह से पहले हमारे पिता दक्ष ने प्रत्येक पुत्री से अलग अलग पूछा कि, आप किसको वर (पति) रूप से पसन्द करती हो, हमारे पिता (दक्ष) 'भगवान्' अर्थात् सर्व समर्थ हैं अतः आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करो अन्यथा यों न हो जाय कि जैसे चन्द्रमा को शाप दिया वैसे आपको भी (शाप) दे डाले, यों कश्यप जी को भय की सूचना देती हैं और वह 'दक्ष' अर्थात् वह चतुर है जिससे मलीन विद्या द्वारा अभिचार भी कर सकता है वह न कर डाले कारण कि उसका पुत्रियों पर स्नेह है जिससे वह उपेक्षा नहीं करेगा, पृथक पूछने का कारण यह था कि साथ में पूछने से दूसरों के विचार का प्रभाव न पड़े स्वतंत्र अपने विचारानुसार कहे, 'नः' यह विभक्ति पृथक् देकर पुनरुक्ति दोष की निवृत्ति की है, दिति ने इस प्रकार कह कर कश्यप जी को सावचेत किया कि मेरे विचारानुसार क्रिया न करेंगे तो महान् उपद्रव होगा अतः मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये ॥१२॥

आभास—इदानीमस्माकं नाऽस्ति वैषम्यम्, तव तु वैषम्यमित्याह—

आभासार्थ—अब हमारे भीतर विषमता नहीं है किन्तु आपको है यों इस श्लोक में कहती है—

श्लोक—स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं संतानभावनः ।
त्रयोदशाऽददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—पुत्रियों से सन्तति की इच्छा रखने वाले पिताजी ने, हम पुत्रियों के भावों को जान कर हम में से १३ पुत्रियाँ आपको दी हैं जो एक समान स्वभावानुसार आचरण कर रही हैं यदि पुत्रियों को सन्तान न होवे तो कन्यादान ही व्यर्थ हो जाय ।। १३ ।।

सुबोधिनी - **स विदित्वेति आत्मजानां नो भावं विदित्वा तासां मध्ये त्रयोदश नो** ऽस्मान् ते **अददात् । यास्ते शीलमनुव्रताः** समानस्वभावाः । तत्रापि दक्षः **संतानभावनः**, दुहितृसंतानं भावयतीति । सतत्यभावे दाममेव व्यर्थं स्यात् ।।१३।।

व्याख्या—हम पुत्रियों का विचार जानकर हम तेरह पुत्रियों को आप को दी है जो एक से स्वभाव वाली है और आपके स्वभाव के अनुसार वर्ताव कर रही है । उस में भी दक्ष सन्तान भावनः अर्थात् पुत्रियों के सन्तान का विचार करते थे (पुत्रियों के) सन्तान न होय तो (उनका) कन्यादान करना ही व्यर्थ हो जावे ।। १३ ।।

आभास—एवमप्रवृत्तौ नीतिविरोधमुपपाद्य प्रार्थयति—

आभासार्थ—यदि आप प्रार्थनानुसार प्रवृत्ति नहीं करोगे तो वह नीति के विरुद्ध होगा । यों सिद्ध कर निम्न श्लोक में प्रार्थना करती है—

श्लोक—**अथ मे कुरु कल्याण ! कामं कञ्जविलोचन ! ।**
आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—हे कल्याण रूप ! हे कञ्जविलोचन ! अब मेरे काम को पूर्ण करो, हे भूमन् ! महान् पुरुषों को की हुई प्रार्थना निष्फल नहीं होती है ।। १४ ।।

सुबोधिनी—**अथेति** । न विरोधादिशङ्कया प्रवृत्तिः कर्तव्या, किन्तु रसेनैवेति भिन्नप्रक्रमः । तव कामाभावेऽपि **मे कामं कुरु**, मे कामनां पूरयेत्यर्थः । **कञ्जविलोचनेति** प्रकृतोपयोगिरूपवत्त्वम् । दैन्यमाह-**आर्तोपसर्पणमिति । महीयसि** महापुरुषे आर्त्तानां प्रार्थना सफलैवेत्यर्थः । सर्वत्र षड्भार्गनिरूपणं तत्कार्यस्य भगवत्त्वाय ।। १४ ।।

व्याख्या—विरोध आदि के कारण भय पूर्वक काम पूर्ति में प्रवृत्ति नहीं करनी (ऐसा विचार न करें) किन्तु इस प्रक्रियानुसार प्रवृत्ति को कीजिये, इसलिए ही 'अथ' शब्द से पृथक् प्रारम्भ किया है, यद्यपि आप में काम नहीं है तो भी मेरी कामना को पूर्ण करो, 'कञ्जविलोचन' विशेषण से यह सिद्ध किया है कि आप कमल नेत्र वाले हैं अतः आपका रूप इस विषय (कामपूर्ति) के अनुरूप है । 'आर्तोपसर्पणं' 'महीयसि' इन पदों से अपना दैन्य और कश्यप जी की महत्ता, प्रकट की जिससे

कहती हैं कि महापुरुषों को जो प्रार्थना की जाती है वह निष्फल नहीं होती है वह कार्य भगवद्रूप होने से ही सर्वत्र छः श्लोकों से निरूपण किया है ।।१४।।

कारिका—**धर्माद्दक्षात्ततो भीतो लोकानां निन्दनादपि ।**
कालकर्ममहादेवादप्रवृत्तास्त्वसान्त्वयत् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—धर्म और दक्ष से एवं लोक निन्दा से तथा काल, कर्म और महादेव से डरे हुए भी कश्यप जी ने काम में प्रवृत्ति नहीं की किन्तु दिति को आश्वासन दिया ।।१।।

आभास—असान्त्वितायां भगवानपि क्रुध्यतीति तस्याः सान्त्वनं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—आश्वासन न दूँगा तो भगवान् भी कुपित होंगे । इस विचार से **कश्यपजी ने** उसको आश्वासन दिया, जिसका वर्णन इस श्लोक में मैत्रेयजी करते हैं—

श्लोक—मैत्रेय उवाच । इति तां वीर! मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् ।
प्रत्याहाऽनुनयन्वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे— हे वीर ! (हे विदुर जी !) दिति ने काम के वेग से व्याकुल होने से बेचैन हो दीन बनकर कश्यपजी को बहुत प्रकार से संबंध के लिये प्रार्थना की थी जिससे मारीच ने वाणी से निम्न प्रकार से उसको अश्वासन दिया ।। १५ ।।

सुबोधिनी—इतीति । **वीरेति** संबोधनं सान्त्वनवाक्येषु भ्रमाभावाय । **मारीच इति** पूर्ववत् । **कृपणामिति** दया । **बहुभाषिणीमिति** भयम् । **वाचेति न** प्रवृत्त्या, अन्यथा रसाभासः स्यात् । किञ्च, प्रवृद्धोऽनङ्ग एव कश्मलो यस्याः । न हि स कश्मला भुज्यते, अतः कश्मलनिवृत्त्यर्थं सान्त्वनम् ।। १५ ।।

व्याख्या—विदुर को सान्त्वन वचनों में भ्रम नहीं होवे इसलिए 'वीर !' सम्बोधन दिया है, 'मारीच' पद का अर्थ पूर्व किये हुवे अर्थ के समान है कृपणां' विशेषण से बताया है कि मैं गरीब हूँ अतः मुझ पर दया कीजिए, बहुत प्रकार से प्रार्थना करने से सूचित किया है कि मुझे भय है कदाचित् मेरी प्रार्थना स्वीकार न होवे, वाणी से आश्वासन दिया, वैसी प्रवृत्ति नहीं की अर्थात् झूठा आश्वासन नहीं दिया सम्बन्ध तो किया जायेगा, जो यों न होवे तो रसाभास हो जाय, किञ्च बढ़ा हुआ काम बेचैन दशा में योग नहीं होता है क्योंकि वह रसप्रद नहीं अतः बेचैनी मिटाने के लिए आश्वासन दिया गया है ।।१५।।

आभास—कामोऽभिमानात् फलतो वा निवर्तते, तत्र फलस्य साम्प्रतं कर्तुमयुक्तत्वात् साधारणवाक्यैरभिमानं जनयति—एष तेऽहमिति षड्भिः—

आभासार्थ—काम, अभिमान से अथवा कार्य पूर्ण हो जाने पर मिट जाता है, इसमें अब कार्य पूर्ति के लिए सम्बन्ध करना अनुचित है, क्योंकि सन्ध्या समय में सम्बन्ध करने का शास्त्रों में निषेध हे, अब निम्न छ श्लोकों से दिति में अभिमान उत्पन्न करते हैं—

(कश्यप उवाच) श्लोक—एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु! यदिच्छसि ।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः ॥१६॥

श्लोकार्थ—कश्यपजी कहते हैं । हे भीरु ! (हे डरपोक !) जिस प्रिय सम्बन्ध की तूँ इच्छा कर रही है वह तेरा प्रिय करूंगा, जिस पत्नी से त्रैवर्गिकी (अर्थ, धर्म और काम की) सिद्धि होती है, उसका मनोरथ कौन ऐसा पति है जो पूर्ण न करे ॥ १६ ॥

कारिका **प्रार्थितस्य परिज्ञानं हेतूक्त्या तस्य साधनम् ।**
स्त्रियाश्चतुर्भिः स्तोत्रं च प्रार्थना च निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—माँगे हुए विषय का ज्ञान और उसकी पूर्ती का कारण १६ वें श्लोक में कह कर अब १७ से २० इन ४ श्लोकों में स्त्री जाति की स्तुति और २१ वें श्लोक में प्रार्थना का निरूपण है ॥१॥

कारिका—**संसारदुःखतरणे हेतुः स्त्री स्वयमेव च ।**
अरातितरणे दुर्गमनन्तोपकृतिर्गृहम् ॥ २ ॥

कारिकार्थ—संसार के दुःखों से तर जाने में स्त्री साधन है यों १७वें श्लोक में कहा है १८वें श्लोक में स्त्री स्वयं है, १९वें श्लोक में यह कहा है कि शत्रु (काम) पर विजय करने के लिए स्त्री ही दुर्ग (किला) है, २०वें श्लोक में यह बताया है कि स्त्री अनन्त उपकार करने वाला स्थान (घर) है ॥२॥

कारिका—**एवमुत्कर्षकथने-ऽभिमाना भवेदिति ।**
पश्चात्संप्रार्थनं युक्तं स्वकीर्तेर्हेतुताऽपि च ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—इस तरह स्त्री का उत्कर्ष (महानता) सुनने से दिति अभिमान वाली होगी, इसलिए कश्यपजी ने ये उत्कर्ष के वाक्य कहे हैं, यों उसमें अभिमान उत्पन्न कर अनन्तर प्रार्थना करनी उचित है इसमें अपनी कीर्ति भी कारण रूप है ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—एष कामः । तेऽहमवश्यं विधास्यामि । भीर्विति विशिष्टस्त्रीत्वकथनं महत्त्वज्ञापकम्. '**विशेषास्त्वङ्गना भीरुः**' इति कोशात् । प्रकृतोपयोगि च भीरुत्वम् । **यदिच्छसीति** पुत्रान्, भोगं, संपत्तिं च । एतदवश्यं कर्तव्यमित्युपपादयति-**तस्या इति** । '**संवत्सरो वै प्रजापतिः** इति श्रुतेः । '**त्रयोदशमासाः संवत्सरः**' इति च कश्यपानन्दस्त्रयोदशधाऽवतीर्णः तत्रेयं मलमासरूपा ।

सामान्यतस्तु स्तुतिस्तस्या इति, न हि कश्चित् स्वानन्द नाऽनुभवति । किञ्च, यतो भार्याऽतस्त्रै-वर्गिको सिद्धिः, पुरुषार्थत्रयं भार्यासहितस्यैव यतः सिद्यति मिलितं तस्यैव । धर्मोऽपि यज्ञात्मकस्त-स्यैव, '**काञ्चनमञ्चितं भवति यत्सङ्गेऽङ्गना**' इति वाक्यादर्थोऽपि तदधीन एव पुरुषार्थः अन्यथा दुःखहेतुः स्यात्, कामसमुद्रस्य तु सा तदेव ॥ १६ ॥

व्याख्या—तुम्हारे इस काम की पूर्ति मैं अवश्य करूँगा । 'भीरु' पद दिति को विशेष उत्तम स्त्री कह कर महत्व दिया है शब्द कोष में 'भीरु' स्त्री को विशिष्ट (विशेष उत्तम) स्त्री कहा गया है तुम्हारा 'भीरुत्व' तो प्रकृत (चालू) विषय में उपयोगी है, तू जो कुछ पुत्र, भोग और सम्पत्ति चाहती है वह देना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है जिसका समर्थन करते हैं, 'संवत्सरो वै प्रजापति' इस श्रुत्यनुसार प्रजापति संवत्सर है १३ मास का संवत्सर होता है, इसलिए कश्यपजी का आनन्द तेरह प्रकार से अवत्तीर्ण हुआ है, उनमें यह पुरुषोत्तम मास '(मलमास)' रूप है सामान्य रूप से तो स्तुति इसकी ही है कोई भी ऐसा नहीं है जो अपने आनन्द का अनुभव न करे किञ्च (क्योंकि) स्त्री भार्या है अतः उससे त्रैवर्गिकी (अर्थ धर्म और काम की) सिद्धि होती है ये तीन पुरुषार्थ वह पुरुष सिद्ध कर सकता है जिसने विवाह कर भार्या को साथ लिया है स्त्री वाले के ही ये पुरुषार्थ सिद्ध होने हैं क्योंकि तीनों मिले हुवे हैं परस्पर सम्बन्ध वाले हैं स्त्री होने पर ही यज्ञ रूप धर्म की सिद्धि होती है, 'काञ्चनमञ्चितं भवति यत्सङ्गेऽङ्गना' सुवर्णादि पदार्थ भी उसके पास इकट्ठा होता है जिसके साथ स्त्री है इस वाक्यानुसार पदार्थ पुरुषाथ भी स्त्री के अधीन है नहीं तो वह दुःख का हेतु होता है काम रूप समुद्र से पार जाने के लिये स्त्री ही नौका है ॥ १६ ॥

आभास—एवं तदीयं प्रार्थितमवश्यं कर्तव्यमित्युपपाद्य तां स्तौति सर्वदुःख-निवारकत्वेन—

आभासार्थ—यों इसकी प्रार्थना अवश्य पूर्ण करनी है ऐसे कहकर, सकल दुःखों की मिटाने वाली तू ही है यों उसकी स्तुति करते हैं—

श्लोक—**सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् ।**
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथाऽर्णवम् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—जैसे नाव पर चढ़कर मनुष्य महासागर के पार पहुंच जाता है वैसे ही गृहस्थाश्रमवाला, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों को आश्रय देता हुआ अपने आश्रम द्वारा दुःखों के समुद्र से पार पहुँच जाता है ॥ १७ ॥

सुबोधिनी—**सर्वाश्रमानिति** । अन्येषामाश्रमाणामन्नदाता गृहस्थ एव । अभार्यस्त्वभोज्यान्नः, अग्न्यभावेन वीरहत्वात् । अतः स्वातिरिक्ता श्रमानुपादाय स्वाश्रमेण गार्हस्थ्येन व्यसनार्णवं क्षुत्पिपासादिदुःखसमुद्रम **त्येति** । **जलयानैर्वहित्रैः पोतैर्यथाऽर्णवमत्येति**, अन्यथा मत्स्यादिभिर्ग्रस्त एव स्यात् ॥ १७ ॥

व्याख्या—अन्य आश्रमों को अन्नादि से आश्रय देने वाला गृहस्थाश्रम ही है जो गृहस्थ नहीं है जिसके पास स्त्री नहीं है उसका अन्न ब्रह्मचारी आदि के लिये भोजन के योग्य नहीं है क्योंकि वह विधुर होने से अग्नि होत्री नहीं है अतः गृहस्थाश्रम से अन्य आश्रमों का सहायक हों, अपने गृहस्थाश्रम द्वारा क्षुधा (भूख) पिपासा (प्यास) आदि दुःख समुद्र के पार पहुँच जाना है, जैसे नौकाओं से समुद्र को पार किया जाता है अन्यथा अर्थात् नौका में न बैठे तो मत्स्यादि ग्रस (निगल) जावें ।।१७।।

आभास—किञ्च—

आभासार्थ—और विशेष निम्न श्लोकों में कहते है ।

श्लोक—**यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि ! ।**
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ।। १८ ।।

श्लोकार्थ—हे मानिनि ! जिसको (स्त्री को) कल्याण की इच्छा वाले पुरुष का आधा अङ्ग (शरीर) कहा जाता है, अतः पुरुष अपनी गृहस्थी का भार उस पर डाल कर आप निश्चिन्त होकर विचरता है ।। १८ ।।

सुबोधिनी—**यामाहुरिति** । यां भार्यामात्मनोऽर्द्धमाहुः । चिद्रूपस्य स्वस्य स्वदेहः सद्रूपः, आनन्दरूपश्च भार्यायाः । अर्द्धवृगलत्वाद्वा । आहुरिति प्रमाणम् । हीत्युपपत्तिरुक्तैव । '**प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थः**' इति श्रुतेः । **श्रेयस्कामस्येति** केषांचिन्मते भार्यासहितस्यैव कर्मण्यधिकारः । **मानिनीति** संबोधनमेतादृशवाक्याकथनार्थम् । एवं सुखहेतुत्वमुपपाद्य दुःखाभावहेतुत्वमुपपादयति—**यस्यामिति** । स्वधुरं स्वयं धुर्यो बलीवर्दः, संसारलक्षणां धुरं निरन्तरं वहति । तत्र भार्याचेदनुकूला, सा सर्वमेव भारं गृह्णीयात् । इदं च लोकसिद्धं नोपपादनीयम् । **चरतीति** यथासुखं परिभ्रमति, मुक्तो जायत इत्यर्थः । **विज्वर इति** चिन्ताज्वररहितः, अन्यथा धनादि- निमित्तं सर्वत्र चिन्ता भवेत् ।। १८ ।।

व्याख्या—पुरुष स्त्री को अपना आधा शरीर मानता है, बिना स्त्री के पुरुष आधा है, पुरुष जीव रूप से चिद्रूप है देह रूप से सद्रूप है शेष पूर्णता करने वाला आनन्द उसमें नहीं है अतः आधा है वह पूर्ण तब होता है जब गृहस्थी होता है, स्त्री आनन्द रूप है उसको जब शास्त्र विधि के अनुसार भार्या बनाकर लाता है तब वह सच्चिदानन्द, रूप होने से पूर्ण होता है, स्त्री को आधा शरीर, इसलिए भी लोक में कहा जाता है कि पुरुष के गृहस्थ कार्य का आधा भार स्त्री अपने ऊपर लेती है 'आहुः' इस क्रिया से बताया है यों कहते हैं इसलिए यह प्रमाण (सबूत) है 'हि' पद से उपपत्ति कही हुई, 'प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थः इति श्रुतेः' भगवती श्रुति कहती है कि उपस्थ (जननेद्रिय) प्रजापति अमृत आनन्द है, श्रुति में आनन्द की उपासना करने की आज्ञा है वह आनन्द रूप स्त्री की ही की जाती है क्योंकि आनन्द देने वाली वह ही है 'श्रेयस्कामस्य'

पद से कहा है कि किन्ही के मत में भार्या सहित पुरुष को कर्म में अधिकार है 'मानिनि' सम्बोधन से यह बताया है कि तुझे ऐसे दैन्य वचनों से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए इस प्रकार स्त्री सुख का कारण है यों प्रतिपादन कर अब दुःख के मिटाने का कारण भी वह है यों सिद्ध करते हैं 'यस्यां' पुरुष संसार रूप भार का नित्य वहन करने से बैल के समान है वहां यदि भार्या (पत्नी) अनुकूल है तो वह समस्त भार अपने ऊपर ले लेती है इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि लोक सिद्ध है स्त्री भार ले लेती है जिससे पुरुष स्वेच्छा से सुख पूर्वक परिभ्रमण करता रहता है भार वहन (उठाने या ले जाने) से मुक्त हो जाता है 'विज्वर' पद का यह भी आशय है कि चिन्ता रूप ज्वर से छूट जाता है अन्यथा अर्थात् स्त्री सुलक्षणी नहीं है गृह का भार (कारोबार) अपने ऊपर नहीं लेती है तो पुरुष धनादि निमित्त सर्वत्र चिन्ता मग्न रहता है ॥ १८ ॥

आभास—किञ्च—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में इससे भी विशेष कहते हैं—

श्लोक—यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः ।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून् दुर्गपतिर्यथा ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—जिस विवाहित पत्नी की मदद से हम इन्द्रिय रूप शत्रुओं को, जो शत्रु दूसरे आश्रमों में नहीं जीते जा सकते हैं बिना श्रम सहज में ही ऐसे जीत लेते हैं जैसे दुर्गपति (किले का स्वामी) डाकूओं का अपने आधीन कर लेता है ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—यामिति । यां भार्यामाश्रित्य इन्द्रियलक्षणान् शत्रूनन्यायेन मारकान् भार्यासहिता वयं हेलाभिरेव जयेम, न हि ते शत्रवोऽन्याश्रमैर्जेतुं शक्याः, अत इतराश्रमैर्दुर्जयान् सभार्य एव जयति । भार्यावन्तमिन्द्रियाणि न बाधन्त इति केचित् । जयस्तु शत्रुत्वे, भार्यावतस्तदपेक्षणात्तेषां न शत्रुत्वम् । शास्त्रतः शत्रुत्वेऽपि बहिः स्वानन्दानुभवादनुषङ्गत एव हेलाभिरवज्ञयैवेन्द्रियाणां जयः । बाधकानामबाधकत्वमेव जयः, असामर्थ्यजनकत्वं वा । अबाधकत्वमात्रमत्र जय इति वक्तुं दृष्टान्तमाह—**दस्यून्दुर्गपतिरिति** । नहि चौराणां जये कश्चन पुरुषार्थः, किन्तु ते यथा न बाधन्ते दुर्गाश्रयणमेव कर्तव्यम् । न तु तेषां मारणं जयः, असमानत्वात्, जयस्य कादाचित्कत्वाच्च ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिस (भार्या) का आश्रय लेकर अन्याय से मारने वाले इन्द्रिय रूप शत्रुओं को हम भार्या के साथ सहज में ही जीत लेते हैं, वे शत्रु दूसरे आश्रमों से नहीं जीते जाते है, अतः अन्याश्रमों से दुर्जय (नहीं जीते जाने वाले) शत्रुओं को भार्या वाला पुरुष (गृहस्थी) ही जीत सकता है। कितनों का मत है कि भार्या वाले पुरुष को इन्द्रियां बाध (पीड़ा) नहीं कर सकती है शत्रु होने पर जय होती है, भार्या वाला उन (इन्द्रियों) की परवाह नहीं करता है इसलियेवे उसकी शत्रु नहीं

हैं। शास्त्रानुसार शत्रु (इन्द्रियाँ) होते हुए भी बाहर सम्बन्ध द्वारा स्वकीय (अपना) आनन्दानुभव होने से सहज ही अवज्ञा कर इन्द्रियों पर जय पाई जाता है, जीत का आशय है कि दुःख देने वाला दुःख न देवे अथवा दुःखदाता में दुःख देने की सामर्थ्य न रहे, यह ही जय (जीत) है, यहाँ बाधा (पीड़ा) न होना ही जय है यों कहने के लिए दृष्टांत देते हैं दस्यून दुर्गपतिर्यथा' जैसे दुर्गपति (किले के स्वामी) चोरों को अपने अधीन कर लेता है चोरों की जय से कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है किन्तु वे जैसे पीड़ा न करें वैसे उनको किले में ही रखा जाता है जिससे वे अधीन हो वश में हो जाते हैं, जय तो कदाचित् होती है शत्रु को एक बार जीता फिर प्रबल हो कर वह चढ़ाई कर सकता है, अतः शत्रु को अपने वश में कर लेना ही सत्य विजय है ॥ १९ ॥

आभास—किञ्च । एकस्मिन्नपि दिवसे क्रियमाणस्य भार्योपकारस्य प्रत्युपकारो नास्तीत्याह—

आभासार्थ—और भी एक दिन भी पत्नी जो उपकार करती है पुरुष उसका प्रत्युपकार कर नहीं सकता है यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि ! ।**
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चाऽन्ये गुणगृध्नवः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—हे गृहेश्वरी ! तुम जैसी भार्या के उपकारों का बदला तो हम तथा अन्य गुणी जन इस आयु में क्या परलोक में भी पूर्ण रूप से चुकाने में समर्थ नहीं हैं ॥ २० ॥

सुबोधिनी—**न वयमिति**। तां पूर्वोक्तोपकारकारिणीं त्वां प्रत्युपकर्तुं वयं न प्रभवामः। य उपकारः कर्तव्यः सोऽपि स्वार्थमेव भवतीति। यथा ऽलङ्काराः, देहपोषो वा। **गृहेश्वरीति** संबोधनात् प्रत्यहं तद्गृहे सर्वभोगान् भुञ्जानः कमुपकारं कुर्यात् ? **कार्त्स्न्येनाप्यायुषेति**। तस्या भोग्यत्वं कियत्कालमेवेति, तदनन्तरं परिपालनादिकं प्रत्युपकारसाधकं भविष्यतीति संभाव्य निराकरोति, तयाऽपि तावत्कालमुपकारकरणात् **ये चाऽन्ये** देवा अपि चिरजीविनः। **गुणगृध्नव इति** तस्या एकोऽपि गुणः पुत्रजननादिः प्रतिकर्तुमशक्यः अतोयेषां तुदुणा अपेक्षिताः इह परत्रसाधकत्वेन, तैः प्रतीकारोऽशक्य इत्यर्थः ॥ २० ॥

व्याख्या-पूर्व कहे हुए उपकारों की करने वाली तुम्हारा प्रत्युपकार करने (बदला चुकाने) के लिये हम समर्थ नहीं है जो कुछ उपकार किया जाता है जैसे कि शृङ्गारार्थ आभूषण देह पोषण आदि वह भी हमारे स्वार्थ के लिये है। हे गृहेश्वरी ! (हे घर की मालिकिन !) इस पद से भी यह विशेष बताया है कि अपने घर में नित्य प्रति सर्व प्रकार के भोगों को भोगने वाला पुरुष कौनसा वा कितना उपकार कर सकेगा ? यदि कहो कि स्त्री तो कुछ समय (युवावस्था में) ही योग्य है,

बाद में उसका पालनादि पुरुष करता है वह प्रत्युपकार ही है. इसका निराकरण करते हैं कात्-'स्न्र्येनाऽघायुष' पालनादि कोई बदला नहीं है, यों तो वह भी गृह कार्यादि से उपकार करती ही रहती है अतः हम तो (क्या) किन्तु महत्ती (लम्बी) आयु वाले देव भी उसका बदला नहीं चुका सकते हैं.

'गुणगृह्नवः' पद से यह सूचित किया है कि 'पुं' नरक से बचाने वाले पुत्र को देने के एक ही गुण से जो वह उपकार करती है केवल उसका बदला भी हम पुरुष नहीं दे सकते हैं । अतः जिनको इस लोक तथा परलोक में इसके गुणों से फल प्राप्ति की इच्छा है, वे कृतज्ञ समझते हैं, कि-भार्या के उपकार से हम उऋण नहीं हो सकते हैं क्योंकि उसका बदला चुकाने में असमर्थ हैं ।।२०।।

आभास—एवं तां स्तुत्वा कालविलम्बं प्रार्थयति—

आभासार्थ—इस प्रकार उसकी स्तुति कर निम्न श्लोक से कुछ समय ठहरने की प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**अथाऽपि काममेतं ते प्रजायै करवाण्यलम् ।**
यथा मां नाऽतिवोचन्ति मुहूर्तं परिपालय ।। २१ ।।

श्लोकार्थ—अब मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूंगा क्योंकि प्रजा के लिये है अतः प्रजा की तेरी कामना सम्पूर्ण पूरी करूंगा किन्तु दो घड़ी मुहूर्त मात्र ठहरजा, नहीं तो मेरी निन्दा होगी वह (निन्दा) न कराओ ।। २१ ।।

सुबोधिनी—**अथाऽपीति** । प्रार्थितं तु यथेच्छं कर्तव्यमेव, सुतरां प्रजानिमित्तमलमत्यर्थं करवाणि । **अथापि मुहूर्तं परिपालय**, यावत्सन्ध्यापगमो भवति । तत्र हेतुः **यथा मां नातिवोचन्तीति** । प्रतिक्रम्य निन्दापूर्वकं यथा न वदन्ति । अस्मत्सजातीयाः सर्वे सर्वज्ञास्त एव धर्मशास्त्रकर्तारस्तेषामज्ञातं किमपि न भवतीति तत्कथनसम्भावना ।। २१ ।।

व्याख्या—तुमने जो प्रार्थना की है वह तुम्हारी इच्छानुसार पूर्ण करनी है, खास कर वह प्रजा (सन्तान) उत्पत्ति के लिए है तब तो अवश्य ही करनी है जिसमें पूर्ण करूंगा किन्तु जब तक सन्ध्या का समय पूरा हो तब तक मुहूर्त्त मात्र (थोड़ा समय) ठहर, कारण कि यह समय सम्बन्ध करने का नहीं है यदि किया जायेगा तो मेरी निन्दा होगी वह न कराओ, हमारी जाति वाले सर्वज्ञ हैं धर्म शास्त्र जानते हैं उनसे कुछ छिपा हुआ नहीं है इसलिए वे इस सम्बन्ध को जान लेने से निन्दा करेंगे ही ।। २१ ।।

आभास—एवं तां प्रार्थयित्वा तस्य कालस्य स्वरूपतो दोषमाह—

आभासार्थ—इस तरह उसको (दिति को) प्रार्थना कर उसे काल का स्वरूप दोष पूर्ण बताते हैं—

श्लोक—एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना ।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ।। २२ ।।

श्लोकार्थ—यह समय अत्यन्त घोर है और घोर जीवों का है, देखने में भी भयानक है इस समय में भगवान् भूतनाथ के अनुचर (भूत प्रेत आदि) घूमते रहते हैं ।। २२ ।।

सुबोधिनी—एषेति । **एषा वेला घोरतमा** सर्वभोगविगर्हिता, न हि घोरा भोगाधिकरणं भवति । कालदेशयोः सर्वाधिकरणत्वात्तद्दोषोऽवश्यं परिहरणीयः । सर्वस्याऽपि कालस्य सन्ध्या रजोरूपा । सन्ध्ययैव रात्री रजस्वला, सा परिहरणीयेति । अत एव सा पुष्पिता भवति, प्रत्यक्षतश्च तस्या रागो रजोरुपो दृश्यते । कामादिजनकत्वात् भयहेतुरपि भवति, अतो **घोरतमा** । घोराणां भूतादीनां च संबन्धिनी भवति । **घोरदर्शना** च, सर्वत्रैवाऽन्धकारव्याप्त्या । घोर संबन्धित्वमुपपादयति-**चरन्ति यस्यां भूतानीति** । तानि च भूतानि मन्त्रादिभिर्न निराकर्तुं शक्यानीत्युपपादयति-**भूतेशानुचराणीति** । महादेवस्य सेवकानि तानि भूतानि । हेत्याश्चर्ये । कथमेतस्मिन् काले एवं प्राथितमिति तस्या भयमुत्पादयति ।। २२ ।।

व्याख्या—यह समय बहुत घोर है अतः इसमें से सर्व प्रकार के भोगों का करना निषिद्ध है, घोर वेला (समय) भोग के योग्य नहीं है, देश और काल में रहे हुए दोषों को आवश्यक मिटाना (त्यागना) चाहिये, सकल कालों में संध्या काल स्त्री की तरह रजस्वला वाली होने से भोगादि सर्व में त्याज्य है । जैसे रजस्वला होने के समय में स्त्री को रक्त स्राव होता है वैसे ही संध्या समय में पुष्पिता (रजस्वला) होने से प्रत्यक्ष आकाश में रजो रूप लालिमा दिखती है, संध्या समय में ही रात्रि रजस्वला होती है अतः वह समय त्याज्य (छोड़ने वाला) है, कामादि को उत्पन्न करने वाली होने से भयानक भी होती है इसलिये अतिशय 'घोरा' कही गई है, और घोर (डरावने) जो भूत प्रेत आदि हैं उनसे सम्बन्ध वाली भी है अर्थात् भूत प्रेतादि उस समय विचरते (घूमते) हैं जिससे अन्धकार फैल जाता है और भयानक दिखता है । यदि कहो कि इन भूतादि को मंत्रों द्वारा दूर कर दो (तो) इस पर कहते हैं कि ये साधारण भूत प्रेत नहीं हैं किन्तु महादेव के अनुचर (सेवक) हैं, इसलिये इनको कोई हटा नहीं सकत 'ह' पद से आश्चर्य प्रकट किया है कि, अहो ! तूने ऐसे समय ऐसी प्रार्थना कैसे की ? जिससे अनिष्ट (बुरा)फल हो इस तरह कह कर दिति में भय उत्पन्न किया है । ।। २२ ।।

आभास—किञ्च । अस्य कालस्याऽधिष्ठत्री देवता महादेवः, स कामनाशकः । तच्छत्रुपरिग्रहस्तस्य काले क्रियते चेत्, तदा स मारयिष्यतीति भयं जनयन् महादेवं स्तौति षड्भिः—एतस्यामित्यादिभिः—

आभासार्थ—इस (संध्या) समय का अधिष्ठाता देवता, वह महादेव है जो काम नाशक है उसके समय में (संध्या में) यदि उसके शत्रु काम का आदर किया जायेगा तो वह मार डालेगा, यों भय उत्पन्न करते हुवे ६ श्लोकों से महादेव की स्तुति करते हैं--

श्लोक--**एतस्यां साध्वि ! सन्ध्यायां भगवान्भूतभावनः ।**
परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाऽटति भूतराट् ।। २३ ।।

श्लोकार्थ--हे साध्वि ! इस सन्ध्या समय में भूतभावन भूतराज भगवान् महादेव अपने गण भूत-प्रेतादि से वेष्टित (घिरे हुए) हो वृषभ पर बैठके घूमते रहते हैं ।। २३ ।।

कारिका—**परिभ्रमो दर्शनं च सबन्धाभाव एव च ।**
मारणे हेतुत्रितयं दोषाभावाय चाऽपरे ॥ १ ॥

कारिकार्थ--२३वें श्लोक में महादेव का भ्रमण, २४वें श्लोक में उनकी दृष्टि, २५वें श्लोक में यह कहा है यज्ञशाला में किसी से सम्बन्ध नहीं करना चाहिये शेष तीन श्लोकों में यह बताया है कि निर्दोष देव हैं ।। १ ।।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं तस्य परिभ्रमणमाह, देशान्तरागमनाय: एतस्यां सन्ध्यायाम् । साध्वीति संबोधनं निषिद्धकामवत्त्वव्यावृत्त्यर्थम् । भगवानित्यप्रतिहतगतिः । परिभ्रमणमुपकारहेतुरित्याह **भूतभावन इति** । भूतानि भावयति पालयतीति । सन्ध्यायामुत्पत्तिर्यदि भवेत्, तेन तस्य च लोकस्य नाशो भवेत् । अतः सर्वत्र सन्मार्गवर्तिषु भोगनिराकरणार्थं **भूतपर्षाद्भिः परीतः** । भूतरूपा एव तस्य पर्षदः सभापतयो भवन्ति । तैः सहितो वृषमारुह्य स्वयमटति भूतानां राजा भूतानां स एव कालः, अतः स्वभृत्यरक्षार्थं भूतराट् पर्यटति । यदि कश्चिदन्यायं कुर्यात्तदा पर्षद्भिस्तं दण्डयति । धर्मकारिणमपि सन्ध्यायामधर्मकारिणं मारयतीति सूचयितुं **वृषेणाऽटती**त्युक्तम् । वृषो धर्मः, यस्तमेवाऽऽरुह्य तिष्ठति स कथमन्यं तादृशं परिपालयेत् ? धर्मस्य साक्षित्वार्थं वा ।। २३ ।।

व्याख्या--दिति दूसरे स्थल पर चलने के लिये कहदे जिसको रोकने के लिए कहते हैं कि इस (संध्या के) समय महादेव भ्रमण कर रहे हैं अतः अन्यत्र जाना भी न हो सकेगा । साध्वि ! इस संबोधन से यह कहा है कि तू गुणवती है अतः इस निषिद्ध समय में सम्बन्ध करने से रुक जा । महादेव भगवान् हैं, इसलिए उनकी गति कहीं भी जाने से रोकी नहीं जा सकती । उनका घूमना उपकार का कारण है अर्थात् जीवों के कल्याण के लिए घूम रहे हैं क्योंकि भूत भावन (प्राणियों के पालक) हैं । यदि संध्या समय में किसी का जन्म हो तो उसका और लोक नाश हो । अतः सब स्थलों पर सन्मार्गगामियों को भोग करने से रोकने के लिए अपने साथ भूतों के सभापतियों को लेकर वृष (बैल) पर बैठकर भ्रमण करते हैं क्योंकि शंकर भूतों के राजा हैं । सन्ध्या भूतों का समय है ।

इसलिए अपने सेवकों की रक्षा के लिए भूतराज भ्रमते (घूमते) हैं, यदि किसी को भी अन्याय (धर्म विरुद्ध आचरण) करता हुआ देखे तो उसको पार्षदों द्वारा शिक्षा दिलावें ।

यदि धर्मात्मा भी इस समय अधर्म करे तो उसको भी मारते हैं । इस तरह की सूचना देने के लिए धर्मरूप वृष पर चढे है । जब धर्मी को भी अधर्म करने पर शिक्षा (सजा) देते है तो वह दूसरे प्रकार के ऐसे अधर्मियों की कैसे पालना करेंगे ? इस विषय के लिए साक्षीपन के लिए धर्मरूप बैल को साथ में लिया है ।। २३ ।।

आभास—एवं देशान्तरगमनाभावाय तस्य परिभ्रमणमुक्त्वा, अत्र स इदानीं स्वभावतः स्थितः पश्यत्येवेत्याह----

आभासार्थ—इस तरह शङ्कर भगवान् के घूमने के कारण देशान्तर में भी नहीं जा सकते, यों कहकर यहाँ, वह अब स्वभाव से स्थित होके देखते ही हैं जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं–

श्लोक—श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्रविकीर्णविद्योतजटाकलापः ।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—जिन (शङ्कर भगवान्) का जटा समूह, श्मशान से उठे हुए बवन्डर (आंधी) की धूलि से धूसरित हो दिप्तीमय हो रहा है तथा जिसकी निर्मल सुवर्ण सम देह भस्म से ढकी हुई है वे तुम्हारे देवर महादेव अपने तीन नेत्रों से सकल कार्यों को देखते हैं ।। २४ ।।

सुबोधिनी—श्मशानेति । अयं **देवो** महादेवस्त्रिभिरपि चक्षुर्भिः पश्यति । गार्हपत्यादयस्तस्यैव चक्षूंषि । **स च देवः**, अतीन्द्रियमपि पश्येत् । **देवर इति** लज्जोत्पादनम् । एकजामातृणां भ्रातृत्वव्यवहाराद्देवरत्वम् । पतिरपि देवर उच्यते, अग्निरूपत्वाद्भगवतः 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः' इति श्रुतेः । दैत्यानां च देवं सुखं राती ति तवोपास्यो देवरः । तस्याऽतिक्रमः सर्वथाऽनर्थहेतुः । तस्य स्वभावत एव मृतस्थानक्रीडापरत्वान्न तस्य मारणे काचिच्छङ्केत्यभिप्रायेणाऽऽह– श्मशाने यश्चक्रानिलो वात्या, तेनोद्गता या **धूलिः**, तया **धूम्रा** धूसरवर्णाः, विकीर्णा विद्योतमानाश्च या जटाः, तासां **कलापो** यस्य । प्रलयकर्तृत्वादस्य जटानां प्रलयहेतुत्वात् भस्मधूसरत्वाभावे **विकीर्णा** विद्योतमानाः प्रलयमेव कुर्युः । भस्मान्तरं च प्रलयमेघान् न स्पृशति, चक्रानिलादन्यो न सर्वतो भस्मसंबन्धं कारयत्यतस्तथाभाव उचित एव । किञ्च, **भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहः** । भस्मना अवगुण्ठः प्रक्षालनं यस्य । अमलं यद्रुक्मं सुवर्णम्, रजतं वा, तद्भस्मना घृष्टमत्युज्ज्वलं भवति । अ-

तस्तस्य भस्माऽपेक्षाऽस्तीति स्वल्पेऽप्यपराधे मारयेदित्यर्थः। देवर इति कल्पान्तरे प्राचेतस एव, षष्टिकन्यापक्षेऽपि महादेवाय सतीं दत्तवानित्यध्यवसेयम्। प्रथममन्वन्तरे यत्र सतीजन्म, न तत्र दित्यादीनां जन्म। देवं पतिं रातीति देवरः श्वशुरो वा। तथा च मरीचिभ्रातृत्वान्महादेवोऽपि देवरः। कन्यासमये प्रार्थितो महादेवः पतिं दत्तवानिति देवरः ॥ २४ ॥

व्याख्या--यह महादेव देव, तीन (गार्हपत्या, आहवनीय और दक्षिण) अग्नि रूप नेत्रों से भी देखते हैं वह देव होने के कारण इन्द्रियों से जो देखने में नहीं आता है उसको भी देखते है शंकर की दिति का देवर कह कर इस को (दिति को) लज्जा उत्पन्न करते हैं यदि कहो कि महादेव दिति का देवर कैसे ? तो इसका समाधान करते हैं कि एक के ही जामाता (जंवाई) होने से वे परस्पर भ्राता जैसा व्यवहार करते हैं अतः देवर हैं पति भी देवर कहा जाता है, महादेव भगवद्रूप होने से अग्नि स्वरूप है, "तृतीयो अग्निष्टे पति' इति श्रुतेः" श्रुति कहती है कि तीसरा तेरा पति अग्नि है, इस श्रुति के अनुसार शङ्कर दिति का देवर माना जा सकता है, दैत्यों को जो सुख दे, वह देवर अतः देवर होने से तेरा पूज्य है पूज्य का अपराध सर्व प्रकार अनर्थ करता है, जिनका स्वभाव ऐसा है कि मरे हुए के स्थान (श्मशान) पर क्रीड़ा करते हैं उनको किसी को भी मारने में, संकोच कैसे होगा ? इस अभिप्राय से कहते हैं कि, श्मशान से उठे हुए बवडंर से उठी हुई धूलि से धूसर वर्ण हो दीप्तिमय हो रहा है जटाजूट जिसका, ऐसे वे महादेव प्रलयकर्ता हैं। उस प्रलय की हेतु जटाएँ है किन्तु वे जटाएँ भस्म से धूसरित हो प्रकाशित होने के कारण अब प्रलय नहीं करती हैं अन्यथा प्रलय कर डाले, श्मशान की भस्म के सिवाय दूसरी भस्म प्रलय के मेघों (शङ्कर की जटाएँ प्रलय मेघ है अतः उनकी जटाओं को) को स्पर्श भी नहीं कर सकती है, बवंडर (तेज वायु) के सिवाय अन्य वायु चारों तरफ भस्म का सम्बन्ध नहीं करा सकती है इस कारण से उस प्रकार का भाव (स्थिति) उचित ही है

निर्मल (शुद्ध) सुवर्ण (पीली) एवं रजत (चांदी जैसी सफेद) भस्म से घर्षित होने पर चमकने लगते हैं वैसे ही महादेव की सुवर्ण वा रजत समान देह भस्म स्नान से विशेष उज्जवल हुई है, इसलिए महादेव को भस्म की सदैव अपेक्षा (जरूरत) रहती है, अतः स्वल्प (थोड़ा) अपराध होने पर भी मार डालते हैं, 'देवर' की उपपत्ति बताते हैं कि अन्यकल्प में प्राचेतस दक्ष को ६० कन्याऐं थीं तब सती महादेव को दी थी उस पहले मन्वन्तर में सती का जन्म हुआ था दिति आदि का (जन्म) नहीं हुआ था, 'देवं पतिं रातीतिः देवरः श्वशुरोवा' देव पति को देवे यों देवर अर्थात् श्वशुर, वैसे ही मरीचि के भ्राता होने से महादेव भी देवर हैं, दिति जब कन्या थी तब महादेव को प्रार्थना की थी तब महादेव ने पति दिया था इसलिए भी महादेव देवर है ॥ २४ ॥

आभास—एवं लज्जां भयं चोत्पाद्य संबन्धेनाऽपराधसहनमाशङ्क्य, तस्य संबन्धापेक्षा नाऽस्तीत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार लज्जा और भय को पैदा किया किन्तु दिति के मन में यों न आया हो कि सम्बन्धी होने से अपराध सहन कर लेंगे ? जिसका भी इस श्लोक से खंडन करते हैं कि उनको सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है—

श्लोक—**न ह्यस्य लोके स्वजनः परो वा नाऽत्याऽऽदृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः ।**
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धामाशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ— लोक में उनके लिए कोई अपना या पराया नहीं है और न कोई विशेष आदर का पात्र है एवं न निन्दा के योग्य है, हम अनेक व्रत कर उस माया को ही ग्रहण करने की इच्छा करते हैं जिसको उन्होने भोग कर फैंक दी हैं ॥ २५ ॥

सुबोधिनी—न ह्यस्येति । हीति युक्तोऽयमर्थः। यस्तूत्पद्यते संबन्ध्यते वा क्वचित्, तस्य संबन्ध्यपेक्षा; महादेवस्य ब्रह्मत्वेन तदुभयाभावात् **न संबन्ध्यपेक्षेत्यर्थः अतः एव लोके** तस्य स्वजनो नाऽस्ति । **स्वश्चासौ** जनश्च, आत्मीयो नास्तीत्यर्थः । **परः** शत्रुः । एतदुद्वयं देहधर्मः । **नाऽऽत्याऽऽदृत इति** अन्यन्तस्नेहपात्रम्, **विगर्ह्यो** निन्दितो द्वेषपात्रम्, एतदुभयमन्तःकरणधर्मः, स्निग्ध एवाऽऽदृतो भवति, गर्हितः स्नेहरहित एव । ननु तस्य विषयाणामपेक्षितत्वात् य एव विषयान् प्रयच्छति यो वा निवर्तयति स तथा भविष्यतीति चेत्तत्राऽऽ-**वयं व्रतैरिति** । तस्य सहजो विषयभोगः, परं तेन त्यक्तः । तथापि **अजा** प्रकृतिर्विषयरूपा तस्यैव, इदृत्तैव प्राप्यते सर्वैः, यथा महाराजविभूतिः, अत एवाऽस्माभिरीश्वरसंबन्धाद्यनपेक्षं व्रतैर्नियमविशेषैराराध्य, पाशुपतादिभिर्वा; तद्-त्तामजामाशास्महे । स हि सेवितः प्रसादत्वेन तां प्रयच्छति । सा हि भोगार्थमुपस्थिता पदयोः पतति । तदा स्वस्याऽनभिप्रेतां मत्वा तामुपासकेभ्यः पदेनाऽपविद्धां प्रयच्छत्यवज्ञया भोगस्याऽभिप्रेतत्वं मन्यमानः । तत्रापि **भुक्तभोगामिति** दृष्टदोषेण परित्यक्तेति ज्ञापयति । अत एव तदपेक्षा सर्वस्य, न तस्य कस्यचिदपेक्षा । सर्वेषामेव सेवकत्वान्नोपेक्षाऽपि ॥ २५ ॥

व्याख्या—'हि' पद से यह सूचित किया है कि यह बात सत्य है कि, जो उत्पन्न होता है या उसका किसी से सम्बन्ध हो जाता है तो उसको सम्बन्धी की अपेक्षा हो जाती है किन्तु यह अर्थ जीव में चरितार्थ होता है महादेव जी तो ब्रह्म हैं अतः से हो उनका उनमें इन दोनों का अभाव है जिससे उनको सम्बन्धी की अपेक्षा नहीं है, इस कारणी लोक में कोई न अपना है और न कोई पराया (शत्रु) है, ये दोनों देह के (वादेहधारी के) धर्म हैं, अतः उनके ब्रह्म होने से, इनके लिए न कोई अत्यन्त स्नेह पात्र है और न कोई द्वेष पात्र (शत्रु) है, ये दोनों धर्म अन्तःकरण के हैं, जिसमें प्रेम है वही आदरणीय होता है और जिसमें स्नेह नहीं वह निन्दनीय होता है ।

उनको विषयों की अपेक्षा होने से जो ही विषयों (भोग पदार्थों) को देगा और जो न देगा तो

वह वैसा (स्नेह व अस्नेह का) पात्र बनेगा, यदि यों समझाया जाय तो उसपर इस प्रकार से उत्तर देते हैं—

यद्यपि उनका स्वाभाविक विषय भोग है किन्तु उन्होंने त्याग दिया है, तो भी वह माया विषय रूप प्रकृति उनकी ही है, सब लोग उनकी दी हुई ही प्राप्त कर सकते हैं, जैसे महाराज अपनी विभूति को जिसको दे वह उसका उपयोग कर सकता है।

इसलिये ही हम महादेव के सम्बन्ध की अपेक्षा (इच्छा) न कर पाशुपत आदि व्रतों द्वारा उनको प्राप्त करना चाहते हैं, जो ही प्रेम से व्रतादि से सेवा करता है उसको प्रसाद रूप से वह (समृद्धि आदि) देते हैं, । वह प्रकृति भोगों के लिए उपस्थित शङ्कर के पैरों में पड़ती है किन्तु शङ्कर को अभिप्रेत (पसंद) न होने से पैरों से वे ठुकरा कर फेंकते हुए जो (उन भोगों को) चाहते हैं उन सब को ही दे देते हैं, आपने तो उसका भोग कर उसके दोष जान लिए इसलिए उसका त्याग किया है सबको उसकी अपेक्षा है, उसको किस की अपेक्षा नहीं है, सब आपके सेवक हैं अतः उपेक्षा (त्याग) भी नहीं है ।। २५ ।।

आभास—तर्हि विगर्हितरूपेण किमिति तिष्ठतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तब निन्दित स्वरूप वाले महादेव से क्या (कोन सा) लाभ ? जो उसकी आप स्तुति कर रहे हो ? यों शङ्का का उत्तर देते हैं—

श्लोक—यस्याऽनवद्याचरितं मनीषिणो गृह्णन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम् ।।२६।।

श्लोकार्थ—बुद्धिमान पुरुष अविद्या के पर्दे को हटाने के लिए उनके निर्दोष आचरणों को ग्रहण करते हैं सत्पुरुषों की कोति वाले आप से बढ़कर तो क्या परन्तु समान भी कोई नहीं है इनकी इस लीला कौन जान सकता है कि ये स्वयं पिशाचों जैसा आचरण क्यों करते हैं ? ।। २६ ।।

सुबोधिनी—यस्याऽनवद्याचरितमिति । यस्य महादेवस्य : **अनवद्यमाचरितं** सर्वविषयत्यागेन स्वात्मचिन्तनरूपम् । मनीषिणो बुद्धिमन्तो मोक्षोपायान्वेषिणः, अत एवाऽविद्यापटलं बिभित्सवोऽविद्याभेदनार्थं प्रवृत्ताः आचरितं **गृह्णन्ति** । न हि महादेववद्यावन्मनुष्यो न तिष्ठेत्, तावत्कस्याजिज्ञानं भवति । अत एव भगवान् महादेवो नित्यनिवृत्तानर्थोऽपि लोकशिक्षार्थं **पिशाचचर्यामचरत्** । मतान्तरे महान् हीनभावं प्राप्नोति चेत्तदा मुच्यते समभावे संसारः, उत्कर्षाहङ्कारे हीनभावः । अतः सतां स्वयं तथा भूत्वाऽपि शिक्षक इति गतिर्भवति । उपदेष्टा, फलं वा । देवोत्तमस्य पिशाचत्वमेवाऽपकर्षः । एवं मनुष्यैर्गोमृगकाकचर्या कर्तव्येत्युपदेशः ।। २६ ।।

व्याख्या—जिन महादेव जी के सब विषय को त्याग कर स्वात्मा के चिन्तन रूप सुन्दर

चरित्रों को, मोक्ष के उपाय का अन्वेषण (शोध) करने वाले बुद्धिमान् अविद्या की प्रकृत्ति को दूर करने के लिए ग्रहण करते है परन्तु जब तक मनुष्य महादेवजी की तरह विषयों का त्याग नहीं करता है तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता है ।

भगवान् महादेव से अनर्थ दूर भाग गये है तो भी लोक शिक्षा के लिए आप पिशाच के समान आचरण करते है, मतान्तर के अनुसार बड़ा मनुष्य जब साधारण स्थिति धारण करता है तब मोक्ष पा सकता है, क्यों कि साधारण स्थिति से अहंकार की निवृति होती है उच्च स्थित्ति में रहने पर अभिमान् बढता है जो गिराने वाला है अतः अभिमान् से निवृत्र रहने के लिए निम्न (नीची) स्थिति धारण कर दैन्य प्रकट करने की मनुष्य को शिक्षा देने के लिए महादेव जी ने पिशाचों का आचरण धारण किया है इसी तरह मनुष्यों को भी बैल, मृग और कौए जैसा आचरण करना चाहिए यों उपदेश दिया है ।। २६ ।।

आभास—ननु लोके निन्दितो महादेवः कथमेवं स्तुयते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—लोक में निन्दित महादेव की इस प्रकार स्तुति कैसे करते हो ? इस पर यह श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**हसन्ति यस्याऽऽचरितं सुदुर्भगाः स्वात्मन्रतस्याऽविदुषः समीहितम् ।**
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ।। २७ ।।

श्लोकार्थ—जो अज्ञानी पुरुष कुत्तों के भोजन रूप देह को आत्म्य समझकर वस्त्र, आभूषण आदि से इसको सजा कर लाड लडाते हैं वे अभागे अज्ञानी ही आत्माराम भगवान् महादेव के चरित्र के रहस्य को न जानकर आचरण की निन्दा करते हैं ।। २७ ।।

सुबोधिनी—हसन्तीति । तत्पदं गन्तुमशक्तास्तं हसन्ति निन्दन्तीत्यर्थः । यस्य सर्वोपकारार्थं प्रवृत्तस्याऽऽ**चरितम्** । **सुदुर्भगा** इति भाग्यरहिताः । सर्वोऽपि स्वसमानं दृष्ट्वा स्वाभिलषितं वा स्तौति, तद्विपरीतं तु हसति । तद्वैलक्षण्यमाह—स हि पूर्णज्ञानः आत्मारामः । तदाह-**आत्मन्रतस्येति** । अन्ये त्वज्ञा बहिर्मुखाः । अत एवाऽविदुषः, सम्यगीहितं भगवच्चरित्रं न जानन्ति । वैलक्षण्याभिनिवेश एव निन्दायां हेतुरिति । निन्दकानां विषयाभिनिवेशमाह—**यैरिति** । **वस्त्राणि** उष्णीषादीनि, **माल्यानि** पुष्पाणि, **आभरणानि** कङ्कणादीनि, **अनुलेपनानि** चन्दनादीनि-चत्वार एते पदार्था देहोपलालनहेतवः ये पुनरेतदुपलालकास्ते देहात्माभिमानिन इति निश्चितम् । वस्तुतस्त्वयं देहः **श्वभोजनम्**, ग्राम एव तेषां मरणसम्भवान्न गृध्रादीनां ग्रहणम् । केवलमुपलालने धर्मो वा भवेदिति तन्निवृत्यर्थमाह-**स्वात्मतयेति** । स्वपदेन भगवत्त्वेन, तदधिष्ठातृत्वेन वा उपलालनं व्यावर्तितम्, अन्यथा '**भोगैरात्मानमात्मनि**' इति पक्षो विरुध्येत ।।२७।।

व्याख्या—महादेवजी के समान स्थान को प्राप्त करने में अशक्त ही उनकी निन्दा करते हैं, महादेवजी ने तो ऐसे आचरणों में प्रवृत्ति सकल जगत् के लोगों पर उपकार करने के लिए की है वे निन्दक भाग्यहीन है, लोक में सकल जन अपने समान और अपने को पसन्द चरित्र देख कर स्तुति करते हैं यदि वह अपने चरित्र से विपरीत है व अपने को अभिलषिता (पसन्द) नहीं है तो उसकी निन्दा करते है व उस पर हँसते हैं, महादेवजी के स्वरूप की विलक्षणता (अलौकिकता) दिखाते है कि वे पूर्ण ज्ञानी आत्माराम है, 'आत्मनेरतस्य' आत्मा में रमण करते है, ऐसे को जो निन्दा करते हैं, वे अज्ञ (मूर्ख) एवं बहिर्मुख हैं, इसलिए ही वे अविद्वान (अज्ञानी) हैं सुन्दर भगवच्चरित्र के आशय को जानते नहीं उस चरित्र की विलक्षणता ही निन्दा में कारण है, वे निन्दक इसलिए हुए है जो उनका प्रेम विषयों में है (१) वाग आदि वस्त्र, (२) पुष्प (३) आभूषण (कङ्कण आदि) (४) चन्दानादि सुगन्धित पदार्थ, ये ४ पदार्थ देह को लाड लडाने के काम के हैं। जो इस तरह देह को लाड लडाते हैं वे देह को ही आत्मा मानने वाले अज्ञानी हैं, यों निश्चय है, वास्तव में देह तो कुत्तों का भोजन है वह (देही) ग्राम (गांव) में ही जीव से पृथक होती है अतः वहाँ कुत्ते ही होते है गिद्ध आदि वहां नहीं होते है इसलिए 'श्व भोजनसां कहा है। केवल देह का लालन करने से धर्म होता हो सो वह तो होता नहीं, अतः 'श्व' पद से भगवान्पने से, व उसके अधिष्ठातापन से उपलालन नहीं होता है, यह सिद्ध किया है अन्यथा 'भोगैरात्मानमात्मनि' भागों से देह की भीतर की आत्मा को लाड लडाना इस मत का विरोध होता है ॥ २७ ॥

आभास—ननु महादेवस्य पिशाचचर्यायाँ किमित्येवमभिप्रायः कल्प्यते ? शापात्पिशाचत्वं जातमित्येव कथं नोच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—महादेवजी की विशाचचर्या का अभिप्राय इस तरह की कल्पना से क्यों करते हो यह क्यों नहीं स्पष्ट कहते हो कि दक्ष के शाप के कारण वैसे बने हैं इस प्रकार की शङ्का का निवारण इस श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।**
आज्ञाकारी तस्य पिशाचचर्या अहो! मिभूम्नश्चरितं विडम्बनम्॥२८॥

श्लोकार्थ—जिनकी (महादेव की) बनाई हुई धर्म मर्यादा का पालन ब्रह्मा आदि देव भी करते है विश्व की उत्पति का कारण जो माया है वह जिनकी दासी है अर्थात् आज्ञा कारिणी है वैसे महादेव, पिशाच सम आचरण करते हैं यह आश्चर्य है, वस्तुतः भूमा की यह (विशाच चर्या) केवल अनुकरण मात्र ही है ॥ २८ ॥

सुबोधिनी—ब्रह्मादय इति । भवेदेतदेवम्, यद्युत्कर्षहेतुर्न स्यात् । सर्वोत्कृष्ट लोके ब्रह्मादयः, ते येन महादेवेन द्धता मर्यादा मोक्षमभिव्याप्य वर्तन्त इति सेतुरूपाः, तुषां परिपालकाः, आज्ञाकारिण इत्यर्थः । इदं च विश्वं यत्कारणम्, या माया कारण यस्य । सा माया आज्ञाका-

रिणीति। आज्ञां चेत् प्रयच्छेत्, तदा माया महादेवभोगार्थं ब्रह्माण्डकोटीः सृजेत्। एवं विश्वकारणं विश्वप्रवर्तकांश्च यो नियमयति, तस्य **पिशाच चर्या विडम्बनमेव** अनुकरणम्। यथा ब्राह्मणः कौतुकाविष्टः पिशाचादिवेषान् करोति, तदपि त याऽनुचितम्। यतो **विभूमा**, न ततोऽन्यः कश्चिन्महानस्ति; विडम्बनेन यं रसनुक्तं कुर्यात्। तथापि करोतीत्याश्चर्यम्। तदाह-**अहो इति**॥ २८॥

व्याख्या—यदि हम उत्कर्ष का कारण न होवे तो शाप से ऐसे करते हैं माना भी जावे किन्तु लोक में जो ब्रह्मा आदि देव सर्व से उत्कृष्ट (महान्) हैं वे भी महादेव को मोक्ष पर्यन्त धर्म की बनाई हुई मर्यादा का पालन करने वाले है, इस विश्व को उत्पन्न करने वाली माया जिनकी आज्ञाकारिणी दासी है, अतः यदि उस दासी को आज्ञा करे तो माया महादेवजी के लिए कोटि ब्रह्माण्डों को बना दे, इसी तरह जो विश्व के कारण माया को तथा विश्व प्रवर्तक ब्रह्मादि देवों को नियम में कर सकते है उनकी यह पिशाचचर्या केवल अनुकरण स्वांग (नाटक) है, जैसे ब्राह्मण आनन्द की धुन में पिशाचादि वेष पहन स्वांग करता है यद्यपि वह वेष उसके लिए जचता नहीं है वैसे महादेव जी भी स्वांग कर रहे हैं, क्यों कि आप (महादेव) भूमा होने से सबसे बड़े है अतः अन्य कोई बड़ा न होने से किसी को स्वांग द्वारा रसयुक्त (आनन्दित) करें, तो भी इस प्रकार स्वांग करते हैं यह आश्चर्य है यह बताने के लिए ही 'अहो' पद दिया है॥ २८॥

आभास—एवं महादेवभक्तां महादेवगुणकथनेन तत्परां करिष्यामीति कृतेऽपि स्तोत्रे सा उद्गतकामा न निवृत्ता जातेत्याह—

आभासार्थ—महादेव की भक्त दिति को महादेव के गुणादि बताकर उनके परायण करूंगा इस आशा से इतनी स्तुति की किन्तु कामान्ध दिति पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ जिससे संबंध के आग्रह को त्यागा नहीं जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**एवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया (?)।**
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा॥ २९॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा कि पति के इतना समझाने पर भी, काम पीड़िता दिति ने निर्लज्ज हो वृषली (शूद्राया वेश्या) की तरह ब्रह्मर्षि कष्यपजी का वस्त्र पकड़ लिया॥ २९॥

सुबोधिनी—**एवमिति** वाचनिकेनैव प्रतिकारस्य करणात् तत्परित्यज्य कायिकं व्यापारं कृतवती। न च वक्तव्यम्, तदुक्तोऽर्थो न बुद्ध इति। एवं भर्त्रा सम्यक् वादे कृते, सवादे वा कृते, सम्यक् विदिते ज्ञाते सतिवा; तथापि **मन्मथोन्मथि-ताशया** वासो जग्राह। एवं धाष्टर्य वषल्या भव–

तीति तद्दृष्टान्तः । ब्रह्मर्षेरिति क्षोभकरणं मारणं च निवारयति । वस्त्रग्रहणे क्षोभो ज्ञातो भविष्यतीति-**वासोजग्राह** । इन्द्रियमथनं विवेक-धैर्याद्यनुत्पादार्थम् । एकान्तत्वात्, भर्तृत्वाच्च अपाभावस्तस्या उक्तः ॥ २९ ॥

व्याख्या – दिति ने जो वाणी से प्रार्थना कर मांगा था उसका उत्तर कश्यपजी ने वाणी से दे दिया । अतः अब वाणी से प्रार्थना का त्याग कर काया से सम्बन्ध की चाहना प्रकट करने लगी । पति के कहे हुवे का भाव मैंने नहीं समझा यों कहना उचित नहीं क्यों कि पति देव ने बाद बहुत सुन्दर ढंग से किया संवाद कर समझाया जिससे अच्छी तरह समझ भी लिया तो भी कामदेव ने इन्द्रियों को मथन कर बेबस कर डाला था जिससे मूक चुप हो पति का वस्त्र पकड़ कर अपना भाव प्रकट कर दिया । इस प्रकार की धृष्टता वृषली (वैश्या) से ही होती है वस्त्र पकड़ने पर कश्यप को क्षोभ न हुआ और न उसने इसका कोई दण्ड दिति को दिया, क्यों कि आप ब्रह्मर्षि थे वस्त्र ग्रहण से दिति ने अपनी काम पीड़ा प्रकट की है जिसको रोकने में उसने असमर्थता दिखाई है, दिति में इस समय विवेक धैर्य दोनों न रहे थे कारण कि मन्मथ (कःम) ने उसकी इन्द्रियों का मथन कर उनमें जोश उत्पन्न कर दिया था जिससे वह रुक न सकी वस्त्र को पकड़ लिया, क्यों कि वह एकान्त स्थल था वहां दूसरा कोई था नहीं केवल पति (कश्यप) थे इसलिए उसने ऐसे समय में लज्जा छोड़ने में संकोच नहीं किया ॥ २९ ॥

आभास---एवं तया कृते यज्जातं तदाह्---

आभासार्थ – दिति के इस प्रकार (वस्त्र पकड़ने की क्रिया) करने पर जो कुछ हुआ उसका **वर्णन इस श्लोक में करते हैं** ॥ ३० ॥

श्लोक---**स विदित्वाऽथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि ।**
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाऽथोपविवेश ह ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ---कश्यपजी ने भार्या का निन्दनीय कर्म में आग्रह जानकर काल को नमन करने लगे अनन्तर एकान्त में उसके साथ समबन्ध किया ॥ ३० ॥

सुबोधिनी---**स विदित्वेति । अथेति** वचनं वञ्चनाभावाद्यर्थम् । भार्यात्वादपि तदिच्छापूरणम् । **विकर्मणि** कर्मनाशे । कालकृतं तद्विदित्वा, **दिष्टाय** कालाय **नत्वा** । गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौविधानात् दिष्टायेति चतुर्थी । **रहसि** एकान्ते, अग्निहोत्रगृहं परित्यज्य गृहान्तरे । **अथेति** वैदिकप्रकारेण गर्भाधानप्रकारेण तया सह **उपविवेश** । हेत्याश्चर्यम् । महतो विकर्मणि प्रवृत्तिः ॥ ३० ॥

व्याख्या—'अथ' पद देने का आशय (भाव) यह है कि दिति ने वञ्चन (ठगना) आदि तो किया नहीं है, वह भार्या है मैं पति हूं पति से कामेच्छा पूर्ण करने की आग्रह पूर्वक प्रार्थना की है

इसमें वञ्चना (ठगना) नहीं है अतः भार्यात्व के कारण इसकी इच्छा पूर्ण करनी चाहिये। 'विकर्मणि' कर्म के नाश करने में तत्पर हुई है, किन्तु यों काल ने कराया है यों जानकर काल को नमस्कार किया, गति अर्थ वाली क्रिया में द्वितीया एवं चतुर्थी विभक्ति का व्याकरण में विधान है अतः 'दिष्टय' चतुर्थी विभक्ति है 'रहसि' एकान्त में अर्थात् अग्निहोत्रालय का त्यागकर अन्यगृह में जाके 'अथ' का भावार्थ प्रकट करती है कि वेदोक्त प्रकार से गर्भाधान करने के योग्य आसन (सम्बन्ध) किया, 'ह' पद से महान् पुरुष भी विकर्म (निन्द्यकार्य) में प्रवृत्त हुए है जिससे कर्म का नाश होता है अतः यह कार्य आश्चर्य कारक है। ३०॥

आभास---एवं गर्भाधानं कृत्वा यत्कृतवांस्ताह--

आभासार्थ—इस तरह गर्भाधान करने के अनन्तर कश्यपजी ने जो किया वह इस श्लोक में कहते हैं--

श्लोक---**अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः।**
ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ---अनन्तर स्नान कर प्राणायाम किया एवं वाणीका नियमन कर अविद्यानाशक सनातन शुद्ध ब्रह्मज्योति का ध्यान धरते हुए उसका जाप किया ॥३१॥

सुबोधिनी—**अथोपस्पृश्येति**। अत्रापि भिन्नक्रमः प्रायश्चित्तार्थः, कामाभावाद्यर्थे वा। **सलिलमुपस्पृश्येति** स्नात्वा। '**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्**' **इति** दोषाभावार्थं प्राणानायम्य। **वाग्यतः** तन्निर्भर्त्सनाद्यकृत्वा। **ध्यायन्**, भगवच्चरणारविन्दं ज्ञानमार्गानुसारेण **ब्रह्म ज्योतिः** सर्वप्रकाशकम्, **विरजमविद्यानाशकं ध्यायन् जजापेति**। प्रणवार्थं ध्यायन् प्रणवं जजापेत्यर्थः॥ ३१ ॥

व्याख्या—'अथ' शब्द से बताते हैं कि यह विषय पृथक प्रारम्भ किया जाता है क्यों कि इसमें किये हुए विकर्म का प्रायश्चित कहा है तथा काम आदि का अभाव है, स्नानकर, दोषों को भस्म करने के लिए प्राणायाम् किया वाणी का संयम कर लिया नहीं तो दिति को उपालभ्य आदि देते. 'ध्यायन' ध्यान करने लगे, जिसका ध्यान किया वह स्पष्ट करते है कि सर्व-प्रकाशक ब्रह्मज्योति जो भगवच्चरणारविन्द है एवं जो अविद्या का नाश करने वाला है, अर्थात् प्रणव (अक्षरधाम भगवच्चरणारविन्द) का ध्यान करते हुए उसका जय करने लगे यों भावार्थ हैं ॥ ३१ ।

आभास---एवमृषेः प्रायश्चित्तमुक्त्वा तस्या अपि यथोचितमपराधप्रायश्चित्तमाह-

आभासार्थ— इस प्रकार ऋषि का प्रायश्चित कह कर उसके (दिति के) भी अपराध का यथोचित प्रायश्चित इस श्लोक में कहते है—

श्लोक—दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत ! ।
उपसंगम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! इसी निन्दित कर्म के करने से दिति भी लज्जित हुई, अतः विप्रर्षि पति के पास नीचा मुख कर यों कहने लगी ।। ३२ ।।

सुबोधिनी - **दितिस्त्विति** । तुशब्दः पूर्वभावव्यावृत्त्यर्थः । कर्मण्यवद्यं कर्मावद्यम्, अग्निहोत्रमध्ये निन्दितकरणम्, तेन **व्रीडिता** । अन्यत्तु न विगीतम् । अतस्तेन प्रसिद्धेन अपराधेन व्रीडिता सत्युपसंगम्य अभ्यभाषतेति संबन्धः । **भारतेति** संबोधनं भ्रमाभावाय । भ्रान्त एव परमेकविधं मन्यते पूरकत्वात् भाव्यर्थज्ञानाच्च **विप्रर्षित्वम्** । **अधोमुखीति** शङ्कान्तराभावाय ॥ ३२ ॥

व्याख्या—'तु' शब्द से यह प्रकट किया है कि दिति के पहले भाव अब नहीं रहे हैं, अग्निहोत्र शाला में जो निन्दित कर्म (सम्बन्ध के लिए पति का वस्त्र पकड़ लेने जैसे निन्द्य कर्म) किया जिससे लज्जित हो गई, दूसरा कोई कर्म निन्दित नहीं था। अतः उस प्रसिद्ध अपराध से लज्जित होती हुई पति के पास जा नीचे मुख कर बोलने लगी, विदुर को हे भारत ! यह सम्बोधन भ्रम मिटाने के लिए दिया है, जो भ्रान्त होता है वह ही सबको एक प्रकार का मानता है कश्यपजी को 'विप्रर्षि' विशेषण से यह सूचित किया है कि कश्यपजी कामनाओं की पूर्ति करने वाले तथा भविष्य के ज्ञाता हैं। दिति के नीचा मुख करने से निन्दित कर्म करने का उसने प्रायश्चित किया है इसलिए मुझमें अब दूसरी शङ्का न समझनी चाहिये। ॥ ३२ ॥

आभास—निषिद्धाचरणाभावात् नाऽत्र स्मृत्याद्युक्तप्रायश्चित्तम्, अङ्गत्वात्कालस्याऽपि न साक्षादधर्महेतुत्वम् । यथा अकाले कृतो धर्मः अकृतो भवति, एवमकाले कृतो गर्भोऽकृतो भवेत्; तत्र केवलकालस्य न बाधकत्वमपि, कर्मस्वभावानां बलिष्ठत्वात्, दैत्यानां स्वभावनिष्ठत्वाच्च । अतः कालाधिष्ठात्री देवता महादेवः कदाचित् हन्यात् ? तत्रापि ब्राह्मणक्रोधसहितो हन्यादेव । अतो ब्राह्मणक्रोधाभावं प्रार्थयितुं व्याजेन महादेवभक्तं तं ज्ञात्वा महादेवं प्रार्थयति । इयं च प्रार्थना नैमित्तिकीति नैमित्तिकमनूद्य, तदभावं काम्यत्वेन प्रथमं निर्दिशति---

आभासार्थ—दिति ने जो इस प्रकार का प्रायश्चित किया वह स्मृतियों में कहा हुआ प्रायश्चित नहीं था कारण कि इसने शास्त्र निषिद्ध आचरण नहीं किया था काल भी कर्म का अंग होने से साक्षात अधर्म का हेतु नहीं है जैसे बिना काल के किया हुआ धर्म न करने के समान है, इसी तरह गर्भ स्थापन का समय न हो उस काल में गर्भ स्थापना भी अस्थापना के समान है, गर्भ स्थान में केवल काल का बाधकपन नहीं हैं क्यों कि कर्म तथा स्वभाव उसमें बलिष्ठ है और दैत्यों के स्वभाव

में श्रद्धा होती है अतः काल अधिष्ठाता देव महादेव कदाचित् गर्भ का नाश कर डाले, उसमें भी यदि ब्राह्मण का क्रोध भी हो तो मार ही डाले, इसलिए ब्राह्मण क्रोध न करे ऐसी प्रार्थना करने के लिए उसको (कश्यपजी को) महादेव का भक्त जानकर व्याज मिष बहाने) से महादेव की प्रार्थना करती है, यह प्रार्थना किसी निमित्त से होने के कारण निम्न श्लोक में वह निमित्त कह कर उसका अभाव इच्छित है यों पहले बताती हैं—

श्लोक — **दितिरुवाच । मा मे गर्भमिमं ब्रह्मन्भूतानामृषभोऽवधीत् ।**
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याऽकरवमंहसम् ।। ३३ ।।

श्लोकार्थ—दिति ने कहा हे ब्रह्मन ! भूतों में श्रेष्ठ रुद्र मेरे गर्भ का नाश न करे क्योंकि रुद्र प्राणी मात्र के पति हैं जिसका मैंने अपराध किया है ।। ३३ ।।

सुबोधिनी - **मा मे गर्भमिति** । इमं संजातं गर्भं रुद्रो माऽवधित् । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं तत्प्रतीकारकरणसामर्थ्यसूचयति । मारणे उपायः— **भूतानामृषभ इति** । भूतप्रेरणया मारयेत् । भूतानि हि गर्भं प्रविश्य स्रावयेयुः । ननु स प्रजापतिः प्रजानामुत्पादकः, कथं प्रजाः मारयेत्तत्राऽऽह—से **भूतानां पतिः**, ये उत्पन्नास्तेषां स्वामी; यतो **रुद्रो** रोदयतीति । स हि बालक उत्पन्न एव रोदिति, न गर्भस्थः । अतो गर्भस्तदीयो न भवतीति गर्भं नाशयतीति वा । एवं गर्भनाशने उपपत्तिमुक्त्वा निमित्तमाह—**यस्याऽकरवमंहसमिति** । यस्याऽपराधं कृतवत्यस्मि ।। ३३ ।।

व्याख्या—इस उत्पन्न गर्भ का रुद्र नाश न करे, हे ब्रह्मन ! इस सम्बोधन से कश्यपजी को यह सूचित किया है कि उसके प्रतिकार करने की शक्ति आप में है 'भूतानामृषभः' पद से यह बताया है कि महादेव भूतों के स्वामी हैं अतः उनके कहने से मार डाले अथवा भूत ही गर्भ में प्रवेश कर उसका (गर्भ का) स्राव कर देवे, महादेव प्रजा के उत्पादक (पैदा करने वाले) हैं वह अपनी प्रजा को कैसे मारेंगे, इस पर कहते है 'सभूतानां पतिः' जो भी उत्पन्न हुए हैं उनके वे स्वामी हैं क्यों कि आप भी बालक हैं अतः रोदन करने व कराने के कारण ही रुद्र है । गर्भ में स्थित रोता नहीं है गर्भ से बाहर आने पर ही रोता है । अतः गर्भ उसका नहीं, इसलिए गर्भ का नाश कर दे, इसी तरह गर्भ नाश में युक्ति बताकर अब नाश करने का कारण बताती है कि 'यस्याऽकर वमंहस मिति' जिस (महादेव) का मैंने अपराध किया है । ।। ३३ ।।

आभास—एवं संकल्पमुक्त्वा, तत्सिद्धयर्थं रुद्रं प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस तरह अपना संकल्प (विचार) कह कर उसकी सिद्धि के लिए रुद्र (महादेव) की प्रार्थना करती है—

श्लोक—**नमो रुद्राय महते तेवायोग्राय मीढुषे ।**
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ।। ३४ ।।

श्लोकार्थ—रुद्र, महान्, देव, उग्र, कामनापूरक, कल्याण रूप, जिसने दण्ड देना त्याग दिया है, किन्तु दुष्टों का दमन करने के लिये दण्ड धारण कर रखा है तथा क्रोध रूप ऐसे विविध लीला रूप महादेव को नमस्कार है ॥ ३४ ॥

सुबोधिनी—**नमो रुद्रायेति**। स हि गुणत्रयात्मकः, अहङ्कारस्य त्रिगुणत्वात्, अतो नवभिर्विशेषणैस्तत्प्रार्थना। महतां नमनमेव प्रसादने हेतुः। तत्र प्रथमं भूतानां कृपया यद्रोदनं कृतवान् सा कृपाऽत्राऽप्यनुसन्धेयेति ज्ञापनार्थं **रुद्रायेत्याह** अपराधसहनार्थम्- **महते**, प्रार्थनया अपराधसहनार्थम्-**देवाय**। अनेन तामसादिभावास्त्रय उक्ताः पुनस्तानाह-**उग्रायेति**त्रिभिः। अन्यप्रेरणया मारयिष्यतीतीमं पक्षं व्यावर्तयति-**उग्रायेति**। न हि उग्रस्याऽग्रे कश्चिद्वक्तुं शक्नोति। तर्हि प्रार्थितोऽपि मारयेदित्याशङ्क्य, न केवलमुग्र एव, किन्तु सर्वेषां कामवर्षकोऽपित्याह-**मीढुष इति** माढ्वान वृषभः, पतिः, कामवर्षक इति, यावत्। किञ्च, न केवलं स फलदाता, किन्तु फलरूपोऽपीत्याह-**शिवायेति**। कल्याणरुपाय। अतः प्रार्थितो न मारयिष्यति, कल्याणं च करिष्यतीत्युक्तम्। पुनस्तृततीयपर्याये सत्वादिभावानाह-**न्यस्तदण्डायेत्यादि**त्रिभिः। स हि पूर्वं दक्षं हत्वा महत्युपद्रवे जाते दण्डनं त्यक्तवान्। इदमपि ब्रह्मबीजम्, अतोऽमारणार्थं महादेवकृतमिममर्थं स्मारयति-**न्यस्तदण्डायेति**। तर्हि प्रार्थना व्यर्था, स्वत एव दण्डस्य त्यक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह-**धृतदण्डायेति**। दुष्टमारणार्थं धृतो दण्डोयेन। तर्हि स्वत एव प्राथ्यंतां किं ममाऽग्रे कथनेनेत्याह-**मन्यव इति**। स हि ब्रह्ममन्ययुरूपः। ब्रह्ममन्युनैव प्रकटो भवति, नाऽन्यथा। अतस्त्वयि प्रसन्न एव स निवर्तते, नाऽन्यथेत्यर्थः। ॥ ३४ ॥

व्याख्या—महादेव त्रिगुणात्मक है क्योंकि अहङ्कार तीन गुण वाला हैं, अतः नव (नौ) विशेषणों से उनकी प्रार्थना की है, महान् पुरुषों को प्रसन्न करने का तरीका उनको प्रणाम करना ही है,

१— 'रुद्राय' पद से यह प्रकट किया है कि आप भूतों के दुःखों को सहन न करने से रोये थे ऐसे दयालु स्वरूप आपको नमस्कार है अब ऐसी कृपा मुझ पर भी कीजिये,

२— 'महते' आप उदार हैं, उदार अपराध क्षमा करते हैं आप भी मेरे अपराधों को क्षमा करोगे उदार स्वरूप आपको प्रणाम है।

३— 'देवाय' पद से यह सूचित किया है कि आप '**देव**' होने से अपराधों को अवश्य क्षमा करोगे अतः देव रूप आपको प्रणाम है, यों तामसादि तीन भाव कहे।

४— 'उग्राय' नाम द्वारा प्रकट करती है कि अन्य के कहने से मारेंगे यह शङ्का भी असत्य है क्यों कि आप उग्ररूप हैं जिससे आपको कोई कुछ भी नहीं कह सकता है, तभी तो प्रार्थना करने पर भी मार डालेगा, इस शङ्का निवारण के लिए कहा है कि केवल उग्र नहीं है किन्तु सब की कामना के पूरक भी है।

५— 'मिढुष' विशेषण से स्पष्ट किया है कि कामनाओं को पूर्ण करने वाले श्रेष्ठ पति भी हैं अतः आपको नमस्कार है।

६— 'शिवाय' विशेषण से बताती है कि आप केवल फलदाता नहीं किन्तु कल्याण रूप होने से 'फलरूप' भी हो अतः फलदाता एवं फलरूप आपको प्रणाम है कल्याण रूप होने से कल्याण करोगे अब तीसरी पंक्ति में सत्वादिभाव प्रकट करते हैं, महादेव ने दक्ष को मारा तब महान् उपद्रव हुआ देखकर दण्ड देना छोड़ दिया।

७— 'न्यस्तदण्डाय' विशेषण से प्रकट किया है कि तब तो प्रार्थना करनी व्यर्थ है इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते है कि, दुष्टों के दमन के लिए दण्ड धारण कर रखा है।

८— 'धृतदण्डाय' इस विशेषण से स्पष्ट किया है। हे ब्रह्मन्! यदि आप कहो कि तब तूं स्वतः (अपने आप)उनको प्रार्थना कर मेरे आगे कहने से क्या लाभ? इस पर ९वां विशेषण देती है,

९— 'मन्यवे' क्रोध के रूप (विशेषण) से समझाया है कि वह ब्राह्मण के क्रोध का स्वरूप है। ब्राह्मण के क्रोध से प्रकट होता है अन्य प्रकार से नहीं अतः आपके प्रसन्न होने पर वह मारने से रुकेंगे अन्य प्रकार से नहीं ॥ ३४ ॥

आभास—एवं नमस्कारेण रुद्रं प्रार्थयित्वा पूर्वापराधं दूरीकृत्य भर्तारं प्रसादयितुमहङ्कारे स्थिते प्रसादोऽशक्य इति तदहङ्कारनिवृत्त्यर्थं महादेवमेव प्रार्थयति—

आभासार्थ—इस प्रकार नमस्कार करने से रुद्र की प्रार्थना कर पहले के अपराध मिटाये, अब पति को प्रसन्न करना चाहती है किन्तु जब तक अहंकार है तब तक पति प्रसन्न नहीं होते अतः अहंकार निवृत्ति के लिए इस श्लोक में महादेवजी की ही प्रार्थना करती है।

श्लोक—**स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः।**
व्याधस्याऽप्यनुकम्प्यानाँ स्त्रीणां देवः सतीपतिः ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—वे महादेवजी हम पर प्रसन्न होवें क्योंकि मेरे बहनोई हैं। जबकि हम स्त्रियों पर व्याध भी दया करता है (वे) तो सती के पति दयालु, स्त्रियों के देव और मेरे बहनोई होने से अवश्य कृपा करेंगे ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी—स न इति। स पूर्वोक्तो नोऽस्मभ्यं प्रसीदताम्। यतो भामो भगिनीपतिः। न केवलं स्वतः प्रसादः, किन्तु भर्तारमपि प्रसादयुक्तं करोत्विति तत्सामर्थ्यार्थं भगवानित्युक्तम्। ननु कृतेऽपराधे दण्डाभाव एव भूयान्, कुतोऽनुग्रहं करिष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह-उर्वनुग्रह इति। उरुरनुग्रहो यस्य। प्रार्थितोऽन केवलमबाधक एव, किन्तु फलदाताऽपीत्यर्थः। किञ्च, अस्मास्वनुग्रहः कर्तुमेवोचितः, यतो वयं स्त्रियो व्याधस्याऽनुकम्प्याः। पुरुषार्थार्थं हि तस्याऽपि हननम्। अर्था-

पेक्षया कामो महान्, स च स्त्रिया सत्यैव; अतो व्याधस्याऽप्यवध्याः, यतः स्त्रियोऽनुकम्प्याः। सर्वस्याऽऽनन्ददायिका अपि स्वयमकृतार्था भवन्तीति। किञ्च, स स्त्रीणां देवः, स्त्रियो हि गौरीमेव सभर्तृकां पूजयन्ति, स एव क्रीडाकर्तेति वा। किञ्च, **सतीपतिरिति**। स्त्रीणां स्वभावज्ञ इति ॥ ३५ ॥

व्याख्या पूर्व में जिनका वर्णन किया है वे महादेव हम पर प्रसन्न हों, कारण कि मेरे बहनोई हैं. केवल आप प्रसन्न हो यों नहीं किन्तु मेरे पति को भी मुझ पर प्रसन्न करें, ऐसी शक्ति आप (महादेव) में है इसलिए भगवान् विशेषण दिया है अपराध करने पर यदि दण्ड न दिया जाय, यह ही बहुत है अपराधी पर कृपा कैसे की जायेगी ? इस पर कहती है कि आप महान् अनुग्रह करने वाले हैं अतः प्रार्थना सुनकर केवल शिक्षा ही करते हैं यों नहीं है किन्तु फल (सुख आनन्द) भी देते हैं, फिर विशेष तो यह है कि हम पर तो कृपा करनी ही उचित है क्यों कि हम स्त्रियाँ है। अर्थ (द्रव्य) के लिए हिंसा करने वाला व्याध भी हम पर दया करता है कारण द्रव्य पुरुषार्थ से काम पुरुषार्थ विशेष है वह पुरुषार्थ तब सिद्ध होता है जब स्त्री विद्यमान हो। स्त्री ही ससार में आनन्द देने वाली है। सबको आनन्द देकर भी स्वंय (खुद) अपना कोई मतलब सिद्ध नहीं करती है अतः स्त्रियाँ दया के योग्य है।

महादेवजी ! आप तो स्त्रियों के देव हैं इसलिए ही स्त्रियां गौरी का पूजन आप के साथ ही करती हैं अथवा महादेव ! आप ही देव होने से क्रीड़ा करने वाले हैं विशेषता यह है कि सती के पति होने से स्त्रियों के स्वभाव को पहचानते हैं ॥ ३५ ॥

आभास—एवं महादेवे स्तुते अर्द्धं प्रसन्नः कश्यपः क्रोधं प्रसादं च कृतवानित्याह-

आभासार्थ—इस तरह महादेव जी की स्तुति होने पर कश्यप जी आधे प्रसन्न हुए अतः क्रोध तथा प्रसाद दोनों किये यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

मैत्रेय उवाच। श्लोक—स्वसर्गस्याऽऽशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम्।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे कि जब प्रजापति कश्यपजी ने सन्ध्या काल के कर्म से निवृत्त होकर देखा कि दिति कांप रही है, और सन्तान के इस लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति के लिए प्रार्थना कर रही है जब उसको निम्न प्रकार से कहा ॥ ३६ ॥

सुबोधिनी—स्वसर्गस्येति। स्वस्य सर्गस्य गर्भस्य, लोक्यां सर्वलोकप्रसिद्धामाशिषमाशासानां कामयमानाम्, किं भविष्यतीति **प्रवेपती**मतिकम्पमानाम्, स्वयं निवृत्तसन्ध्यानियमो भूत्वा भार्यात्वादवश्यवक्तव्यामाह। प्रजापतित्वाच्च वचनं निष्ठुरम्, अन्यथा सर्वा एव तथा कुर्युः। दयावश्यकत्वाभ्यां सामिचीन्यकथनम् ॥ ३६ ॥

व्याख्या—अपने गर्भ के लिए लोक प्रसिद्धि शुभ कामना चाहती हुई भी इसलिए कांप रही थी कि कुसमय में धारण किये हुऐ गर्भ का क्या होगा इस विचार से विशेष कांप रही थी उस समय कश्यप जी सन्ध्या समय के कर्म से निवृत्त हो गये थे सामने भार्या की यह दशा देखी मन में आया कि भार्या है अतः इसको शिक्षार्थ अवश्य कहना चाहिए कश्यप प्रजापति है अतः उनके वचन कठोर होंगे यदि कठोर बचन न कहे तो संसार में समस्त स्त्रियाँ यों करने लग जायगी दया करनी और इस तरह कहना भी आवश्यक होने से यह कथन समीचीन (श्रेष्ठ) है ।। ३६ ।।

आभास—प्रथमतो दोषफलमाह-अप्रायत्यादित्यादिचतुर्भिः—

आभासार्थ—पहले 'अप्रायत्याद्'-आदि निम्न चार श्लोकों से दिति के किये हुए दोषों के फल का वर्णन कश्यप जी करते हैं—

कश्यप उवाच-श्लोक—अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत ।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चैव हेलनात् ।। ३७ ।।

श्लोकार्थ—कश्यप जी ने कहा कि तुम्हारा चित्त रजस्वला होने से मलिन था वह समय भी अशुद्ध था मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया तथा देवों का भी तिरस्कार किया ।। ३७ ।।

श्लोक—**भविष्यतस्तवाऽभद्राभद्रे ! जाठराधमौ ।**
लोकान्सपालांस्त्रींश्चण्डि ! मुहुराक्रन्दयिष्यतः ।। ३८ ।।

श्लोकार्थ—हे अभद्रे (दुष्ट स्त्री) जठर के दोष से तुझे दो अधम (नीच) पुत्र उत्पन्न होंगे । हे चण्डी ! वे लोकपालों सहित सकल लोक को रुलायेंगे ।। ३८ ।।

सुबोधिनी—तस्या दोषचतुष्टयमनुवदति हेतुत्वेन, प्रसादेऽपि विपरीतफलावश्यकत्वाय । प्रथममाह-**अप्रायत्यादिति** । ते **आत्मनो** देहस्य **अप्रायत्यात्** अप्रयतत्वात्, रजस्वलात्वादित्यर्थः । **मौहूर्त्तिको दोषः** सन्ध्यारूपः, तत्रोत्पन्नो दुष्टो न जीवति च । **उतेत्यप्यर्थे** । एको दोषः सूतकवन्न दोषान्तरं दूरीकरोति किन्तु समुच्चीयत इत्यर्थः तृतीयं दोषमाह **मन्निदेशातिचारेणेति** । ममाऽऽज्ञोल्लङ्घनेन । अत्राप्युत, देहलीत्वात् । चतुर्थो दोषः **देवानां चैव हेलनादिति** । देवानां भूतानां, गार्हपत्यादीनाँ वा; **हेलनमवज्ञा** ।। ३७ ।।

सुबोधिनी—एवं चतुर्भिर्दोषैस्तव पुत्रद्वयं भविष्यतीत्याह, एकैकत्र दोषद्वयसंक्रमात् । तत्र हिरण्याक्षे प्रथमौ, तस्यशीघ्रं मरणात्, तपस्यादिकरणाभावाच्च । **अभद्रे** इति संबोधनं पुत्रस्योभयांशत्वेऽपि मातृदोषेणैव दुष्टाविति ज्ञापयितुम्, अतस्तावभद्रौ । ननु **'माता भस्त्रा पितुः पुत्रः'**

इति शास्त्राद्बीजादुष्टत्वे कथंतयोर्दोषवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह-**जाठराधमाविति** । जठरे जातेन-दोषेणाऽधमौ । उत्तमबीजमपि यथा शूद्रायां प्रविष्टं शूद्रतामापद्यते तथेत्यर्थः । तयोर्दोषमाह-**लोकानिति** । लोकपालसहितान् लोकान् मुहुराक्रन्दयिष्यतः । रुद्रकालजातत्वाद्रोदयितृत्वम् । **चण्डि** ? कोपनशीले । अयमपि दोषस्तवैव ।।३८।।

व्याख्या--मेरी कृपा होने पर भी अवश्य फल विपरीत ही होगा जिसके चार कारण हैं- १- तेरा शरीर अपवित्र था, कारण कि संयम रहित तथा रजस्वला वाला था २- समय संध्या रूप होने से दूषित था यह दोष था ऐसे समय में उत्पन्न दुष्ट होता है वो जीता नहीं 'उत' शब्द अपि (भी) अर्थ में है सूतक की तरह एक दोष दूसरे को मिटा नहीं सकता है किन्तु वह भी उसमें मिल जाता है ३- मेरी आज्ञा का पालन न करना, 'उत' शब्द देहली दीपक न्यायानुसार उत्तरार्द्ध से भी सम्बन्ध वाला है ४- देवों की अवहेलना, देव पद से भूत एवं गार्हपत्यादि अग्निओं की अवहेलना (तिरस्कार) करना है ।। ३७ ।।

इस प्रकार के चार दोषों के कारण तुझे जो दो पुत्र होंगे प्रत्येक में दो दोष का प्रभाव पड़ेगा हिरण्याक्ष में पहले दोष प्रभाव डालेंगे जिससे वह शीघ्र मरेगा तथा तप आदि नहीं कर सकेगा दिति को 'अभद्रे' सम्बोधन से यह सूचित किया कि यद्यपि पुत्र में माता पिता दोनों का अंश होता है तो भी ये मातृ दोष से ही दुष्ट हुवे हैं अतः वे 'अभद्र' (अकल्याणकारी) हुवे हैं । 'माता भस्त्रा पितुः पुत्रः माता चर्म की थैली (धमणसम) है अतः पुत्र पिता का है इस शास्त्रवचनानुसार बीज शुद्ध होने पर ये दो दोष वाले (दुष्ट) कैसे (क्यों) हुए ? इस शङ्का को मिटाने के लिये 'जाठराधमौ' पद कहा है जठर के दोष से अधम हुए हैं जैसे उत्तम बीज शुद्रा में प्रविष्ट होने पर शुद्रत्व को प्राप्त होता है वैसे ये भी हुवे हैं दोनों के दोष बताते हैं लोक पालों सहित लोकों को रुलाएंगे जिस का कारण रुद्र के काल में उत्पन्न होना है 'चण्डी' सम्बोधन से उसका स्वभाव कोप युक्त बताया है, अतः यह दोष भी तुम्हारा ही है ।। ३८ ।।

आभास--एवं तयोर्दोषमेकमुक्त्वा अन्यांस्त्रीन्दोषाम ह—

आभासार्थ--इस प्रकार उनका एक दोष कह कर निम्न श्लोक में तीन दूसरे दोष कहते है—

श्लोक—**प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम् ।**
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ।। ३९ ।।

श्लोकार्थ--जब वे निर्दोष और दीन प्राणियों का संहार करेंगे, तथा स्त्रियों पर अत्याचार करेंगे एवं महात्मा इनके अत्याचारों से कुपित होंगे ।। ३९ ।।

सुबोधिनी—प्राणिनामिति । प्राणिनां दोषवत्त्वेऽपि दीनानां वधोऽनुचितः, तत्राऽप्यकृतागसां वध इत्येको दोषः, स्त्रीणां निगृह्यमाणानामित्यपरः । पातिव्रत्यात्त्याजनं निग्रहः । **कोपितेषु-महात्मस्विति** चाऽपरः तेषां भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्कोपः ॥ ३९ ॥

व्याख्या--दीन प्राणी दोष वाले हों तो भी उनका वध करना उचित नहीं है परन्तु ये तो निरपराधों का वध करेंगे यह एक दोष स्त्रियों पर अत्याचार करना दूसरा दोष 'निग्रह' पद से सूचित किया है कि पतिव्रताओं का पातिव्रत्य छुड़ाएंगें । तीसरा दोष, महात्माओं की भगवत्सेवा आदि सत्कर्मों में प्रतिबन्ध डालेंगे जिससे वे कुपित होंगे ॥ ३९ ॥

आभास----एवं दोषजतुष्टये जाते 'भक्तद्रोहे वधः स्मृतः' इति वाक्यात्परमेश्वरस्तौ मारयिष्यतीत्याह--

आभासार्थ--यों ४ दोष होने पर 'भक्त द्रोहे वध स्मृतः' भक्त के द्रोह करने पर वध कहा है इस वाक्यानुसार, परमेश्वर उनका वध करेंगे यों इस श्लोक में कहते हैं--

श्लोक--तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः ।
हनिष्यत्यवतीर्याऽसौ यथाऽद्रीन् शतपर्वधृक् ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—जैसे इन्द्र पर्वतों का नाश करता है वैसे क्रुद्ध विश्वपति, लोक पालक भगवान् अवतार धारण कर इनका नाश करेंगे ॥ ४० ॥

सुबोधिनी--तदेति । मारणे हेतुः- **विश्वेश्वर इति** । न हि, जगतीश्वरद्वयं भवति । किञ्च, क्रुद्धः, भक्तानां पीडनात् । **भगवानिति** वैकुण्ठापचारपरिहारार्थं मपि तादृशयोनेस्त्याजयिष्यतीति सूचयति । **लोकभावन इति** मर्यादारक्षार्थमपि तद्धननम् । स्वामिनः सेवकवधः साक्षादनुचित इत्यवतीर्य हनिष्यति वराहनृसिंहरूपेण । **असाविति** सोऽत्रैव तिष्ठतीति हननावश्यकत्वं सूचितम् । **शतपर्वधृगिति** । यथा प्राणिनां क्लेशनिवृत्त्यर्थं वज्रहस्तेनेन्द्रेण भारेण पततां पर्वतानां पक्षच्छेदः क्रियते, तद्वदीश्वरस्य तादृशवध आवश्यक इत्यर्थः ॥४०॥

व्याख्या--इनको भगवान् मारेंगे जिसका कारण बताने के लिये 'विश्वेश्वर' पद दिया है । जगत् में दो ईश्वर नहीं होते हैं किन्तु भक्तों को पीड़ित देखकर 'कुपित' भगवान् शब्द से यह सूचना दी है कि इन्होंने वैकुण्ठ में भी अपराध किया था जिससे यह यौनि ली है अब भगवान् उस अपराध से प्राप्त यौनि से उनको छुड़ाना चाहते हैं ।

आप, लोकों का पालन करने वाले हैं अतः मर्यादा रक्षार्थ भी वध करना आवश्यक है स्वामी स्वयं सेवक का वध करे यह उचित नहीं है अतः वराह तथा नृसिंह रूप से प्रकट हो कर मारेंगे 'असौ' पद से सूचित किया है कि वह यहाँ ही विराजते हैं इसलिए पापियों का वध करना उनके लिये आवश्यक ही है, 'शतपर्वधृक्' पद देकर दृष्टान्त द्वारा इसकी आवश्यकता सिद्ध करते हैं- जैसे

प्राणियों के क्लेश निवृत्यर्थ इन्द्र ने वज्र को हाथ में ले कर, भार से उड़ते हुवे पर्वतों की पाँखों को काट डाला वैसे ईश्वर को भी लोक कल्याणार्थ इनका वध करना आवश्यक है ।। ४० ।।

आभास—भर्त्रा क्रोधेन अनिष्टे श्राविते, सा विष्णुभक्ता पुत्रयोर्भगवत्संबन्धं श्रुत्वा सतुष्टा, तथेत्यन्वमोदतेत्याह–

आभासार्थ—पति से इस कर्म का अनिष्ट फल सुना, किन्तु विष्णु भक्त होने से पुत्रों का भगवान् से सम्बन्ध सुनने से प्रसन्न हुई अतः जिसका इस श्लोक में अनुमोदन करती है—

दितिरुवाच । श्लोक—**वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना ।**
आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणात्प्रभो ! ।। ४१ ।।

श्लोकार्थ—दिति ने कहा:- हे स्वामिन् ! मैं भी चाहती हूं कि मेरे पुत्रों का वध भगवान् के साक्षात् स्वहस्त से हो किन्तु क्रुद्ध ब्राह्मण से न हो ।। ४१ ।।

सुबोधिनी—**वधं भगवतेति** । तेन पूर्वं '**कोपितेषु महात्मसु**' इति महापुरुषकोप उक्तः । स शापपर्यवसायीमा भवतु । तच्छापेन भगवतापि वधे कृते सामीचीन्यं न भविष्यतीति तदभावेन केवलं भगवानेव ब्राह्मणप्रेरणाव्यतिरेकेण करोत्विति प्रार्थयति । **साक्षादिति** स्वहस्तेन, न तु कालादिना । **सुनाभोदारबाहुनेति** । वधेऽपि सुदर्शनेनैव हस्तेनैव । यतो हस्त एव मोक्षादिसर्वपुरुषार्थदाता । **आशासे**, कामितोऽयमर्थो दुर्लभः; परमनभिप्रेत क्रुद्धादेव ब्राह्मणाद्वधः । तथा वरो देय इति तत्र सामर्थ्यं सूचितं प्रभो इति ।।४१।।

व्याख्या—कश्यप जी ने पहले कहा है कि तेरे पुत्र महात्मा ब्राह्मणों को कुपित करेंगे अतः दिति कहती है कि वह ब्राह्मणों का कोप शाप न दिलावें यदि वे शाप देंगे तो उनके शाप से भगवान् वध करेंगे तो फल श्रेष्ठ नहीं होगा इसलिए ब्राह्मणों के शाप से प्रेरित भगवान् वध न करें केवल स्वेच्छा से भगवान् स्वयं ही वध करें यों प्रार्थना करती हूँ, । 'साक्षात्' पद का भावार्थ है अपने सुदर्शन या हस्त कमल से वध करें कालादि से वध न करावे, क्योंकि आप श्री का हस्त ही मोक्ष सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले हैं मैं ऐसी आशा करती हूँ यद्यपि यह आशा पूर्ण होना दुर्लभ है तो भी हे स्वामी ! आप में ऐसी सामर्थ्य है जिससे भगवान् मेरी आशा पूर्ण करेंगे, कुपित ब्राह्मण से पुत्रों का वध नहीं चाहती हूँ अतः कृपा कर ऐसा वर दीजिये ।। ४१ ।।

आभास—ब्राह्मणाद्वधोऽत्यन्तविगर्हित इति वक्तुं तस्य परलोकबाधकत्वमाह—

आभासार्थ—ब्राह्मण से वध अत्यन्त (बहुत ही) निन्दित है यों कहने के लिये इस श्लोक में कारण बताती है कि परलोक में रुकावट कर्ता है—

श्लोक—न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च ।
नारकाश्चाऽनुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः ।। ४२ ।।

श्लोकार्थ—जो जीव ब्राह्मणों के शाप रूप अग्नि से दग्ध हुआ (जला) है और जो प्राणियों को भयकर्ता है वह किसी भी योनि में होगा तो भी उस पर नारकी जीव अनुग्रह तो क्या, उसका स्पर्श भी नहीं करते हैं ।। ४२ ।।

सुबोधिनी—न ब्रह्मदण्डेति । ब्रह्मदण्डेन ब्रह्मशापेनाऽग्निरूपेण । दण्डो हि दृढकाष्ठरूपो भवति, तद्गतोऽग्निः सर्वथैव ददेत् । तत्र हेतुः—**भूतभयदस्येति** । ब्रह्मदण्डदग्ध एव भूतेभ्यो भयं प्रयच्छति, नह्यन्यः स्वयं दुःखाभिज्ञः परेभ्यो दुःखं प्रयच्छति । ब्रह्मशापे तु ज्ञानादीनां नाशात्तथाकर्तुं शक्नोति, पृथग्वा हेतुः । **चकाराद्भगवद्द्वेषिणः** । नारका अपि तस्य संबन्धिनस्तान्वा नाऽनुगृह्णन्ति द्वितीयार्थे षष्ठी । **चकारादन्येऽपि** । अप्यर्थे वा चकारः, नारका अपि तं न स्पृशन्तीत्यर्थः । असौ ब्रह्मदण्डदग्धाधियौ यां योनिं गतः । नारका द्विविधाः, स्थानभेदा योनिभेदाश्च । तत्र योनिभेदे दैहिकः संबन्धोऽधिको भवतीति कदाचिदनुग्रहो भवेत्, तन्निषेधार्थमाह-**यां यां योनिमसौ गत वति** ।४२।।

व्याख्या—ब्राह्मण के दण्ड से अर्थात् ब्राह्मण के शाप रूप अग्नि से डण्डा मजबूत काष्ठ (लकडी) का होता है उसके भीतर रही हुई अग्नि सर्व प्रकार से जलाती रहती है कारण कि जो ब्राह्मणदण्ड से दग्ध है वह ही प्राणियों का भयकर्ता होता है अर्थात् डराता रहता है ऐसे जीव के सिवाय दूसरा खुद दुःख का जानकार होने से अन्य किसी को दुःख देना नहीं चाहता है । ब्राह्मणों के शाप मिलने से ज्ञानादि नष्ट हो जाते हैं जिससे वह यों कर सकता है अर्थात् दूसरों का भयकर्त्ता बन सकता है, अथवा यह भी नारकी स्पर्श नहीं करते हैं जिसका पृथक् कारण है, 'च' पद से उनको भगवान् के द्वेषी कहा है ।

नरक निवासी भी उसके सम्बन्धियों पर तथा उन पर अनुग्रह नहीं करते हैं यहाँ दी हुई छठी विभक्ति द्वितियार्थ में है 'च' पद का आशय है कि नारकियों के सिवाय दूसरे भी उसका स्पर्श नहीं करते हैं अथवा 'च' पद 'भी' अर्थ में दिया है जिसका आशय है कि अन्य तो स्पर्श नहीं करते हैं किन्तु नरकवासी भी उसको छूते नहीं', यह ब्रह्मदण्ड से दग्ध आदि जिस जिस योनि में भी गया हो तो अस्पर्श्य ही होता है ।

नरकवासी दो प्रकार के होते हैं (१) स्थान भेद वाले (२) जुदी जुदी योनि वाले । उसमें योनि भेद में दैहिक सम्बन्ध अधिक होता है जिससे कदाचित् अनुग्रह हो जावे ऐसे विचार का निषेध 'यांयां योनिनसौ गतः' पद से करते हैं, किसी भी योनि में हो तो उस पर अनुग्रह (स्पर्शादि) नहीं होता है ।। ४२ ।।

आभास—कश्यपस्तां भगवद्भक्तां ज्ञात्वा, स्वबीजस्याऽपि सार्थकतां विलोक्य, वरं प्रयच्छति । कृतशोकानुतापेनेत्यादिसप्तभिः—

आभासार्थ—कश्यपजी दिति को भगवद्भक्ता जानकर और यों करने से (वर देने से) बीज की भी सार्थकता होगी अतः निम्न श्लोकों से वर देते हैं—

कश्यप उवाचः—श्लोक—कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् ।
भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चाऽऽदरात् ।। ४३ ।।

श्लोकार्थ—कश्यपजी कहने लगे कि तुमने किये हुए कर्म का शोक तथा पश्चाताप भी किया एवं अपराध की क्षमा माँगली इसलिए और भगवान् में बहुत आदर करने से एवं महादेव तथा मुझमें आदर करने से (श्लोक ४४ से संबंध) ।।४३।।

सुबोधिनी - वरः, पौत्रो वैष्णवस्तव भविष्यतीति । तत्र प्रथमं तस्याः षड्गुणानाह—कृतं यत् कर्म, तत्र शोकः, स्वपुरूषार्थो मया नाशित इति, यथा पुत्रादिनाशे शोकः । एवं कृतेऽपि भोगे, जातेऽपि गर्भे, शोकः । **अनुतापो** मया किमर्थं कृतमिति पश्चात्तापः । द्वयोरेकवद्भावः कर्तुर्दुःखजननसाम्यात् । अन्यं गुणमाह—**सद्यः प्रत्यवमर्शनादिति** । प्रत्यवमर्शनमपराधक्षमापनम् । अत्र विनयेनाऽऽगमनं प्रार्थना च प्रत्यवमर्शः । **भगवत्युरुमानो 'वधं भगवता साक्षात्'** इति पुत्रापेक्षयाऽपि भगवत्यधिकसंमाननम् । लोके पुत्रमारकोऽत्यन्तं द्विष्टः, स चेदत्यतं मानितस्तदाऽयं महान् गुणः । गुणद्वयमाह—**भवे मय्यपि चाऽऽदराविति** । पूर्वं **न मे गर्भम्**' इत्यादि भवस्याऽऽदरः सूचितः । मय्यादरः '**प्रभो**' इति संबोधनात्, ब्राह्मणाधिक्याद्वा ।। ४३ ।।

व्याख्या—वर देते है, तेरा पौत्र वैष्णव होगा, इनमें से पहले माता (दिति) के छः गुण कहते हैं। जो कर्म किया उसका शोक करने लगी अरे ! मैंने अपना पुरुषार्थ नाश कर दिया जैसा पुत्र नाश में शोक किया जाता है वैसा शोक किया, इसी तरह भोग सिद्ध करने पर तथा गर्भ होने पर भी शोक हुआ, फिर शोक के साथ पश्चात्ताप भी किया कि मैंने ऐसा कार्य क्यों किया ? शोक और पश्चात्ताप करने का साथ में कहने का भाव यह है कि कर्त्ता को शोक तथा पश्चात्ताप में समान दुःख प्राप्ति हुई है अन्य गुण ३ कहते है, विनय के साथ आगमन तथा क्षमा प्रार्थना करना, भगवान् में विशेष आदर जैसे की लोक में जो पुत्र को मारता है वह शत्रु तथा धिक्कार का पात्र माना जाता है यहां तो पुत्र वध कर्त्ता साक्षात् भगवान् हो ऐसी आशा करती है जिससे भगवान् में आदर तथा प्रेम प्रकट किया है जिससे यह ४ महान् गुण हैं दूसरे दो बताते हैं महादेव तथा मुझमें आदर जैसे 'न मे गभम्' पद से महादेव जी में आदर प्रकट किया, तथा 'प्रभो' सम्बोधन से मेरा आदर सूचित किया है अथवा ब्राह्मण की विशेषता दिखाई है ।। ४३ ।।

कारिका—**कारणे षड्गुणाः क्षेत्रे कार्ये, बीज स्वभावतः ।**
अष्टादशगुणा जातास्ते कीर्त्यन्ते क्रमादिमे ।। १ ।।

कारिकार्थ-जो क्षेत्र (माता) में छः गुण हुवे, बीज स्वभाव से वे कार्य (पुत्र) में अठारह गुण हो गये उनका क्रमशः इन श्लोकों में वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

श्लोक--**पुत्रस्यैव तु पुत्राणां भवितैकः सतां मतः ।**
गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ—तुम्हारे एक पुत्र के चार पुत्रों में से एक पुत्र ऐसा होगा, जिसका मान सत्पुरुष भी करेंगे, जिसका शुद्ध यश भक्तजन भगवान् के गुणों के साथ गायेंगे ॥ ४४ ॥

सुबोधिनी—एतैः षड्भिर्गुणैः कृत्वा, एकस्य ज्येष्ठयस्य पुत्राणां चतुर्णां मध्ये एकस्तृतीयः सतां मतो भविष्यति । अनेन वंशवृद्धिरपि सूचिता । सतां मतस्तेषां प्रमाणभूतः, अन्यथा सन् सत्तम इति वा वक्तव्यः स्यात् । मतस्तु मानेनैव ज्ञातः । अनेन भगवन्मार्गे स प्रमाणमिति निरूपितम् । तस्य प्रमेयतामाह-**गास्यन्तीति** । प्रमातु तदेव योग्यम्, यत्कदाचिदपि विरुद्धज्ञानविषया न भवति, फलतः साधनतश्च । अतो भगवद्यशो यदा गीयते तदा तदाधारत्वेन प्रह्लादयशो गीयते । आधाराधेययोस्तुल्यत्वात्समत्वम् । भक्तानामाधारत्वं पूर्वं निरूपितम् । शुद्धमिति विशेषः । खण्डश आधारत्वव्यावृत्त्यर्थं सममित्युक्तम् । **भगवद्यशसेति** करणं वा, शुद्धत्वे समत्वे च । दैत्यानां यशः प्रायेण विषमं भवतीति मतान्तरत्वाच्च तुल्यत्वकथनमपि न दोषाय । यथा '**पुण्यश्लोको नलो राजा**' इति । अत एव गास्यन्ति लोकाः ॥ ४४ ॥

व्याख्या—इन छः गुणों के कारण बडे पुत्रों के चार पुत्रों में से एक (तीसरे) का सत्पुरुष आदर करेंगे, यों कहने से वंश की वृद्धि भी कही है 'सत्ता मतः' शब्द से प्रामाणिकता, व्यक्त की है नहीं तो 'सन् सत्तमः इति वा ' श्रेष्ठया श्रेष्ठ कहते हैं 'मत पद तो उत्तमता में प्रमाणरूपता' प्रकट करता है इससे भगवन्मार्ग में वह प्रमाण रूप है यों निरूपण किया है

अब प्रमेयता कहते है 'गास्यन्ति' पद से सूचित करते हैं कि वह ही ऐसा होगा जो उससे किसी समय भी साधन वा फल में विरुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी अतः वही प्रमेय (ज्ञेय) योग्य है, अतः जब भगवद् यश गाया जाता है तब उनका आधार लेकर ही प्रह्लाद का यशोगान किया जाता है आधार और आधेय और दोनों प्रकार समान होने से दोनों में समता है । भक्त ही भगवद् यश के आधार हैं यों पहले कहा गया है ।

प्रह्लाद का यश शुद्ध है । यह अन्यों से विशेष है क्यों कि अन्यों का यश पूर्ण शुद्ध नहीं है 'समता' कहकर यह सूचित किया है कि, स्वल्प आधार नहीं किन्तु पूर्ण है अथवा 'भगवद्यशसा' पद से 'करण' को सूचित किया है और शुद्धत्व तथा समत्व भी इस पद से प्रकट किया है—

दैत्यों का यश प्राय: विषम (समान व शुद्ध नहीं) होता है, मतान्तर होने से तुल्यता दिखाने में भी दोष नहीं है, जैसे 'पुण्य श्लोको नलो राजा' नल राजा को पुण्य श्लोक कहा जाता है वैसे प्रह्लाद के यश को भगवान् के कहने में दोष नहीं है इसलिए ही लोक इस प्रकार प्रह्लाद के गुण गान करेंगे। ।।४४।।

आभास—एवं साधारण्येन प्रमेयत्वमुपपाद्य, असाधारण्येनोपपादयति—

आभासार्थ—इस तरह साधारण रीति से प्रमेयपन को सिद्ध कर अब निम्न श्लोक में विशेष प्रकार से सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः।**
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम् ।। ४५ ।।

श्लोकार्थ—जैसे अशुद्ध सुवर्ण (सोने) को अग्नि में डालकर तथा कल्कादि धातुओं से शुद्ध किया जाता है वैसे साधुजन उसके स्वभाव का अनुकरण करने के लिए वैरादि दोषों को त्याग अपने अन्त:करण को शुद्ध करेंगे ।। ४५ ।।

सुबोधिनी—योगैरिति। यथा कुन्दनकर्तारः कल्कादिभिः सुवर्णं शोधयन्ति, सर्वथाचेन्निर्दुष्टम्। तदा स विजातीयसजातीयान् परिगृह्णाति। क्षुद्रेऽपि सजातीये भगवन्तं योजयितुं शक्नोति, हीरकमिव। तत्र निकषे ज्ञाते। तथा स्वात्मानमपि भावयेत्। अतः सुवर्णे रजतादिदोषा यथा दूरीक्रियन्ते, तथा आत्मन्यपि वैरादिदोषा दूरीकर्तव्याः। अतो निर्वैरताया अवधिर्ज्ञातव्यः। प्रह्लादस्तु औत्पत्तिकताद्दशगुणयुक्तः। अतो **'यथा चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वात्'** इति न्यायेन ब्रह्मचैतन्य मिव स्वचैतन्यं क्रियते, साधनैर्भगवद्भावो वा संपाद्यते, भगवदनुग्रहात्। तथा साधुत्वार्थमन्यत्र भगवद्भावसंपादनार्थं प्रह्लादभावोऽपि संपाद्यते। तदाह—यथा सुवर्णं साधयन्ति, तथा यच्छीलमनुवर्तितुं निर्वैरादिभिरात्मानं साधयिष्यन्ति। **साधवः** परोपकारनिरताः ।। ४५ ।।

व्याख्या—जैसे कुन्दन करने वाले जब पहले स्वर्ण को कल्क आदि धातुओं से शोधकर सर्व प्रकार शुद्ध बनाते हैं तब स्वर्ण विजातीय तथा सजातीय पदार्थों को अपने से सम्बन्ध करा सकता है तथा हीरे की तरह सामान्य भी अपनी जाति वाला हो तो उसका भगवान् के साथ सम्बन्ध करा सकता है अर्थात् कसौटी किया हुआ हल्का सोना भी भगवान् को हीरे की तरह धराया जाता है अत: सत्पुरुष को अपना अन्त:करण शुद्ध करना चाहिये जैसे सुवर्ण में मिली हुई रजतादि धातुओं को निकालकर उसको शुद्ध किया जाता है वैसे वैरादि दोषों को अन्त: करण से निकाल कर उसको शुद्ध करना चाहिये, जिससे यह निश्चय हो जाय कि अन्त: करण में अब वैरादि दोष नहीं रहे हैं प्रह्लाद में तो जन्म के साथ ये गुण निर्वैरत्व आदि मौजूद थे इसलिए 'यथा चिति तन्मात्रेत्र तदात्मकत्वात्' इस सूत्र न्यायानुसार 'चितस्वरूप होने से उसमें उसस्वरूप से ही भोग करते हैं' तदनुसार (चैतन्य को) भगवान् के चैतन्य के समान किया जाता है अथवा भगवान् के अनुग्रह से

भगवद्भाव सम्पादन किया जाता है, तथा साधुपन के लिए अथवा अन्यों में भगवद्भाव उत्पन्न हो इसलिए प्रह्लाद के समान आप को भी सम्पादन करना है. इसलिए कहते हैं कि जैसे स्वर्ण को शुद्ध करते हैं, वैसे परोपकारी साधुजन भी प्रह्लाद के स्वभावानुसार आचरण करने के लिए अपने अन्तःकरण को निर्वैर आदि गुणों से पूर्णकर वैरादि दोषों को निकाल देते हैं ।। ४५ ।।

आभास—एवं प्रमेयत्वं निरूप्य फलत्वं निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रमेयत्व निरूपण कर अब निम्न श्लोक में फलत्व का निरूपण करते हैं।

श्लोक—यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम् ।
स स्वदृग्भगवान्यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ।। ४६ ।।

श्लोकार्थ—जिनकी कृपा से उन्हीं का स्वरूप भूत यह विश्व प्रसन्न हो रहा है वे स्वय प्रकाश स्वरूप भगवान् उस भक्त को अनन्य दृष्टि से प्रसन्न होंगे ।। ४६ ।।

सुबोधिनी—**यत्प्रसादादिति । भगवान् येन तोष्यते** । यद्यपि सर्वेषामात्मत्वात् स्वरूपतस्तुष्ट एव, तथापि साधनेन तुष्टस्तुष्ट इत्युच्यते । तदाह-**यस्याऽनन्यया दृशेति** । प्राणिनां षोडश दृष्टयो भवन्त्यन्तः; दशेन्द्रियाणि, अन्तःकरणचतुष्टयम्, आत्मा, देहश्चेति । प्राणेन सह सप्तदश । तत्सम्बन्धिनः पुत्रादयो बाह्याः सप्तदश । एवं चतुस्त्रिंशदपि दृष्टयो भगवद्विषयिका एव यस्य सोऽनन्यदृक्, सर्वभावेन प्रपन्नः । तदा सर्वभावमापन्नो भगवान् प्रसीदति । ननु भगवत्प्रसाद एव फलं कथमुच्यते ? विश्वस्यैव फलत्वात् । अन्यथा भगवानपि विश्वस्मिन् न रमेत । अत आह यस्य भगवतः प्रसादादिदं विश्वमेव प्रसीदति । भगवत्प्रसाद एव विश्वप्रसादः । अनुसन्धानभेदात् कार्यकारणभावः, अन्यथा कार्ये साधनान्तरमप्येपेक्षेत । अतो भेदव्यावृत्त्यर्थमाह—**यदात्मकमिति** । भगवदात्मकमेव विश्वम् भगवति प्रसन्ने प्रसन्नमेव भवति । तदाऽस्य सर्वत्र कामचारो भवति भगवत इव । ननु भगवान् तं प्रति कथं विषयत्वमापद्यते, हीनभावापत्तेः मर्यादाभङ्गश्च स्यात् । अत आह-**स्वदृगिति** स भगवान् सर्वमात्मत्वेनैव पश्यति । तथा च, तस्य प्रसादे अदमप्यात्मत्वेनैव पश्येत्, अतो न हीनत्वम् न वा मर्यादाभङ्गः । स्वत एव भगवत्त्वात् पूर्णकामोऽपि । तदाह-**भगवानिति** । तस्मात्फलरूपः प्रह्लादः ।। ४६ ।।

व्याख्या—भगवान् जिससे प्रसन्न होंगे, यद्यपि सब की आत्मा आप होने से स्वरूप से सर्वदा सर्वथा प्रसन्न ही हैं तो भी साधन से प्रसन्न हुए, प्रसन्न कहे जाते हैं उस साधन का स्वरूप बतलाते है 'यस्याऽनन्ययादृशा' जिस भक्त की दृष्टि सर्वतः आप में ही लगी हुई है अन्यत्र किसी प्रकार भी नहीं

जाती है, अर्थात् चौंतीस[1] दृष्टियां जीव की होती हैं वे सर्व भगवान् में आसक्त हों, तब पूर्ण साधन होता है जिससे प्रभु प्रसन्न होते हैं ये ३४ ही जब भगवान् में लगी हो तब वह अनन्य भक्त सर्वभाव से प्रसन्न समझा जाता है, जब इस प्रकार भक्त सर्व भाव वाला होता है तब भगवान् प्रसन्न होते हैं।

भगवान् की प्रसन्नता को ही फलरूप कैसे कहते हो ? जब विश्व ही फलरूप है यदि विश्व फलरूप न होवे तो भगवान् भी विश्व में रमण न करे इसलिए कहा है कि जिस भगवान् के प्रसाद (अनुग्रह) से यह विश्व ही प्रसन्न (आनन्दित) होता है भगवान् का अनुग्रह (प्रसन्नता) ही–विश्व की प्रसन्नता है, अनुसन्धान के भेद से ही कार्य कारणभाव है, यदि यों न होवे तो कार्य में दूसरे साधन की अपेक्षा हो जाय, इसलिए भेद मिटाने के लिए कहते हैं 'यदात्मकम्' यह विश्व भगवद्रूप ही है अतः भगवान् के प्रसन्न होने पर यह भी स्वतः प्रसन्न हो जाता है तब इसका (भक्त का) सर्वत्र कामचार (इच्छा की पूर्ति अर्थात् जैसी भी इच्छा हो वैसी पूर्ण कर सकता है), भगवान् की तरह कर सकता है।

भगवान् उसका विषय कैसे हो ? अर्थात् उसको भगवद्दर्शन कैसे हो ? यदि दर्शन हो तो हीन भाव होगा और मर्यादा का भी भंग होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'स्वदृग' पद दिया है, जिसका आशय है कि भगवान् सर्व को अपना रूप ही देखते हैं। वैसे वह भी आपकी कृपा से आत्मापन से देखते हैं जिससे न हीनत्व होता है और न मर्यादा का भंग होता है भक्त स्वतः भगवान् होने से पूर्ण काम भी है इसलिए उसे भगवान् शब्द से कहा है। कारण 'प्रह्लाद' फल रूप है ॥४६॥

आभास—साधनरूपतामाह त्रिभिः, साधनानां त्रैविध्यात्। गुणरूपाणि कानिचित्साधनानि, दोषाभावरूपाण्यपराणि, अन्तरङ्गं फलरूपं चैकम्। तत्र प्रथमं गुणरूपाणि साधनान्याह—

आभासार्थ तीन श्लोकों से साधनों का स्वरूप बताते हैं साधन तीन तरह के हैं कितने ही साधन 'गुणरूप' हैं, दूसरे 'दोषाभावरूप' हैं और अन्तरङ्ग फलरूप एक है उनमें से पहले गुणरूप साधन कहते हैं—

श्लोक—**स वै महाभागवतो महात्मा महानुभावो महतां महिष्ठः।**
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ—यह निश्चय महा भगवदीय, महात्मा, महान् प्रभाव वाला, उत्तम पुरुषों में उत्तम, भक्ति की वृद्धि से भावादित हृदय में भगवान् को विराजमान कर इस देह का त्याग करेगा ॥ ४७ ॥

१— चौंतीस दृष्टियां–दश इन्द्रियाँ चार अन्तःकरण के अंग, एक आत्मा एक देह, एक–प्राण, ये सत्रह, और अपने सम्बन्धी पुत्रादि सत्रह ये सब मिलने से ३४ (चौंतीस) दृष्टियां मानी गयी हैं।

सुबोधिनी—**स वै महाभागवत** इति यस्तूपपत्त्योत्पत्त्या च साधनवान्, स एव तच्छास्त्रे गुणयुक्तः। अतः प्रह्लादस्तादृश इति वै निश्चयेन महाभागवतः। यस्तु भगवदीयो भूत्वा भगवदीयमेव देहादिभिः करोति, जानाति, स भागवतः। यस्तु सर्वदैव तथाविधः, स महाभागवतः। अनेन भगवच्छास्त्रसिद्धं सर्वमेव साधनमुक्तम्। **महात्मेति** द्वितीयं साधनं ज्ञानमार्गसिद्धम्। ब्रह्मभावेन स जीवो महानात्मा भवति, अन्यथा परिच्छिन्न एव स्यात्। महत्त्वं चापरिमितमेव। **महानुभाव** इति तृतीयं साधनम्। कर्ममार्गानुसारेणोत्कर्षः, तत्र ह्यनुभावेनैव महत्त्वम्। कर्मणोऽनित्यत्वेन महत्त्वजनकत्वाभावात् कर्मजनितोऽनुभाव एव तथात्वबोधकः। तस्य महानुभावत्वमग्न्यादिभिर्दाह्याद्यभावात्। सर्वोत्कृष्टोऽनुभावो महान् शीघ्रप्रत्ययहेतुः, महत्प्रत्ययहेतुश्च। **महतां महिष्ठः**, चतुर्थो लोके उत्कर्षहेतुः कीर्तिमतामपि कीर्तिमानित्यर्थः कीर्तिश्रियौ वा लोके महत्त्वहेतू। अत एव महतां मध्येऽत्यन्तं महान् महिष्ठः। एवं चतुर्विध साधनमुक्त्वा पञ्चमं पुरुषार्थरूपं भगवत्स्नेहमलौकिकं साधनत्वेनाऽह-**प्रवृद्धभक्त्येति**। पूर्वसाधनैः प्रकर्षेण वृद्धा या प्रेमलक्षणा भक्तिः, तयाऽनुभाविं तं यदन्तःकरणं प्रेम्णा तदात्मकं संजातम्, यथा भगवान् माति। स हि स्वाश्रयः, अत एव स्वभावापन्नेऽन्तःकरणे संनिविष्टे। वैकुण्ठमिति यद्दर्शनार्थमेतावान् क्लेशोऽनुभूतः। इमं देहं विहास्यति, विदेहकैवल्यं प्राप्स्यति, देहसंततिर्निवर्तिष्यत इत्यर्थः। एवं सर्वशास्त्रलोकसिद्धं साधनं सफलमुक्तं गुणरूपम्॥ ४७॥

व्याख्या—उसको ही शास्त्र (भगवत् शास्त्र) में गुणयुक्त कहा है जो उत्पत्ति और उत्पत्ति से साधन वाला है, अतः प्रह्लाद वैसा है, इसलिए ही निश्चय से कहा जाता है कि (वह) महान् भगवदीय है। जो भगवदीय होके देह आदि से सकल कार्य भगवदीय (भगवत्सम्बन्धी) करता है और जानता है कि मुझे भगवत्सम्बन्धी कार्य (भगवदीय) ही करना है, वह भगवदीय है जो सर्वदा ही इस प्रकार का हो कर रहता है वह महान् भगवदीय है, इससे भगवत्-शास्त्र में कहे हुए सर्व साधन कह दिये हैं।

२ महात्मा, दूसरा साधन ज्ञानमार्ग से सिद्ध है ब्रह्मभाव से वह जीव महान् आत्मा होता है यदि ब्रह्मभाव न हो तो परिच्छिन्न सीमित हो जायेगा ब्रह्म भाव होने पर महत्व भी असीम होता है।

३ महानुभाव, यह तीसरा साधन है, जिसका कर्म मार्ग से उत्कर्ष है क्यों कि उसमें प्रभाव से ही महत्व है, कर्म नाशवान् होने से महत्त्व उत्पन्न नहीं करता है, अतः कर्म करने से जो शक्ति आती है उसके प्रभाव से ही महत्त्व होता है-उसका (प्रह्लाद का) महत्व अग्नि में न जलने से प्रसिद्ध है यह सबसे उत्तम प्रभाव, महान् होने से शीघ्र ही विश्वास का कारण बना है।

४ महतां, महिष्ठा उत्तमों में भाव यह चौथा साधन लोक में उत्कर्ष का कारण है, यशस्वियों में भी वह यशस्वी होता है लोक में कीर्ति और श्री (धन) महत्त्व के कारण हैं इस कारण से ही महान् पुरुषों में अत्यन्त (असीम) उत्तमोत्तम है।

यों चार प्रकार के साधन कहकर पांचवां साधन पुरुषार्थ रूप एवं अलौकिक भगवत्स्नेह रूप को साधनपन से कहते हैं 'प्रवृद्धभक्त्या' आदि ऊपर कहे हुवे साधनों से विशेष प्रकार से बढी हुई जो प्रेमलक्षणा भक्ति उससे भावयुक्त हुए अन्तः करण प्रेम से प्रेम रूप हो गया जिससे भगवान् उस प्रेममय अन्तः करण में विराजमान हो सकते हैं, वह ही स्वाश्रय है इस कारण से ऐसे स्वभाव को प्राप्त हुए अन्तः करण में प्रभु प्रविष्ट होते हैं 'वैकुण्ठ' पद से सूचित किया इस स्वरूप के दर्शनार्थ ही इतना क्लेश भोगा। इस देह का त्याग करेगा, क्यों कि देह रहित मोक्ष प्राप्त करेगा जिससे फिर जन्म लेने की शृङ्खला टूट जायेगी। इस तरह सर्व शास्त्र और लोक सिद्ध गुणरूप साधन सफल हुए। यों कहा ॥ ४७ ॥

आभास—दोषाभावरूपमाह—

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में ,दोषाभाव' रूप साधन कहते हैं।

श्लोक—**अलम्पटः शीलधनो गुणाकरो हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु ।**
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—विषयों में आसक्त नहीं, शील (श्रेष्ठ स्वभाव) ही जिसका धन है गुणविधि अन्यों की समृद्धि देख प्रसन्न होने वाली एवं अन्य के दुःख से व्यथित (दुःखी) होने वाला, जिसका कोई शत्रु नहीं ऐसा वह, चन्द्रमा जैसे ग्रीष्म के ताप को हरण करता है उसी तरह यह भी जगत् के शोक का हरण करने वाला होगा ॥ ४८ ॥

सुबोधिनी—**अलम्पट इति ।** लाम्पट्यमिन्द्रियविषयासक्तिर्दोषः, शीलं सुस्वभावः, तदेव धनं यस्य। सर्वेभ्य एव चौरादिभ्यो धनं संरक्ष्यते, तथा हीनानामतिक्रमादिभिः स्वशीलं संरक्ष्यते । अनेन शीलनाशो दुःशीलता च निवारिता । **गुणाकर इति** । गुणाः सत्यादयः प्रथमस्कन्धोक्ताः, तेषामाकरः स्थानम्। ते सर्वे दोषाभावरूपाः । लौकिका भगवत्युच्यमानास्तथैव भवन्ति। सर्वेषु गुणेषु समता, दया चोत्कृष्टे इति तयोर्विवरणमाह-**हृष्ट परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेष्विति** । स्वसमृद्ध्यैव सर्वो हृष्यति, अयं तु परसमृद्ध्याऽपीति समः। दुःखितेषु व्यथितो दयावानेव भवति: परदुःखं दृष्ट्वा कारुणिक एव दुःखितो भवति । **अभूतशत्रुरिति** । न भूताः शत्रवो यस्य कामादयोऽपि न शत्रवः । **जगतः शोकहर्तेति** सामर्थ्यम्। परदुःखप्रहाणेच्छा सहजा निरुक्ता। शोकस्त्वन्तर्हितस्तापः। बहिस्तापमपि निवारयतीति दृष्टान्तेनाऽऽह-**नैदाघिकमु**ष्णकाले सूर्यजनितम्, तथा कलिकालादौ कालजनितमपि तापम्। **उडुराजश्चन्द्रः**। स हि नक्षत्रैः सह तापं दूरीकरोति । तथा सर्वपरिकरसहितः स्वसान्निध्येन असान्निध्येन वा तापं दूरीकरोती-त्यर्थः ॥ ४८ ॥

व्याख्या—इन्द्रियों के विषयों में आसक्तिरूप दोष को लम्पटता दोष कहा जाता है वह दोष इसमें नही है इसलिए "अलम्पटः" कहा है।

सुन्दर स्वभाव ही जिसका धन है, सकल चोर आदि से धन को रक्षा की जाती है वैसे ही हीन पुरुषों के आक्रमण से शील की रक्षा की जाती है इससे सुन्दर स्वभाव का नाश और खराब स्वभाव दोनों का निवारण करने के लिए 'शील धनः' कहा है, प्रथम स्कन्ध में कहे हुए सत्य आदि गुणों के रहने का स्थान वे समस्त गुण दोषों के अभाव का रूप हैं, लौकिक गुण भी भगवान् में वैसे ही हो जाते हैं। समस्त के गुणों में समानता और उत्कृष्ट में दया इनका विवरण (खुलासा) करते हैं। 'हृष्टः परध्यो व्यथितो दुःखितेषु' लोक में प्रत्येक पुरुष अपनी समृद्धि देख प्रसन्न होता है किन्तु यह (प्रह्लाद) दूसरों को समृद्धि देख, अपनी समृद्धि के समान प्रसन्न होता है दुःखियों के दुःख से व्यथित (व्याकुल) वह होता है जो दयालु होता है दयावान् के अन्तः करण में ही अन्य के दुःखों को देख दया उत्पन्न होती है।

'अभूत शत्रुः' जिसका कोई शत्रु न होगा, विशेष क्या कहे जिसके लिए काम आदि शत्रु न बनेंगे, जगत् के शोक का हरण करने वाला होगा इससे उसका सामर्थ्य कहा है अन्यों के दुःख मिटाने की जिसमें स्वाभाविक इच्छा मौजूद है, शोक तो भातर का ताप है, बाहर का ताप भी निवारण करेगा, वह दृष्टान्त से समझाते हैं, उष्णकाल में सूर्य के ताप के कारण दुःख होता है कलिकाल में काल से उत्पन्न दुष्टकाल रोगादि ताप होता है। 'उडुराज' चन्द्रमा जैसे नक्षत्रों को साथ में लेकर सूर्य जनित ताप मिटाता है वैसे यह (प्रह्लाद) तो अपने साथी भक्तों के साथ सकल लोक के दुःख मिटायेगा चाहे सन्निधि वा असन्निधि सानिध्य वा असानिध्य हो ।। ४८ ।।

आभास—सर्वोत्कृष्टं साधनमाह–

आभासार्थ—इस श्लोक में सबसे उत्तम साधन कहते हैं।

श्लोक—अन्तर्बहिश्चाऽमलमब्जनेत्रं स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम् ।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ।। ४९ ।।

श्लोकार्थ—तेरा पौत्र, जो, सर्वत्र (अन्दर–बाहर) विराजमान है निर्दोष है, कमल नयन हैं, स्वभक्तों की इच्छानुसार समय–समय पर आनन्दमय स्वरूप को धारण करते हैं, लक्ष्मीरूप ललना से सुशोभित है, चमकते हुए कुण्डलों से सुशोभित मुख वाले हैं, उन हरि का साक्षात्कार दर्शन सर्वदा करेगा ।। ४९ ।।

सुबोधिनी – अन्तर्बहिरिति । तस्य हि भगवत्प्रसादेन भक्त्या ज्ञानवैराग्याभ्यां च भगवत्साक्षात्कारो जायते। तत्र भगवान् सर्वत्र साकारः सच्चिदानन्दरूपः, सर्वतः पाणिपादान्तः, मायाजवनिकाच्छन्नस्तिष्ठति । तत्र प्रह्लाददृष्टेर्माया न जवनिकारूपा, तां भित्त्वाऽपि भगवद्रूपं पश्यतीत्यर्थः। केचित्तु प्रसन्नो भगवान् तस्य दृष्टेरग्रे स्वस्यैकां मूर्ति स्थापितवानत्र वर्ण्यमानाम् । तत् यत्रैव दृष्टिं प्रसारयति, तत्रैव तं पश्यतीत्याहुः। तत्र यदि तद्रूपं ब्रह्मस्वरूपम्,

तदा न पूर्वस्माद्विशेषः। अथोपाधिरूपम्, तदा न प्रह्लादस्योत्कर्ष इति । **अन्तर्बहिर्द्रष्टा**, द्रक्ष्यतीत्यर्थः। **अमलमिति**, यथा मध्यन्दिनवर्तिसूर्यमण्डलान्तः। अनेन दोषाभाव उक्तः । **अब्जनेत्रमिति** दृष्टयैव सर्वेष्टपूरकः। अनेन सर्वे गुणा उक्ताः। एवं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्वमुक्त्वा भक्ताधीनत्वमाह**स्वपूरुषेच्छेति**। स्वस्य पुरुषा भक्ताः, तेषां यादृशीच्छा तदनुसारेण गृहीतं रूपं येन । **तव पौत्र इति** भक्त्यंशस्तस्या एव । **श्रीर्लक्ष्मीः, ललना** स्त्रीचिह्नरूपा, तया **ललामम्**। अनेन सर्वभाग्यरूपत्वात् तद्दर्शने किञ्चिदन्यत्प्राप्तव्यं द्रष्टव्यं वा नाऽवशिष्यत इति निरूपितम्। अनेन भगवत ऐहिकफलरूपत्वक्तम्। स्फुरती **ये कुण्डले**, ताभ्यां मण्डितमाननं यस्य । ससाधनौ साङ्ख्ययोगौ स्फुरत्कुण्डले, तत्सहितो योऽयं भक्तिमार्ग स मुखमिति, सोपायमोक्षदातृत्वं निरूपितम् ॥ ४९ ॥

व्याख्या—क्यों कि उसको (तेरे पौत्र प्रह्लाद को) भगवत्कृपा से, भक्ति से, ज्ञान तथा वैराग्य से भगवान् का साक्षात्कार होता है भगवान् सर्वत्र आकार वाले हैं, सच्चिदा नन्द रूप है सर्व स्थल में आपके हस्तपादापि हैं किन्तु माया रूप पर्दे से ढके हुए हैं जिससे दर्शन नहीं होते हैं, लेकिन प्रह्लाद की दृष्टि के आगे, माया पर्दे का काम नहीं कर सकती है अतः उसको तोड़कर भी भगवान् के स्वरूप का दर्शन करता है यों, आशय है।

किन्हीं का मत है कि प्रसन्न हुए भगवान् यहां वर्णित स्वरूप की एक मूर्ति उसकी दृष्टि के सामने स्थापित कर देते हैं जिससे जहां भी देखता है वहां ही उसको दर्शन होते हैं, इस मत पर आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि, यदि वह रूप ब्रह्म स्वरूप है तो पहले कहे हुऐ स्वरूप से इसमें कुछ भी विशेषता नहीं है। यदि वह स्वरूप उपाधिरूप है तो इससे प्रह्लाद का उत्कर्ष (बड़ाई) नहीं है 'अन्तर्वहिर्द्रष्टा' पद से यह सूचित किया है कि प्रह्लाद प्रभु का दर्शन अन्दर बाहर सर्वदा करेगा 'अमलम् इति' जैसे मध्यान्ह के सूर्य मण्डल के भीतर स्थित स्वरूप निर्मल दर्शन देते हैं वैसे यहां भी प्रह्लाद को दर्शन होते हैं (होंगे) इससे निर्दोषत्व प्रकट किया है, 'अब्जनेत्र' पद से यह सूचित किया है कि प्रभु दृष्टि से ही सर्व प्रकार की इच्छा पूर्ण करते हैं। इससे प्रभु में सर्व गुण हैं यह प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार प्रभु, निर्दोष पूर्ण गुण शरीर वाले हैं यों कह कर, अब भगवान् की भक्ताधीनता कहते हैं अपने भक्तों को इच्छानुसार स्वरूप धारण करते हैं 'तव पौत्रः' पद से सूचित करते हैं प्रह्लाद में भक्ति का अंश उसका (दिति) का ही है क्यों कि वह भगवान् की भक्ता है, लक्ष्मी रूप स्त्री चिन्ह से सुन्दर है जिसने सबके भाग्य रूप होने से, उनके दर्शन हो जाने पर फिर कुछ भी प्राप्त करना वा देखना नहीं रहता है इससे भगवान् ऐहिक फल रूप हैं यों कहा, साङ्ख्य एवं योग रूप दो कुण्डलों की झिलमिल से सुशोभित मुख वाले हैं जिससे यह सूचित किया है कि साङ्ख्य और योग सहित जो यह भक्ति मार्ग है वह मुख है, इससे उपाय सहित मोक्षदातापन निरूपण किया ॥ ४९ ॥

आभास---एवं भगवन्माहात्म्यं तादृशं पौत्रं श्रुत्वा सर्व चिन्तारहिता जातेत्याह--

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का माहातम्य तथा वैसा (भगवद्भक्त) पौत्र होगा, सुनकर दिति सर्व चिन्ता से मुक्त हो गई—

मैत्रेय उवाच । श्लोक---श्रुत्वा भागवतं पौत्रं मुमोदत दितिर्भृशम् ।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वाऽऽसीन्महामनाः ।। ५० ।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे कि, दिति अपना पौत्र भगवान् का भक्त होगा यह सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुई, और पुत्रों का वध भगवान् के हाथों से होगा सुन विशेष उत्साह होने से महामना (बड़े मन वाली) हो गयी ।। ५० ।।

सुबोधिनी—श्रुत्वेति । विना पुत्रस्य भगवदीयत्वेन भागवतः पौत्रो न भवतीति पुत्रोऽपि भगवद्भक्तः । परं निमित्तवशादन्यथा प्रतिभासत इति मत्वा **भृषं मुमोदत** मुमुद इत्यर्थः । तकारश्छान्दसः, अलौकिकज्ञानबोधनार्थः । पुत्रयोरपि विनियोगः समीचीनः, भगवति प्रवेशात्, भगवल्लीलासाधकत्वाच्च । अतो ममोद्योगः सफल इति विदित्वा **महामना आसीत्**, यथा कश्चित् परमपुरुषार्थं साधयित्वा मुदितो भवति । अनेन दितिः परमभक्ता । एवंरूपेण भगवल्लीलां संपादयतीति विहितभक्तिमार्गाभावेऽपि भक्तेति मतान्तरेण सृष्ट्युपयोगित्वान्निरूपिता ।। ५० ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
तृतीयस्कन्धे चतुर्दशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्या—दिति असीम प्रसन्न हुई क्योंकि पौत्र भगवान् का भक्त होगा यह सुन समझ गई कि मेरा पुत्र भी भगवद्भक्त है क्योंकि यदि पुत्र भगवद्भक्त न होता तो पौत्र भगवद्भक्त कैसे हुआ ? मेरा पुत्र भगवद्भक्त है किन्तु कारणवश दूसरे प्रकार का (अभक्त) भासता है, यों मान कर बहुत प्रसन्न हुई ।

यहाँ 'मुमोदत' पद में 'त' अक्षर वैदिक है अलौकिक ज्ञान के बोध होने का सूचक है पुत्रों का वियोग भी अच्छा है क्योंकि इस प्रकार के वध से पुत्रों का भगवान् में प्रवेश होता है और वह मृत्यु भगवतल्लीला का साधन है । इसलिए मैंने जो उद्योग किया वह सफल हुआ यों जानकर 'महामना' हुई जैसे कोई पुरुष बड़ा पुरुषार्थ सिद्ध कर प्रसन्न होता है वैसे दिति भी प्रसन्न हुई इससे यह बताया है कि 'दिति' परम भक्त' है

दिति इस प्रकार की लीला सिद्ध करने से भक्ता है, चाहे यह विहित भक्ति मार्ग नहीं है तो भी मतान्तर (दूसरे मत) से सृष्टि के उपयोगी होने से यों निरूपण किया होने से 'भक्ता' है ।।५०।।

इति श्री भद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के १४वें अध्याय
की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी
(संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण!

॥ श्री हरिः ॥

राग सारंग:-- दया निधि तेरी गति लखि न परै ।
धर्म अधर्म अधर्म धर्म करि अकरन करन करै ॥
जय अरु विजय पाप कह कीन्हो ब्राह्मण श्राप दिवायो ।
असुर योनि दीनी ता ऊपर धर्म उछेद करायो ॥
पिता बचन खंडे ते पापो सो प्रह्लादै कीन्हों ।
तिनके हेत खम्भ ते प्रकटे नर हरि रूप जु लीन्हो ।
द्विज कुलपतित अजामिल विषई गणिका प्रीति बढ़ाई ।
सुत हित नाम नरायण लीन्हो तिहि तुव पदवी पाई ॥
यज्ञ करत वैरोचन को सुत वेद विहित विधि कर्म ।
तिहि हठि बांधि पतालहि दीनों कौन कृपा निधि धर्म ॥
पति व्रता जालन्धर जुबली प्रकट सत्य तें टारी ।
अधम पुंश्चली दुष्ट ग्राम की सुग्रा पढावत तारी ॥
दानो धर्म भान सुत सुनियत तुमतें विमुख कहावै ।
वेद विरुद्ध सकल पांडव सुत सो तुम्हरे जिय भावै ॥
मुक्ति हेत जोगी बहु श्रम करै असुर विरोधे पावै ।
अकथिक कथित तुम्हारी महीमा सूरदास कह गावै ॥

राग केदारी:— है हरि नाम को आधार ।
और यह कलि काल नाहिन रह्यो विधि ब्योहार ॥
नारदादि शुकादि शंकर कियो यहै विचार ।
सकल श्रुति दधि मथत पायो इतनो यह घृत सार ॥
दसहु दिसि गुण कर्म रोक्यो मीन को ज्यों जार ।
सूर हरि को भजन करते मिटि गयो भव भार ॥

राग देव गंधार:- मेरे जिय ऐसी आय बनो ।
छांड़ि गोपाल औरें जो सुमिरौं तो लाजै जननी ॥
विषु को मेरु कहा ले कीजे अमृत एक कनी ।
मन क्रम वचन और नहीं चितवों जब कब श्याम धनी ।
कहां लै करौं काच को संग्रह छाड़ि अमोल मनी ।
सूरदास भगवंत भजन बिनु तजि जात अपनी ॥

(सूरसागर से उध्रित)

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

(बन्ध सृष्टि) मतान्तर प्रकरण

"अध्याय"—१५

जय विजय को सनकादि का शाप

कारिका—निरूप्यते पञ्चदशे क्रोधेन ज्ञाननाशनम् ।
बीजे जीवप्रवेशार्थं भक्तशापोऽनुवर्ण्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—पन्द्रहवें[1] अध्याय में क्रोध से ज्ञाननाश होने का वर्णन किया गया है और बीज में जीव का प्रवेश हो तदर्थ भक्त शाप का वर्णन किया गया है ।। १ ।।

कारिका—इतिहासप्रवृत्त्यर्थं सङ्गतिश्चाऽपि रूप्यते ।
ज्ञानमूलस्य सत्त्वस्य कार्यनाशकता पुनः ।। २ ॥

कारिकार्थ—इतिहास की प्रवृत्ति हो इसलिए संगति भी कहने में आती[2] है । ज्ञान का मूल जो सत्व फिर कार्य का नाश कर्ता[3] होता है ।। २ ।।

---

१ जैसे पूर्व (गत) अध्याय में भगवान् का अवतार हो, इसलिए कर्म नाश हुआ वैसे इस अध्याय में ज्ञान मार्ग नाश भगवदवतारार्थ होने की कथा है जैसे वहां (उस अध्याय में) मुक्त जीवों की उत्पत्ति कारण दिति का काम था वैसे यहां (इस अध्याय में) सनकादि एवं जय विजय के क्रोध से ज्ञान मार्ग का नाश कारण है इससे दोनों अध्याय एक कार्य पर हैं यह ही सङ्गति है।

२ ब्रह्मा का इतिहास इसलिए है कि जिससे इतिहास की प्रवृत्ति हो अतः अब कहना है कि प्रयोजन रूप सङ्गति बनाता है, 'च' पद से यह प्रकट किया है कि देवों के वचन भी संगति के कारण हैं

३ ज्ञान के सत्व के कार्य का ज्ञान होने पर उस तत्व का फिर नाश होने का निरूपण है ।

(प्रकाश)

कारिका - वकुण्ठे वृक्षपक्षीणां स्त्रीणां चापि न मत्सरः ।
सर्वदोषविहीनत्वात्तत्र दोषो हरीच्छया ॥
अतः सृष्टिप्रसिद्धयर्थं वैकुण्ठस्य च वर्णनम् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—बैकुण्ठ में वृक्ष, पक्षी और स्त्रियों में भी मत्सर नहीं है, कारण कि वहां (बैकुण्ठ में) किसी प्रकार का दोष नहीं है, वहां कदाचित् दोष हो तो वह हरीच्छा से होता है ॥३।

अतः सृष्टि में बैकुण्ठ की प्रसिद्धि हो इसलिए इसका वर्णन[१] है ॥ ३½ ॥

आभास--एवं पूर्वाध्याये दितेर्गर्भाधानमुक्तम् । तदग्रिमं वृत्तान्तमाह--

आभासार्थ—१४ वें अध्याय में दिति के गर्भाधान होने की कथा कही, जिस का अग्रिम वृत्तान्त निम्न श्लोक में कहते हैं-

मैत्रेय उवाच-श्लोक--प्राजापत्यं हि तत्तेजः परतेजोहनं दितिः ।
दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहने लगे कि हे विदुरजी ! दिति को आशंका थी कि मेरे पुत्र देवों को कष्ट देंगे वा देव, मेरे पुत्रों को दुःख देंगे इसलिए गर्भ को एक वर्ष तक उदर में ही धारण कर रखा, वह गर्भ साधारण नहीं था किन्तु अन्य तेजों को मर्दन करने वाला प्रजापति का ब्रह्म तेज रूप वीर्य का था ॥१॥

सुबोधिनी—प्राजापत्यमिति । प्रजापतिः कश्यपः, तस्य तेजो बीजमेव, बीजस्य ब्रह्मत्वात् । अत एव परतेजोहनम् । ब्रह्मतेजसा हि अन्ये हन्यन्त एव । इममेवार्थं हि शब्द आह । तस्य मारकत्वमुत्पत्तौ कालादिधर्मजन्यमिति सूचयितुं तदित्युक्तम् । शतं मानुषवर्षाणि गर्भं दधार । देववर्षाणि वा । तौ चेत् गर्भे पुष्टौ भवतः, तदा देवैर्मारयितुमशक्यौ, देवान् वा वृथा मारयेताम् । दितिपदेन च तस्याः स्वाभाविकं सामर्थ्यं सूचितम् । तस्याः सहजस्वसामर्थ्यानुसन्धानात् भयं नास्त्येव, ब्रह्मबीजत्वाच्च न देवानां वृथा मारणम् । तथापि भर्तृवाक्यात् शङ्का जातेत्याह-शङ्कमानेति । तदा तस्मिन् बीजे द्विधाभूते जयविजययोः प्रवेशो जात इति ब्राह्मं-वैष्णवं च तेज एकीभूतम्, सूर्यादितेजोऽसहमानम्, स्वतेजसा तद्दूरीचकार ॥ १ ॥

व्याख्या--प्रजापति (कश्यप) का तेज बीज रूप था, वह ब्रह्म बीज, ब्राह्मण का बीज होने से अन्य (क्षत्रियादिकों) के तेजो को परास्त करने वाला है 'हि' पद निश्चय वाचक है, जिसके कहने का भावार्थ है कि, ब्रह्म तेज से दूसरे तेज नाश किये जाते हो हैं, 'तत्' पद से यह सूचित किया

---

१ इससे बैकुण्ठ के वर्णन का प्रयोजन कहा है ।

है कि, उसका (तेज गर्भ का) मारकपन का कारण, उत्पत्ति में कालादि के धर्म हैं।

दिति ने वो गर्भ (तेज) एक सौ वर्ष मनुष्यों के वा देवों के अपने उदर में धारण किये इतने वर्ष धारण करने से ये गर्भ में ही शक्तिमान् बन जायेंगे जिससे देव इनका मारने में असमर्थ होंगे और ये भी देवों को वृथा मार सकें, 'दिति' पद से बताया है कि, इसमें ऐसी स्वाभाविक सामर्थ्य है, उसको अपने स्वाभाविक सामर्थ्य का ध्यान होने से कोई भय नहीं था, ये पुत्र ब्राह्मण बीज हैं अतः देव इनको वृथा नहीं मार सकेंगे, यों समझने पर पति के वचनों से मन में शङ्का हुई इसलिए "शङ्कमाना" पद दिया है,

इसके बाद गर्भ में बीज के दो भाग हुवे उनमें जय विजय ने प्रवेश किया यों ब्रह्मतेज और वैष्णव तेज मिल कर एक हो गये, तब उस मिलित एकीभूत तेज ने सूर्यादि के तेज को सहन न करने से उसको अपने तेज से दूर कर दिया ॥ २ ॥

श्लोक—लोके तेन हतालोके लोकपाला हतौजसः ।
न्यवेदयन्विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥२॥

श्लोकार्थ—उस गर्भ से लोक के तेज का नाश हो जाने के कारण लोकपाल भी तेजहीन हो गये, तब लोकपालों ने ब्रह्मा के पास जाकर उनको कहा कि चारों तरफ अन्धकार हो जाने से लोक में अव्यवस्था हो गयी है ॥२॥

सुबोधिनी— तदा तेन बीजेन हतालोके लोके सति, लोकपाला अपि कालाधीनाः कालतेजसि गते स्वयमपि हतौजसो जाताः । ते हीन्द्रादयो बलकार्यरूपाः, अतस्तेषामोज एव गतम् । तदा बलप्रकाशयोर्नाशात्तन्निदानं ज्ञातुकामा ब्रह्मलोकं गताः, मेरुपृष्ठं वा । विश्वसृजे स्ववृत्तान्तं न्यवेदयन् । स्वस्यौजसोऽभावोऽप्रतिष्ठाहेतुत्वान्न निवेदितः, किन्तु ध्वान्तमन्धकारम् तेन दिगव्युत्पत्तिं च न्यवेदयन् ॥ २ ॥

व्याख्या—अनन्तर उस बीज से लोक के तेज का नाश होने से, लोकपाल भी कालाधीन होने से, काल का तेज नष्ट हो जाने से खुद भी तेज हीन हो गये, वे इन्द्रादिक भी बल के कार्य रूप हैं, अतः उनका भी तेज नष्ट हो गया तब बल और प्रकाश दोनों के नाश होने से उनका कारण जानने के लिए वे लोकपाल ब्रह्म लोक में गये अथवा सुमेरु के शिखर पर गये, वहां जाकर ब्रह्मा को अपना वृत्तान्त सुनाया, अपना तेज नष्ट हो गया है यों प्रतिष्ठा लोप होने के भय से नहीं कह सुनाया, किन्तु लोक में सर्वत्र दिशाओं में अन्धकार फल जाने से अज्ञान छा गया है, इस परोक्ष प्रकार से अपनी दशा सुना दी ॥ २ ॥

आभास—तत्र मूलं तम एवेति तत्र निदानं पृच्छन्ति—

आभासार्थ—इस विषय में मूल तम' (अन्धकार अज्ञान) ही हैं, जिसका कारण निम्न श्लोक में ब्रह्मा से पूछते हैं—

देवा ऊचुः । श्लोक—तम एतद्विभो ! वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम् ।
न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनाऽस्पृष्टवर्त्मनः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे समर्थ ! काल, आपकी ज्ञान शक्ति को कुण्ठित नहीं कर सकता है । अतः आप से कुछ भी छिपा नहीं है, जिस अन्धकार से हम डर रहे हैं उसको आप जानते ही हैं ॥३॥

कारिका—**तम एतदिति । देवा भीता ब्रह्मणैव क्रियते दैत्यवर्द्धनम् ।**
अतो देवविनाशः स्यादिति तेनैव मोरणम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ—ब्रह्मा ही दैत्यों की वृद्धि कर रहे हैं, इस वृद्धि से देवों का नाश होगा, जिससे देव भयभीत हो ब्रह्मा की इस प्रकार प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

कारिका—**ज्ञानं समर्पितं तस्य स्वदोषाभाव एव च ।**
विद्यमानेऽपि तच्छन्तिस्तस्य भक्तकृपा तथा ॥ २ ॥

कारिकार्थ—ब्रह्मा को इस विषय के ज्ञान होने का समर्थन करते हैं तथा अपने में (देवों में) कोई दोष नहीं है यों बताते हैं, यदि दोष हो तो भी उसकी शान्ति के लिये इच्छा करते हैं, आपकी भक्तों पर वैसी कृपा है ॥ २ ॥

कारिका—**भक्तानामभयं तस्मात्सेवकाश्च वयं भृशम् ।**
अतोऽस्मासु कृपा कार्या दैत्योत्पत्तिर्हि जायते ।
एवमष्टविधं वाक्यं ब्रह्माणं प्रति दैविकम् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—जिससे (कृपा से) भक्त निर्भय हैं, हम आपके पूर्ण भक्त हैं इसलिए हम पर कृपा करनी चाहिए, कारण कि दैत्य उत्पन्न हो रहे हैं, इसी तरह देवों ने ब्रह्मा को आठ प्रकार के वाक्य कहे ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं महत्त्वात्प्रष्टुमप्यशक्तास्तमसोऽज्ञानं संभावयन्ति । **हे विभो !** सर्वज्ञानादिसमर्थ । एतत्तमः सर्वथा वेत्थ, जानासि । अतोऽस्मान् ज्ञापयेति भावः । ज्ञापने हेतुः—यद्यस्मात्तमसो य **भृशं वयं संविग्नाः**; अन्धकारादोजमोऽभावात् । तव त्वज्ञानं न संभवति । यदव्यक्तं भगवतो रूपं तत्त्वां प्रति न । अतो भगवतो वासुदेवगुणावतारस्य तव नाऽस्त्यव्यक्तम्, किञ्च, अव्यक्तहेतुरपि नास्ति । कालेन हि सर्वमव्यक्ते प्रविलाप्यते, त्वं तु कालेन न स्पृष्टं वर्त्म यस्य तादृशः ॥ ३ ॥

व्याख्या—इनमें से प्रथम ब्रह्मा महान् हैं इनसे कैसे पूछा जाय ? ऐसी अपनी पूछने में अशक्ति जानकर, ब्रह्मा को इस अन्धकार के ज्ञान होने की सम्भावना इस श्लोक में प्रकट करते हैं-

हे विभो ! सकल ज्ञान होने में समर्थ ! इस अन्धकार को सर्वथा आप जानते ही हैं, यों कहने का आशय है कि हमको वह बताइये कारण कि हम इस अन्धकार में बहुत दुःखी हो गये हैं, क्योंकि इससे हमारा तेज नष्ट हो गया है आप में तो अज्ञान की सम्भावना नहीं है क्योंकि भगवान् का जो अव्यक्त रूप है वह आप में नहीं है। जिस कारण से भगवान् वासुदेव के गुणावतार से एवं आपसे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है एवं आपसे छिपा होने का कोई कारण भी नहीं है, जो काल सबको अव्यक्त में डाल देता है वह काल आपके मार्ग को छू भी नहीं सकता है वैसे आप है ॥ ३ ॥

आभास—एवं ज्ञानं तस्य समर्थयित्वा स्वदोषाभावं निरूपयन्तस्तस्य सर्वहृदयाभिज्ञत्वमाहुः—

आभासार्थ—यों उनके ज्ञान का समर्थन कर, अपने में दोषाभाव का निरूपण करते हुए ब्रह्मा समस्तों के हृदय के अभिप्राय को जानते हैं, वह इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—देवदेव ! जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे !।
परेषामपरेषां च भूतानामसि भाववित् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे देवाधिदेव ! आप जगत् की रचना करने वालों और सकल लोकपालों के शिखा मणि हैं, आप छोटे मोटे सर्व प्रकार के जीवों का भाव जानते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—देवदेवेति। अन्येषां भवान् न पूज्यः, तेन तद्धृदयमप्रविष्टः कदाचिन्न जानास्यपि, वयं तु देवाः अस्माकं तु त्वमेवोपास्य इति संबोधनम्। किञ्च, वयं निष्कपटा एव त्वयोत्पादिताः शुद्धसत्त्वेन, अतोऽपि जानासीति संबोधनान्तरमाहुः-**जगद्धातरिति**। जगतां त्वमेव विधाता, धारयिता वा। तथापि हृदयज्ञानमुचितमेव। किञ्च, स्वामी हि सेवकस्य हृदयं जानाति। भवांस्तु सर्वेषामेव लोकानां ये नाथा इन्द्रादयस्तेषां शिखामणिः। लोकनाथा एव स्वलोकस्याऽभिप्रायं जानन्ति, भवांस्तु तेषामपि। तत्रापि शिखामणिरिति तेषामुपरि तत्प्रकाशकत्वेन् तत्कर्म साक्षित्वेन च वर्तमानः। अतः प्रभुत्वेन, जनकत्वेन, प्रकाशकत्वेन च परेषामस्मदाद्यपेक्षयोत्कृष्टानामपरेषां च हीनानाम्, चकारादस्माकं च सर्वेषामेव भूतानां त्वं **भावविदसि**। अतोऽस्मास न किञ्चित्तिरोहि- तम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे देवदेव ! संबोधन देकर देवों ने यह भाव प्रकट किया है कि, दूसरों के आप पूज्य (बड़े) नहीं होने से उनके हृदयों में आप प्रविष्ट नहीं हुवे जिससे कदाचित् उनके भावों को न भी जानते हो किन्तु हम तो देव हैं अतः हमारे तो आप ही उपास्य होने से पूज्य एवं बड़े हैं, अतः हमारे हृदयों में तो प्रविष्ट ही हैं अतः हमारे भावों को तो जानते ही हो। किञ्च हमको शुद्ध सत्व से उत्पन्न करने से निष्कपटी ही बनाया है इससे भी हमारे भावों को जानते ही हो, इसलिए

हो दूसरा संबोधन 'जगद्धाता' दिया है जगती के रचयिता आप ही हैं एवं धारण करने वाले भी आप हो हैं, यों होने से भी आपको हृदय का ज्ञान होना उचित हो है, किञ्च स्वामो हो सेवक के हृदय को जानता है, आप तो सकल लोकों के नाथ इन्द्रादिकों के शिखामणि हैं, लोकनाथ अपने लोक के अभिप्राय को जानते हैं, आप तो उनके भी अभिप्रायों को जानते हो, क्योंकि आप उनके शिखामणी हैं जिससे उनके प्रकाशक तथा कर्म के साक्षी होकर रहते हो अतः प्रभुत्व से, जनकपन से तथा प्रकाशक होने से एवं हमसे उत्कृष्ट व जो होन हैं उनका भाव भी जानते हो 'च' पद देकर यह सूचित किया है कि देवों का तथा सब भूतों के भावों को आप जानने वाले हैं, अतः हमारे भाव आपसे छिपे हुए नहीं है, अथवा आप सबके भावों को जानते हैं यह हमसे छिपा हुआ नहीं है ।। ४ ।।

आभास—एवं स्वदोषाभावमुक्त्वा दोषे वा विद्यमाने तत्क्षमां कारयन्तो नयस्यन्ति—

आभासार्थ—इस तरह अपने में दोषाभाव कहकर, यदि दोष हो तो क्षमा याचना करते हुए इस श्लोक में प्रणाम करते हैं –

श्लोक—**नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे ।**
गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये ।।५।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मानुभव रूपवीर्य वाले सृष्टि की साधन रूप माया शक्ति से शरीर धारण करने वाले, गुणों के द्वारा भेद दिखाने वाले, अक्षर की योनिरूप आपको हम नमस्कार करते हैं ।।५।।

सुबोधिनी नमो विज्ञानवीर्यायेति । ननु भगवानेव नमस्करणीयः, सर्वेषां स्वामित्वात्; गुरुर्वा, तन्मार्गोपदेष्टृत्वाद्गौणः, अहं तु नोभरूप इति चेत्तत्राऽऽह-**नमो विज्ञानवीर्यायेति** । विज्ञानं ब्रह्मानुभवो वीर्यं पराक्रमो यस्य । लौकिकी क्रिया लौकिकज्ञानसहिता सर्वेषां पराक्रमहेतुर्भवति । ततोऽपि केषामेव ऋषीणां वैदिकी क्रिया पराक्रमहेतुः । ततोऽपि ब्रह्मविदामेव तेजः सार्वज्ञ्यलक्षणः पराक्रमो ज्ञानेन सिद्धति । तत्र साक्षात्कारेण विज्ञानेन भगवत एव बलं भवति । तादृशं तवापि वर्तत इति स्वेच्छया सृष्ट्याऽध्यवसीयते । अतो भगवत्स्वरूपाभिज्ञत्वात् गुरुत्वेन नमनमुचितमेवेति भावः । ननु तादृशज्ञाने संपन्ने भगवत्सायुज्यमेव भवेत् कथमेवमधिकारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**माययेति** । **इदं शरीरमुपेयुषे** । स्वीकृतवते । या सृष्टिकरणभूता माया, तस्याः करणत्वनिर्वाहार्थम्, कर्त्रपेक्षायां सेवके विद्यमाने स्वामिनो व्यापृत्तिरनुचितेतिभगवतुल्यताया जातत्वात्, जगद्व्यापारवर्जश्रवणाच्च, तयैव मायया कृतमिदम्, तयैव कृत्वा स्वीकृतवानित्यर्थः । ननु द्वयी गतिः, जीवानामकर्तृत्वं भगवतः कर्तृत्वं चेति तत्राऽस्ति । कर्तृत्वे भगवत्त्वान्न शरीरापेक्षा, जीवत्वे तु जातेऽपि शरीरे न भेदकर्तृत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

गृहीतगुणभेदायेति । गृहीतो गुणैर्भेदो येन । नाऽस्य सहजो भेदः, येनाऽकर्तृत्वं स्यात् । नाप्यभेदः, गुणैर्भेदस्य कृतत्वात् । गुणा हि भेदरूपं भगवन्तं चिद्रूपे नियोजितवन्तः । अतस्तत्कृतभेदस्य विद्यमानत्वात् तत्साम्यकृतं देहमवलम्ब्य जगत्करणं युक्तमेव । नन्वव्यक्तादीनि भूतानीति वाक्यादलौकिककर्तृत्वादेव कार्ये सिद्धे पुनः किं ब्रह्मकर्तृत्वेनेत्याशङ्कयाऽऽह-**नमस्त इति**। अव्यक्तस्याऽयं योनिः । अव्यक्तमस्मिन् जगत् प्रवेश्य स्वयं निवर्तते । अत एवाऽस्य रजोगुणरूपत्वम् । यथा मातापित्रोर्जगत् जायते, तथाऽस्मादव्यक्ताच्च जगज्जायत इति नाऽस्याऽनुपयोगः। अतो मातृत्वात् पुनर्नमनम् ॥ ५ ॥

व्याख्या—भगवान् नमस्कार करने योग्य हैं, कारण कि सर्व के स्वामी हैं और गुरु हैं। (और) उसके मार्ग का उपदेश करने से गौण भी हैं मैं तो न स्वामी हूं तथा न गुरु होने से उसके मार्ग का उपदेष्टा हूँ अतः नमन योग्य नहीं हूं यदि यों कहो तो इसका उत्तर है कि आप ब्रह्मानुभवरूप पराक्रम वाले हैं, लोक में लौकिक ज्ञान वाली लौकिकी क्रिया सबके पराक्रम का कारण होती है उससे भी किन्हीं ऋषियों के पराक्रम का कारण वैदिकी क्रिया होती है, उससे भी विशेष ब्रह्मवेत्ताओं का तेज, जो सर्वज्ञाता लक्षण वाला पराक्रम ज्ञान से सिद्ध होता है, उसमें ब्रह्म साक्षात्कार रूप विज्ञान से जो बल होता है वह बल भगवान् का ही होता है वैसा बल आपमें भी है जिसका ज्ञान, आप स्वेच्छा से सृष्टि करते हैं उससे होता है, अतः भगवत्स्वरूप का ज्ञान आपको है इससे एवं गुरु होने से आपको नमस्कार करना उचित है।

यदि कहो कि इस प्रकार का ज्ञान होता तो भगवत्सायुज्य हो जाता, इस प्रकार का अधिकार क्यों प्राप्त होता? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह चतुर्मुख वाला शरीर माया से आपने धारण किया है, क्योंकि यह माया सृष्टि रचने का कारण (साधन) है उस साधन की सार्थकता के लिए कर्त्ता की अपेक्षा होने पर सेवक होते हुए स्वामी कार्य करे यह अनुचित है, भगवत्समानता होने से आपने इस जगत् को उस साधनरूप माया से ही बनाया है जब जगत् का व्यापार जो भोगादि है वे मुक्तों में भी नहीं होते हैं तो आप में कैसे होंगे ?

जीवों में कर्तापन नहीं है, कर्तापन भगवान् में है यह दो प्रकार की स्थिति सायुज्य से पहले होती है, कर्तापन में जब भगत्व है तब शरीर की अपेक्षा नहीं, यदि कर्तापन में जीवत्व है तो शरीर धारण करने पर भी भेद को नहीं कर सकता, इस शङ्का के समाधानार्थ कहते हैं कि 'गृहीतगुण भेदाय' गुणों से भेद ग्रहण किया है ऐसे ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा का भगवान् से भेद वास्तविक नहीं है किन्तु गुणों के कारण है अतः जगत् की रचना में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है, गुणों ने ही भेदरूप भगवान् (ब्रह्मा) को चिद्रूप बना दिया है अतः गुणों का किया हुआ भेद विद्यमान होने से गुणानुसार देह धारण कर जगत् को बनाना योग्य ही है।–

गीता में 'अव्यक्तादीनि भूतानि श्लोक में कहा है कि भूतों का आदि अक्षर है, इस वाक्या-

नुसार भगवान् अलौकिक कर्ता होने से कार्य सिद्ध हो जाता है फिर ब्रह्मा को कर्ता बनाने की क्या आवश्यकता है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं 'नमस्ते अव्यक्त योनये' आप अव्यक्त (अक्षर) की योनि (क्षेत्र) हैं अर्थात् अव्यक्त (अक्षर) इस जगत् को ब्रह्मा में स्थित कर स्वंय (आप) पिता के समान निवृत्त हो जाते हैं, इस प्रकार से ब्रह्मा रजोगुण रूप हैं जैसे माता पिता के सम्बन्ध द्वारा सन्तान की उत्पत्ति होती है वैसे ही अक्षर एवं ब्रह्मा के संबंधसे इस जगत की उत्पत्ति होती है तात्पर्य यह है कि बीज दाता पितावत् अक्षर है अतः वह जनक है, ब्रह्मा माता होने से बीज धारण कर जगत् उत्पन्न करते हैं अतः जगत् की माता होने से आपको नमस्कार है ॥ ५ ॥

आभास---एवमपराधक्षमापनं कृत्वा तस्य भक्तकृपालुत्वं प्रतिपादयन्ति---

आभासार्थ---इस तरह नमन द्वारा अपराध को क्षमा कराके इस श्लोक में उनका भक्त कृपालुपन सिद्ध करते हैं—

श्लोक---ये त्वाऽनन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम् ।
आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ॥६॥

श्लोकार्थ---आप जीवों की देहों को उत्पन्न करने वाले हैं । आप में सम्पूर्ण भुवन स्थित हैं । सत् पदार्थों को असत् करने वाले भी आप हैं, इसी तरह सर्वभाव से चिन्तन कृपा का कारण है ॥६॥

सुबोधिनी—ये त्वाऽनन्येनेति । अत्र वाक्यापरिसमाप्तिः कृपायाः सफलत्वप्रतिपादनार्था अतः कृपातो भक्तानामभयं वक्ष्यत्यतः कृपाहेतुरेवाऽत्रोच्यते । ये सन्तः त्वां सर्वभावेन हृदये भावयन्ति, तेषां लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभव इति संबन्धः । ननु भगवत्येवाऽनन्यभावः संभवति, कथमन्यस्मिन् ? इत्याशङ्क्य अनन्यभावे हेतुचतुष्टयमाह-**आत्मभावन**मित्यादिपदैः । आत्मानं भावकस्वरूपं भावकस्य देहादिकं भावयतीति तथा । अनेन कर्तृत्वम् । आत्मनि प्रोतं भुवनं येन । अनेन समवायित्वम् । परं नियन्तारम् । स्थितौ सर्वप्रवर्तनादिकर्तारम् । **सदसदात्मकमिति** प्रलयकर्तारम् । सदसदात्मकः प्रलयः, सतामसदात्मक इति । मायात्मकत्वाद्वा प्रलयकर्तारम्, सर्वदा तस्य स्थित्यसम्भवात् जगदात्मत्वेऽपि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन असत्स्वरूप इत्येव पर्यवस्यति । स्वकीयानां सर्वेषामुत्पत्त्यादिकर्तृत्वात्तदधीनत्वात् स्वस्यऽपि सर्वभावेन भावनं संभवतीत्यर्थः । एवं सर्वभावेन भावनं प्रसादहेतुः ॥ ६ ॥

व्याख्या—कृपा की सफलता प्रतिपादन करने वाले वाक्य की इस श्लोक में पूर्णता नहीं हुई है, अतः इस श्लोक में केवल यही कहेंगे कि कृपा से ही भक्तों को अभय प्राप्त होता है अर्थात् अभय का कारण कृपा ही है जो भक्त आपको सर्वभाव से जो हृदय में धारण करते हैं, उन पर आपकी कृपा होती ,है जिससे उनका किसी से भी पराभव नहीं होता है

अनन्यभाव (सर्व भव) तो भगवान् में ही होता है, दूसरे में कैसे कहते हो ? अतः ब्रह्मा में अनन्य भाव के चार कारण कहते है 'आत्माभावनं' १-अपने चिन्तक के देहादि स्वरूप को उत्पन्न करने वाले हैं इससे ब्रह्मा के कर्तापन का प्रतिपादन किया है २-अपने में भुवन को स्थिर कर रखा है, इससे ब्रह्मा को जगत् का समवायी कारण कहा है, ३-जगत् का नियन्ता एवं स्थिति में सर्व की प्रवृत्ति कराने वाले भी आप (ब्रह्मा) हैं, ४-प्रलय करने वाले भी आप हैं अथवा भावात्मक होने से प्रलय कर्त्ता हो, जगत् की सर्वदा स्थिति नहीं है, जगत् आत्मरूप होते हुए भी प्राप्त और अप्राप्त विचार करने से जगत् असत् स्वरूप ही माना जाता है

अपने जो भी हैं उन सब की उत्पत्ति आदि करने से वे सब आपके ही आधीन होने से, ब्रह्मा का भी सर्वभाव से चिन्तन करना बन सकता है, यों सर्वभाव से चिन्तन ही कृपा का कारण है ॥ ६ ॥

आभास—एवं कारणनिरूपणेन प्रसादं निरूप्य, तेनाऽभयं निरूपयन्ति---

आभासार्थ—यों कारण के निरूपण से कृपा का निरूपण कर, इससे अभय की प्राप्ति होती है जिसका निरूपण इस श्लोक में करते हैं

श्लोक---**तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।**
लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः ॥७॥

श्लोकार्थ—सर्वभाव से आपके चिन्तन करने से जिन्होने आपकी कृपा सम्पादन की है, जिससे प्राण, इन्द्रिय और मन को जीत लिया है उन परिपक्व योग वाले सिद्ध-योगियों का किसी से भी पराभव (ह्रास) नहीं होता है ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—तेषामिति । प्रसादेनाऽभयजननेऽवान्तरव्यापारमाह-**सुपक्वयोगानामिति** । तस्य मुख्यात्मकत्वाद्योगद्वारा सर्वसिद्धहेतुत्वम्, अन्यथा भगवत इव स्वतन्त्रता स्यात् । सुष्ठु पक्वो योगो येषाम् । सुपक्वो हि सर्वत्र नियोक्तुं शक्यते । योगपाके हेतुं वदन् व्यापारान्तरमाह-**जितश्वासेन्द्रियात्मनामिति** । जिताः श्वासा इन्द्रियाणि आत्माऽन्तःकरणं च येषाम् । प्राणेन्द्रियान्तःकरणजयस्तदीयपदार्थानामस्पर्शहेतुत्वात् साक्षात्प्रीतिहेतुः । वेदगर्भत्वेन ज्ञानहेतुत्वात् सकारणो योगोऽवान्तरव्यापार इति नाऽनेकव्यापारत्वम् । अत एव लब्धो युष्मत्प्रसादो येन । **कुतश्चित्कालादेरपि पराभवोऽभिभवः** ॥ ७ ॥

व्याख्या—'सुपक्वयोगाना' विशेषण से कृपा से अभय प्राप्ति में अवान्तर व्यापार (मध्य की क्रिया) कहा है, वह मुख्य आत्म रूप (आसन्य मुख्य प्राणात्मक) होने से योग द्वारा सर्व सिद्धियों का हेतु (कारण) है यों न होवे तो भगवान् की तरह उनको भी स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाए, अच्छी प्रकार से जिनका योग परिपक्व हो गया हैं, अच्छी तरह पका हुआ योग ही सर्वत्र उपयोगी होता है, योग के पक्व होने में हेतु कहते हुए दूसरी क्रिया 'जितश्वासेन्द्रियात्मनाम्' पद से कहा है कि,

प्राण, इन्द्रिय, और अन्तःकरण जिन्होंने जीत लिया है । ब्रह्म सम्बन्धी पदार्थ इन्द्रियतीत होने से इन्द्रियों से उनका स्पर्श नहीं होता है अतः श्वासादि जीत लेना साक्षात् प्रीति का कारण है ।

ब्रह्मा के भीतर वेद विराजमान है, वे ज्ञान के हेतु होने से कारण सहित योग मध्य की क्रिया है इससे अनेक क्रियाएँ नहीं हैं इस कारण से ही जिन्होंने आपकी कृपा प्राप्त कर ली है, उनका पराभव (ह्रास) काल आदि भी नहीं कर सकते हैं ॥ ७ ॥

आभास—एवं भक्तेषु सफलां कृपामुक्त्वा, तस्य कृपावत्वं निरूप्य,
स्वस्मिन् कृपां प्रार्थयितुं स्वस्य सेवकत्वमाहुः—

आभासार्थ—ब्रह्मा भक्तों पर सफल कृपा करते हैं यों कहकर, और उनका कृपालुपन निरूपण कर अब इस श्लोक में, अपने पर कृपा करें ऐसी प्रार्थना से पहले अपना सेवकपन बताते हैं—

श्लोक—**यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः ।
हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नमः ॥ ८ ॥**

श्लोकार्थ—रस्सी से बंधे हुवे बैलों के समान जिनकी (आप ब्रह्मा की) वेदवाणी के वश हो कर समग्र प्रजा आप की अधीनता में रहकर नियमित बलि समर्पण कर रही है उन आप को जो सबके नियन्ता मुख्य प्राण हैं, हम प्रणाम करते हैं ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—यस्य वाचेति । यस्य ब्रह्मणो वेदलक्षणया **वाचा** सर्वा एव प्रजाः, कन्यका इव सर्वथाऽसमर्थाः, सेवकभूता अपि स्वकार्ये अतिनिर्बन्धेन नियोजिताः, बलिवर्दास्**तन्त्येव यन्त्रिताः** ब्रह्मणो वाक् वेदलोकात्मिकता । अत एव येषां वेदोऽपि न नियामकस्तेषां लौकिकेन यन्त्रणम् । अनेनैव सेवकत्वं निरूपितम् । सर्वे हि प्राणिनः फलार्थं कर्म कुर्वन्ति । तत्र निष्पन्ने फले, अधिष्ठातृदेवताभिरुपस्थिते फले, यः सारांशः, तत्तैरेव स्वार्थं भिन्नं करोति । पश्चादसारं प्रयच्छति । तथा च सर्वकर्मणां यन्मुख्यं फलं सृष्टिः, भगवदाज्ञा, सुखं वा; तद्ब्रह्मणे सिध्यति । धर्मतपस्यादिना योऽसारो नान्तरीयकमलमूत्रादिरमणम्, तत् जीवेभ्यः प्रयच्छतीति । एवं ज्ञात्वाऽपि तथैवकरणं यन्त्रणम् । अत एव अधमा अपि गावो दृष्टान्तीक्रियन्ते । एवं ज्ञात्वा ते निश्चिता इति । एवं सर्वदा कार्यकर्तृष्वसारभक्षकेषु कृपा उचिता । किञ्च, बलीवर्दापेक्षयाप्येते उत्तमाः । यदसारभूतमपि तुभ्यं बलित्वेन प्रयच्छन्ति, अन्यथा तत्र मध्ये मारयेत् । अतो भवान् मुख्यः प्रवर्तकोऽपि भूत्वा प्रजासु श्रेष्ठः । व्यङ्ग्येन ब्रह्मणोऽप्युपहास एवोक्तः । आसन्यरूपत्वाद्वा बलिदानसाक्षिकत्वेन मुख्यतया निरूपणम् । आ समन्तात् यत्ताः सावधानाः । अनेन कादाचित्ककरणं व्यावर्तितम् ॥ ८ ॥

व्याख्या - जिन (ब्रह्मा) की वेद रूप वाणी से सारी प्रजा, जो कन्या के समान असमर्थ है वह सेवक होते हुए भी कर्म करने में इस तरह बंधी हुई है जैसे रस्सी में बैल बंधे हुए होते हैं, ब्रह्मा की वाणी दो प्रकार की होती है (१) तदरूप (वैदिक) और २ लोक रूप (लौकिक) इस कारण से जिनका वेद भी नियन्त्रण नहीं करता है, उनका लौकिक से नियन्त्रण करते हो, इससे ही (ब्रह्मा के नियन्त्रण) में (आधीनता में होने से ही) प्रजा का सेवकत्व निरूपण किया है, सकल प्राणी फल प्राप्ति के लिए ही कर्म करते हैं, अधिष्ठाता देवता द्वारा फल प्राप्त हो जाने पर उस फल में जो भाग सार रूप हैं उसको उनके द्वारा ही अपने लिए ब्रह्मा अलग कराकर, शेष असार-भाग कर्म करने वालों को देते हैं।

इस प्रकार सर्व कर्मो का जो मुख्य फल सृष्टि, भगवदाताज्ञा अथवा सुख वह ब्रह्मा क प्राप्त होता है, धर्म तपस्या आदि से भीतर रहा हुआ मल मूत्रादि जो पृथक् नहीं हो सकते हैं उनसे ही रमण व्यवहार जीवों को देते हैं इसको ही फल का असार भाग कहा है, यों (यह असार है) जानकर भी वैसा ही करना (कर्म करते रहना) जिसको नियन्त्रण (आधीनता) कहते है इसी कारण से हो अधम बैलों का दृष्टान्त दिया है, यों जानते हुए भी वे कर्म करने में दृढ़ विचार वाले हैं, ऐसी स्थिति में जबकि सर्वदा जो कार्य करतेरहे तथा असार का भी भक्षण करे उनपरकृपा करनी उचित है फिर बैलों से भी ये उत्तम हैं, जो आसारभूत भी आपको बलि रूप से देते हैं, यदि यों न करें तो मध्य में मार डाले अतः आप मुख्य हैं, प्रवर्तक होते हुए भी प्रजाओं में श्रेष्ठ हैं, यों कहने से ब्रह्मा का भी एक तरह उपहास ही किया है ब्रह्मा को मुख्य कहने के कारण कहते हैं, एक आसन्यरूप, प्राण होने से मुख्य है, और दूसरे बलिदान के साक्षी हैं कि बलि नित्य नियम से मिलती है, पूर्णरिति से इस विषय में (बलि की साक्षी में) सावधान हैं इससे बलि कब मिलती है और कब नहीं मिलती है इस शङ्का को मिटा दिया ।। ८ ।।

आभास—एवं स्वस्य सेवकत्वमुपपाद्य कृपां प्रार्थयन्ति—

आभासार्थ—इस तरह अपना सेवकपन सिद्ध करो अब इस श्लोक में कृपा के लिए प्राथना करते हैं—

श्लोक—स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा लुप्तकर्मणाम् ।
अदभ्रदयया दृष्टया आपन्नानर्हसीक्षितुम् ।। ९ ।।

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! अन्धकार के कारण समय का ज्ञान न होने से लोकों के सर्व कर्म लुप्त हो गये हैं जिससे हम दुःखी हो आपकी शरण आये हैं, अतः अत्यन्त दया की दृष्टि से हमको देखना चाहिये एवं हमारा कल्याण कीजिये ।। ९ ।।

सुबोधिनी—स त्वमिति । हे भूमन् ! हे अधिक, कृपायां कृतायामपि न तव काचित् क्षतिरित्यर्थः। अत एवाऽस्मभ्यं संप्रयच्छ । कल्याणान्तरव्यावृत्त्यर्थं स्वाभिप्रेतमाहुः—**लुप्तकर्मणां** लोकानामन्धकारेण सर्वकर्मरहितानां भुवनानां संबन्धिन **आपन्नान्** शरणागतानस्मान**दभ्रदयया** दृष्टया ईक्षितुमर्हसीति । कृपादर्शनव्यतिरेकेण तत्र विद्यमानमपि दैन्यादिकं न प्रकाशते । अतः कृपादृष्ट्या द्रष्टव्यमिति गूढोऽभिप्रायः साधारणलोकानां दीनं दृष्ट्वा दयोत्पद्यते, परं सा व्यर्था । तथा मा भवत्वित्यदभ्रेतिविशेषणम् ।। ९ ।।

व्याख्या—हे भूमन् ! हे अधिक ! हम पर कृपा करोगे तो भी आपकी कोई हानि न होगी इस कारण से (हानि न होने से) हमारा कृपया कल्याण कीजिये, (करो)। यदि कहो कि दूसरा कल्याण नहीं करता है, तो इस पर हमारी यह प्रार्थना है कि, अन्ध- कार से सर्व प्रकार के कर्म लुप्त हो जाने से कर्म रहित लोकों के सम्बन्धित हम आपद्ग्रस्त दुःखी हो आपकी शरण आये हैं, उन पर विशेष दयामयी दृष्टि से दुःखियों को देखिये, कृपा पूर्वक देखे बिना शरणागतों में विद्यमान दैन्य भी प्रकट में दीखता नहीं है, अतः कृपा दृष्टि से, हम दुःखी दीनों को देखिये. यों कहने का गूढ़ आशय है। साधारण लोकों को भी दीनों को देख दया उत्पन्न होती है, परन्तु वह, निष्फल है । वैसे दया आपकी न हो अतः 'अदभ्र' विशेषण देकर अपने मन का भाव प्रकट किया है कि साधारण दया न कर विशेष महती दया कीजिये। आप कृपालु तो हैं ही ॥ ९ ॥

आभास—कस्मान्निमित्तात् कृपा विधेयेति शङ्कायाँ दैत्योत्पत्तिर्जायत इति ततोऽभयं कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽहुः—

आभासार्थ—किस कारण के लिए कृपा की जाय वह कारण इस श्लोक में बताते हैं कि दैत्य उत्पन्न हो रहे हैं उनसे अभय होने के लिए कृपा कीजिए—

श्लोक—एष देव ! दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् ।
दिशस्तिमिरयन्सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि ।। १० ।।

श्लोकार्थ—हे देव! अग्नि काष्ट में पड़कर जैसे बढ़ती रहती है वैसे ही दिती में स्थापित कश्यप जी का वीर्य गर्भ रूप में बढ़कर समस्त दिशाओं को अन्धकार मय बना रहा है ।। १० ।।

सुबोधिनी—एष देवेति । दितेरेष गर्भः काश्यपं तेनैवाऽर्पितमोजो दशदिशास्तिमिरयन् शुष्के एधसि काष्ठे अग्निरिव वर्द्धते । इदानीं दितेर्गर्भः । अनेन स्वभावतः क्रूरो भविष्यतीत्युक्तम् । तत्रापि कश्यपस्य बीजम्, तदप्योजोरूपम् । तेनैव चाऽर्पितं समर्पितम् । दितेः स्थाने समर्पितमिति तत्र न कोऽपि प्रतीकारः कर्तुं शक्यः । १० ।।

व्याख्या—दिति का यह गर्भ कश्यपजी के वीर्य से स्थापित हुआ वह दश दिशाओं को अन्धकारमय बनाते हुए यों बढ़ रहा है ज्यों शुष्क-काष्ट (सूखी हुई लकड़ी) पर पड़ी हुई आग बढती है, यह गर्भ दिति का होने से स्वभाव से क्रूर होगा, फिर कश्यपजी का बीज होने से भी तेजोरूप है। कश्यपजी ने ही दिति को इस तेज के धारण का योग्य स्थान समझ इसमें अर्पण किया है, अतः इसका कोई प्रतिकार नहीं है ॥ १० ॥

आभास--एवं महाभयेन देवानां वचनं श्रुत्वा, तत्र निदानं हास्यरूपमिति तत्स्मृत्वातदवक्तव्यमिति बीजगर्भयोर्ज्ञातत्वात् तदरिक्तं हेत्वन्तरं वक्तुं कथामारभत इत्याह मैत्रेयः---

आभासार्थ- इस तरह बहुत डरे हुए देवों के वचन सुनकर, इसका कारण तो हास्यमय है जिसका स्मरण कर समझा कि वह कहने के योग्य नहीं है, और गर्भ तथा बीज का तो ज्ञात है ही अतः इसके सिवाय अन्य कारण है वह कहने के लिए ब्रह्मा कथा का प्रारम्भ करते हैं, यों मैत्रेयजी निम्न श्लोक में बताते हैं—

मैत्रेय उवाच-श्लोक—संप्रहस्य महाबाहो ! भगवान् शब्दगोचरः ।
प्रत्याचष्टाऽऽत्मभूर्देवान्प्रीणन्रुचिरया गिरा ।। ११ ।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं–हे महाबाहो ! वेद से जिनका ज्ञान होता है, जो स्वयम्भू है ऐसे भगवान् ब्रह्मा जोर से हँसकर सुन्दर वाणी से देवों को प्रसन्न करते हुवे कहने लगे ।। ११ ।।

सुबोधिनी- **संप्रहस्येति** । **महाबाहो** इति विदुरसंबोधनं शूरत्वेन क्वापि भयं न कर्तव्यमिति ज्ञापनार्थम् । **भगवानिति** तज्ज्ञाने हेतुः, प्रतीकाराकरणे च । **शब्दगोचर** इत्यलौकिको वेदकसमधिगम्यः । आधिदैविको ब्रह्मा तत्राऽऽविष्टो वदतीति ज्ञापितम् । अन्यस्य भगवत्सेवकाद्यपकर्षो वक्तुमयुक्तः । **प्रत्याचष्ट** प्रत्युत्तरं दत्तवान् । ब्रह्मणा किञ्चित्कृतमितीयं शङ्का व्यावर्तिता । 'भगवांस्तद्विधित्सति' इत्यग्रे वक्ष्यति । **आत्मभूरिति** तथा कथनं नाऽपराधहेतुः । **'मानसा'** इत्यादिवाक्येभ्योऽन्ययैव रुचिरया गिरा । तेषां यथा सुखं भवति तथा **प्रीणन्** प्रीतिं जनयन् ।। ११ ।।

व्याख्या-विदुरजी को 'महाबाहो' सम्बोधन से यह सूचना दी कि तुम शूरवीर हो अतः तुमको किसी बात से भय नहीं करना चाहिए, 'भगवान्' पद से यह भाव बताया है कि उसका ज्ञान आपको (ब्रह्मा को) है और इससे यह भी सूचित किया कि आप ब्रह्मा) प्रतिकार करने में भी समर्थ हैं आपके (ब्रह्माके) स्वरूप का ज्ञान वेद से ही होता है, इसलिए आप अलौकिक हैं इससे यह बताया है कि आधिदैविक ब्रह्मा, उस स्वरूप में प्रविष्ट हो उत्तर देते हैं आधिदैविक के सिवाय दूसरों को भगवान् के सेवकों का अपकर्ष तुच्छपन हलकापन) कहना, उचित नहीं वा दूसरे कह नहीं सकते,

'प्रत्याचष्ट' का तात्पर्य है उत्तर दिया इस पर से ब्रह्मा ने कुछ किया है (दैत्यों की वृद्धि ब्रह्मा कर) रहे है) यह शङ्का मिटाई है, भगवान् (ब्रह्मा) इसका उपाय करेंगे यह 'भगवांस्त द्विधित्सति' श्लोक में आगे कहेंगे ।

ब्रह्मा स्वयम्भू होने से यदि यों कहे, तो इसमें कोई अपराध (दोष) नहीं है, 'मानसा' इस निम्न १२ श्लोक में दूसरे प्रकार की सुन्दर वाणी से जैसे उनको आनन्द हो यों प्रेम उत्पन्न करते हुए कहने लगे ॥ ११ ॥

आभास—शापादागतजयविजययोः निस्तेजसोस्तेजसा एतज्जातमिति वक्तुं शापार्थमुपाख्यानमारभते मानसाइत्यध्यायद्वयेन । प्रसङ्गात्तेषां वैकुण्ठ-गमनमिति वक्तुं स्वभावतस्तेषां परिभ्रमणमाह—

आभासार्थ—सनकादि के शाप से दिति के गर्भ में आये हुए तेजरहित जय विजय के तेज से यह दशा (अन्धकारादि) हुई है, यह वृत्तान्त ब्रह्माजी 'मानसा' श्लोक में दो अध्यायों में वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं, सनकादिकों का स्वभाव ही भ्रमण करना है, प्रसंग से वे वैकुण्ठ आये, (जय विजय को उद्धता (ढिटाई) के कारण शाप दिया)

ब्रह्मोवाच । श्लोक—मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः ।
चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने कहा कि, तुमसे पहले उत्पन्न हुऐ, मेरे मानस पुत्र सनकादि, लोकासक्ति को त्याग कर सकल लोकों में आकाश मार्ग से भ्रमण करते थे ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—**मानसा मे सुता इति** । भगवता मनसि कृतं ते कृतवन्त इति ज्ञापयति । मत्सुता इति सृष्टिहेतुत्वमुक्तम् । **युष्मत्पूर्वजा** इति भवता-मज्ञाने हेतुः । देवाः पश्चादुत्पन्नाः, न त्वेते काश्यपाः । तस्मिन्कल्पेतथैवोत्पत्तिः । देवानां शुद्धसात्त्विकत्वात् ततः पूर्वजा गुणातीताः; अनेन स्वस्य दोषो नाऽस्तीति सूचितम् । यथा मम पुत्रास्तथा भवतां ज्येष्ठा इति । **सनकादय** इति तपोरूपत्वात् न कस्यापि प्रती-कारः शक्यः । **विहायसा** आकाशमार्गेण । साम-र्थ्यप्रतिरोधः श्रमाभावश्च सूचितः । **सर्वेष्वेव लोकेषु विगतस्पृहाः** सन्तश्चेरुर्गमनं कृतवन्तः । लोकान् अलोकान् वा प्रति, लोकोद्धारार्थमि-त्यर्थः । लोकानित्यत्यन्तसंयोगे वा द्वितीया । पुनर्लोकग्रहणं जनेषु प्रयोजनाभावार्थम् । तेषां पर्यटनं नित्यमिति ते परिभ्रमन्त्यतो भुवनानामेव कर्मत्वम्, न तु जनानाम् ॥ १२ ॥

व्याख्या—'मानसा' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् ने जो मन में विचारा वही वे करते थे 'मत्सुता' शब्द से सृष्टि का हेतुपन कहा है, 'युष्मत्पूर्वजाः पद से देवों को यह स्पष्ट समझाया है कि ये तुमसे पहले जन्मे हैं इसीलिए इनके स्वरूपादि का तुमको ज्ञान नहीं है, देव इनसे पीछे उत्पन्न हुए हैं किन्तु कश्यपजी से उत्पन्न नहीं हुए हैं अतः पूर्वज का अर्थ बड़े भाई नहीं

समझना चाहिए, अर्थात् सनकादि देवों के बड़े भाई नहीं है।

उस कल्प में मन द्वारा ही सृष्टि होती थी मैथुन द्वारा नहीं, देव शुद्ध सतोगुणी हैं और पहले उत्पन्न हुए सनकादि निर्गुण हैं इससे यह कहा है कि इसमें मेरा (ब्रह्मा का) दोष नहीं है, क्योंकि मैंने तो सनकादि को गुणातीत बनाया था किन्तु फिर भी उनको क्रोध हुआ जिससे शाप दे दिया, जैसे वे मेरे पुत्र हैं वैसे आपके भी बड़े हैं, सनकादि तपोरूप हैं अत: उनके दिये हुए शाप का प्रतिकार हो नहीं सकता है। 'विहायसा' जाने का तरीका बताया है अर्थात् आकाश मार्ग से भ्रमण करते हैं। पृथ्वी पर पैरों से नहीं विचरते हैं, जिससे सूचित किया है कि इस प्रकार 'भ्रमण करने से' सामर्थ्य में किसी प्रकार का प्रतिरोध (रुकावट) नहीं होता है तथा श्रम भी नहीं होता है, सकल लोकों में भ्रमण करते थे किन्तु वहां से कुछ भी लाने की इच्छा नहीं रखते थे वे नि:स्पृह होकर सर्वत्र जाते थे, किन्तु सबका उद्धार करने के लिए लोक वा अलोकों में घूमते थे, 'लोकान्' शब्द में द्वितिया विभक्ति देकर सूचित किया है कि 'अत्यन्त संयोग दशा है, दूसरी बार 'लोक' शब्द देने का आशय (भाव) यह है कि मनुष्यों में किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं है। उनका भ्रमण नित्य होता है इसलिए भुवन ही कर्म है न कि मनुष्य कर्म है ॥ १२ ॥

आभास—तेषां प्रसङ्गात् वैकुण्ठगमनमाह—

आभासार्थ—उन (सनकादि) का प्रसङ्ग वश वैकुण्ठ में जाना हुआ, उसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्याऽमलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—एक दिन वे (सनकादि) मलरहित स्वरूपवाले भगवान् वैकुण्ठ (विष्णु) के सकल लोकों से नमस्कृत वैकुण्ठ धाम में गये ॥ १३ ॥

सुबोधिनी—त एकदेति। भगवतो वैकुण्ठस्येति। साक्षात्पुराणपुरुषावतारो वैकुण्ठः, तन्नाम्ना निर्मितो लोको वैकुण्ठ इत्युच्यते। श्रीप्रार्थनया स लोको निर्मित इति सोऽवतार कामोति शङ्का स्यात् तन्निवृत्त्यर्थमाह**अमलात्मन** इति। अमला आत्मानो यस्येति वा। यथा सत्यादिष्वविद्यावन्तस्तिष्ठन्ति, न तथा तत्रेत्यर्थः। **वैकुण्ठनिलयमिति** नित्यमेव स्थानम्। कृत्रिमत्वेऽपि व्यापिवैकुण्ठ एव तत्र निविष्ट इति तन्मुख्यमेव वैकुण्ठम्। अत: पुनर्लोकाय **कल्पताम्**' इति न विरोधः। '**चेये च सात्वतपतेश्र- रणं प्रविष्टे**' इति च न विरुद्धयते, '**प्रत्येष्यताम्**' इति च। '**वैकुण्ठः कल्पितो येन**' इतिवाक्यात् कृत्रिमत्वं च सनकादीनां गमनाच्च, लोकसाधारण्यप्रसङ्गाच्च। अतः कृत्रिमे सहजस्याऽवेश, लोकावतारो वा। वैकुण्ठस्य तु निलयमिति पुनरुक्तम्। वैकुण्ठ एव निलय इति। सर्वेषामगम्यमिति सूचयितुमाह-**सर्वलोकनमस्कृतमिति।** सर्वेषां जनानां नमस्करणीयम्, सर्वभुवनोत्कृष्ट वा। अन्यत्र लोके विद्यमाना लोकमु द्रावयन्ति, अत्रत्यास्तु नैवमिति सर्वे लोका एन नमस्कुर्वन्ति ॥ १३ ॥

व्याख्या—'भगवतो वैकुण्ठस्य' पद कहने का भावार्थ है साक्षात् पुराण पुरुषोत्तम का अवतार रूप 'वैकुण्ठ' उस नाम से बना हुआ लोक भी 'वैकुण्ठ' कहने में आता है, वह लोक स्त्री की प्रार्थना से बनाने के कारण वह लोक कामवाला होगा ? इस शङ्का के मिटाने के लिए 'अमलात्मनः' विशेषण दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वह लोक कामवाला नहीं है क्यों कि वहां मल रहित (कामादि मलरहित) शुद्ध आत्माएँ रहती हैं, जैसे सत्यादि लोकों में अविद्यावाले (काम, क्रोधादि, दोष वाले) रहते हैं वैसे वहां नहीं रहते हैं 'वैकुण्ठनिलय' वैकुण्ठ धाम पद से यह सूचित किया है कि यह धाम होने से नित्य है यदि कृत्रिम भी हो तो भी इसमें व्यापि वैकुण्ठ के प्रवेश करने से इस वैकुण्ठ की मुख्यता ही सिद्ध है, यों कहने का सारांश है कि यह वैकुण्ठ नित्य और कृत्रिम दोनों प्रकार का है, इसलिए 'पुनर्लोकाय कल्पताम्' पद से फिर सायुज्य प्राप्ति होने में विरोध नहीं है, और 'चैद्ये च सात्वतपते श्चरणं प्रतिष्टे' शिशुपाल ने भगवान् के चरण में प्रवेश किया, इसका भी विरोध नहीं है, 'प्रत्येष्यताम्' फिर लोटकर आओगे इसका भी विरोध नहीं है 'वैकुण्ठ कल्पितो येन' इस वाक्यानुसार वैकुण्ठ का कृत्रिमत्व कहा है तथा सनकादि के गमन से और वह साधारण लोक सम होने से भी कृत्रिम सिद्ध होता है, इस कारण से ही वहां सनकादि को क्रोध उत्पन्न हुआ अथवा कृत्रिम में स्वाभाविक सत्य वैकुण्ठ का आवेश हुआ है अथवा (वैकुण्ठ) लोक का अवतार है, वैकुण्ठ निलयं' पद पुनः कहने से सूचित किया है कि सब (मनुष्य देवादि) वहां नहीं जा सकते हैं इसलिए ही 'सर्व लोक नमस्कृतम्' विशेषण दिया है सर्व को यह लोक नमस्कार करने योग्य है अथवा सर्व भुवनों से उत्तम है । अन्य लोकों में रहने वाले लोकों को दुःख देते हैं किन्तु वैकुण्ठ में रहने वाले किसी का भी उपद्रव नहीं करते हैं अतः सर्व लोक इसको प्रणाम करते हैं । ॥ १३ ॥

आभास—सामान्यतस्तं लोकं वर्णयति चिदानन्दसद्भेदैः । तत्र प्रथमं तत्रत्या-श्चेतना आन्दरूपा इति स्वरूपोत्कर्षमाह—

आभासार्थ—चित्, आनन्द और सत् के भेद से सामान्य रूप से इस लोक का वर्णन करते हैं जिसमें पहले इस श्लोक में कहते हैं कि वहां रहने वाले 'जीव' आनन्द रूप हैं, यों स्वरूप का उत्कर्ष कहते हैं—

श्लोक—वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाऽऽराधयन्हरिम् ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—वहां वैकुण्ठ (भगवान्) जैसे स्वरूप वाले सकल लोक निष्काम हो, स्वधर्म से (शरणागति से) हरि की आराधना करते रहते हैं ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—वसन्ति यत्र पुरुषा इति । यत्र वैकुण्ठे । **पुरुषा इति** स्त्रीणां न सारूप्यमुक्तिः । वैष्णवपतिव्रतानां तु तैः सह गमनम्, तत्र च भगवद्गुणगानमिति तदग्रे वक्ष्यति । **सर्व इति** न तत्र वर्णादीनां प्रयोजकत्वम् । वैकुण्ठस्येव मूर्ति-र्येषाम् । आनन्दाकार एव तेषां देहः, आनन्द

एव वा। तथापि स्वानन्दस्य तथात्वान्न भगवत्तुल्यत्वम्। तत्र तथात्वे हेतुमाह—येऽनिमित्तनिमित्तेति। ये भागवताः, अनिमित्तेन निष्कामेन **धर्मेण, हरिमाराधयन्** आराधितवन्तः। न निमित्तं लोकप्रसिद्धं कामनारूपं निमित्तं यत्र। निष्कामस्वधर्मेण श्रवणादिना धर्मरूपेण ये भगवदाराधनं कृतवन्तः॥ १४॥

व्याख्या—वैकुण्ठ में केवल पुरूष ही रहते हैं क्योंकि स्त्रियों को सारूप्य मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु वैष्णवों की पतिव्रता स्त्रियें पतियों के साथ ही जाती हैं वहां रहकर गुणगान करती हैं यों आगे कहेंगे। 'सर्व' शब्द से यह सूचित किया है कि सारूप्य मुक्ति प्राप्ति के लिए वर्ण उपयोगी नहीं है केवल भगवत्स्मरणादि ही प्रयोजक है। सारूप्य मुक्ति वालों का शरीर आनन्दाकार व आनन्द ही होता है। तो भी जीवों का आनन्द भगवत्सम आनन्द न होने से भगवत् के समान नहीं है, उसमें हेतु कहते हैं कि, जो भगवदीय निष्काम धर्म से हरि की आराधना करते हैं अर्थात् लौकिक समस्त कामनाओं का त्याग कर अपने श्रवण शरणागति आदि धर्म से भगवान् की आराधना से प्रसन्नता प्राप्त करते हैं वे ही वहां रहते हैं॥ १४॥

आभास—एवं जीवोत्कर्षमुक्त्वा भगवदुत्कर्षमाह—

आभासार्थ—यों जीवों की उत्तमता बताकर निम्न श्लोक में भगवान् का उत्कर्ष कहते हैं।

श्लोक—**यत्र चाऽऽद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः।**
सत्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन्वृषः॥ १५॥

श्लोकार्थ—जो स्वरूप वेद से ही जाना जाता है, वे आद्यपुरुष भगवान् शुद्धसत्त्व को धारण कर अपने भक्तों को आनन्द देते हुए वहाँ (वैकुण्ठ में) विराजते हैं॥१५॥

सुबोधिनी—यत्रेति। यत्राऽऽनन्दमयो भगवान् सदंशस्य मुख्यभावरूपं सत्त्वं विष्टभ्य तिष्ठति। वैकुण्ठलोकोऽयं सर्वलोकविलक्षणः, अतश्चित आनन्दःशरीरम्, आनन्दस्य सत् शरीरम् सतश्च मोक्षरूपतेति। अ(ए)त एव सत्त्वादयो गुणाः सच्चिदानन्दानामिति पूर्वमुक्तम्। सर्गस्त्वावृत्तिरूप इति सच्चिदानन्दानामावृत्तिरुच्यते। अत एवाऽऽश्रये आनन्दे प्रतिष्ठां वक्ष्यति। चकाराद्व्यापिवैकुण्ठे। आद्यः पुमान् पुरुषोत्तमो भगवानिति स धर्मः। शब्दगोचर इति लौकिकसंबन्धाभावः। सत्त्वस्य विशेषेण स्तम्भनं कालप्रवाहेण रजोगुणादिभिः सह मिलनाभावार्थम्। पूर्वं त्वमिलितमित्याह-**विरजमिति**। ननु सत्त्वस्तम्भने कः पुरुषार्थ इत्याशङ्क्याऽऽह **स्वानां नो वृष इति**। ब्रह्मादीनां भक्तानां **स्वामी**। **स्वभक्ताः** कालाद्भिन्नतया सर्वेष्टैः संयोज्या इति। यतो वृषः स्वामी, स्वामिनो मृडनमावश्यकम्। स्वाम्यविशेषो वा। साधारणस्वाम्यपेक्षया भक्तेषु मृडयन्नयं स्वामी, अतः सत्त्वविष्टम्भनमित्यर्थः॥ १५॥

व्याख्या—जहां आनन्दमय भगवान् सदंश के मुख्य भाव रूप (प्रथम धर्म रूप) सत्व को

धारण कर विराजते हैं, वह वैकुण्ठ लोक सकल लोकों से विलक्षण (अन्य प्रकार का) है इसी से हो वहां 'चित्' का शरीर 'आनन्द' है, आनन्द का 'सत्' शरीर है और सत् का शरीर मोक्ष रूप है। इस कारण से ही सच्चिदानन्द के ही सत्वादिगुण हैं यों पहले हो कहा गया है, सर्ग (सृष्टि) का आशय है 'आवृति' फिर आना (होना) अर्थात् बदल बदल के क्रम रखना. इसलिए सच्चिदानन्दों की आवृति कही जाती है, इससे ही आश्रय (द्वादश स्कन्ध) में आनन्द में स्थिति कहेंगे, 'च' पद से यह सूचित किया है कि व्यापि वैकुण्ठ में भी पुरुषोत्तम अपने ऐश्वर्यादि धर्म सहित विराजते हैं, 'शब्दगोचर:' पद से बताया है कि वेदैकगम्य है, अर्थात् लौकिक सम्बन्ध नहीं है, सत्वगुण को विशेष प्रकार से रोक रखना अर्थात् धारण कर लेने का आशय है रजोगुणादि गुणों से सम्पर्क न होवे, इसलिए कहा है कि 'विरजं' यह सत्त्व शुद्ध है इसमें रजोगुण मिश्रित नहीं है। सत्त्व को रोकने से कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होता है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते है कि 'स्वानांनोवृष:' अपने ब्रह्मादि भक्तों के स्वामी हैं, अतः उनको (अपने भक्तों को) काल से पृथक् अर्थात् जहां काल का सामर्थ्य नहीं चलता है ऐसे सर्व सुख देवें। क्यों कि स्वामी है, स्वामी का आवश्यक धर्म सेवकों को सुख देना है।

साधारण स्वामी की अपेक्षा यह स्वामी सेवकों को विशेष सुख देते हैं, सत्त्व को धारण करने से यही पुरुषार्थ सिद्ध होता है। यही सत्त्वधारण करने का अर्थ (तात्पर्य) है ॥ १५ ॥

आभास---एवमानन्दस्य **सत्त्वमुक्त्वा सतामुभयविधपरमपुरुषार्थत्वमाह—**

आभासार्थ--इस प्रकार आनन्द का सत् शरीरत्व कहकर, निम्न श्लोक में सत् का दोनों प्रकार का परम पुरुषार्थत्व कहते हैं—

श्लोक—यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ--जिस वैकुण्ठ लोक में 'नैःश्रेयस' नाम का एक वन, मूर्तिधारी कैवल्य जैसा दिखाता है, वह वन सब प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने वाले वृक्षों से सुशोभित है एवं सर्वदा षट् ऋतुओं की सम्पत्ति वाला है ॥ १६ ॥

सुबोधिनी--**यत्र नैःश्रेयसं नामेति । यत्र** वैकुण्ठे उपवनमस्ति । तस्य **नाम नैःश्रेयसमिति ।** नैःश्रेयसशब्दो योगारूढः । तत्र **प्रथमं योगं** समर्थयति-**कामदुघैरिति** । यद्वनं **द्रुमैर्विभ्राजत्** । सर्व एव द्रुमाः कल्पवृक्षाः, त एव तत्रत्याः परमपुरुषार्थरूपाः, तत्रत्यानामपि कामितार्थदातृत्वात् 'द्रु गतौ' इति, तद्रहिता द्रुमाः प्रतिष्ठिताः । स्वतोऽपि तेषामुत्तमत्वमाह-**सर्वर्तुश्रीभिरिति** । सर्वेष्वेवर्तुषु नियता **पुष्पा-दिसम्पत्तिरूपा श्रीर्येषाम्** । एवं योगार्थमुक्त्वा **रूढ्यर्थमाह**— । **मूर्तिमत् कैवल्यमिति । केवलस्य भावः कैवल्यम्,** चिद्रूपणां स्वरूपेण स्थितिः, पुनः सङ्घातसं-

बन्धाभावः । अनेन जीवपुरुषार्थतोक्ता । तत्र गतः 'चिति तन्मात्रेण' इतिवत् कैवल्यमापद्यते । तदप्येकं रूपं भगवतः, यथौडुलोमिमतसिद्धम् । यदात्मत्वेन चाऽऽत्मवादिनो वदन्ति, भगवांश्च अहमात्मा गुडाकेश !' इति प्रथमं विभूतित्वेनोक्तवान् । सा कैवल्यमूर्तिः । तदेव नितरां श्रेयोरूपम्, 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतेः । तस्मादत्र वने प्रविष्ट आनन्दमयो भवति, ब्रह्मानन्दं च प्राप्नोतीति सतः परमपुरुषार्थत्वम् ॥१६॥

व्याख्या—जहाँ वैकुण्ठ में एक उपवन है जिसका नाम नैः श्रेयस' है । नैः श्रेयस शब्द के यौगिक और रूढि ही अर्थ हैं । पहले यौगिक (शब्दों से होने वाला) अर्थ 'कामदुघैर्द्रुमैः' वाक्य से स्पष्ट करते हैं उस वन में जो द्रुम (वृक्ष) हैं वे कामनापूर्ण करने वाले हैं वहाँ के वृक्ष सब कल्पवृक्ष हैं वे ही वहाँ के परम पुरुषार्थ रूप हैं जिसका कारण है कि ये वृक्ष ही वहाँ के निवासियों की भी कामनाओं को पूर्ण करते हैं 'द्रम' शब्द में 'द्रु' गति अर्थवाला है 'मा' 'नहीं' अर्थवाला है अर्थात् जिनमें नहीं है, तात्पर्य 'द्रुम' शब्द का यौगिक अर्थ गति रहितपन है, तथा वे स्वतः भी उत्तम हैं क्योंकि 'सर्वर्तुश्रीभिर्विराजत्' सकल ऋतुओं की पुष्पादि जो शोभा सम्पत्ति है उससे सर्वदा सुशोभित हैं अर्थात् सर्व ऋतुओं के पुष्पादि जिस वन में सदैव रहते हैं यौगिक अर्थ समझा के अब रूढि अर्थ बताने के लिये कहते हैं कि वह वन 'मुर्त्तिमत् कैवल्यम्' मोक्ष का मूर्त्तिमान् स्वरूप है मोक्ष का तात्पर्य है, पूर्णता की स्थिति अर्थात् चिद्रूप जीवों को अपने स्वरूप स्थिति होना मोक्ष है जहां से जिसमे फिर देहादि संघात में जाना नहीं पड़ता है, इससे जीव का पुरुषार्थ बताया है । वहाँ (वैकुण्ठ में) गया हुआ जीव 'चित्रूप ब्रह्म में चिद्रूप से भोग भोगता है वह भी भगवान् का औडुलोमि मतानुसार एक रूप सिद्ध है, और जिसको आत्मवादी आत्मा कहते हैं, तथा जिसको भगवान् ने गीता में 'अहमात्मा गुड़ाकेश' श्लोक में स्पष्ट कहा है कि हे 'गुड़ाकेश' (अर्जुन) मैं आत्मा हूं इससे अपनी प्रथम विभूति कही है, वह कैवल्य (मोक्ष) की मूर्ति है, 'आत्मालाभान्न परं विद्येतु' इस श्रुति वचन के अनुसार आत्मा के लाभ से श्रेष्ट अन्य कोई लाभ नहीं हैं, इस कारण से इस वन में प्रविष्ट आनन्द मय हो जाता है एवं ब्रह्मानन्द को पाता है, इस तरह यह सत् रूप, परमपुरुषार्थ रूप है ॥१६॥

आभास—एवं लोकस्य सर्वलोकवैलक्षण्यार्थं सच्चिदानन्दवैशिष्टयं प्रतिपाद्य सर्वदोषाभावार्थं मोहाद्यभावमाह षड्भिः—

आभासार्थ—इस तरह वैकुण्ठ लोक सर्वलोकों से विलक्षण है जिसकी उपपत्ति सच्चिदानन्द की विशिष्टता से प्रतिपादन कर, अब ६ श्लोकों से समस्त दोषों के अभावार्थ मोहादि का अभाव कहते हैं—

श्लोक—वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र :
गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः।
अन्तर्जले सुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थं—जहां (वैकुण्ठ में) विमानों में बैठकर भ्रमण करने वाले गन्धर्व अपनी पत्नियों के साथ जिस समय लोकों के पापों को नाश करने वाले प्रभु के लीला चरित्र गा रहे हैं, उस समय वहां सरोवरों के भीतर खिली हुई माधवी लताओं की गन्ध इनके चित्त को (बुद्धि को) खण्डित करना चाहती है किन्तु ये तो गन्ध को लाने से वायु का भी तिरस्कार कर देते हैं ।। १७ ।।

सुबोधिनी—वैमानिका इति । तत्र स्त्रीणां न मोहजनकत्वम्, निर्यग्जीवानां न मदः, लतागुल्मादीनां पुष्पप्रधानानामपि न मात्सर्यम्, भगवद्भक्तस्त्रीणां न कामजनकत्वम्, लक्ष्म्या अपि नाऽभिमानलक्षणो मानात्मकः क्रोधः, लोभश्च तत्रैव प्रतिष्ठित इति न तस्याः स्वस्मिन् परमपुरुषार्थबुद्धिः, किन्तु भगवत्येवेति सर्वदोषाणामभाव उक्तो भवति। तत्र प्रथमं स्वाभाविकस्त्रीणां स्वभावदुष्टानामपि स्वदोषपरित्यागेन भगवद्गुणपरतोच्यते **वैमानिका इति** । विमानैकसिद्धा वैमानिका गन्धर्वादयः । ते ह्यागन्तुकाः स्वभावगमनबलाभावात्, सौकर्याभावाच्च वैमानिका एव भवन्ति । तेषां तत्र गमने आदरेण गानमेव हेतुः । **सललनाः** सस्त्रीकाः । अनेनोभयोरन्योन्यमोहसम्भवो निरूपितः । **यत्र** वैकुण्ठे **भर्तुश्च**रितानि गायन्ति । ते गन्धर्वादयस्तदीया एव । **भर्तुरित्यै**हिकपारलौकिकनिर्वाहकत्वेन तद्गुणगानमावश्यकमिति सूचितम् । एवं गुणगानस्य स्वोपकारकत्वमुक्त्वा परोपकारकत्वमाह-**लोकशमलक्षपणानीति** । तस्य लोकस्य, सर्वेषामेव वा शमलं मार्गान्तरस्थितलोकसम्बन्धजातम्, नित्यं वा; तस्य **क्षपणं** तत्रैव विलयप्रापणं यैः । ते हि गन्धर्वा रूपं भगवन्तमुपासते, अतोऽप्सरसस्तेषु प्रतिष्ठिताः । गन्धर्वेषु योगव्युत्पत्त्या गन्धं वान्तीति पृषोदरादित्वाद्गन्धर्वा भवन्ति । अप्सरसस्तु गन्धमेव भगवन्तमुपासते । उभयथाऽपि सस्त्रीकाणां गन्धपरत्वम् । **अतो गन्धेन खण्डित**-**धियोऽपि** गन्धवाहं वायुम्, सर्वदा परमाराध्यं **क्षिपन्तः** सन्तो गुणानेव गायन्ति । गन्धस्य ब्रह्मत्वाय दोषाभावमाह-**अन्तर्जल इति** । जलमध्ये सुष्ठु विकसद्भिर्विकासेन प्रसरद्रूपं मधु मकरन्दो यासाम् । **माधवी** काचिल्लता, यत्र वसन्त ऋतुराधिदैविकः प्रतिष्ठितः । सरसं च तस्येति विकसन्मधुत्वम् । अतस्तादृशीनां गन्धो वरप्राप्तः पृथिवीसंबन्धाभावादप्राकृतः । अतस्तेषां सहजोपास्योऽपि भगवद्गुणगानार्थं तैः परित्यक्त इत्याधिदैविकोऽपि मोहो नास्तीत्युक्तम् ।। १७ ।।

व्याख्या—वहां (वैकुण्ठ में) स्त्रियाँ मोह करनेवाली नहीं हैं, साधारण जीवों को मद नहीं है, लतागुल्म आदि जिनमें पुष्पोत्पत्ति विशेष है उनमें भी मत्सर नहीं है, भगवद्भक्तों की स्त्रियों में काम वासना नहीं है जिससे पुरुषों में काम चेष्टा उत्पन्न करें, लक्ष्मी को भी अभिमान लक्षण वाला मानात्मक क्रोध नहीं है, लोभ भी लक्ष्मी में स्थित है तो भी उसको यह बुद्धि नहीं होती है कि

परमपुरुषार्थ की सिद्धि करने वाली मैं हूं, किन्तु सर्व पुरुषार्थ व परमपुरुषार्थ सिद्ध करने वाले भगवान् हैं। इसी प्रकार वैकुण्ठ में समस्त दोषों का अभाव सिद्ध किया है, इनमें पहले स्वभाव से दुष्ट स्त्रियाँ भी, अपने दोषों को त्याग कर भगवद्गुणगान में तत्पर हो गई हैं जिसका वर्णन करते हैं। 'वैमानिकाः' गन्धर्वगणों में स्वभाव से पदों से चलकर जाने का बल नहीं इसलिये, तथा सरलता से जाना हो सके ऐसा अन्य उपाय न होने से, गन्धर्व जब भी कहीं आना चाहते हैं तो विमानों में बैठकर आते हैं, उनका वहां आदर से जाने में गान ही कारण हैं, 'सललनाः' स्त्रियों सहित आते हैं। क्योंकि दोनों का परस्पर मोह है अतः सर्वत्र साथ में जाते हैं।

वैकुण्ठ में भर्ता के (भगवान् के) चरित्रों का गान करते हैं, क्योंकि वे (गन्धर्व तथा उनकी स्त्रियां) भगवदीय (भगवद्भक्त) हैं, भगवान् के लिए 'भर्ता' शब्द को देने का आशय यह है कि वे (भगवान्) ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों का निर्वाह करने वाले हैं अतः उनके गुणों का गान आवश्यक है, इस तरह भगवद्गुणगान अपना उपकारक है यों कह कर गुणगान परोपकार करने वाले भी हैं। यों 'लोकशमल क्षपणानि' वाक्य से कहते हैं, भगवद्गुणगान, भगवान् से भिन्न मार्गों में स्थित लोगों के सम्बन्ध से उत्पन्न पाप अथवा सहज नित्य पाप को वहां ही नष्ट कर देते हैं,

वे गन्धर्व 'रूप' भगवान् की उपासना करते हैं, इसी कारण से वे (गन्धर्व) अप्सराओं को ही चाहते हैं, इनका नाम 'गन्धर्व' इसलिए हुआ है कि ये जहां भी गन्ध हो वहां से उसको खींच लेते हैं, अप्सराएं गन्ध को भगवद्रूप से उपासती हैं, दोनों प्रकार से स्त्री सहित गन्धर्व गन्ध परायण है अतः गन्ध से बुद्धि खण्डित होने पर भी उस तरफ नहीं जाती है प्रत्युत (बल्कि) गन्ध ले आने वाले वायु का भी तिरस्कार कर भगवत्परायण हो के भगवान् के गुणों का ही गान करते हैं,

'गन्ध' भगवद्रूप है अतः उसमें दोषों का अभाव 'अन्तर्जल इति' से कहते हैं जल के मध्य में खिली हुई माधवी लता की गन्ध वहां फैली हुई है 'माधवी' नाम वाली वहां कोई लता है जहां बसन्त ऋतु आधिदैविक है इसलिए वह लता रसवाली रहती है उसका रस गन्ध खिला (फैला) हुआ रहता है, अतः इस प्रकार की लताओं की गन्ध वर से प्राप्त है जिससे उसको (गन्ध को) पृथ्वी का सम्बन्ध न होने से वह गन्ध अप्राकृत है (अलौकिक दैवी गन्ध है) अतः दैवी होने से उनका उपास्य होते हुए भी भगवद्गुणगान के लिए त्याग कर दिया है वह गन्ध आधिदैविक है तो भी उससे मोह नहीं है मोह तो भगवद्गुणगान में ही है ।।१७।।

आभास--एवं गन्धर्वाप्सरसामुक्त्वा पक्षिणां दोषाभावमाह—

आभासार्थ—यों गन्धर्व अप्सराओं की निर्दोषता सिद्धकर, पक्षिओं की निर्दोषता निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**पारावतान्यभृतसारसचक्रवाकदात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः ।**

कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चैर्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ।।१८।।

श्लोकार्थ—जिस समय भ्रमर श्रेष्ट ऊँचे स्वरसे गुंजार करते हुए हरि कथा का गान करते हैं उस समय थोड़ी देर के लिए कबूतर, कोयल, सारस, चकवे, पपीहे, हंस, तोते, तीतर, और मयूरों का कोलाहल बन्द हो जाता है जिससे यों जान पड़ता है कि वे सब गुणगान रस में मग्न हो गये हैं ।। १८ ।।

सुबोधिनी—पारावतेति । एते पारावतादयो नवः गुणभिन्नाः। तेषांमपि स्वतः सिद्धा वाक् तेषां वागेव ब्रह्म । चित्रस्वनत्वमेव तेषां माहात्म्यम्, अत एव प्रातरनुवाके तेषां वाक्यत् पूर्वमेवाऽऽरम्भः, अन्यथा देवानां तद्वाङ्माधुर्यपरत्वं स्यात् । **अन्यभृतः** कोकिलः, दात्युहश्चातकः, बर्ही मयूरः । य इति प्रसिद्धोऽपि कोलाहलः । तद्वाक्ये व्याकरणाभावात्, पदवाक्यानामभावे शब्दराशित्वादनभिव्यक्तः कोलाहलत्वेनोक्तः । वस्तुतस्तु तेऽपि भगवद्गुणानेव गायन्ति, न हि तत्रत्याः पक्षिणोऽन्यद्वदन्ति शुद्धसत्वस्य तथा लोकत्वेनाऽऽविर्भावात् तत्र वृक्षपक्ष्यादीनां सम्भवः । सोऽपि कोलाहलः **क्षणमात्रमेव विरमते** । **भृङ्गाधिपे** भ्रमरश्रेष्ठे, **हरिकथामिव गायमाने** सति । अनेन तेषां स्ववाग्गर्वो नास्तीति सूचितम्, भृङ्गस्याऽऽधिपत्यं च मन्यन्ते, तस्य भगवत्सान्निध्यसम्भवात्, कुन्तलानां तत्साम्याच्च । भृङ्गाणामधियो वा अधिदैविकः । तस्य वाग्रागरूपेति रागं कृत्वा गास्यतीति बुद्धया कोलाहलो विरमते । तस्याऽप्यनभिव्यक्तवाक्त्वात् रागपर्यवसानं ज्ञात्वा स्ववागिव तदपीति तदवधारणार्थम् । चिरमात्रं भगवत्कथागाने सौम्यो राग उपयुक्त इति यदा तद्गानानुसारेण भृङ्गरवः । उच्चैः शब्दात् भगवदाज्ञा प्रायेण ज तेति सन्देह : ।। १८ ।।

व्याख्या—ये कबूतर आदि नव पृथक २ गुणों के रूप हैं, उनको स्वतः सिद्ध वाणी की प्राप्ति हुई है, उनकी वाणी ही ब्रह्म है, अलग अलग शब्द ही उनका माहात्म्य है, इसलिए वैदिकविप्र प्रातः काल में इनकी वाणी से पहले ही वेद पाठ प्रारम्भ कर देते हैं, नहीं तो इनकी मधुर वाणी में आसक्ति होने से वेदारम्भ में विलम्ब हो जावे ।

कोयल, चातक, और मयूर इनका कोलाहल प्रसिद्ध है क्योंकि इनकी वाणी में व्याकरण का अभाव तथा पद एवं वाक्य रचना का दोष केवल शब्द राशि होने से स्पष्टता नहीं है जिससे कोलाहल कहते हैं वास्तव में वे भी भगवान् के गुण गाते हैं, वहां के पक्षी गुणगान के सिवाय अन्य कुछ नहीं कहते हैं क्योंकि उस लोक में सर्व उत्पत्ति शुद्ध सत्त्व से ही हुई है अतः वहां के पक्षी आदि भी शुद्ध सत्त्व वाले ही जन्मे हैं, वह कोलाहल भी क्षणभर मात्र ही बंद होता है कारण कि भ्रमर श्रेष्ठ जो गान करते हैं वह हरिकथा वत ही करते है इससे यह सूचित किया कि उनको अपनी वाणी का गर्व नहीं है और भ्रमर का आधिपत्य (अधिपति (स्वामी) पन) स्वीकार करते हैं, कारण कि एक तो भगवान् की सन्निधि में रहता है और उसके केश भगवत्केशों के समान हैं । अथवा उत्तम भ्रमर आधिदैविक होने के कारण अधिपति है, उसकी वाणी रागरूप है इसलिए राग द्वारा गान करेगा यों जानकर कोलाहल शान्त होता है,

उसकी वाणी अस्पष्ट होते हुए भी उसकी राग में अन्त होता है इसलिए अपनी वाणी की तरह उसको भी धारण के लिए शान्त हो सुनते हैं, विशेष समय भगवत्कथा गुण गान में सुन्दर राग उपयोगी है, इसलिए उनके राग के अनुसार भ्रमर गुंजार करता है, जोर से बोलने से यों अनुमान होता है कि प्रायः ऐसी भगवदाज्ञा हुई है। ॥ १८ ॥

आभास—एवं पक्षिणां दोषाभावमुक्त्वा लतादीनां पुष्पप्रधानानां मात्सर्यलक्षण-दोषाभावमाह

आभासार्थ—इस तरह पक्षियों की निर्दोषता बताकर निम्न श्लोक में विशेष पुष्पों वाली लताओं आदि में ईर्ष्यारूप दोष का न होना कहते हैं—

श्लोक—मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्णपुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥१९॥

श्लोकार्थ—तुलसी के आभरण से सुसज्जित श्री हरि ने, तुलसी की गन्ध की जब प्रशंसा की तब वहाँ के मन्दार, कुन्द, कुरबक, उत्पल (रात्रि में खिलने वाले कमलों) चम्पक अर्ण पुन्नाग, नागकेसर, मौर सिरी, अम्बुज (दिन में खिलने वाले कमल) और पारिजात आदि सुमनसों ने सुगन्ध युक्त होने पर भी तुलसी के तप का महत्व देख उसकी प्रशंसा ही की ईर्ष्या नहीं की ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—मन्दारेति । मन्दारो देवतरुर्भूमावप्रसिद्धः । कुन्दकुरबकोत्पलचम्पकाः सर्वत्र प्रसिद्धाः । अर्णः काश्मीरप्रसिद्धः । पुन्नागनागकेशरबकुलाम्बुजा अपि प्रसिद्धाः । पारिजातो मन्दारवत् । एते पुष्पप्रधाना अतिपरिमलयुक्ताः, तथापि तुलसिकाभरणेन भगवता तुलस्या गन्धेऽर्चिते यस्मिन् वैकुण्ठे तस्या एव तपः सर्व एव समनसो भूत्वा मन्दारादयो बहु मानयन्ति । न केवलं बहिर्बहुमानम्, किन्तु अन्तःकरणेऽपीति सुमनस इत्युक्तम् । तपसा हि हीन उत्तमतां व्रजति । तुलसिका भगवत आभरणम् । वनमाला तत्सम्भवेति । तुलस्यमृतोद्भवा, यथा लक्ष्मीः । भगवत्प्रसादाच्च तया तपः कृतमित्यवसीयते । वृन्दात्वे वा तस्यां प्रसादः । सा हि जालन्धरपत्न्यभून्मधोः कन्या; जालन्धरवधार्थं च तां परिगृहीतवान् । तस्या पातिव्रत्यं तपः, तप एव वा पूर्वसिद्धम् । गुणकृतसौन्दर्याभावाय भगवता सा तथैव स्थापिता । भक्तिमार्गे तस्या माहात्म्यं सर्वतोऽधिकम् । एवं प्रकारत्रयेण स्वभावसात्त्विकराजसतामसा अपि स्वदोषमभिमानं दूरीकृत्य यत्र वैकुण्ठे अस्वाभाविकधर्ममङ्गीकृतवन्त इत्युक्तम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—मन्दार देव वृक्ष होने से पृथ्वी पर प्रसिद्ध नहीं है, कुन्द कुरबक उत्पल (रात्रि में खिलने वाले कमल) और चम्पक, सर्वत्र प्रसिद्ध है. 'अर्ण' काश्मीर में प्रसिद्ध है, पुन्नाग, नाग केशर मोलसिरी और अम्बुज (दिन में खिलने वाले कमल) भी प्रसिद्ध हैं, परिजात भी मन्दार की तरह देववृक्ष है, ये सब पुष्प प्रधान हैं अर्थात् इनमें पुष्प ही पुष्प होते हैं और वे पुष्प अतिशय गन्ध वाले है, तो भी जब तुलसी को वनमाला रूप आभरणों से सजाये हुए भगवान् ने तुलसी की गन्ध की प्रशंसा की तब वहां (वैकुण्ठ) के मन्दार आदि वृक्षों ने तुलसी के तप का बहुत आदर किया, क्योंकि वे खुद उत्तम पुष्प वाले तथा उत्तम शुद्ध मन वाले थे कारण कि हीन भी तपस्या करने से उत्तम हो जाता है, तुलसी भगवान् का आभरण है क्योंकि तुलसी से ही भगवान् की वनमाला बनती है, कारण कि तुलसी लक्ष्मी की तरह अमृत से उत्पन्न हुई है और भगवत्कृपा से उसने तप किया है. अथवा जब वह वृन्दा थी तब भगवान् ने उस पर कृपा की थी, कारण कि वह जालंधर की पत्नि तथा मधु की कन्या थी, भगवान् ने जालंधर के वधार्थ (मारने के लिए) वृन्दा को अङ्गीकार किया था वृन्दा की तपस्या उसका पातिवृत्य था अथवा पहले ही तपस्या कर रखी थी जिसका फल अब मिला, गुण से उत्पन्न इसका सौन्दर्य न रहे अतः इसको वैसी ही रखी, भक्ति मार्ग में इसका (वृन्दा तुलसी का) माहात्म्य सबसे विशेष है, जीवों ने अपने स्वाभाविक सात्विक, राजस और तामस से उत्पन्न दोष अभिमानादि को त्यागकर वैकुण्ठ में अस्वाभाविक गुण ग्रहण किये हैं, यों कहा है ॥ १९ ॥

आभास—इदानी मुख्यतया स्त्रीणामेव सहजदुष्टत्वात् दोषाभावः प्रतिपाद्यते । तत्र सर्वाः स्त्रीयोऽन्या आधिभौतिक्यः । लक्ष्मीर्द्विविधा, आध्यात्मिकी लोकसंबन्धिनी, आधिदैविकी भगवद्भुक्ता भगवदानन्दरूपा । त्रिविधानामपि स्त्रीणामानन्दरूपत्वात् सहजो दोषः संभवति, स निराक्रियते । तत्र प्रथमं भगवदीयानां स्त्रीणां दोषाभावमाह—

आभासार्थ—स्त्रियां स्वभाव से दोष वाली होती हैं उनकी निर्दोषता इस श्लोक में प्रतिपादन करते हैं, वहां लक्ष्मी के सिवाय दूसरी सब स्त्रियां आधिभौतिक हैं, लक्ष्मी दो प्रकार की है लोक (वैकुण्ठ) सम्बन्ध वाली आध्यात्मिकी, और भगवद्भुक्ता भगवदानन्द रूपा आधिदैविकी है, तीन प्रकार की स्त्रियां भी आनन्द रूपा हैं जिससे उनमें सहज दोष (काम) होता है जिसका निराकरण किया जाता है, इसमें पहले भगवदीय स्त्रियों की निर्दोषता कहते हैं—

श्लोक—तत्संकुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टैर्वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः ।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः ॥२०॥

श्लोकार्थ—वह (वैकुण्ठ) लोक वैदूर्य, मरकतमणि और सुवर्ण से बने हुए विमानों से भरा हुआ है, ये विमान किसी कर्म के फल से प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु केवल भगवान् के चरण कमलों में प्रणाम करने से ही प्राप्त होते हैं, उन विमानों पर बैठे हुए श्री कृष्ण के भक्तों के चित्तों में बड़े बड़े नितम्बों वाली सुन्दरियां अपनी मन्द मुसकान एवं मनोहर हास्य से काम विकार पैदा नहीं कर सकती हैं । ।।२०।।

सुबोधिनी—**तत्संकुलमिति** । तद्वैकुण्ठं **विमानैः संकुलम्** तेषां विमानानां प्राप्त्युपायमाह-**हरिपदानतिमात्रदृष्टैरिति** । हरिपदयोरानतिमात्रं येषाम्, तैर्दृष्टानि । भक्तिमार्गानुसारेण भगवति **नम्रत्वे तादृशविमानदर्शनम्** । श्रवणादिषड्विधभक्तिर्वा । **मात्रशब्दोऽवधिवाची** । **सख्यद्यभावे** ऽप्यानतिपर्यन्तेनैव भक्तिमार्गेणेति तत्प्राप्तिरिति वा । **वैदूर्यमारकतहेममयैरिति** विमानानां त्रैविध्यमुक्तम् । **तत्र** वैदूर्यं तामसमिव, **मारकतं** सात्त्विकमिव, हेम राजसमिव । **भक्तानामपि** त्रैविध्यात् त्रिविधप्राप्तिः । अनेन भक्तानां तत्र विमानेषु स्थितिरुक्ता भोगातिशयाय । **येषां** विमानानां संबन्धिन्यो भोगार्थमेव **स्थिताः** । **बृहत्कटितटा इति** । भोगमेव **पोषयन्ति** । **मोहकत्वं** च सहजमित्याह—**स्मितशोभिमुख्य इति** । स्मितेन शोभायुक्तं मुखं स्मितशोभि, स्मितशोभि मुखमासामस्तीति स्मितशोभिमुख्यः । दर्शनेनैव मोहकत्वमुक्तम् । रसद्वयसिद्ध्यर्थं वा विशेषणद्वयम् अमोहकत्वे हेतुः-**कृष्णात्मनामिति** । भगवद्भक्तानां मनसि ता न रस आदधुः, कामं नोत्पादितवत्यः न च ता विभावाद्यचतुरा इति मन्तव्यम्, यत **उत्स्मयाद्यैरपि** हास्यादिसर्वभावैरपि न रज आदधुः । वैकुण्ठस्य माहात्म्यम कृष्णात्मत्वेनैव, तत्रैव कृषणा(?)त्मानो भवन्तीति । कृष्ण आत्मनि येषा मिति पक्षे दोषाणामदोषत्वं वा, अकृष्णात्मनां तत्राभावात् । नामविशेषकथनाद्रज उत्पत्तिहेतुत्वं वा । तद्वा वैकुण्ठोत्कर्ष **एव भवति** अन्यत्राऽपि तस्य न दोषत्वम् अन्यथा तत्र तेषामेव कीर्तनं विरुध्येत ।।२०।।

व्याख्या -वह वैकुण्ठ विमानों से भरा हुआ है, उन विमानों को प्राप्ति का उपाय कहते हैं कि 'हरि पदा नतिमात्र दृष्टैः' जो हरि के चरण कमलों में ही नमन करते हैं वे इस प्रणाम मात्र से उन विमानों को देख सकते हैं, भक्तिमार्गानुसार भगवान् को नम्रता से नमन करना ही विमान दर्शन (प्राप्ति) का एक मात्र उपाय है । अथवा श्रवण से लेकर वन्दन तक छः प्रकार की भक्ति उपाय है । 'मात्र' पद का तात्पर्य अवधि है, अथवा सख्यादि के अभाव होने पर भी प्रणाम प्रर्यन्त करने से भक्तिमार्ग में उनको (विमानों की) प्राप्ति होती है विमान तीन तरह के हैं, जो वैदूर्य से बने हैं वे तामस हैं जो मरकतमणि (पन्नों) से बने हैं वे सात्विक हैं और जो सुवर्ण से बने हैं वे राजस हैं, भक्त भी तीन प्रकार के (सतो, रजो और तमो गुणी) हैं अतः गुणानुसार उनको विमान

प्राप्ति होती है। इससे भक्तों की भोगो के लिए विमान में स्थिति कही है, विमानों के सम्बन्ध वाली भी भोगार्थ ही उनमें स्थित है, 'बृहत्क'टतटा' जिनके बड़े बड़े नितम्ब भोग का ही पोषण करते हैं और स्मित (मुस्कान) से शोभायुक्त मुख देखते हो मोह में डालने वाला है अन्तरङ्ग (भीतरी) और बहिरङ्ग (बाहरी) दोनों प्रकार के रस सिद्धि के लिये दो विशेषण दिये हैं।

मोह करने के हेतु बताकर अब मोह न करने के हेतु कहते हैं, 'कृष्णात्मनां न रज आदधुः' श्री कृष्ण में ही जिनका चित्त आसक्त है उन भगवद्भक्तों में काम उत्पन्न नहीं कर सकी यों भी न समझना चाहिये कि वे कामोत्पादक वभावादि भावों को नहीं जानती थी, कारण कि हास्य आदि सर्व भाव करते हुए भी काम पैदा न कर सकी, वैकुण्ठ का यही माहात्म्य है कि जो वहां रहते हैं वे कृष्ण भक्त स्वतः हो जाते हैं उनका अन्तः करण चतुष्टय भगवान् में आसक्त हो जाता है। अथवा कृष्ण है अन्तः करण में जिसके उनमें जा दोष हो तो वे अदोष (गुण) हो जाते हैं वहां ऐसा कोई नहीं जिसका चित्त कृष्ण में न हो अथवा विशेष रूप से किसी व्यक्ति का नाम न कहने से कामोत्पत्ति का हेतुपन है, तब वैकुण्ठ की उत्तमता ही होती है, अन्य स्थल पर भी वह दोष रूप नहीं होता है, नहीं तो वहाँ उनके कीर्तन का विरोध हो- तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठ वासी कहीं भी हो स्त्री पुरुष साथ में हो तो उनमें काम जागृत नहीं होता है कारण कि उनका अन्तः करण चतुष्टय (मन्, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार) कृष्ण में ही लगे हुवे हैं ॥२०॥

आभास—एवं भगवदीयस्त्रीणां दोषाभावमुक्त्वा लक्ष्म्यास्तत्र गर्वः सम्भवति, तदर्थमेव तन्निर्माणात्, अथापि तस्यास्तदोषाभावमाह—

आभासार्थ— इस तरह भगवद्भक्त स्त्रियों में दोषों का अभाव कहकर; यह वैकुण्ठ लक्ष्मी के लिये ही बनाया है जिससे लक्ष्मी को गर्व होने की सम्भावना है तो भी उसमें (लक्ष्मी में) गर्व नहीं है, यों निम्न श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—श्री रूपिणी क्वणयति चरणारविन्दं लीलाम्बुजेनहरिसद्मनि मुक्तदोषा।
संलक्ष्यते स्फटिककुडय उपेतहेम्नि संमार्जतीव यदनु ग्रहणोऽन्ययत्नः ॥२१॥

श्लोकार्थ— सुन्दरता की साक्षात् मूर्ति लक्ष्मी जो, जिनकी कृपा प्राप्त करने के लिये ब्रह्मा आदि देव भी यत्न कर रहे हैं वैकुण्ठ में चञ्चलता दोष को त्यागकर रहती है, जब अपने चरण कमल के नूपुरों की झनकार करती हैं तथा लीला कमल को घुमाती हुई फिराती है तब सुवर्ण में जड़े हुवे स्फटिक मणियों की दिवारों में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ऐसा दीखता है मानो उसको साफ कर रही है ॥२१॥

सुबोधिनी-- **श्री रूपिणीति** सर्वस्मिन्नेव जगति विद्यमान लक्ष्म्याः सा देवता, अतोरूपिणीत्युच्यते। ब्रह्मानन्दस्य नीरूपस्य रूपं सञ्जातमित्यलौकिकार्यं वा रूपवती सा निरूप्यते। यद्यपि सौन्दर्यवदाभरणादिकमप्यभिमानहेतुरस्ति तथापि नाऽभिमान इति वक्तुं **क्वणयतीत्युक्तम्**। चरणारविन्दं नूपुरशिञ्जितैः क्वणयती सशब्दं कुर्वती। रूपित्वम्, चरणक्वणनम्, लीलाम्बुजं तस्याः सर्वेषां वेद्यमिति नान्यद्वर्णितम्। रूपवत्त्वं प्रतिमाया अपि भवतीति क्वणनमधिकं निरूपितम्। लीलाम्बुजेनाऽप्युपलक्षिता स्त्र्यन्तरव्यावृत्त्यर्थम्. यतः सैव पद्मकरा भवति। मुक्तो दोषो यया, स्थिरा। लोके आधिभौतिक्याश्चाञ्चल्यं दोषः। लीलाम्बुजयुक्तेन प्रसारितहस्तेनोपलक्षिता वा। **हरिसद्मनीति**। तत्र सर्वेषां सहजदुःखाभावः दुःखाभावपूर्वकविषये सत्यवश्यं गर्वो भवत्येव, तथापि तत्र संमार्जतीव संलक्ष्यते। ननूचितमेव गृहसमा. गृहसंमार्जनमिति, तन्निवृत्त्यर्थं तस्याः प्रतिबिम्ब एव तथा दृश्यत इति ज्ञापनार्थं गृहं विशिनष्टि--**स्फटिककुडय उपे हेम्नोति**। एकस्फटिकत्वे शोभा न स्यादिति बहवः स्फटिका वक्तव्याः। तत्र योजकद्रव्यान्तरसंबन्धे पुना रजः:संबन्धः स्यात्, अत उपेत हेम सन्धिषु यत्रेति। प्रतिबिम्बाधिक्यार्थं वा। अतस्तत्र रजः-संबन्धाभावेऽपि सैव निरभिमाना तिष्ठतीति तथोक्तम्। सर्वस्याऽपि वैकुण्ठस्याऽतिशोभायुक्तत्वात् लक्ष्म्यैव शोभा क्रियत इति तथोत्प्रेक्षणम्। तत्रत्यानां न लक्ष्मीपरत्वं वा, तेन तथोत्प्रेक्षा। अनेन लक्ष्म्याः, अन्येषामपि तत्कृतो दोषो नास्तीत्युक्तम्। आदराभावस्त्वत्यलौकिक इति ज्ञापयितुमाह-**यदनुग्रहणेऽन्ययत्न इति**: यस्या अनुग्रहणेऽनुग्रहार्थमन्येषां ब्रह्मादीनां यत्नः॥२१॥

व्याख्या--सम्पूर्ण जगत् में विद्यमान् लक्ष्मियों की यह लक्ष्मी देवता है। इसलिए इनको मूर्तिमती (रूपवाली) कहा है, अथवा बिना रूप वाले ब्रह्मानन्द का रूप हुआ है यों अलौकिक अर्थ बताने के लिए इसको (लक्ष्मी को) रूपवती कहा है, यद्यपि सुन्दरता की तरह आभरणादि भी अभिमान के हेतु (कारण) है, तो भी अभिमान नहीं है यों बताने के लिए 'क्वणयती' पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि चरणारविन्द को नूपुरों की झनकार से शब्दमय करती थी, उसका रूपवतीपन चरणों की ध्वनि और लीला कमल सर्व को विदित ही है इसलिए अन्य गुण नहीं कहे हैं, प्रतिमा का भी रूप होता है इस शङ्का को मिटाने के लिए 'क्वणनं' पद विशेष दिया है अर्थात् झनकार से जाना जाता है कि वह प्रतिमा नहीं किन्तु साक्षात् ब्रह्मानन्दमय अलौकिक रूप वाली है। यह लक्ष्मी अन्य स्त्रियों से पृथक एवं विशेष है। यों जताने के लिए कहा है कि इसके हस्त (हाथ) में लीला कमल है, अन्य के नहीं है, क्योंकि यहां 'पद्मकरा' है चञ्चलतादि दोषों को त्याग स्थिरता सम्पादन कर ली है। लोक में लक्ष्मी चंचला कही जाती है वह आधिभौतिकी लक्ष्मी है। जिसमें चञ्चलतारूप दोष है, यह लक्ष्मी उससे पृथक् है यों बताने के लिए कहा है कि इसने ही प्रसारित हस्त में लीला कमल धारण किया है। 'हरिसद्मनि' पद से यह सूचित

किया है कि यह दुःख हरण करने वाले हरि (भगवान्) का गृह है अतः यहां सबको स्वाभाविक दुःखा भाव है, यदि दुःख का अभाव होने से सर्व सुख प्राप्ति होगी जिससे अवश्य अभिमान होता है, किंतु यहां गर्व नहीं है, इसलिए ही उस घर को बुहारने का काम स्वयं लक्ष्मी कर रही है गृह को बुहारना स्त्रियों का धर्म है अतः यों करना उचित ही है, किन्तु वह ब्रह्मानन्द रूप आनन्द की स्वरूपात्मक आध्यात्मिका लक्ष्मी है, जिससे किस तरह बुहारती है वह प्रकार कहते हैं उस वैकुण्ठ को दीवारें स्फटिकमणियों से जड़ित सुवर्ण की बनी हुई है, अतः जब लक्ष्मी हस्त में लीला कमल धारण कर घुमाती, हुई नूपुरों की झनकार करती हुई फिरती रहती है तब उसका प्रतिबिम्ब दीवारों में फिरता हुआ दीखता है जिससे यों जान पड़ता है कि दीवारों को वा गृह को साफ कर रही है लक्ष्मी में वहां रजोगुण का सम्बन्ध न होने से भी निरभिमान रहती है समग्र वैकुण्ठ अतिशय शोभा वाला लक्ष्मी जी की शोभा से हुआ है अथवा यहां के रहवासी (निवासी) लक्ष्मी के आधीन नहीं है अतः वह तर्क किया है, जिसका आशय है कि लक्ष्मी में दोष भाव है अतः लक्ष्मी से उत्पन्न दोष दूसरों में भी नहीं है, लक्ष्मी का आदर नहीं यह तो अलौकिक विचार है, यह जताने के लिए कहा है कि (यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः) जिस लक्ष्मी के अनुग्रहको प्राप्त करने के लिये ब्रह्मादि देव प्रयत्न कर रहे हैं ।।२१।।

आभास—एवमाध्यात्मिकया गर्वाभावरूपं दोषाभावमुक्त्वा आधिदैविकया माना-भिमाने न स्त इत्याह—

आभासार्थ-आध्यात्मिका लक्ष्मी में दोषाभाव (दोष नहीं है) कह कर अब आधिदैविकी लक्ष्मी में मान और अभिमान नहीं है जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**वापिषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम् ।**
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्रमुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग ! यच्छ्रीः२२।।।

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! जिस समय दासी सहित लक्ष्मी अपने क्रीड़ावन में वापियों में, तुलसी दलों से भगवान् की पूजा करती हैं उस समय निर्मल अमृत मय मीठे जल वाले,तथा मूंगे के बने हूए घाटों वाली वापियों में (बावड़ियों में) अपना सुन्दर केश वाला एवं उन्नत (ऊँची हुई) नासिका वाला मुखारविन्द देखकर यों मानती थी कि इस मुख कमल का भगवान् ने चुम्बन किया है ।।२२।।

सुबोधिनी **वापीष्विति**। **निजवने** लक्ष्मी-वने, **तुलसीभिः** साधनैः, **वापीष्वीशमभ्यर्चती** **स्ववक्त्रं भगवतोच्छेषितमि**त्यमंस्त। सा हि भगव-द्भजनं कुर्वाणा, भजनस्य स्वस्य भगवच्चुम्बनमेव

महाफलत्वेन ज्ञातवति। तस्याः कथमभिमानः स्यात्? तुलसीभिश्च पूजयतीति न सापत्न्यादिभावः। अवस्थास्मारकत्वेन वापीदास्योरुपयोगः। कदाचिदेवंभावव्यावृत्त्यर्थं **वापीष्विति** बहुवचनम् प्रवालास्तटे यासामिति प्रतिबिम्बस्फुटता : विद्रुमास्तटेषु यासाम्, तटच्छायाया मालिन्याभावाय। **अमलमिति** नैर्मल्यं मुख्यं प्रतिबिम्बे हेतुः, अमृतजलत्वं च; लवणजले विवर्णप्रतीतेः। जले च पूजार्थं ध्यातो भगवान् प्रेष्याप्रतिबिम्बे स्फुरितः। सकचग्रहचुम्बने ऊर्द्ध्वं मुखं भवति। एतदेव महापुरुषार्थं इति ज्ञातवति। प्रेष्यान्वितेति शङ्काभावार्थं च। **निजवन इति** भगवदागमनाभावाय। यत्र तस्या एतावदेव मनोरथं सिद्धम्, तत्र कथं गर्वादिभावः। **स्वलकमिति** कचग्रहणार्थं वचनम् ऊर्द्ध्वनासिकता तदैव भवति। उपविष्टायास्तु तावदेव, यत इयमभ्यर्चती। यस्य वैकुण्ठस्य श्रीः **तुलसीभिरिति** बहुवचनं लक्षादिपूजाद्युपलक्षकम्। **ईशमिति** पूजायामपि पतित्वेन नाऽवहेला। अभितोऽङ्गादिसहितपूजनं महाफलत्वाय। चुम्बनमात्रेणैव कृतार्थताज्ञानं परमभक्तत्वबोधकम्, आत्मसमर्पणं तु जातमिति। उच्छेषितममंस्तेति क्रियाविरतिरपि सूच्यते, साक्षात्फले सम्भवति किमित्येवं क्रियत इति ॥ २२ ॥

व्याख्या-लक्ष्मी जी अपने वन में तुलसी रूप सामग्री द्वारा वापियों में भगवान् का पूजन कर रही थी, तब यों मानने लगी कि मेरे मुखारविन्द का भगवान् ने चुम्बन किया है भगवत्सेवा करती हुई वह (लक्ष्मी) अपने भजन का महाफल भगवान् का चुम्बन ही समझने लगी जो लक्ष्मी यों समझती है उसको अभिमान कैसा होगा? तुलसी दलों से व पत्रों से पूजा करने से यह सूचित किया है कि मेरे में तुलसी के लिए सौतका भाव नहीं है वापी तथा दासियों का उपयोग अवस्था की स्मृति (याद) के लिए है-ऐसा कदाचित् नहीं होता है किन्तु सदैव रहता है इसलिए 'वापी' शब्द बहुवचन में दिया है वापियों के तट मूंगे के बने हुए थे जिससे वहां प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ते थे क्योंकि उनके कारण तट मल रहित थे वापियों का जल अमृतमय मीठा था जिससे भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ते थे खारे जल में प्रतिबिम्ब धुंधला सा पड़ता था।

लक्ष्मी जिस समय पूजा के लिए ध्यान धरती थी उस समय भगवान् दासी के प्रतिबिम्ब में जब प्रकट दीखने में आये। केशों को पकड़ कर जब चुम्बन किया जाता है तब मुख ऊपर (ऊंचा) होता है, यों होना ही लक्ष्मी ने महापुरुषार्थ समझा अथवा दासी साथ में थी यह शङ्का न रहे, इसलिए यों कहा व समझा है 'निजवने' पद कहने से यह संकेत किया है कि भगवान् वहां पधारने वाले नहीं है कारण कि वहां विराजमान ही हैं, जहां उसका इतना ही मनोरथ सिद्ध हुआ है वहां गर्व (अहंकार) का भाव कैसे होगा? 'स्वालकं' सुन्दर केशों वाला पद कहने से यह सूचित किया है कि भगवान् इसको ग्रहण करेंगे? सुन्दरता न हो तो भगवान ग्रहण न करें, भगवान् केश ग्रहण न करें तो नासिका ऊपर न होय, लक्ष्मी पूजा करने के लिए बैठी थी अतः उसकी नासिका (मुख) ऊपर

करने के लिये केशों का ग्रहण आवश्यक था, यह आधिदैविक लक्ष्मी थी जिसने माना है कि भगवान् ने मेरे मुख का चुम्बन किया है, 'तुलसीभिः बहुवचन का आशय है कि लक्ष्मी एक लक्ष से पूजन करती थी, पूजा करते हुवे पति के कारण भगवान् का अनादर नहीं करती थी, पूर्ण भगवद्भाव से पूजन करती थी वह पूजन भी साङ्ग करती थी, क्योंकि साङ्ग पूजन ही महाफलदाता है, चुम्बन से अपने को कृतार्थ समझना परम भक्तपन का बोध कराता है। आत्म समर्पण तो हुआ ही है 'भगवान् ने चुम्बन किया' यों मानती थी, इस प्रकार के शब्दों से यह सूचित किया है कि जब साक्षात् फल प्राप्त हो गया है, फिर चुम्बन क्यों किया ? उसकी आवश्यकता नहीं थी। ॥२२॥

आभास—एवं सर्वदोषाभावमुक्त्वा दोषवतां तत्र गमनमेव नाऽस्तीत्याह—

आभासार्थ—यों वहां सकल दोषों का अभाव (न होना) कह कर इस श्लोक में कहते हैं कि दोषी वहां नहीं जा सकते हैं—

श्लोक—यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादाच्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारास्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसुहन्त! ॥२३॥

श्लोकार्थ— जो मनुष्य पापों को नाश करने वाली भगवान् की कथाओं को न सुनकर बुद्धि को भ्रष्ट करने वाली लौकिक विषयों वाली कथाओं को सुनते हैं वे कथाएँ उनको अन्धकार में फैंक देती हैं, जिससे वे वैकुण्ठ में नहीं जा सकते हैं ॥ २३ ॥

सुबोधिनी - यन्न व्रजन्तीति। अनेन संस्काररूपा अपि दोषास्तत्र न सन्तीति समर्थितम्। **यद्वैकुण्ठं** ते न व्रजन्ति, ये **अघभिदो रचनानुवादादन्यविषयाः कथां श्रृण्वन्ति**। अन्यविषयककथाश्रवणं वैकुण्ठगमने साधने सत्यपि प्रतिबन्धकम्, अन्यथा साधनाभावादेव न गच्छेयुः, किमेतत्कथनेन। अघं भिनत्तीत्यघभित् भगवान्, तस्य पापनाशकत्वं सहजम्। तस्य रचना चरित्रम्। चरित्रस्य स्वातन्त्र्यायाऽसमासः। रचनाया अनुवादः श्रवणानुसारेण कीर्तनम्, कृतानुकीर्तनं वा, न तूत्प्रेक्षासिद्धं काव्यवत्। तस्मादन्यविषयाः कथा इति केनाऽपि प्रकारेण भगवत्संबन्धरहिताः, भगवद्विरुद्धदैत्यादिकथा वा। तासाममेलनादन्यत्वम्। अत एव ताः **कुकथाः**। तेषां धर्माणां दोषत्वात् दैत्यानां पराक्रमोऽपि ब्रह्महत्यारूपो भवति। ननु भगवत्कथाया अपि श्रुतत्वात् कथं तासामेव फलम्? तत्राऽऽह—**मतिघ्नीरिति**। पूर्वसिद्धां भगवत्कथामतिं नाशयन्त्येव, यदि श्रुता भवेयुः, विषवत्। किञ्च, न तासां केवलं प्रति बन्धकत्वम्, किन्तु स्वतन्त्रतया तथा

अनिष्टसाधकत्वं चेत्याह - **यास्तु श्रुता इति** । पुण्ये विद्यमाने तेषां श्रवणमेव न सम्भवतीति **हतभगै**रित्युक्तम् । भाग्यं सुखानुभवहेतुरदृष्टम् तद्यदा केनाऽपि निमित्तेन नश्यति, तदा कुकथाश्रवणे मतिरुत्पद्यते । ननु तेषां विवेक धैर्यादिर्विद्यमानत्वात् पश्चाद्भगवत्कथां श्रोष्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह-**आत्तसारा इति** । नराणामल्पसारत्वात् तदपि कुकथाभिगृंह्यते, तदा सत्सामग्र्या गतत्वात् तानशरणेषु तमःसु दैत्यस्थानेषु दूरादेवणे **प्रक्षिपन्ति** । हन्तेति खेदे । महता कष्टेन श्रुताः पश्चद्घातुका जाता इति । **तांस्तानिति** वीप्सा । न कोऽपि तादृशो निस्तरतीति ज्ञापितम् । श्रवणे सम्पन्न एवं, मननाद्यपेक्षापि नाऽस्ति । तदैव क्षिपन्तीति न मुक्तिवदेकः सहायोऽपेक्ष्यते । तेषां च स्थितौ मध्ये को भेद किं भवेदिति । तादृशानां बहुत्वसम्भवाद्बहुवचनेन वीप्सा ॥२३॥

व्याख्या-- ससे यह समर्थन किया है कि, वैकुण्ठ में वासनारूप दोष भी नहीं है, जो मनुष्य पापनाशकारी भगवच्चरित्र तथा भगवत्सम्बन्ध रहित लौकिक दुष्ट कथाओं की कथा सुनते हैं वे साधन होते हुए भी वैकुण्ठ में नहीं जा सकते हैं कारण कि भगवत्सम्बन्ध रहित अन्य विषय वाली काथएं वैकुण्ठ में जाने में रुकावट डालने वाली है, अन्यथा साधनों के न होने के कारण वैकुण्ठ में न जाना दुष्ट कथाओं के श्रवण से साधन होते हुए भी वैकुण्ठ में नहीं जा सकते हैं, यों कहने का आशय क्या है? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् पापों के नाशक हैं यह गुण भगवान् में स्वभाव सिद्ध है । उनके चरित्र स्वतन्त्र हैं इसलिये समास नहीं किया हैं चरित्रों को सुनकर उनका कीर्तन करना चाहिये, किन्तु वह कीर्तन काव्य की तरह तर्कयुक्त नहीं करना चाहिये । अन्य विषय (लौकिक के सम्बन्ध वाली जिनसे भगवान् का सम्बन्ध न हो अथवा भगवान् के विरुद्ध दैत्यों की कथाएं हों वे कथाएं भगवत्सम्बन्धी न होने से दूसरी कथाएं हैं अतः वे कु-कथायें हैं, उनके (दैत्यों के) धर्म दोष रूप होते हैं इसलिये दैत्यों का पराक्रम भी ब्रह्महत्या रूप है जिन मनुष्यों ने भगवान् के चरित्र भी सुने हैं उनको केवल कुकथाओं का फल क्यों? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ये कुकथायें, भगवत्कथाओं से उत्पन्न सुमति को नाश करती हैं ये सुनी हुई कथाएं विष के समान होने से जिस पर पड़ती हैं उसका नाशकर छोड़ती हैं वे (कुकथाएं) स्वतन्त्रता पूर्वक अनिष्ट करने वाली भी हैं।

'यास्तु श्रुताः' पद से कहते हैं कि जो पुण्यात्माएं हैं उनको ऐसी कथा श्रवण करने के लिए ये सम्भव हो नहीं है इसलिए 'हतभगै' पद से बताते हैं कि ये कुकथाऐं हतभाग्य मनुष्य सुनते हैं सुख का अनुभव कराने वाले अदृष्टको 'भाग्य' कहा जाता है वह भाग्य जब किसी कारण से नष्ट होता है तब 'कुकथा' सुनने की बुद्धि होती है ।

कुकथा सुनने वाले मन्द भाग्यों में विवेक धैर्यादि विद्यमान होने के कारण कभी भाग्योदय

होगा वो तब भगवत्कथा का श्रवण करंगे इसका उत्तर देते हैं कि, मनुष्यों में यों भी समझ अल्प (थोड़ी) है वह भी कुकथाओं के श्रवण से नाश हो जाती है। तब सच्चे साधन नष्ट हो जाने से वे दुष्ट कथाएँ, जहां कोई शरण (रक्षक) नहीं ऐसे तमोरूप दैत्यों के स्थानों में दूर से ही फेंक देती है, ऐसी दशा खेद जनक दिखाने के लिए 'हन्त' पद दिया है। बड़े कष्ट से सुनी हुई फिर दुःख देने वाली होती है, 'तान्तान्' (उनको उनको) दुःख देने वाली होती है यों दो बार कहने का आशय है कि दुष्ट कथाओं को सुनने वाले किसी का भी सद्गति नहीं हुई है, दुष्ट कथाऐं सुनते ही श्रोता को तमोरूप स्थानों में फेंक देती है। मनन आदि की भी अपेक्षा नहीं करती है मुक्ति की तरह कोई भी वहां सहायक नहीं, उनकी दुष्ट कथा सुनने वालों की) वहां स्थिति ही इस बीच में कौन जाने क्या हो जाय ? ऐसे बहुत हैं इसलिए बहुवचन दो बार 'तान्तान्' कहा है ॥२३॥

आभास—एवं तामसानां दोषवतां तत्रागमनपूर्वकं तमःप्रवेशमुक्त्वा राजसानामूर्ध्वाधोगतिरहितानां मध्ये परिभ्रमणेन क्लेशं दृष्ट्वा शोचन्नाह-

आभासार्थ—इस प्रकार दोष वाले तामस जीव वहां (सद्गति में) न जाकर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं यों कहकर अब इस श्लोक में राजस जीवों को गति न उर्ध्व (ऊंची) होती है और न नीची होती है बीच में ही भटकते रहते हैं उनका क्लेश देखकर शोक प्रदर्शित करते हैं-

श्लोक—**येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।**
नाऽऽराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य संमोहिता विततया ननु ! मायया ते ॥२४॥

श्लोकार्थ—जिस मनुष्य योनि में ज्ञान धर्म सहित तत्व विषय को जाना जा सकता हैं उस मनुष्य देह को प्राप्त कर भी भगवद्भजन नहीं करते हैं वे उस (भगवान्) की फैलाई हुई माया में मोहित हुए हैं ॥२४॥

सुबोधिनी—येऽभ्यर्थितामपीति । **ये नृगतिं प्रपन्ना भगवत आराधनं न वितरन्ति,** ते निश्चयेन **अमुष्यमायया मोहिताः ।** नृगतिं मनुष्यत्वम् । तस्या दुर्लभत्वमाह—**नोऽभ्यर्थितामिति ।** ब्रह्मादिभिरपि नृगतिः प्रार्थ्यते, सर्वस्याऽपि प्रकृतिरूपत्वात् । यथा कनकात्सर्वमेव कुण्डलादिकं भवति, न तु कुण्डलात् । अत एव ब्रह्मादीनामपि नृगतिः प्रार्थ्या । न इति षष्ठी संबन्धमात्रविवक्षया, नृगतेर्वैलक्षण्य प्रतिपादनार्था या नृगतिर्ब्रह्मत्वं संपादितवति, नाऽऽसुरीति यावत् । षष्ठ्या सूचितं विशेषमाह—**ज्ञानं च तत्त्वविषयमिति ।** यत्र नृगतौ **तत्त्वविषयं ज्ञानं** तत्त्वज्ञानं भवति । ब्रह्मज्ञानं सुलभम्, तद्भावापन्नानां प्रापञ्चिकपदार्थानां वैदिकानां वा ज्ञानं दुर्लभम् । **तत्त्वविषयमिति** विषयपदं तत्त्वेन ज्ञानं वारयति । तदा बाधित स्वरूपमेव ज्ञातं स्यात् । तद्दृत्यज्ञानेऽपि

तुल्यम् । चकारात्स्वरूपज्ञानम् । सहधर्मेति धर्मज्ञानसहितम् । एवमपि सति भगवत आराधनाभावो मायाकार्य एव । वितरणं नाम मर्यादाव्यतिरेकेण दानम्, तथा सर्वेन्द्रियैः सर्वथा सर्वदा भगवद्भजनम्, न तु स्मार्तवत् पूजामात्रं सकृदाराधनं वा । मायामोहः शास्त्रेण निवर्तयितुं शक्यत इति दृष्टेऽपि शास्त्रे यदि वितरणम्, तन्मायामोहकार्यं न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—**विततया** नन्विति कोमलसंबोधनेन नाऽत्रान्यथाकथनं शङ्कनीयमिति ज्ञापितम् । सा हि विततशास्त्रेऽप्यन्याबुद्धिं संपादयति । साऽपि मायाविन एव, सृष्ट चर्थं मोहाभावात् ॥ २४ ॥

व्याख्या--जो जीव मनुष्यत्व को पाकर भी भगवान् का भजन नहीं करते हैं वे इनकी (भगवान् की) माया से मोहित हो गये हैं । मनुष्य योनि की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि सर्व योनियों में उत्तम है इसमें भगवत्प्राप्ति की जा सकती है अतः ब्रह्मादि भी मनुष्य होना चाहते हैं, कारण कि समस्त (ब्रह्मादि) भी प्राकृत हैं जैसे स्वर्ण से सर्व प्रकार के कुण्डलादि आभूषण बनते हैं, कुण्डल से आभूषण नहीं बनते हैं इस कारण ही ब्रह्मादि भी मनुष्य योनि की प्राप्ति चाहते हैं, 'नः' यह षष्ठी केवल सम्बन्ध को बताने वाली मनुष्य योनि की विलक्षणता प्रतिपादन करने के लिए हैं, जिस मनुष्य योनि से ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है वह आसुरी नहीं है ।

'न' षष्ठी से जो विशेष कहा उसको 'ज्ञानं च तत्त्व विषयं' पद से कहते हैं, जिस मनुष्य योनि में तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जाता है ब्रह्मज्ञान सुलभ है । ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रापश्चिक पदार्थों का और वैदिक कर्मों के स्वरूपों का ज्ञान होना दुर्लभ है, । 'तत्त्व विषयं' वाक्य में विषय पद से जताते हैं कि, तत्त्व से ज्ञान नहीं होता है, यदि होवे तो वाधित स्वरूप (असत्ज्ञान) को ही जाना जावे, तत्त्व तरीके का ज्ञान दैत्यों के ज्ञान में भी समान है । 'च' पद से स्वरूप का ज्ञान होना प्रकट किया है । धर्म सहित ज्ञान होने पर भी यदि भगवद्भजन न हो तो वह माया का कार्य है । 'वितरणं' से कहते हैं । जिसमें दान (कार्य-सेवा) करने की सीमा न होवे, सारांश यह हैं कि सर्वथा (सर्व प्रकार से) सर्वदा सदैव) भगवान् का भजन करते रहना न कि स्मार्तों की तरह केवल पूजन करना अथवा एक बार आराधना करना वितरण नहीं है ।

माया का मोह शास्त्र ज्ञान से दूर किया जाता है वह (शास्त्र ज्ञान) होने पर भी यदि भगवद्भजनादि न होता हो तो इसको माया का कार्य कैसे कहा जाय ? इस पर कहते हैं कि 'विततया' अर्थात् माया सर्वत्र फैली हुई है जिससे शास्त्रज्ञान होते हुए भी आराधन नहीं होता है । क्योंकि यह शास्त्र में भी अन्यथा बुद्धि करा देती है यह माया भी मायावियों (असुरों) को मोह कराने वाली है, सृष्टि के लिए यह माया मोह नहीं कराती है ॥२४॥

आभास—तत्र गमने साधनमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में वैकुण्ठ में जाने का साधन कहते हैं—

श्लोक—यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुरागवैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे इन्द्र! अहङ्कार छोड़कर, जब भक्त जन परस्पर प्रभु के सुयश का गान करते हैं तब उत्पन्न प्रेम से ऐसी विह्वलता होती है, जिससे उनके रोम रोम से हर्ष के आंसू निकलते हैं जिनसे भीतर का तापादि शांत होता है और वे सत्यलोक से ऊपर के लोक (वैकुण्ठ) में जाते हैं ॥ २५ ॥

सुबोधिनी—**यच्च व्रज** तीति । चकाराद्यापि-वैकुण्ठम् । यद्वैकुण्ठं हरेरनुवृत्त्या व्रजन्ति हे **अनिमिषामृषभे** त इन्द्रसंबोधनम् । तस्य भगवदनुकम्पयैवेन्द्रत्वप्राप्तिः । सर्वदुःखहर्तुरित्यनुवृत्तौ क्लेशाभावः । विमानदर्शनं भगवदानतिमात्रेणापि भवति, प्राप्तिश्च । स्वतो वैकुण्ठगमनं तु हरेरनुवृत्त्यैव । आनतिरेव वाऽनुवृत्तिः । अन्यार्थं तत्र कीर्तनात् पुनः स्वावसरे कीर्तनम् । तस्या अनुवृत्तेरत्र निदर्शनमाह—**दूरेयमा इति** । अहङ्कारस्तेषां दूरे। हीति भगवद्भजनस्य दोषनिवर्तकत्वात् तदा अहङ्कारलक्षणो दोषो निवर्तत एव, अनिवृत्तौतु भजनं नास्तीत्यवगन्तव्यमिति बोधयति । नउपरि **व्रजन्तीति** सत्यलोकोपरि स वैकुण्ठलोको वर्तत इति बोधितम् । ये निरन्तरं हरेरनुवृत्तिं कुर्वन्ति, ते शुद्धसात्विकस्वभावा भवन्तीति नः स्पृहणीयं शीलं येषाम्, तादृशा भवन्ति, अत एव न उपरि गच्छन्ति । यद्यपि वयमपि हरेरनुवृत्तिंच कुर्मः, तथाप्यस्माकं न तदेकस्वभावः, अत एव न दूरेयमाः । अत एव तेषां शीलं स्पृहणीयम् । तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणमाह—**भर्तुरिति** । स ह्यत्रापि परिपालकः, तेन देहादिनिर्वाहचिन्ताऽपि तेषां नास्ति अन्यथा निर्वाहोऽपि न भवेदिति च । **मिथ इति** रसाविर्भावार्थमुक्तम् । **सुयशस इति** विषयोत्कर्षः । लौकिकानामपियशः कीर्त्यते, यशः कीर्तने धर्मो भवतीति । इदं पुनर्यशो धर्मज्ञान-भक्तिजनकत्वात् सुयशो भवति, अत एव कथनेऽनुरागः । कथानुरागेणैव कथयन्ति, न तु निर्बन्धे न फलान्तरेण वा कथनम् । सोऽप्यनुरागोनासक्तिमात्रम्, किन्तु सफलं सलक्षणं चेत्याह- **वैक्लव्येति** । अनुरागेण शरीरे वैक्लव्यं जायते, सर्वकार्या समर्थं भवति, इदं फलम् । लक्षणद्वयमाह—**बाष्पकलया पुलकीकृताङ्गा इति** । वाष्पाणां कला उत्तरोत्तराभिवृद्धिः । अन्तः स्थितो भगवदानन्दः सर्वमेव संसारतापं बहिः करोति, तदांतस्य वाष्पा मुखतो निःसरन्ति, तेषां कलया सह । तथैव कलया प्रकाशमाना रोमाञ्चयुक्ताङ्गाश्च भवन्ति । अतो वैकुण्ठगतानां दोषः शङ्कनीयोऽपि नेत्यर्थः ॥ २५ ॥

'च' शब्द से व्यापि वैकुण्ठ का सूचन किया है। जिस वैकुण्ठ में, हरि को सर्वथा दैन्य पूर्वक नमन करने से एवं अनुसरण करने से ही जाना होता है, 'हे अनिमिषांऋषभः' पद का अर्थ हे देवों के स्वामी इन्द्र ! उसको भगवत्कृपा से ही इन्द्र पद की प्राप्ति हुई है, सर्व दुःखों के हर्ता का अनुसरण करने से क्लेशों का अभाव हो जाता है, विमानदर्शन एवं प्राप्ति केवल भगवान् को प्रणाम करने से भी होती है, किन्तु वैकुण्ठ में स्वतः जाना तो भगवान् के अनुसरण करने से ही होता है। यह भगवान् का अनुसरण करता है जिसका प्रमाण (सबूत) अहङ्कार निवृत्ति है भगवदनुसरण करने वाले से अहङ्कार दूर रहता है कारण कि भगवद्भजन दोषों को मिटाने वाला है अतः अहङ्कार दोष मिट जाता है। यदि अहङ्कार न मिटा होता तो भजन नहीं हो सकता।

वैकुण्ठ हमारे लोक (सत्यलोक) से ऊपर है यों जताया है। जो लोग निरन्तर भगवद्-भजन करते हैं वे शुद्ध सात्विक स्वभाव वाले होते हैं इसलिये हम भी ऐसे स्वभाव के होने की इच्छा करते हैं, इसलिये हो हमसे अर्थात् हमारे लोक से ऊपर (वैकुण्ठ में) जाते हैं, यद्यपि हम भी भगवद्भजन करते हैं तो भी हमारा स्वभाव उनके समान नहीं है, इसलिये ही हमसे अहङ्कार नष्ट नहीं हुआ है, इस कारण से ही उनका स्वभाव चाहने योग्य है, उनके जानने के लक्षण कहते हैं, भर्तुः' वह प्रभु यहां भी पालन करते हैं अतः वे देहादि के निर्वाह की चिन्ता नहीं करते हैं, यदि वह पालन नहीं करे तो निर्वाह भी न होवे, 'मिथः' पद से यह बताया है कि आपस में मिलकर भगवद्भजन करने से इसका आविर्भाव (प्राकटय) होता है, 'सुयशसा' विषय की उत्तमता दिखलाई है, लौकिक मनुष्यों का भी यशोगान किया जाता है, यशोगान से धर्म होता है। फिर यह यश (भगवान् का यश) तो धर्म, ज्ञान और भक्ति को उत्पन्न करने वाला है जिससे सुयश होता है। इसलिये ही उसके कहने में अनुराग होता है, भगवत्कथा अनुराग (प्रेम) के कारण ही की जाती है न किसी के दबाव से या फल की प्राप्ति के लिये की जाती है, वह अनुराग भी केवल आसक्ति रूप नहीं, किन्तु सफल और लक्षणों वाला है 'वैलक्व्येति' अनुराग से शरीर में विकलता होती है जिससे सत कार्य करने में असमर्थता हो जाती है। यही फल है, 'लक्षणद्वयमाह' दो लक्षण कहते हैं '१- वाष्पकलया २- पुलकीकृताङ्गा इति' अनुराग से विकलता होने पर अश्रुओं की धाराओं का बहना बढ़ता ही रहता है, भीतर स्थित भगवान् का आनन्द, सर्व प्रकार के संसार ताप को बाहर निकाल देता है तब उसके आंसू रोम रोम से कलासहित निकलने लगते हैं, उस कला से ही प्रकाशित अङ्ग रोमाञ्चवाले हो जाते हैं, अतः जो वैकुण्ठ गये हैं उनमें दोष है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये ।।२५।।

आभास— एवं नवभिर्निर्दुष्टे वैकुण्ठे स्वतो निर्दुष्टाः सनकादयः परमं दोषं कृतवन्त इति महदाश्चर्यमिति वक्तुमाह—

आभासार्थ—इस तरह नव श्लोकों में सिद्ध किये हुवे दोष रहित वैकुण्ठ में निर्दोष सनकादि ने महान् दोष किया यह महान् आश्चर्य है यों निम्न श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक-- तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योगमायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ।।२६।।

श्लोकार्थ— जब सनकादि मुनि विश्व गुरु हरि के आधिपत्य वाले और सकल लोक वन्दनीय तथा श्रेष्ठ देवों के विचित्र विमानों से सुशोभित उस अपूर्व दिव्य वैकुण्ठ में अपनी योग माया के बल से पहुंचे तब वे बहुत प्रसन्न हुए । ।। २६ ।।

सुबोधिनी–तदिति । तद्वैकुण्ठं योगमायाबलेनाऽऽपुरिति सबन्धः। भक्त्यैव गतं तत्स्थानं हितकरं भवति, न तु स्वयोगबलेन गतम् । तत्रापि सर्गकर्त्री या योगमाया, तया सृष्टयर्थं नीताः कथमनर्थं करिष्यन्तीति भावः । तत् भक्त्यैव गन्तव्यमिति वक्तुं विशेषणमाह—**विश्वगुर्वधिकृतमिति** । विश्वगुरुणा वेदादिप्रवर्त्तकेन अधिकृतमधिष्ठितम् । गुरोः स्थाने धाष्टर्येन न गन्तव्यम्, नापि रिक्तहस्तादिना । किञ्च, तत्स्थानं **भुवनैकवन्द्यम्**, न तु पदा आक्रमणीयम् । तथा च सत्यनर्थो भवेदेव । किञ्च, **दिव्यं** तदलौकिकम्, लौकिकप्रकारेण न गन्तव्यम् । अत एव विरक्तानामपि लौकिकदृष्टया गमने दोषोत्पत्तिः । किञ्च, **विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः** । विचित्राणि यानि विबुधाग्र्याणां विमानानि, तैः शोचिः कान्तिर्यस्य । ब्रह्मादयोऽपि तत् स्थानं पदा अस्पृष्ट्वा अलौकिकानि विमानान्यारुह्य अधस्तात् स्थितास्तस्योत्कर्षं संपादयन्ति । विमानानां विचित्रता छन्दोमयत्वादिना । न हि तादृशं यथाकथञ्चिद्गन्तव्यम् । एवं चतुर्विधोत्कर्षसहितम्, विकुण्ठं कदापि भङ्गरहितम्, स्थानमुपेत्यमुदमापुः । तस्याऽलौकिको धर्मस्तैरपि प्रत्यक्षीकृत इत्यर्थः ।।२६।।

व्याख्या— सनकादि ने वह वैकुण्ठ योगमाया के बल से प्राप्त किया, यों वाक्य का सम्बन्ध (अन्वय) है । वह स्थान जब भक्ति से प्राप्त किया जाता है तब कल्याण कारी होता है अपनी योगमाया बल से प्राप्त करने पर हितकर नहीं होता है, फिर योगमाया जो इनको (सनकादिकों) सृष्टि के लिये लाई और जो स्वयं सृष्टि करने वाली है वे कैसे अनर्थ करेंगे ? यों भाव है, वह धाम भक्ति द्वारा ही प्राप्त करने के योग्य है यों कहने के लिये विशेषण कहते हैं 'विश्वगुर्वधिकृतं' वेदादि के प्रवर्त्तक विश्व गुरु ने अपने अधिकार में लेलिया है, अतः वह स्थान गुरु का है वहां धृष्टता से (अभिमान से) नहीं जाना चाहिये और खाली हाथ नहीं जाना चाहिये और विशेष वह स्थान 'भुवनैकवन्द्यं' सब लोकों का बन्दनीय लोक है अतः वह पैरों से आक्रमण करने (फिरने के) योग्य नहीं है, यों किया जाता है तो अनर्थ होगा ही, किञ्च अन्य विशेषता दिखाते हुए कहते हैं कि 'दिव्य' वह अलौकिक धाम है, जिससे वहां लौकिक प्रकार से नहीं जाना चाहिये, इस कारण से यदि

विरक्त भी लौकिक प्रकार से जाते हैं तो उनमें भी दोषों को उत्पत्ति होती है किञ्च 'विचित्र-विबुधाग्र्य विमान शोचिः' जिस धाम की शोभा देवों के विचित्र सुन्दर विमानों से फैल रही है, ब्रह्मादि कभी उस स्थान का पैरों से स्पर्श न होने के लिये अलौकिक विमानों में बैठ उसके नीचे (बाहर) ही खड़े रहते हैं जिससे उत्कर्ष प्रकट करते हैं, विमानो की विचित्रता वेदमय होने से है, ऐसे उत्तम स्थानों में जिस तरह भी चाहें उस तरह नहीं जाना चाहिये। ऐसी चतुर्विध उत्कर्ष वाला धाम वैकुण्ठ कभी भी नाश नहीं होता है ऐसे अलौकिक वैकुण्ठ को प्राप्त हो के सनकादि प्रसन्न हुए, उसके (वैकुण्ठ के) अलौविक धर्म का सनकादि ने प्रत्यक्ष अनुभव किया, यो सारांश है ॥२६॥

आभास—सा हि योगमाया भगवता सृष्टयर्थमाज्ञप्ता स्वयं सृष्टि तद्दर्शनार्थ भगवन्तमाकारयितुं भीता तद्द्वारपालकावुपायेन तत्र नेतुं मुनीनानीतवती बलात्। भगवता तयोर्द्वारपालकत्वं दत्तम्। तौ चेद्भूमिपालकौ भवतः, तदा भूमिर्द्वारं भवेत् तदा भूमिमध्यात् द्वारत्वसिध्यर्थं भगवानाविर्भवेत्, तदा स्वकृत्यं पश्येत् इति गूढाभिप्रायः। तानानीय यत्कर्तव्यं तत्कृतवतीत्याह—

आभासार्थ—उस योगमाया को भगवान् ने सृष्टि की उत्पत्ति करने की आज्ञा दी उसने वह आज्ञा शिरोधार्य कर सृष्टि रचना की, अनन्तर योगमाया को यह इच्छा हुई कि भगवान् पृथ्वी पर पधार कर मेरी रची सृष्टि को देखे जिसके लिये भगवान् को साक्षात् कहने में तो डरी किन्तु उसने इसका यह उपाय किया कि आपके द्वारपालों को पृथ्वी पर लाने के लिये मुनियों को अपने बल से वहां ले गई, भगवान् ने वैकुण्ठ में जिनको द्वारपाल बनाया था वे यदि पृथ्वी के पालक बने तो पृथ्वी वैकुण्ठ का द्वार हो जावे, तब भूमि द्वार बन जायेंगी तो भगवान् वहां से प्रकट हो जायें और मेरागे कृत्य देखलेंगे। माया का इनको लाने में यह गुप्त अभिप्राय था उनको (मुनियों को) लाकर जो कराना था सो करने लगी यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम्।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्यकेयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—आनन्दमग्न हुवे वे वैकुण्ठ धाम की छः ड्यौढियां तो बिना रुकावट के पार करके जब वे सातवीं पर पहुँचे तब वहां उन्हें दो समानवय वाले देव श्रेष्ठ दिखाई दिये, जो बाजूबन्द, कुण्डल और किरीट आदि अमूल्य आभूषणों से सुसज्जित थे एवं हाथ में गदा लिये द्वार पर खड़े थे ॥२७॥

सुबोधिनी—तस्मिन्नतीत्येति । **तस्मिन्** वैकुण्ठे **षट् कक्षा अतीत्य मुनयः सप्तमायां देवावचक्षतेति संबन्धः** । मुदमपि प्राप्य, तन्माहात्म्यं स्पष्टमध्यनुभूय, मायामोहवशात् तौ क्रोधदृष्ट्या दृष्टाविति । **कक्षा** रक्षकसहितद्वाराणि । तत्र विरक्तत्वादैश्वर्यादिषड्गुणप्रतिपादिका वैराग्यान्ता अतीताः, भक्तिः सप्तमी । भक्ताश्चेत्तदप्यतिक्रम्य गच्छेयुः, तदभावात्तत्र रक्षकौ दृष्टौ । **असज्जमाना** इति षट्कक्षातिक्रमे हेतुः । **समानवयसाविति** वृद्धिक्षयहेतुकालाभावयुक्तौ, वैकुण्ठे कालस्याऽनियामकत्वात् । कालस्य तुल्यत्वेन वत्प्रेर्यकर्मस्वभावयोरपि तुल्यता । **अथेति** भिन्नप्रक्रमे । तेषामप्यसज्जमानता गता, एतयोरपि पूर्ववदनिवारकत्वं गतम् । **सप्तमायामिति** । नेयं पूरणी कक्षेति ज्ञापनार्थं डीप्प्रत्ययाभावः । सप्तम्यप्येषा प्रथमा भवति । तत्राऽत्ययो नाऽस्तीति साधिकरणत्वेन निर्दिष्टा । **देवाविति** वस्तुत एतेषामप्युपास्यौ, एते मनुष्याः । तथापि **मुनय इति** तेषां तत्र गमनम् । किञ्च, एतौ गृहीतगदौ । आसन्य एतदधीनः तेन दैत्यनिवारणसमर्थौ । ततस्तयोराज्ञाकरणे कृतार्था एव भवन्ति । किञ्च, भगवत्सारूप्यमपि प्राप्तौ । तावनुवर्णयति-**परार्घ्येति** । परार्घ्यानि केयूरकुण्डलकिरीटानि हस्तकर्णशिरोभूषणानि । अनेन तयोः कर्माणि सिद्धानि सांख्ययोगौ ज्ञानं च । आसन्यस्तु तदधीन एवेति मृत्युदैत्यजयः स्वतः सिद्धः । तैरपि विटङ्कौ वेषौ ययोः । तैरलौकिकप्रकारेण भगवद्द्वारपालकयोग्यवेषौ । तयोः कर्मादिकमपि भक्त्युपयोगीत्यर्थः ॥२७॥

व्याख्या—उस वैकुण्ठ में वे मुनि छः ड्योढियां पारकर सातवीं में जब पहुँचे तब दो देव (द्वारपर) खड़े देखे, यों अन्वय है. हर्ष भी प्राप्त कर और उसके (वैकुण्ठ) के माहात्म्य का भी स्पष्ट अनुभव कर, माया के मोहाधीन होने से उन (द्वारपालों) को क्रोध दृष्टि से देखने लगे, जो छ ड्यौढियां पार कर आये वहां भी द्वारपाल खड़े थे किन्तु उनको पारकर आये वहां रुकावट न हुई क्योंकि ये विरक्त थे वे छ ड्योढ़ियां ऐश्वर्यादि षड्गुण वाली थी इसलिये वहां रुकावट की आवश्यकता नहीं थी यह सातवीं कक्षा भक्ति है यदि ये शुद्ध भक्त होते तो इसको भी पारकर जाते परन्तु भक्ति के अभाव से वहां देव (द्वारपाल) देखने में आये, ये कुमार आसक्तिरहित वैराग्य वाले थे इसलिये छ ड्योढ़ियां पार करने में वैराग्य कारण था । 'समानवयसौ' का भाव है कि वैकुण्ठ में काल नियामक नहीं है, वृद्धि और क्षय करने वाले काल का वहां अभाव है, काल समान होने से काल से प्रेरित कर्म और स्वभाव की भी समानता है, 'अथ' पद देने का तात्पर्य है कि अब अन्य विषय का प्रारम्भ होता है । यहां पहुँचने पर मुनियों की विरक्तता नष्ट हो गई एवं द्वारपाल यहां आने वालों को पहले रोकते नहीं थे क्योंकि वे भक्त होते थे अतः अब यह कक्षा सातवीं न होकर पहली हो गयी है, अतः इसमें डीप प्रत्यय लगा कर 'सप्तमी' न कहकर 'सप्तमा' कहा है इसलिये यह उल्लङ्घन योग्य नहीं रहने के (ठहरने के) स्थान के समान हुई है, वे दो द्वारपाल देवश्रेष्ठ थे अतः कुमारों को भी पूज्य थे क्योंकि ये कुमार मनुष्य हैं वे देव हैं, किन्तु मनुष्य होते हुए मुनि होने के

कारण वहां जा सके, किन्तु इन देवों (द्वार-पालों) के हाथ में जो गदा है वह बताती है कि आसन्य (प्राणरूप बल) हमारे हाथ में है, इसलिये अभक्तों को व दैत्यों को रोकने में हम समर्थ हैं इसलिये इन देवों की आज्ञानुसार मुनि चलें तो कृतार्थ हो जावे, और इन दोनों देवों ने भगवत्सायुज्य भी प्राप्त कर लिया है, सायुज्य का वर्णन करते हैं, 'परार्ध्येति' हस्त कर्ण और शिरोभूषण, केयूर हस्त भूषण, कुण्डल कर्ण भूषण और किरीट शिर भूषण धारण किये हैं इससे इनके कर्म सिद्ध हैं (सांख्ययोग और ज्ञान) आसन्य (प्राण) तो इनके आधीन है ही, इसलिये मृत्यु रूप दैत्य जय स्वतः सिद्ध है। इन कारणों से भी इनका वेष अलौकिक है उन्होंने अलौकिक प्रकार से भगवत् द्वार-पालकों के योग्य वेश पहना है। उनके कर्मादिक भी भक्ति के उपयोगी हैं। यों अर्थ (तात्पर्य) है ॥२७।

श्लोक--**मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ विन्यस्तयाऽसितचतुष्टयबाहुमध्ये ।**
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ।२८।

श्लोकार्थ--उन (द्वारपालों) की चार श्याम भुजाओं के मध्य में मत्त मधुकरों से गुंजायमान वनमाला सुशोभित हो रही थी, एवं बाँको भौहें, फड़कते हुए नासारन्ध्र और लाल नेत्रों के कारण, उनके चेहरे पर कुछ क्षोभ के से चिन्ह दिखाई दे रहे थे ।२८।

सुबोधिनी—मत्तद्विरेफेति। **मत्तद्विरफवनमालिकया निवीतौ**। तयोश्चतुर्विधान्यपि कर्माणि सिद्धानि, उत्पत्तिस्थितिप्रलया मोक्षश्चेति लौकिकानि, वैदिकानि दिव्यानि, भगवदीयानि च, तैः संबद्धा तयोः कीर्तिर्वनमाला। तामनुवर्णयति। मत्ता ये द्विरेफा भ्रमराः। द्विरेफशब्दो रूढः, सर्वेषां शीघ्रप्रतीतेः, अन्यथाप्रतीतौ बर्बरशब्दादिव्युदासोऽपि न प्रतीयेत। मत्तद्विरेफसहिता वनमाला। रेफोऽत्राग्नितेजः, लौकिकवैदिकाग्नितेजोवद्वेदसहिता वनमाला। सापि प्रेमसंबन्धान्मत्तभ्रमरैरिव संबद्धा। **वनमालिकयेति** ताभ्यां वनमालाशोभा। तया निवीतौ कण्ठलम्बितौ। सा कीर्तिस्तत्कर्महितेति वक्तुमसितचतुष्टयबाहुमध्ये विन्यस्तयेत्युक्तम्। अनेन तयोर्हृदये भगवान्, वनमाला, कमलम्, हस्तचतुष्टयम्, पत्राणीति निरूपितम्। एवंविधावपि, **वक्त्रं कुटिलया भ्रुवा** उपलक्षितम्, **स्फुटनिर्गमाभ्यां** श्वाससहिताभ्यां नासिकाभ्यां सहितम्, रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं क्रोधसहितं दधानौ। एतावद्रूपं भगवत्सारूप्यातिरिक्तं मायया कृतम्। वक्त्रं दधानाविति भक्तिमार्गनिष्ठौ। तत्र दोषत्रयं कामादिरूपम्। कुटिला भ्रूः क्रोधस्य सूचिका। नासिकाद्वयवायुरेते न प्रवेशनीया इत्यन्तःस्थितभगवद्दर्शनलक्षणमहाधनलोभेन चिन्तया श्रान्तयोः स्फुटं निर्गतो लोभस्य सूचकः। स्वस्याऽधिकारं

मत्वा, स्वयं पूर्णकामो भूत्वा, कामितः स पदार्थ एतेषां मा भवत्विति काममूलकक्रोधसूचकोऽक्ष्णोरारक्तिमा। त्रिभिर्दोषैः कृत्वा मनाग्रभसमुत्तरलं मुखम्। अत एतयोर्भक्तावन्तरायभूतं दोषत्रयं जन्मत्रयं संपादयिष्यति। मनाक् च संरम्भस्तदवहेलया ॥२८॥

व्याख्या—मत्त भ्रमरों से युक्त वनमाला को धारण किये हुऐ देवों को देखा, उनके चार प्रकार के कर्म सिद्ध से हो गये हैं, (१) उत्पत्ति, (२) स्थिति, (३) प्रलय और, (४) मोक्ष तथा लौकिक, वैदिक, दिव्य और भगवदीय भी उनसे संबद्ध हैं हो, उन दोनों की कीर्ति 'वनमाला' है उसका वर्णन करते हैं, मत्त जो दो रेफ वाले भ्रमर, 'द्विरेफ' शब्द रूढ है। सबको इसकी प्रतीति शीघ्र होती है, अन्यथा प्रतीति होने पर बर्बर शब्द जो दो रेफ वाला है उसका व्युदास भी न होवे, मत्तभ्रमरों सहित वनमाला, भ्रमर शब्द में जो रेफ है वह अग्नितेज का सूचक है, तात्पर्य यह है कि लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार की अग्नि के तेज के समान वेद सहित बनमाला है, वह भी प्रेम के सम्बन्ध से मत्त भ्रमरों से सम्बन्धित है, बनमालिकया' पद से यह बताया है इन दो से दो रेफ वालों (भ्रमरों) से बनमाला की शोभा थी वह जिन (द्वारपालों) के कण्ठ से लटक रही थी, उनके कर्म सहित वह कीर्तिरूप उनके श्यामल चार भुजाओं के मध्य में धरी हुई थी इससे यह सूचित किया है कि उन दोनों के हृदय पर भगवान् वन-माला, कमल और चार भुजाएं तथा पत्र (तुलसी पत्र) सुशोभित है।

यों होने पर भी बांकी भौहें वाले, फड़कते हुऐ श्वासयुक्त नासिकापुट वाले लाल नेत्र से स्वल्प (थोड़े) क्रोध युक्त मुख को धारण कर रहे थे, यद्यपि भगवत्सायुज्य से जो रूप था वह यह नहीं था। यह रूप तो माया ने अपने गुण भाव को पूर्ण करने के लिये किया था, 'वक्रं' दधानौ' पद से सूचित किया है कि भक्तिमार्ग में निष्ठ (पक्के) स्थित थे इस समय इनमें माया ने तीन दोष प्रकट कर दिये बांकी भौंहे क्रोध प्रकट करती हैं देहस्थ भगवान् के दर्शन हमको ही होते रहे अन्य को नहीं इसलिये इनको भीतर नहीं जाने दिया जाय, अतः स्थित भगवान् के दर्शन रूप धन के महान् लोभ से उत्पन्न चिन्ता से थके हुऐ नासापुटों से बाहर निकल आने वाला वायु लोभ का सूचक था, भगवद्दर्शनानन्द के लेने का अधिकार हमारा ही है वह मुनिओं को प्राप्त न हो ऐसी कामना से उत्पन्न क्रोध का सूचन नेत्रों की लालास करती थी, इन तीन दोषों के कारण थोड़ा सा मुख कम्पायमान सा हो रहा था, ये तीन दोष ही भक्ति में प्रतिबन्ध रूप होने से इनको तीन जन्मों के चक्कर में डालेंगे और मुनिओं का तिरस्कार करने के कारण तो सहज कोध हुआ था वह पृथक था ॥२८॥

आभास—एवं तयोर्गुणदोषौ निरूप्य मुनीनां गुणदोषान् निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह देवों के गुण दोषों का निरूपण कर इस श्लोक में मुनियों के गुण दोषों का निरूपण करते हैं।

श्लोक — द्वार्येतयोर्निविविशुर्मिषतोः पृष्ट्वा पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिकायाः ।
सर्वत्रतेऽविषमया मुनयः स्वदृष्टया ये संचरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ॥२६॥

श्लोकार्थ—इन दोनों देवों के इस प्रकार देखते हुवे भी, वे मुनिगण, बिना पूछताछ किये हूऐ ही जैसे पहले के द्वारों में प्रवेश करते यहां आ गये वैसे अब निशङ्क हो हीरों से जड़ित सुवर्ण के कपाट वाले द्वार में प्रवेश कर गये क्योंकि वे समान दृष्टि वाले होने से प्रतिबन्ध सहित सर्वत्र आते जाते रहते थे ॥२६॥

सुबोधिनी द्वार्येतयोरिति । ज्ञानमार्गे अविषमदृष्टि, शङ्काभावः, मननम् आत्मज्ञानं चेति चत्वारो गुणाः । ते यदि भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकास्तद्धर्मेष्वादरयुक्ताः, तदा भक्तिमार्गेऽपि गुणा भवन्ति । लौकिकदोषनिवृत्त्यर्थमेव ते ज्ञानमार्गे गुणत्वेनोक्ताः । अधिकृतयोरुल्लङ्घनम्, भगवत्स्थानस्य सामान्यदर्शनम्, अन्तरङ्गबहिरङ्गयोस्तुल्यतया ज्ञानम्, तद्गतासाधारणगुणागणनं च चत्वारो दोषाः । तेन दैत्ययोनिः,स्वरूपज्ञानाभावः, बहुकालं गर्भवासक्लेशः, यातना चेत्यनिष्टचतुष्टयं फलितम् । दोषाणां प्राबल्यान्मार्गान्तरगुणा अप्यत्र निवृत्ताः, तेन क्लेशो न दोषः । एतयोर्मिषतोरेव सतोस्तावविगणय्य । द्वारि अन्तरङ्गभूतायां निविविशुः : अपृष्ट्वेति । किं भगवान् करोति, अवसरोऽनवसरो वेति प्रष्टव्यम्, तदपृष्ट्वा प्रविष्टा इत्यर्थः पूर्वद्वारो यथा प्रविष्टाः, तथेयमपि द्वाः । पुरटवज्रकपाटिकाया इति द्वारमाहात्म्यम् । पुरटं सुवर्णम्, तत्सहिता ये वज्रा हीरकाणि, तैरेव निर्मितौ यस्याः, कपाटिके वा । एवं पूर्वार्द्धे दोषा निरूपिताः । मार्गान्तरस्थान् गुणानाह-सर्वत्रेति । ते अविषमया दृष्टया चरन्ति, अत एव केनापि विहता इति, स्वस्मिन् विद्यमानमपि ज्ञानं परस्मिन् कार्यं सम्पादकीमति, सानु भावं निरूपितम् । अत एव विगताभिशङ्काः । विगता अभितः शङ्का येषाम् । ब्रह्माविदश्चेत् तदा दोषो न भवेत् तत्रैवैते गुणत्वेनोक्ताः । एते त्वात्मविदः स हि चिद्रूपं ब्रह्म । तत्रापि मननपर्यन्तं व्यापृताः । तदप्यात्मरूपं न सर्वदा तेषामनुभवविषयः । तत्र स्वरूपधर्मयोर्मध्ये परिच्छेद धर्मस्य बलिष्ठत्वात् परिच्छेद अहङ्काररहितमेवाऽऽत्मज्ञानं गुणरूपम्, अन्यथा संसारिणामपि तत्सम्भवान्मोक्षः स्यात् । आत्मा हि भगवद्विभूतिरिति विभूतिमत्समीपे परधर्मोऽस्त्यजतीति न तेषामन्यत्र प्रच्युतिः ॥२६॥

व्याख्या—ज्ञानमार्ग में ४ गुण होते हैं (१) समान दृष्टि, (२) शङ्का (भय) का अभाव (निर्भयता) (३) मनन और (४) आत्मा का ज्ञान (स्वरूप का ज्ञान) वे गुण यदि भगवान् के माहात्म्यज्ञान के साथ हैं और भगवान् के गुणों का आदर भी करते हैं तो भक्ति मार्ग में भो गुण रूप हो के रहते हैं अन्यथा अर्थात् यदि भगवान् के माहात्म्य के ज्ञान का न होना है और भगवान् के गुणों का आदर नहीं करना तो वे गुण ज्ञानमार्ग में इसलिये गुण कहे जाते हैं कि वे लौकिक

दोषों को निवृत्ति करते हैं (१) अधिकारिओं का उल्लङ्घन (२) भगवान् के स्थान को सामान्य स्थान समझना, (३) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग को समान जानना (४) अन्तरङ्ग के विशेष गुणों को ध्यान में न लाना, ये चार दोष थे।

इन दोषों के कारण, जो (दोष) बलवान् थे अतः मुनिओं में से ज्ञानमार्ग के गुण भी इस समय तिरोहित हो गये जिससे देवों को ऐसा शाप दिया कि (१) दैत्ययोनि, (२) स्वरूपज्ञानाभाव, (३) विशेष समय तक गर्भवासदुःख, और (४) यातना भोगोगे-इस शाप देने से इन (मुनिओं) को अन्तःकरण में क्लेश हुआ किन्तु क्लेश दोष के लिये नहीं है।

इन दोनों देवों के देखते हुए इनकी अवगणना कर (तिरस्कार कर) अन्तरङ्ग द्वार में बिना पूछे प्रविष्ट हो गये, पहले पूछना चाहिये था कि इस समय भगवान् दर्शन देंगे वा नहीं ? यों न पूछ अहङ्कार में आकर भगवान् क्या करेंगे ? हम ज्ञानी विरक्त मुनि हैं अवश्य दर्शन देंगे ही, जैसे पहले द्वार में प्रविष्ट हुवे इसको उनके समान समझ प्रविष्ट हो गये किन्तु यह हीरों से जड़ित सुवर्ण से बने हुए विशेष द्वार थे। यों पूर्वार्द्ध में मुनिओं के दोष कहे।

अब उत्तरार्द्ध में मार्गान्तर में (दूसरे मार्ग में) स्थित गुणों को कहते हैं 'सर्वत्र' इति, वे मुनि सर्वत्र समान दृष्टि से विचरते हैं, इस कारण से इनको कोई रोकता नहीं है, क्योंकि इनके भीतर रही हुई समान दृष्टि दूसरों से भी समता का कार्य कराती है इससे इनमें ऐसा प्रभावशाली ज्ञान है यों जताया है इसलिये 'विगता' पद से इनकी निर्भयता प्रकट की है, यदि ब्रह्म को जानने वाले हो तो तब दोष न होता, ब्रह्म ज्ञान में ही ये गुण कहे हैं ये तो आत्मवित् हैं वह आत्मा चिद्रूप ब्रह्म है उसमें भी ये मुनि मनन प्रर्यन्त पहुँचे हुवे हैं, आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध वाले वे मनन का भी अनुभव सदैव न था चिद्रूप और उसके धर्म के मध्य में जो सीमा है वह बलिष्ट है जिसको अहङ्कार कहा जाता है, अतः अहङ्कार रहित आत्मस्वरूप (चिद्स्वरूप) का ज्ञान ही गुणरूप है। यदि यों न होवे तो संसारियों को भी आत्मज्ञान होता ही है जिससे ही उनका भी मोक्ष हो जाना चाहिये, आत्मा भगवान् की विभूति है विभूतिवाले भगवान् व, ब्रह्म के समीप, पर धर्मों का त्याग करता है इसलिये उनकी अन्यत्र प्रच्युति नहीं अर्थात् वे पीछे आवागमन में नहीं आते हैं ॥२६॥

आभास—एवमेतेषां गुणदोषान्निरूप्य यथाक्रममतिक्रममाह—

आभासार्थ—इस तरह दोनों के गुण दोषों का निरूपण कर अब निम्न श्लोक से उनके किये अतिक्रम कर्म (अनुचित कर्म) का निरूपण करते हैं।

श्लोक—तान्वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान् वृद्धान् दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान्।
वेत्रेण चाऽस्खलयतामतदर्हणांस्तौ तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ।३०।

श्लोकार्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाले, सबसे आयु में वृद्ध होते हुए भी ५ वर्ष के बालक जान पड़ते थे एवं वस्त्रविहीन थे ऐसे मुनि कुमारों को बिना आज्ञा लिये कक्ष मे प्रविष्ट होते देख, भगवत्स्वभाव के शील से विपरीत भाव वाले उन देवों (द्वारपालों) ने उनके तेज का तिरस्कार कर जो रोकने के योग्य नहीं थे उनको वेंत से भीतर जाने से रोका। यद्यपि वे ऐसे अनुचित व्यवहार के योग्य नहीं थे ॥३०॥

सुबोधिनी— **तान्वीक्ष्येति**। तत्र प्रथमं द्वारपालकृतातिक्रमो निरूप्यते। तत्र तयोः सहजत्वात् तेषां निवारणे हेतुः- **वातरशनानिति**। ते हि दिगम्बराः, बालका अपि कटिसूत्रवन्तो भवन्ति। अत एवैषां रशनानिषेधः। भ्रान्ता इव तद्दृष्टचा प्रतीताः। **चत्वारोऽप्येकविधा** इत्याश्चर्यमपि। **कुमाराः** पञ्चवार्षिकाः, कालेन तेषां शरीरस्य कौमारपर्यन्तमेव भोगः कृत इति। उत्पत्तिकालविचारे तु ते वृद्धाः, परार्द्धमितायुषो ब्रह्मकल्प एवोत्पन्नाः। अत एव **दशार्द्धवयसः** पञ्चवार्षिका इति केचित्। तेषां या मानुषदशा परार्द्धद्वयपरिच्छिन्ना तत्रार्द्धवयसः, एकस्य परार्द्धस्याऽतिक्रान्तत्वात्। तेषां ज्ञानवृद्धत्वमप्याह-**विदितात्मतत्त्वानिति**। विदितमात्मतत्त्वं यैरिति। **वेत्रं** लकुटविशेषः, चकारान्मुखेन च। **अस्खलयतामिति** यथा ते स्खलिता भवन्ति, यथा दण्डः प्रसारित इत्यर्थः। एवं कर्तुमनुचितास्त इत्याह-**अतदर्हणानिति**। तत् स्खलनं नाऽर्हन्तीति। ते हि स्थिरीकृत्य वा प्रष्टव्याः, विज्ञापनेन वा अनवसरो ज्ञापनीयः। तदुभयमकृत्वा स्खलनमेव कारितवन्तौ। **ताविति** पूर्वोक्तौ दोषसहितौ निरूपितौ। **तेजो विहस्येति**। सर्वथा नाऽज्ञानात्तथा करणम्, किन्तु ज्ञात्वैव। यत्तेषां ज्ञानम्, सर्वपरित्यागलक्षणः स्वधर्मः, देहाद्यभिमानाभावश्च; स तेजः। तद्विहस्य। दोषत्वेन पाषण्डित्वेन वा तद्ग्रहणं विहसनम्। तदविगणय्य। तेजःकृतं धाष्टर्च्यं दोषं मत्वा। तत्र **दण्डचिकीर्षा** हास्ये हेतुः, न तु कौतुकमात्रम्। अत एव **भगवतः प्रतिकूलं शीलं ययोः**। अनेन स्वामिसेवकधर्मोऽपि तयोर्न सिद्ध इत्युक्तम्। गर्वस्तु भगवत्प्रतिकूलो धर्मः, दैत्यधर्मत्वात्, अत एव प्रतिकूलपदम्। **शीलमिति** तद्धर्मस्य दुर्लङ्घ्यता सूचिता ॥३०॥

व्याख्या—इसमें पहले द्वारपालों का अनुचित व्यवहार बताते हैं, वहां उन दोनों देवों का सहज स्वभाव वैसा होने से जो जो किया यह कहते हैं, पहला हेतु रोकने का यह था कि वे वस्त्ररहित (नंगे) थे अर्थात् उनकी वायु ही रशना (लंगोट) थी, बालक भी कटि (कमर) पर वस्त्र लंगोट लगाते हैं, इसलिए इनको वह भी नही है। देवों ने इनको ज्ञानी नही किन्तु भ्रान्त (पागल सा) समझा, चारों एक जैसे देखे इससे आश्चर्य भी हुआ कुमार पांच वर्ष के समझे जाते थे, क्योंकि काल ने उनकी इतनी ही आयु का भोग किया था, इनके जन्म के समय का विचार किया जावे तो ये वृद्ध हैं क्योंकि ब्रह्म कल्प में जन्मे हैं इसलिये आधो आयु भोग चुके हैं, पाँच वर्ष के हैं यों कोई

कहते है । वास्तव में परार्द्ध द्वय वाली जो इनकी आयु है उसकी आधी बीत जाने से ये वृद्ध हैं तथा ज्ञान से भी वृद्ध हैं क्योंकि चिद्रूप आत्म का स्वरूप हम हैं यों जान लिया है, जिससे आत्मविद् हैं ।

ऐसे महा पुरुषों की मानमर्यादा का विचार न कर भीतर भगवद्दर्शनार्थ जाते हुए उनको बेंत की लकड़ी लम्बी करके रोका जिससे उनके गिर जाने का संभव था 'च' से यों समझा जाता है कि वाणी से भी निषेध किया, यों करने के वे योग्य नहीं थे क्योंकि मुनि आत्मवित् तथा वृद्ध (ज्ञानवृद्ध) थे अतः उनको ठहराकर पूछना चाहिये था कि ऐसी शीघ्रता क्यों कर रहे हो ? अब दर्शन का समय नहीं है ये दो कर्तव्य न कर उनके गिराने का जिसमें तरीका था ऐसा जो कर्म रोकने के लिये किया वह अनुचित था, यों कहकर उन दोनों देवों को दोषी निरूपित किया है ।

'तेजो' विहस्य' पद से यह सूचित किया है कि इन्होनें इस प्रकार जो रोकने का कार्य किया वह अज्ञान से नहीं किन्तु कुमारों के तेज की हँसी उड़ाते हुए किया है वास्तव में कुमार तो अपने तेज के प्रभाव से बिन पूछे भीतर प्रविष्ट हुवे थे, इसको न समझ एवं उनके ज्ञान, त्याग, स्वधर्म और देहादि के अभिमान का अभाव ही तेज है इसका विचार न कर, जो इनको दण्ड देने की इच्छा ही हास्य में हेतु थी न कि कौतुक मात्र । था ऐसा अनुचित कार्य इन्होने क्यों किया जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवत्स्वभाव से इनका शील मायाने विपरीत कर दिया था, इस कारण से इनमें इस समय स्वामी सेवक धर्म भी न रहा किन्तु द्वारपाल होने का गर्व उत्पन्न हुआ, वह (गर्व) दैत्य धर्म है जिसमे इनको प्रतिकूल पद की प्राप्ति होगी । शील पद से सूचित किया है कि वह कठिनाई से बदलता है ३० ।

आभास—एवं तयोरतिक्रममुक्त्वा मुनिकृतातिक्रममाह—

आभासार्थ—इस तरह उनका अतिक्रमण कर्म कह कर अब इस श्लोक में मुनियों के अतिक्रमण को कहते हैं—

श्लोक--ताभ्याँ मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाभ्याम
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईषत्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ।।३१।।

श्लोकार्थ—जब देवों के देखते हुये द्वारपालों के रक्षकों ने उन पूजनीय सर्वश्रेष्ठ मुनिओं को अपने प्रियतम के दर्शन में भङ्ग डाला जिससे कामना निष्फल होने से काम के छोटे भाई क्रोध ने नेत्रों में आके निवास किया इस प्रकार क्रोधोत्पत्ति होने से जो कुछ किया वह ३२ वें श्लोक में कहेंगे ।।३१।।

सुबोधिनी— ताभ्यामिति चतुर्थी। तयोरर्थे शापमूचुरित्यर्थः। शापमिति नोक्तम्, विचारपूर्वकमग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, इदानीमविचारितत्वात्। क्रोधेन वचनमर्थाच्छापरूपं भवतीति ज्ञातव्यम्। अत एव **निषिध्यमानाः,** मैवं शापो देय इति। गमननिषेधस्तु कृत एवेति वर्तमानप्रयोगो नोपपद्येत। **अनिमिषेषु मिषत्स्विति** देवानामुभयत्र साक्षित्वं निरूपितम्। ते ह्यनिमिषाः सर्वसाक्षिणः। तैरेव निषिध्यमाना इति नैकट्यादवमीयते। तत्रत्यैः सर्वैरेव वा। ताभ्यामेव निषिध्यमाना इति **ताभ्यामिति** तृतीया वा। वस्तुतस्तु प्रवेशनिषेध एव ताभ्यां क्रियते, वर्त्तमानसामीप्येऽपि वर्तमानप्रयोग उपपन्नः। **सुष्ठु अर्हत्तमा** इति निषेधानौचित्ये हेतुः। अर्हाः सदाचाराः, तथापि यथाशास्त्रं परमहंसा अर्हत्तमाः, तत्रापि ज्ञानिनः **स्वर्हत्तमा इति।** तर्हि निषेधः कथं कृत इत्याशङ्क्याऽऽह - **हरेः प्रतिहारपाभ्यामिति।** सहि सर्वदुःखहर्ता अन्तःप्रवेश भगवदतिक्रमे महान् दोषो भविष्यतीति तेनैव भगवता प्रतीहारा द्वारपालका रक्षिताः सर्वत्र बहवः, तेषामेतावधिपती। अतो द्वारपालकानां रक्षार्थम्, तयोरपि रक्षार्थं निषिद्धा इत्यर्थः। तर्हि तेषां क्रोधे को हेतुः ? तत्राऽऽह-**सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग** सुति **ईषत् कामानुजेन क्रोधेन त उपप्लुताक्षाः।** तेषामात्मविदां सर्वत्राऽऽत्मबुद्धिरेव, भगवत्यप्यात्मबुद्धिः। भगवान प्यात्मविदिति सुहृन्मित्रम्, तत्रापि तद्गुणैरन्तःकरणनैर्मल्यं भवतीति सुहृत्तमः, स्वस्याऽभीप्सितज्ञानसाधकत्वात्। तस्य **दिदृक्षितं** दिदृक्षा दर्शनेच्छा। यस्त्वस्मभ्यमेतावदुपकारं कृतवान् स द्रष्टव्य इति, फलस्य जातत्वात् साधने स्वल्पः कामः। दिदृक्षितस्य भङ्गे सत्यल्पत्वात् प्रतिबन्धे भङ्ग एव जातः, न त्वेतत्समाधानं कृत्वा पुनर्द्रष्टव्य इतीच्छा तेषु स्थिता। अत एव ईषत्कामस्याऽनुजः। महति कामे प्रतिरुद्धेऽपि **क्रोधो** न भवति यथेश्वरवाक्ये, अर्थार्थिनो वा। तेषामपि विचारो नोत्पन्नइत्याह-**सहसेति।** उपप्लुतान्यक्षीणि येषाम्। अनेन तयोर्गुणा अपि तेषां न प्रत्यक्षा जाता इत्युक्तम्। उपप्लवः प्रलयः सर्वनाशरूपः, स तेषां जात इति तथोक्तम् ॥३१॥

व्याख्या—'ताभ्यां' यह चतुर्थी विभक्ति होने से इसका भावार्थ यह है कि उन दोनों के लिये शाप कहने लगे। यद्यपि शाप का अब विचार कर रहे हैं क्रोध से जो वचन कहे जाते हैं वे भी शाप ही माने जाते हैं, अतएव रोके गये अर्थात् साक्षी में स्थित देवों ने कहा कि इस प्रकार शीघ्रता में शाप न दीजिये।

द्वारपालादि ने जाने का निषेध तो कर ही दिया है, यहां वर्तमान काल का प्रयोग होना जचता नहीं, इससे 'ताभ्यां' चतुर्थी विभक्ति कही हैं 'अनिमिषेषुमिषत्सु' इस पद से देवों की दोनों तरफ साक्षीपन कहा है क्योंकि वे पलक बंद नहीं करते हैं जिससे सबको सर्वत्र देखते ही रहते हैं इसलिए सबके साक्षी हैं, उन्होंने भी रोका यों भी समीप होने से भाव प्रकट होता है, अथवा उन दोनों ने ही रोका यों माना जाय तो 'ताभ्यां' तृतीया विभक्ति समझी जायेगी। वास्तव में प्रवेश का निषेध

दोनों ने ही किया है वर्तमान के सामीप्य में वर्तमान प्रयोग होता है, 'स्वहर्त्तमाः' पद से यह सूचित किया है, अतियोग्य होने से रुकावट के लायक नहीं थे, जो सदाचारी होते हैं उनको भी रोका नहीं जाता है ये तो शास्त्रानुसार परमहंस थे जिससे विशेष पूजनीय थे अधिकता यह है कि उस पर भी ज्ञानी हैं, अतः सर्व प्रकार से आदरणीय थे, तब निषेध क्यों किया ? जिस पर कहते हैं 'हरेः प्रतिहारपाभ्यां' ये हरि के प्रतिहारों के रक्षक थे, हरि सर्व दुःखहर्ता हैं, भीतर जाने पर भगवान् का अतिक्रम (आज्ञाभङ्ग) होने से महान् दोष होगा, इसलिए भगवान् ने सर्वत्र बहुत द्वारपाल खड़े कर दिये हैं जिनके ये दो स्वामी हैं अतः द्वारपालों की रक्षा के लिए उनकी अपनी रक्षा के लिए भी प्रवेश का निषेध किया, जब यों है तो इनको (मुनिओं को) क्रोध क्यों आया ? इस पर कहते है कि 'सुहृत्तम दिदृक्षितभङ्ग ...... क्रोधेन उपप्लु ताक्षाः' वे मुनि आत्मज्ञानी थे इसलिए इनकी सर्व में आत्मबुद्धि थी भगवान् में भी आत्मबुद्धि थी, भगवान् भी आत्मवित् हैं अतः मित्र (सुहृद्) हैं इसमें भी उनके गुणों से अन्तःकरण निर्मल होता है इसलिए वे सुहृत्तम विशेष सुहृत् हैं अपने भी इच्छित ज्ञान के साधक होने से, सुहृत्तम है उनके दर्शन की लालसा मन में हो रही थी, जिसने हम पर इतना उपकार किया है उनके दर्शन करने ही चाहिए अब फल प्राप्त हो रहा है उस अवसर को कैसे गुमावे ? साधन से स्वल्प (थोड़ी) कामना थी ।

दर्शन की इच्छा के अल्प (थोड़े) प्रतिबन्ध से ही भङ्ग कर दिया इसलिए इनके मन में ऐसी इच्छा न रही कि इनसे पुनः बातचीत द्वारा समाधान कर हम दर्शन करें इस कारण से काम के छोटे भाई का जन्म हो गया बड़े काम रुक जाने पर भी इनको क्रोध नहीं आता है जैसे ईश्वर वाक्य से या मांगने वाले को क्रोध नहीं होता है उनको द्वारपालों का भी विचार नहीं आया एकदम नेत्र लाल हो गये जिससे इनको, उनके (देवों के) गुण भी देखने में नहीं आये । लालाई ऐसी नेत्रों में भर गयी मानों अब सर्वनाश प्रलय होगा यों वैसे कहने लगे ॥३१॥

आभास—तेषां वचनमाह–को वामिहेत्यादित्रिभिः

आभासार्थ—इस श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में जो मुनिओं ने वचन कहे वे बताते हैं—

मुनय ऊचुः श्लोक—

को वामिहेत्य भगवत्परिचर्ययोच्चैस्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन्प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां को वाऽऽत्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ३२

श्लोकार्थ—मुनि कहते हैं, हे द्वारपालो! भगवान् की महती सेवा से यहां आकर जो भगवत्सेवकों में रहे हों फिर भी आपका ऐमा विषम स्वभाव कैसे हुआ है ? आपका स्वभाव तो भगवान् के समान समदर्शी होना चाहिये। यहां वाले सब समदर्शी हैं क्योंकि भगवान् परम शान्त समदर्शी हैं यहां तो कोई भी ऐसा नहीं है जिस पर शङ्का हो सके ? तुम स्वयं कपटी विषम दृष्टि वाले हो जिससे अन्यों को वैसा देखते हो यह उचित नहीं ॥३२॥

कारिका—**तयोः स्वाभाविको दोषः स्वामिद्रोहस्तथाऽपरः ।**
स्वस्याऽन्तरङ्गमित्रत्वात्तदुल्लङ्घनमेव च ॥१॥

कारिकार्थ—उन दोनों का स्वाभाविक दोष और दूसरा स्वामी का द्रोह और (हम मुनिलोग) भगवान् के अन्तरङ्ग मित्र थे (हैं) इसलिए ड्योढी का उल्लंघन कर रहे थे ॥१॥

कारिका—**दोषस्तृतीयो नाऽत्रोक्तो मित्रकार्यं पर कृतम् ।**
तथावचनसंदर्भात्सोच्यते जन्मसङ्ख्यया ॥२॥

कारिकार्थ—तीसरा दोष यहां नहीं कहा है, मित्र ने कार्य किया है, वैसे वचनों के संदर्भ से मित्रकृत्य जन्म संख्या से (तीन से) कहा जाता है ॥२॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं तयोः स्वाभाविकं दोषमाहुः— **इह** वैकुण्ठे, **उच्चैर्भगवत्परिचर्यया** पूर्वजन्मनि कृतया, भूमेः सकाशादिहागत्य **निवसतां** भगवत्सेवकानां मध्ये **को वां युवयोरेष विषमः स्वभावः ?** अस्मासु दोषबुद्धिः, 'नाऽर्थदा पुरुषाद्विषाम्' इति पुरुषे द्वेषस्य निन्दितत्वात् । कैश्चित् प्रवेष्टव्यं कैश्चिन्नेति केचिदाहुः, तदा द्वारपालकाधिकारदानं भगवतो विरुध्येत । आत्मीयानामपि मातापित्रोरप्यनवसरे गमनमुचितं न भवतीति लौकिकार्थं तथाकरणं द्वारपालयोरुचितमेव । तथा नूतनानां महतामुपहासः क्रोधदर्शनं वैकुण्ठवासिनामुचितम्, सामान्यधर्मानुरोधेनैव विशेषधर्माणां कर्तव्यताया उचितत्वात् । तेषां मते सर्वं कर्मजन्यमेव, तत्रापि भोगरूपम्, भक्तिमार्गस्याज्ञातत्वात् । अतो निरन्तरभगवत्सेवयाऽत्राऽऽगत्य स्थितिर्भवतीति मन्यन्ते । तत्रापि वैकुण्ठे ये भगवत्समानधर्मा ब्रह्मण्या धर्मनिष्ठप्रीतियुक्तास्तेषां मध्य इति । तेनैतयोः सहजवैकुण्ठादागमनं निवारितम् । स्वस्य मुखाद्वचनं निःसरतीति । **को** वेत्यधिक्षेपे, वेत्यनादरे वा । ननु त्रैविध्यात् केचन विषमस्वभावा अपिभवन्तीति चेत्तत्राऽऽह—**तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रह इति** । अयं विषमस्वभावः स्वार्थम्, भगवदर्थं वा ? स्वार्थं चेत्, न युवां भगवदीयौ । तत्र

हेतुमाह—**प्रशान्तपुरुष इति**। प्रकर्षेण शान्ताः पुरुषा यत्र। तस्य हि सर्वे पुरुषाः शान्ता एव। शान्तिस्तु ज्ञान एव, अतो वैषम्यं भगवदीयत्वाभीप्सोर्नोचितम्। भगवदर्थं च नाऽपेक्ष्यत इत्याह—**गतविग्रह इति**। गतो विग्रहः कलहो यस्य। विशेषेण ग्रह आग्रहो वा। विग्रहो देहो वा। देहाभावान्न केनाऽप्यनिष्टं कर्तुं शक्यम्, कलहाभावात् न कश्चित् द्विष्टः, आग्रहाभावात् नाऽनौचित्यं भगवान् मन्यते। अतो विषमस्वभाव उत्पत्त्या चोपपत्त्या चाऽत्र बाधितः। **वां** युवयोः। एवं तयोर्विषमस्वभावं निन्दित्वा स्वातिक्रमदोषं तयोरुपपादयन्ति—**को वाऽऽत्मवदिति**। **कुहकयोर्वञ्चकयोः** को वा आत्मवत्परिशङ्कनीय इति। दुष्ट एव हि अन्यत्र दोषं मन्यते, अतो युवयोर्दोषोऽस्तीत्यवसीयते। परिचर्याया एव वैकुण्ठागमनहेतुत्वं मन्यन्ते, न तु निष्कपटपरिचर्यायाः। अतः कपटेन परिचर्यां कृत्वा वैकुण्ठे समागत्याऽधिकारं प्राप्य, स्वभावादधिकाराच्च, यथा वयं तथाऽन्योऽप्यत्रा गमिष्यतीति यत्रैव स्वस्याऽस्वारस्यं तत्रैव विषमदृष्टिः, न तु विषयपरिज्ञानादिति तस्य पक्षस्याऽऽक्षेपः। वयं तु न परिशङ्कनीया इति भावः। निषेधस्तु परिशङ्कीकारे स्वस्याऽपि कुहकत्वं सेत्स्यतीति। तस्माद्वयं निर्दुष्टाः, युवामेव सदुष्टौ, निर्दुष्टे दोषारोपात्। आग्रहाविष्टबुद्धिर्निर्णयन्तं युक्तिमपेक्षते, अतोऽस्मिन्पक्षे न समर्थोपपत्तिः। तथाऽग्रिमपक्षेऽप्यवगन्तव्यम् ॥३२॥

व्याख्या—उनमें से पहले इन दोनों का स्वाभाविक दोष कहा जाता है इस वैकुण्ठ में, पूर्व जन्म में की हुई भगवान् की विशेष सेवा से भूमि में आकर रहने वाले भगवत्सेवकों में से तुम दोनो का ऐसा विषम स्वभाव कैसे हुआ है? जिससे हम लोगों में दोष की बुद्धि की है पुरुष (भगवान्) से द्वेष करने वालों की बुद्धि लाभदायक नहीं होती है, यों पुरुष से द्वेष करने की निन्दा की गयी है। किसी को प्रविष्ट करने देना और किसी को न करने देना यह उनकी विषम बुद्धि है यों कोई कहते हैं यदि यों होवे तो भगवान् ने द्वारपालों को जो अधिकार दिया है उससे विरोध आता है। जो अपने हों वा माता-पिता हों उनको भी जब भगवद्दर्शन का समय न होवे तब जाने देना (वा छुट्टी देना) उचित नहीं है। इसलिए लौकिक के लिए यों करना द्वारपालों को उचित ही है वैसे नये आये हुवों और बड़ो का उपहास (मजाक करना) तथा क्रोध दिखाना वैकुण्ठ वासियों को उचित नहीं है, सामान्य धर्म की जगह पर विशेष धर्म करने पड़े तो करना उचित ही है उनके मतानुसार सब कुछ कर्म से ही होता है। जिसमें भी भोगरूप फल तो कर्म से ही भोगा जाता है, क्योंकि उनको भक्तिमार्ग के स्वरूप का ज्ञान नहीं है, अत(निरन्तर भगवत्सेवा करने से यहां आकर स्थिति होती है यों मानते हैं, वहां (वैकुण्ठ में) भी जो भगवान् के समान गुण वाले, ब्राह्मणों के हितेच्छु हैं, धर्म में श्रद्धा वाले एवं प्रेमवाले है उनके साथ रहते हुए इस प्रकार का विषम स्वभाव कैसे? वह क्यों? इससे यों सूचना दी है कि ये दो देव सहज में वैकुण्ठ से भूमि पर नहीं आये हैं, ऐसे वचन अपने (मुनियों के) मुख से इस कारण से निकलते हैं।

'को वा' इस पद से अपमान प्रकट किया है वा 'कः' से अनादार का सूचन है मनुष्य तीन प्रकार के गुण वाले होते हैं. जिससे कोई विषम स्वभाव वाले भी हो सकते हैं, यहाँ इससे यह सूचना दी है कि वे शान्त पुरुष वाले और विग्रहरहित हैं तब यों कहा हैं, यह विषम स्वभाव, अपने लिए है व भगवान् के लिए है? जो अपने लिए हैं, तो तुम दोनों भगवदीय (भगवद्भक्त) नहीं हो, क्योंकि भगवान् के भक्त शान्त होते हैं यदि भगवान् के लिए कहो तो उनमें विग्रह (कलह) है ही नही अथवा आग्रह नहीं है वा देह ही नहीं है, देहाभाव (देह न होने) से किसी का भी उनसे अनिष्ट नहीं हो सकता है तथा न उनका कोई अनिष्ट कर सकता है। कलह न होने मे कोई शत्रु नहीं है, आग्रह न होने से किसी की अनुचितता नहीं मानते हैं, अतः यहां (वैकुण्ठ में) उत्पत्ति से व उपपत्ति (हेतु सहित युक्ति) से विषम स्वभाव का बोध किया जाता है तुम दोनों का विषम स्वभाव है।

इस प्रकार उनके विषम स्वभाव की निन्दा कर, उन्होंने जो अपना अतिक्रमण किया है उसको सिद्ध करते हैं, 'कोवाऽऽत्मवदिति.... परिराङ्कनीयः' कपटी धूर्तों के सिवाय कौन ऐसा है जो सत्पुरुषों में दोष देखता है? दुष्ट ही दूसरों में दोष देखते हैं, क्योंकि स्वयं ऐसे हैं, अतः जाना जाता है कि तुम दोनों में दोष (विषमता) है, इसलिये दूसरों को भी वैसा ही देखते हो। परिचर्या (सेवा) ही वैकुण्ठ आने में हेतु मानते हो, न कि कपट रहित शुद्ध आत्मरूप की भावना से की हुई परिचर्या को, अतः कपट से सेवा द्वारा वैकुण्ठ में आके अधिकार प्राप्त कर, स्वभाव से और अधिकार से यों समझते हो कि जैसे हम आये वैसे दूसरा भी यहां आया होगा, इस विचार से मानते हो जैसे हमारा स्वभाव विषम है वैसा दूसरों का भी होगा, किन्तु आपका ऐसा स्वभाव इसलिये हुआ है जो आपको विषय का ज्ञान नहीं है अतः आपमें विषम दृष्टि है, यों उस पक्ष का (मुनिओं का) द्वारपालों पर आरोप है। यों कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की शङ्का हम लोगों में नहीं करनी, यदि हम लोग ऐसे विषम स्वभाव वाले–आत्म बुद्धि रहित हैं यों स्वीकारो तो हमको, रोक सकते हो अन्यथा नहीं, यदि हम में ऐसी कुशंका करोगे तो आप में धूर्तत्व सिद्ध होगा, इसी से हम निर्दोष हैं तुम दोनों ही दोषी ही हो क्योंकि निर्दोष पर दोषारोपण किया है. आग्रहयुक्त बुद्धि, युक्ति की विशेष अपेक्षा नहीं रखती है अतः इस पक्ष में समर्थ तर्क वाली युक्ति नहीं है यों ही आगे के पक्ष में भी जान लेना चाहिये।।३२।।

आभास—स्यामिद्रोहमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में द्वारपालों ने जो स्वामि का द्रोह किया उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षावात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं व्युत्पादितं ह्युदरभेदिभयं यतोऽस्य ।।३३।।

श्लोकार्थ—समस्त ब्रह्माण्ड जिसके कुक्षि में है उस भगवान् में यहां (वैकुण्ठ के अन्दर) रहने वाले ज्ञानी भक्त श्री हरि में अपने से कोई भेद नहीं देखते हैं परन्तु जैसे घटाकाश महाकाश के ही अन्तर्गत है वैसे सबको वैकुण्ठ भगवान् के ही अन्तर्गत देखने में आता है, फिर तुमको ऐसी विषम बुद्धि कहां से आई जो भेद भाव के कारण भय की कल्पना कर रहे हो ? ।।३३।।

सुबोधिनी— न ह्यन्तरमिति। इह वैकुण्ठे शुद्धसत्त्वात्मके रजस्तमसोरभावात् तत्कृतमुच्चनीचत्वमपि नाऽस्ति। किञ्च,भगवति नाऽस्त्यन्तरम्, तेन ये ज्ञानादिमन्तस्ते भगवद्रूपा इति तेषु भगवति चाऽन्तरकरणं स्वामिद्रोहः। **किञ्च, समस्तकुक्षाविति।** समस्तं कुक्षौ यस्य। वैकुण्टवासिनः सर्वे पूर्वं तस्य कुक्षावेव स्थिताः, इदानीं वा नारायणोदरे सर्वे तिष्ठन्तीति। अतः प्रथमपक्षे वैकुण्ठवासिष्वन्तरनुचितम्, द्वितीयपक्षे सर्वेष्वेव। तस्य समस्तकुक्षित्वं श्रुत्यनुभवसिद्धम्। तत्र श्रुतिः— **'आत्मैवेदं सर्वम्' यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्'** इति च: अनुभवं कीर्तयन्ति—**आत्मानमात्मनि नभो नभसीव धराः पश्यन्तीति। आत्मानं** स्वात्मानम्। **आत्मनि** भगवति। आत्मनश्च पुनःसर्वत्वज्ञानात् सर्वं भगवति भविष्यति, स्वदृष्टान्तेन वा। तत्र प्रथमपक्षो वादिनं प्रति वक्तव्यो न भवतीति दृष्टान्तपक्षमेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति - **नभो नभसीवेति।** यथा घटाकाशो विद्यमानेऽपि घटे महाकाश एव, महाकाशे वा; तथा सर्व आत्मानः सोपाधयोऽपि भगवानेव, भगवति वा। अत्र प्रमाणम्-**धीराः पश्यन्तीति।** श्रुतिर्ब्रह्मवादे भगवद्वादे वाऽप्युपपद्यते, तथाप्यनुभव आत्मवाद एव स्वाधीनः, अतो **धीरा** इत्येवाऽधिकारीविशेषणम्। धैर्यं हि आत्मनो महाफलत्वज्ञानात् फलान्तरेच्छाभावपूर्वकेन्द्रियादिजयः, चित्तस्थैर्यमेव वा धैर्यम्। एवं सर्वकुक्षित्वं प्रतिपाद्य तत्रापराधः कृत इत्याहुः—**यत्र** भगवति, **सुरलिङ्गिनोर्युवयोः।** देवानां लिङ्गमात्रम्, वस्तुतस्तु दैत्या एव तृतीया देवगत्याऽपि करण सम्भवतीति नोक्ता। षष्ठ्या तु स दोषस्तेषां संबन्धीति बोध्यते। उदरं भिनत्तीत्युदरभेदि, तस्य भयम्। **'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इति** श्रुतिः। ये भगवद्भावं प्राप्तस्ते उदरशब्देनोच्यन्ते, तेष्वन्तरं कुर्वन् भय प्राप्नोतीत्यर्थः। **उत्** ऊर्ध्वमरमप्यन्तरमिति च। **उत्** उर्ध्वं लौकिकापेक्षयाऽप्यधिकं शास्त्रतो भेदसमर्थनम्, **अरम**ीषत्। भृत्यापराधे स्वाम्येवैवं करोतीति लोके प्रतीतिर्भवत्। तदोददरभेदिनां यद्भयम्, तदस्मिन्नपि कृतं भवेदिति युक्त एव तव स्वामिद्रोहो जात इति हिशब्दार्थः। सेवककृतत्वात् भगवत एतदङ्गीकर्तव्यम् तथा सति भयं भवेदिति गूढाशय. ।।३३।।

व्याख्या—इस शुद्ध सत्त्वात्मक बैकुण्ठ में रजोगुण एवं तमोगुण के अभाव से उच्चत्व तथा नीचत्व भी नहीं है अर्थात् भेद-भाव नहीं है और विशेष में भगवान् में कुछ भी अन्तर (भेद) नहीं

है, इससे जो ज्ञानवान् हैं वे भगवद्रूप हैं इसलिये उनमें तथा भगवान् में भेद करना, स्वामि का द्रोह है, और अधिक यह है कि जिस (भगवान्) की कुक्षि में समस्त स्थित है, बैकुण्ठ वासी सर्व पहले उस (भगवान्) की कुक्षि में ही स्थित थे वा अब सब नारायण के उदर में स्थित हैं, अतः प्रथम पक्ष में बैकुण्ठ-वासियों में भेद करना उचित नहीं है, द्वितिय पक्ष में तो किसी से (में) भी भेद करना योग्य नहीं है, उनकी कुक्षि में हो समस्त स्थित हैं। यह श्रुति और अनुभव सिद्ध है, इससे श्रुति 'आत्मैवेदं सर्वं'' 'यस्मिन्निदं स च वि चैत सर्वम्' इति च'। 'यह सर्व जो दिख रहा है वह आत्मा ही है, 'जिसके अन्दर अच्छी रीति से बहुत एवं समस्त रहता है' यों और श्रुतियां अनुभव प्रकट करती हैं 'आत्मानमात्मनि नमो नभसीव धीराः पश्यन्तीति' अर्थात् अपनो आत्मा (चिद्रूप- जीवात्मा को) 'आत्मनि' भगवान् में। आत्मा को सर्वत्व ज्ञान से सर्व भगवान् में होगा, अथवा आगे दृष्टान्त से अनुभव सिद्ध है, यह पहला पक्ष वादी को कहने योग्य नहीं क्योंकि वह समझे वा न समझे अतः दृष्टान्त द्वारा 'नभोनभसीव' से समझाते हैं जैसे घटाकाश जिस समय घट में विद्यमान है उस समय भी वास्तविक स्वरूप में घटाकाश होते हुए भी महाकाश का रूपान्तर है एवं महाकाश में होंने से उससे पृथक् वा अन्य नहीं है, वैसे ही सब आत्माएं उपाधि-वाली भी भगवान् ही है, वा भगवान् में स्थित है। इससे प्रमाण है' धीराः पश्यन्ति' धीर पुरुष (अनुभवी) यों दर्शन कर रहे हैं इस प्रकार दर्शन करने वाले अधिकारी वे हैं जो 'धीर' ज्ञान वैराग्य भक्ति वाले हैं, यह श्रुति 'धीराः पश्यन्ति ब्रह्मबाद एवं भगवद्वाद में उत्पन्न होती है, तो भी आत्मवाद में अनुभव स्वाधीन ही है, अतः 'धीरा' यह ही अधिकारी का विशेषण है, धैर्य ही निश्चय से आत्मा के महाफल रूप ज्ञान से प्राप्त होता है, अन्य फल की इच्छा का अभाव पूर्वक इन्द्रियादि का जय, अथवा चित्त की स्थिरता धैर्य है, यह धैर्य जिनमें है वे धीर कहे गये हैं।

इस प्रकार सब कुछ जो है वह सर्व भगवान् की कुक्षि में अर्थात् भीतर स्थित है यों प्रतिपादन कर कहते हैं उस भगवान् का देवों के चिन्हधारी तुम दोनों ने अपराध किया है देवों का चिन्ह तो धारण किया है किन्तु वस्तुतः तुम दैत्य हो, इसलिये 'युवयो' षष्टी दी है यदि 'युवाभ्यां' तृतीया देते तो उसका भाव यह भी हो जाता कि, देव गति से यों हो जाता है, षष्ठी देकर सिद्ध किया है कि देवगति से नहीं बल्कि इनमें दैत्य सम्बन्ध है जिससे यों मुनिओं को इस प्रकार रोका है। जो थोड़ा (स्वल्प) भी भेद करता है उसको भय होता है जैसे भगवती श्रुति कहती है 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदर मन्तरं कुरुते अथ तस्यभय भवति' अर्थात् जब जीव इसमें उदर का भेद करता है तब उसको भय होता है, अर्थात् जो मनुष्य भगवद्भक्त एवं ज्ञानिओं में भगवान् से थोड़ा भी भेद-भाव करता है उसको भय होता है, विशेष वा स्वल्प (थोड़ा) भी जो सेवक भेद करता है तो वह लोक में स्वामी का हो किया समझा जाता है ऐसी दशा में उदर भेदिओं को, भगवद्भक्त व ज्ञानियों को भगवान् से भिन्न समझ भेद करते हैं उनको जो भय होता है

वैसा कृत्य (काम) इस विषय में भी तुमने किया[1] है इसलिये यों समझना कि तुमसे स्वामि द्रोह हुआ है वह उचित ही है, यह 'हि' शब्द का तात्पर्य है, जो (कार्य) सेवक करता है वह स्वामी अपना समझ लेते हैं अर्थात् मान लेते हैं, यों होने पर भय होगा ही यह गूढ़ाशय है ।।३३।।

आभास—एतदनङ्गीकारे तु स्वमिनो भयं न भविष्यत्येव, तदेतयेरेव भयं भवत्विति शास्त्रार्थसिद्धयर्थं भगवति मैत्रीनिर्वाहार्थं च तयोः शापं प्रयच्छन्ति

आभासार्थ—देवों द्वारपालों) का किया हुआ कार्य स्वामी (भगवान्) स्वीकार नहीं करें तो स्वामी को भय नहीं होगा, वह भय इनको ही होगा, यों शास्त्र का अथ सिद्ध हो एवं भगवान् से भी मैत्री का निर्वाह होता रहे तदर्थं इन दोनों को शाप देते हैं—

श्लोक—तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः कर्तुं प्रकृष्ठमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।
लोकनितो व्रजतमन्तरभावदृष्टया पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ।।३४।।

श्लोकार्थ—इससे हम तुम्हारे लिए यह विचार कर रहे हैं जो विकुण्ठ के स्वामी के लिए उत्तम हो, और तुम्हारे योग्य हो, तुम मन्द बुद्धि, भगवत्सेवक होते हुए भी भेद दृष्टि वालों के समान यहां कर्म कर रहे हो अतः यहां से निकल कर पापी लोक में में जन्म लो जहाँ इनके तीन शत्रु रहते हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—तद्वामिति । अमुष्य भगवतः सर्वेषां **परमस्य** स्वामिनः, अस्मदाद्यनुग्रहार्थं विकुण्ठस्थाने संस्थितस्य । विकुण्ठशब्देन शुद्धं सत्त्वम्, तद्भर्तु-रित्यस्मदादिसत्त्वस्याऽपि भर्तृत्वात् तस्य **प्रकृष्टं कर्तुं** मिहाऽस्मिन्नर्थेयदुचितं **तद्धीमहि**, ध्यानेन साक्षात्करिष्यामः । **वां** युवाभ्याम् । **मन्दधीभ्यामिति** । ताभ्यामेव चेदनिष्टं दीयते, तदा ताभ्यामेव भगवत इष्टं भवतीति **चतुर्थीतृतीये** । ध्यानेन निश्चितमर्थमाहुः—**लोकानितीव्रजतमिति** । अन्तरभावेन या दृष्टिः कृता क्रूरा, तया कृत्वा, इतोऽधस्तनान् **लोकान् व्रजतम** । इदं हि सत्त्वस्थानम्, ततोऽधस्तना राजसतामसाः । तत्रैकः केवलराजसः, द्वितीयो राजसतामसः, तृतीयस्तामस इति । अवान्तरलोकानां बहुत्वसम्भवात् त्रीनिति वक्तुं विशिनष्टि-**पापीयसस्त्रय इति** । **अस्य** भगवतो **रिपवो** भगवदीयैर्हेयत्वेन ज्ञाताः, '**कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं** त्यजेत्' इति वाक्यात् । ते च **पापीयसः** संबन्धिनः, न भगवदीयाः, किन्तु तद्विरोधिनश्च । अतो भगवद्विरोधि कामादित्रयं येषु लोकेषु, तान् लोकानितो व्रजतमित्यर्थः ।३४।

व्याख्या—यह भगवान् सर्व के स्वामी, हम जैसों के अनुग्रहार्थं विकुण्ठ स्थान में विराज रहे हैं 'विकुण्ठ' शब्द से शुद्ध सत्त्व प्रकट कहा है । उस शुद्ध सत्त्व (विकुण्ठ) के भर्त्ता होने से हम लोगों के सत्त्व के भी भर्त्ता हुवे अतः उनका हित करने के लिये इस विषय में जो उचित करना चाहिये,

---

१ जो थोड़ा भी भेद-भाव रखता है उसको भय होता है ।

उसका ध्यान पूर्वक विचार कर वह साक्षात् करेंगे, तुम दोनों मन्द बुद्धि वालों को यदि अनिष्ट दिया जायेगा तब उससे भगवान् का इष्ट (इच्छित) मनोरथ सिद्ध होगा। इसलिये 'मन्दधीभ्याम' पद तृतिया और चतुर्थी दोनों विभक्ति के लिये हैं— ध्यान (विचार) कर निश्चित् निर्णय कहते हैं 'लोकानितो व्रजतं' भेद भाव वाली क्रूर दृष्टि से जो अनुचित कार्य किया, इससे तुम यहां से जो से नीचे लोक है उसमें जाओ यह शुद्ध सतोगुण है इससे स्थान नीचेके लोक राजसतामस हैं उनमें पहला राजस दूसरा राजसतामस और तीसरा तामस है, अवान्तर लोक बहुत हैं अतः तीन पापी जहां रहते हैं वहलोक कहा है, इन भगवान् की प्राप्ति में रुकावट डालने में जो शत्रुरूप हैं वे जिस लोक में रहते हैं वे भगवान् के मानो शत्रु हैं अतः भगवद्भक्तों के लिये त्याज्य हैं, जैसे 'कामः क्रोध तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्' ये काम क्रोध और लोभ में तीन पापियों के सम्बन्धित हैं भगवदीय (भगवद्भक्तों के सम्बन्धी) नहीं हैं, किन्तु उनके विरोधी हैं, अतः भगवद्विरोधी ये कामादि तीन जहाँ रहते हैं उस लोक में जाओ। ।।३४।।

आभास—पूर्वं शापपर्यवसायित्वमज्ञात्वा कृतोऽतिक्रमः। जाते च शापेऽमूर्त्ता वाग्गदादिभिर्दूरीकर्तुमशक्येति तेषां प्रार्थनयैव शापो गमिष्यतीति बुध्द्वा तेषां प्रसादनं कृतवन्तावित्याह—

आभासार्थ देवो ने (द्वारपालों ने) यों नहीं जाना था कि हम इनको रोकेंगे तो ये शाप देंगे इसलिये कुमारों को उपहास पूर्वक रोक लिया अब जब देखा कि शाप ऐसा मिला है जिसका गदादि से मिटाना असम्भव है अतः इस शाप को मिटाने के लिये प्रार्थना करें तो मिट सकेगा यों समझ, उनको प्रसन्न करने लगे जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः।**
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्पादग्रहावपततामतिकातरेण ।।३५।।

श्लोकार्थ—उनके कहे हुए ये वचन घोर ब्रह्मदण्ड हैं, इनको शस्त्र समूह से रोका नहीं जायेगा यों निश्चय कर, दोनों हरि के अनुचर बहुत भयभीत हो के उनके पैरों को पकड़ कर उन (पैरों) पर गिर पड़े ।।३५।।

सुबोधिनी—**तेषामिति**। शापस्त्वङ्गीकृतो ग्लानिहेतुर्न भवतीति तदङ्गीकारार्थं ततोऽधिकमा वदन्त्विति तेषां पदयोः पतितौ। इत्यमुना पूर्वोक्तप्रकारेण तेषामीरितमवधार्य, तदुक्तश्चाऽर्थो ब्रह्मदण्ड इति निश्चित्य, **अस्त्रपूगैश्चाऽनिवारणं** मत्वा, **हरेरनुचरावपि** तेषां पदयोरपतताम्।

तत्रापि **पादग्रहौ**, तेषां पादान् गृहीत्वा तत्र पतितावित्यर्थः । **सद्य इति** । विलम्बे पुनः शापो भगवद्दण्डो वा भवेदिति । माया वा ततो निर्गतेति **हरेरनुचराविति** भगवदभिप्रायाभिज्ञौ, स्थानान्तरे गमनमत्यरिष्टमिति । स हि सर्वदा हरिः, अन्यत्र दुःखहर्ता कोऽपि नास्तीति । तेषां वा मानसि जातं दुःखं दूरीकर्तुं तया कृतवन्तौ, यत एतयोः स्वामी हरिः । किञ्च **उरु बिभ्यतः**, अधिक च भयं प्राप्तवन्तौ, श्रुत्यर्थस्तदैव जात इति । **अतिकातरेणेति** तेषां दयोत्पादनार्थं स्वस्य दैन्यं ज्ञापितवन्तौ ।३५।

व्याख्या—यदि शाप को स्वीकार करने में आवे तो वह दुःख व ग्लानिदायक नहीं होता है, उस शाप का अङ्गीकार करने के लिये और इससे विशेष न कहें तदर्थ उनके चरणों में गिर पड़े पूर्वोक्त प्रकार से कहे हुए उनके वचन सुनकर जान लिया कि यह ब्रह्मदण्ड है इसको शस्त्रादि से हटाया वा रोका न जायेगा । यों निश्चय कर, हरि के अनुचर होते हुए भी उनके पैरों मेंगिर पड़े । न केवल गिरे किन्तु क्षमार्थ पैर पकड़ लिये 'सद्यः' इस कार्य में कुछ भी विलम्ब न किया, क्योंकि डर लगा कि विलम्ब होने पर फिर ये शाप दे देवें अथवा भगवान् दण्ड देवें जब इन देवों (द्वारपालों में) से माया निकल गयी तब ये हरि के अनुचर होने से भगवदभिप्राय को जान गये कि दूसरे स्थान में जाना हमारे लिये हित है ऐसी भगवदिच्छा है, वह सर्वदा हरि (दुःखहर्ता) है, दूसरे स्थान पर दुःख हर्ता कोई नहीं है उनके (कुमारों के) मन में जो दुःख उत्पन्न हुआ उसकों दूर करने के लिये उनके चरणों पर पड़े क्योंकि इन द्वारपालों के स्वामी हरि (दुःखहारी) हैं, और अधिक कहते हुए भयभीत होने लगे, कारण कि उस समय ही श्रुति के[१] अर्थ का इनको ज्ञान हुआ । इसलिये बहुत दीनता से चरणों में पड़े, इसलिये मुनियों के हृदय में भी हमारे लिए दया उत्पन्न होवे । ।।३५।।

आभास—एवं चरणयोः पतित्वा एकं प्रार्थयतः—

आभासार्थ—यों चरणो में गिरकर एक को प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**भूयादघोति भगवद्भिरकारि दण्डो यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।**
मा वोऽनुत्तापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ।।३६।।

श्लोकार्थ—हे मुनियों ! आपने जो हम पापियों को दण्ड दिया है वह उचित ही है, क्योंकि हमने भगवदभिप्राय न जानकर आपका तिरस्कार किया, इससे हमको जो पाप लगा वह इस शाप द्वारा मिट जायेगा हमारी कुबुद्धि से किये हुए कृत्य का फल यह दशा हुई है किन्तु आप इतनी कृपा कीजिए कि भगवत्स्मृति नाश करने वाला मोह हमको न हो किसी भी तरह भगवान् की स्मृति (याद) बनी रहे ।।३६।।

सुबोधिनी—भूयादघोनीति । **अघोनि** पाप-सहिते भगवद्भिर्योदण्डः कृतः, **स भूयात्** । तथा कथने हेतुः-**यो दण्डो नौ** आवयोः **सुरहेलनं** भगवदवज्ञाम्, भगवद्देवतावज्ञां चक्रे । **अशेष** सर्वमेव **हरेत** । यदि तद्दत्तः शापो नाऽङ्गीकृतः स्यात्, तदा वरमपि न प्रयच्छेयुरिति तदङ्गीकरणम् । प्रार्थनामाह-**मा वोऽनुतापकलयेति** । वो युष्माकं **योऽनुतापः**, वृथैव शापो दत्त इति; तस्य कलया लेशेन **नौ** आवयोर**घोधो व्रजतो**रपि **मोहो मा भवतु** । कामक्रोधलोभैर्नरक एव भवति, न संसारः; मोहेन च संसारो भवत्यतस्तत्प्रार्थनमुचित मेव । जायमानोऽपि मोह आवश्यकत्वात् तत्तज्जन्मनि **भगवत्स्मृतिघ्नो मा भवेत्**, किन्तु जायमानमप्यज्ञानं मोहात्मकं भगवत्स्मरणमेव संपादयतु । **तु** पुनरिह भगवति मोहो भवतु, भगवद्वैराग्यं मा भवत्विति । **'व्रजतम्'** इति भगवद्वाक्यात् फलं शीघ्रमेव भविष्यतीति ज्ञापितम् । तथा स्मरणमपि भवत्विति प्रार्थनायां भावः । **अघोध इति** दैन्यं ज्ञापितम् । दैत्याद्राक्षसा निकृष्टाः, तेभ्योऽपि मनुष्या इति; राक्षसानामपि देवयोनित्वात् ॥३६॥

व्याख्या—हम पापियों को आप भगवानों ने जो दण्ड किया वह भले हो, (द्वारपालों के इस तरह कहने का कारण अपने दोष की स्वीकृति है) हम दोनों ने जो देव का अपमान व भगवदवज्ञा की, उसका दण्ड है । यह दण्ड, भगवान् जिनके देव हैं उन मुनियों के, हमसे हुए पापों को मेटेगा । शाप की स्वीकृति का कारण यह है कि यदि हम शापको स्वीकार नहीं करेंगे तो मुनिवर वरदान भी न देंगे. अतः स्वीकार कर प्रार्थना करने लगे 'मा वोऽनुतापकलयः' आपके वृथा दिये हुए शाप के लेश मात्र से नीचे तीन लोक में जाते हुए भी हमें मोह न होवे, काम, क्रोध और लोभ से नरक प्राप्ति होती है, न कि संसार प्राप्ति होती है मोह से संसार होता है अतः इस प्रकार की (मोह न होवे) प्रार्थना करनी उचित ही है यदि, आवश्यक होने से मोह उत्पन्न भी होवे तो भी वह (मोह) भगवान्) की स्मृति का नाश कराने वाला न हो किन्तु उत्पन्न हुआ भी मोहात्मक अज्ञान भगवत्स्मरण ही करावे, फिर भगवान् में मोह हो वैराग्य न हो ।

'व्रजतम्' क्रिया का गूढ़ाशय यह है कि जाओ और फिर जल्दी आओ । अतः इस भगवान् के वाक्य से फल प्राप्ति सिद्ध होगी यों जताया है । न केवल विस्मृति हो किन्तु स्मरण भी होता रहे । प्रार्थना में यह भाव (रहस्य) भी है, 'अघोऽधः' पद से दीनता प्रकट की है । दैत्य से राक्षस निकृष्ट हैं किन्तु वह (राक्षस की) यानि देवयोनि है अतः उनसे मनुष्य निकृष्ट (नीची कक्षा के) हैं इनको क्रमशः तीन योनि भोगनी पड़ी (१) दैत्य (२) राक्षस (३) मनुष्य ॥३६॥

आभास—एवं प्रार्थितेऽपि प्रसादे, अङ्गीकारेण दत्तेऽपि, साक्षाददानं पश्चात्ताप-व्याकुलानामुचितमेव, विवेकेन सर्वप्रतिरोधो वा । एवं सति सर्वनिर्द्धारार्थं भगवानागत इत्याह—

आभासार्थ--मुनिओं ने देवों की प्रार्थना स्वीकार कर उन पर कृपा की किन्तु प्रत्यक्ष नहीं की, क्योंकि पश्चाताप से जो व्याकुल हो उनको प्रत्यक्ष कृपा करना उचित नहीं है, विवेक से अथवा सकल प्रतिरोध करे तब सत्र का निर्णय करने के लिये भगवान् स्वयं पधारे जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।**
तस्मिन्ययौ परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयचरणौ चलयन्सहश्रीः ॥३७॥

श्लोकार्थ--भगवान् कमलनाभ जिनके प्यारे है वे इस कृत्य को जानकर उस ही समय लक्ष्मो जी के साथ श्री चरणों से चलकर वहां आ गये जिन चरणों को परमहंस और महामुनि भी ढूंढ रहे हैं ॥३७।

सुबोधिनी—एवं तदैवेति । **एवं** सति **तदैव भगवान् विबुध्य तस्मिन्** स्थाने **ययाविति** संबंधः । **तदैवेति** न ज्ञापनापेक्षा । तत्र हेतुः-**भगवानिति** । तर्हि पूर्वमेव कथं न प्रतिकारं कृतवानित्याशङ्क्याऽऽह-**अरविन्दनाभ इति** । सृष्टिजनकोऽयम्, यतः कमलनाभः । अतः पूर्वं न कृतवानित्यर्थः । तत्रैवं संदेहः- किं भगवता मुनीनामपराधो बुद्धः, अहोस्वित्सेवकयोरिति; उभयत्र युक्तीनां संभवात् । तत्र निर्द्धारार्थमाह-**स्वानां विबुध्य सदतिक्रममिति** । स्वसेवकानामेवाऽपराधः, यतः सतामतिक्रमः कृत इति । अनेन प्रथमापराधस्तयोरिति सूचितम् । लोकेऽपि यः प्रथममपराध्यति स दण्ड्यः । ननु तेषामेव कथं नापराधः ? यदपृष्टैव प्रविष्टा इति । तत्राऽऽह-**आर्यहृद्य इति** । आर्याः सन्मार्गवर्तिनो मर्यादायां श्रेष्ठाः, ते हृद्या यस्य । अतो भगवदन्तःकरणे ते रोचन्त इति तेषामागमनं नाऽपराधः आर्याणां हृद्यो वा । अतोऽप्यागमनं तेषामुचितमेव । **तस्मिन्** स्थाने **ययौ**, उभयोः कृतिसमर्थनार्थम् । यत् सेवकाभ्यां निवारितास्ते पुनरन्तः प्रवेशयितुं न युक्ता इति स्वयमेव तत्र गतः, न त्वाकारितेस्त । न वा पश्चात्ते समानीताः, सत्कृता वा । तेषामपि चरणारविन्ददर्शनाकाङ्क्षा वर्तत इति चरणावेव चालयंस्तत्र गत. । एवं सत्युभयेषां खेदो भवेत् । सेवकानामुचित एव खेदः; मुनीनामपि, **परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयौ** तौ चरणाविति । परमहंसाश्च ते महामुनयश्च । परमहंसा इत्यनेन धर्मनिष्कर्ष उक्तः, **महामुनीनामिति** ज्ञानोत्कर्षः । उभयोत्कृष्टा विशिष्टस्यैव भगवतश्चरणान्वेषिणो भवन्ति, काण्डद्वयार्थस्य सिद्धत्वात्, भक्तिरेवाशिष्यत इति । **चलयन्निति** चालयन्नित्यर्थः । **सहश्रीः** लक्ष्मीसहितः । तयाऽपि सहागमनं तथा, तस्याः स्थित्या ह्यनवसरत्वमिति । सा पुनर्बहिरप्यानीता, तेन सेवकानां खेदः । अनवसरबोधान्मुनीनाम् । × लक्ष्म्याः संतोषार्थमिति केचित् । कदाचित्

लक्ष्म्या गर्वे जाते, तन्निवृत्त्यर्थं लोकान्तरं परिकल्प्य, तत्र जयविजयौ द्वारपालकौ निवेश्य, स्वयं प्रविष्टस्ताभ्यां लक्ष्म्या निरोधं कारितवान्। ततः प्रभृति तस्या मनसि तयोरस्वरसोऽस्तीति। केचित् पुनर्जन्मत्रयलग्नकार्यार्थं शेषलक्ष्मीसुदर्शनान्यागतानीत्याहुः ॥३७॥

व्याख्या—जब यों हुग्रा तब उसको जानकर उस समय ही उस स्थान पर पधारे, (तदेव) उस समय ही कहने का भाव यह है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं उनको जानकारी देने की ग्रावश्यकता नहीं थी, यदि भगवान् सर्वज्ञ है तो पहले ही क्यों नहीं उपाय किया ? जिसके उत्तर में कहते है कमल नाभ होने से सृष्टि पैदा करने वाले ग्राप हैं, ग्रतः पहले नहीं किया यों ग्रर्थ (तात्पर्य) है इस विषय में यह संदेह होता है कि, भगवान् ने मुनिग्रों का भी ग्रपराध (दोष समझा कि, केवल सेवकों को ही दोषी जाना, दोनों के दोषी होने में युक्तियाँ मिल सकती हैं इस पर निर्णय करते हैं कि 'स्वानां विबुध्य सदतिक्रमं' ग्रपने सेवकों ने सन्तों का ग्रपमान किया इसलिये वे ग्रपराधी हैं, क्योंकि सन्तो का जो ग्रपमान किया है वह पहला ग्रपराध इन्होंने किया है। लोक में भी जो पहले ग्रपराध करता है वह दोषी माना जाता है ग्रौर वह ही दण्ड के योग्य होता है, जो बिना ग्राज्ञा लिये ही घुस गये वे, दोषी क्यों नहीं ? इसका उत्तर देते हैं कि 'ग्रार्यहृद्यः' भगवान् को जो सन्मार्ग पर चलने वाले हैं वे प्रिय है, ग्रथवा सन्मार्गियों को भगवान् प्यारे हैं, ग्रतः वे बिना पूछे चले ग्राये इसमें दोष नहीं, इन प्यारों का ग्राना उचित ही था, दोनों की कृति का समर्थन करने के लिये वहा ग्राप स्वयं भगवान् पधारे, ग्राप स्वयं इसलिये पधारे कि मुनिग्रों को मेरे सेवकों ने भीतर ग्राने से रोका है ग्रतः उनको भीतर प्रवेश कराना योग्य नहीं है उनको दर्शन की इच्छा है ग्रौर वे दर्शन करने योग्य भी है, इसलिये उनको दर्शनार्थ भीतर न बुलाकर ग्राप स्वयं भगवान् लक्ष्मी जी सहित चरणों से चलकर उस स्थान पर ग्रा गये, कारण कि उनको भगवच्चरणों के दर्शन की उत्कण्ठा थी। प्रभु चरणों से चलकर पधारे जिससे ग्रापको श्रम हुग्रा यह देख दोनों को खेद हुग्रा होगा, इस पर कहते हैं कि सेवकों को तो खेद होना उचित ही है किन्तु मुनिग्रों को भी खेद होना योग्य है। कारण कि परमहस तथा महामुनि, दोनों दर्शन के लिये चरणों की ढूँढ रहे हैं, परमहस पद मे धर्म का निष्कर्ष बताया ग्रौर महामुनि पद से ज्ञान का उत्कर्ष जनाया है, दोनों में जो उत्कर्ष हो वे भगवान् के चरणों को ढूँढने वाले होते हैं। इससे कर्म ग्रौर ज्ञान दोनों काण्डों के ग्रर्थ की सिद्धि हो जाती है यों बताया है शेष भक्ति ही रहती है। लक्ष्मी जी को प्रभु ने साथ में लिया जिसका भाव यह था कि मुनियों को बताना था कि जिस समय ग्राप दर्शनार्थ भीतर ग्रा रहे थे वह दर्शन का समय नहीं था फिर भगवान् श्री (लक्ष्मी जी को साथ में बाहर ले ग्राये, जिससे सेवकों को दुःख हुग्रा मुनिग्रों को भी यह मालूम हो गया कि हम दर्शन के समय न होने पर दर्शन करना चाहते थे यह हमारा दोष (भूल) था जिससे उनको भी दुःख हुग्रा।

मतान्तर बताते है--कितने ही कहते है कि (१)-लक्ष्मी जी को सन्तोष हो इसलिये उनको साथ में ले पधारे (२)-किसी समय लक्ष्मीजी को गर्व हुआ उस गर्व को मिटाने के लिये भगवान् ने दूसरा लोक (वैकुण्ठ लोक) रचकर वहाँ जय और विजय को द्वारपाल बनाकर आप उसमें प्रवेश-कर (जाके) बिराजे। द्वारपालों द्वारा लक्ष्मीजी को भीतर प्रवेश करने नहीं दिया, उसी दिन से लक्ष्मीजी के मन में उन (जय विजय) के लिये द्वेष रहा हुआ है, और फिर कोई कहते हैं कि इनका, तीन जन्मों से सम्बन्ध कार्य करने के लिये शेष, लक्ष्मी और सुदर्शन भी आये इसमें दिखाये गए दो मत श्रीधर जी के नहीं है कोई दूसरों के हैं। ॥३७॥

आभास—समगतं भगवन्तं वर्णयति—तं त्वागतमित्यादिपञ्चभिः। पूर्वं वैकुण्ठ-वर्णनायां भगवान्न वर्णित इति पञ्चविद्याप्रवर्तकत्वेनाऽत्र वर्णितः।

आभासार्थ--इस समय पधारे हुए भगवान् का वर्णन 'तत्वागतं' श्लोक से लेकर पाँच श्लोकों में करते हैं कारण कि पहले जब वैकुण्ठ का वर्णन किया तब भगवान् का वर्णन नहीं किया था। इसलिए (भगवान्) पाँच विद्याओं की प्रवृत्ति कराने वाले होने से यहाँ पाँच प्रकार से पाँच श्लोकों में वर्णन किया है--

कारिका—**समागमक्रियायुक्तम्, समागमनहेतुकम्। समागत्य स्थितं चाऽपि, दृष्टम्, नतमिति क्रमः॥१॥**

कारिकार्थ—पधारने की जैसी क्रिया थी, इसका वर्णन ३८ वें श्लोक में पधारने का प्रायोजन ३९ वें पधारकर जिस प्रकार स्थित हुए उसका ४० वें तथा दर्शन दिये उसका वर्णन ४१ वें और फिर नमन का वर्णन ४२वें श्लोक में है—

आभास—तत्र समागच्छन्तं वर्णयति

आभासार्थ—निम्न श्लोक में पधारते हुऐ भगवान् का वर्णन करते हैं--

**श्लोक—तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भिस्तेऽचक्षताऽक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोलच्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम्॥३८॥**

श्लोकार्थ—मुनिओं ने अपनी समाधि के विषय प्रभु को चरणारविन्दों से शीघ्र आते हुए अपने नेत्रों के पास पहुंचा हुआ देखा उनके साथ पार्षद गण भी छत्रचवरादि लेकर चल रहे हैं, वे पार्षद प्रभु के दोनों और राजहंस के पंखों के समान दो श्वेत चवंर डुला रहे थे, उन चँवरों की शीतल वायु से प्रभु के श्वेत छत्र में लगी हुई

मोतियों की झालर हिलती हुई यों शोभित हो रही थी वा दिखाई देती थी कि मानो चन्द्रमा की किरणों से अमृतमय छोटे छोटे से कण आकर सबको शीतल कर रहे हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—तं स्वागतमिति । तं भगवन्तम् सेवकवन्न भवतीति तुशब्दः । आगतमिति दृष्टि पर्यन्तं शीघ्रमेव समागतम् । स्वपुम्भिः स्वसेवकैः प्रतिहृतमग्रे स्थापितं गमनौपयिकं पादुकादि यस्य । तयोश्चरणपतितत्वात् ते मुनय एवाऽचक्षत । तैः पूर्वमपि तथैव हृदये दृश्यते, तथापीदानीमक्षविषयमचक्षत । स हि स्वेच्छया अचक्षुर्विषयोऽपि चक्षुर्विषयो जातः । तेषां प्रत्यभिज्ञामाह-स्वसमाधिभाग्यमिति । स्वस्य समाधिं भजत इति, समाधेर्वा भाग्यम् । कदाचित्समाधौ एवंभूतो भगवानाविर्भवति, तदा समाधेर्भाग्यं भवतीति । एवं समाधावपि दुर्लभ इदानीं चक्षुर्विषयो जात इति तेषां भाग्यम् । समागमश्रमाभावाय छत्रेण चामराभ्यां च सहितं वर्णयति । हंसस्येवं श्रीर्ययोः । उभावपि श्वेतौ चामरौ रत्नदण्डौ अग्रे नम्रौ नम्रमुच्छ्राविव भासेते । तयोर्व्यजनयोर्यः शिवो वायुः, तेन लोलच्छुभ्रं यदातपत्रं छत्रम्, स एव शशी अमृतस्रावी चन्द्रः, तस्य केसरा अमृतबिन्दुयुक्तकिरणा इव परितो बद्धा मुक्तामालाः । तद्गता मुक्ता एव वायुना लोलाः शीकराम्बुप्राया भवन्ति । शीकरा अल्पकणाः । वायुना भगवन्तमल्पं स्पृशन्त्यतः शीकराम्बुत्वम् । अत्राम्बुपदं शैत्यसूचनार्थम् । सर्वत्रैव शीकरा बहुजलप्राया जाता इति वाऽम्बुपदम् । केसरपदेन सारभ्यं लक्षितम् । मान्द्यशैत्ये स्पष्टे । शशित्वात् तापहहारित्वं सिद्धम् । अम्बुत्वात्तृषाऽपि । आवपत्रत्वादेव छाया । हंसत्वाल्लीलाजनकत्वम् । कल्याणो वायुरित्युत्कृष्टसर्वगुणो वायुरत्र निरूपितः अत एव व्यजनयोः संबन्धी उक्तः, अन्यथा महाभूतो वायुश्चालनेनाऽभिव्यक्तो भवेत् । स च कालादिधर्मसहित इति न निसर्गतः शीतलः ॥३८॥

व्याख्या—उन्होंने (मुनियों ने) भगवान् के कैसे दर्शन किये ? दृष्टिगत शीघ्र ही पधार आये; किन्तु सेवक की तरह नहीं स्वामी के समान इसलिए 'तु' शब्द दिया है इनको यह भी दृष्टि गोचर हुआ कि, भगवत्सेवकों ने पधारने के समय जिन पादुकादि सामग्रियों की आवश्यकता थी वे सब आगे धर दी थी और मुनियों ने उन देवों को चरणों पर पड़ा हुआ भी देखा, उन्होंने (मुनियों ने) पहले भी ऐसे ही दर्शन किए थे किन्तु हृदय में किये थे नेत्रों, से प्रत्यक्ष नहीं किए थे अब साक्षात् (प्रत्यक्ष) नेत्रों से दर्शन किये, यद्यपि भगवान् के इन नेत्रों से दर्शन नहीं हो सकते हैं परन्तु जब उनकी अपनी इच्छा दर्शन देने की होती है तो इन नेत्रों को भी दर्शन दे देते हैं कारण कि स्वतन्त्र प्रभु हैं, उन (प्रभु) की पहचान 'स्वसमाधि भाग्यं' पद से देते हैं यह प्रभु समाधि में भी कदाचित् प्रकट होते हैं, जब प्रकट होते हैं तब समाधि का भाग्य समझा जाता है इससे यह कहा है कि जिनके

समाधि में भी दर्शन दुर्लभ हैं वे अब नेत्रों से कृपाकर दर्शन दे रहे हैं ऐसे उनके (मुनि आदि के) भाग्य उदय हुए।

प्रभु को पधारने में श्रम नहीं हुआ इसलिये आप छत्र चंवरादि के साथ पादुकाओं से पधारे हैं जिनकी हंस जैसी (श्वेत) शोभा है ऐसे दो चँवरों में हुए रत्नदंडो से हंस के पूँच्छ के समान शोभित दोनों तरफ झूल रहे थे। जिनकी सुखद वायु श्वेत छत्र को झुला रही थी, जो चन्द्र के समान छत्र अमृत वर्षा रहा था, क्योंकि अमृत विन्दु के समान किरणों वाली मुक्ताओं (मोतियों) की झालर बन्धी हुई थी, वे मोती ही वायु के चलने से जल की बिन्दुओं के समान दिखते थे, 'शीकराः' पद से यह सूचित किया है कि वे (मोती) नन्हीं-नन्हीं (स्वल्प) बिन्दु के समान वायु से चलित हो भगवान् का थोडा सा स्पर्श कर रहे थे। अतः 'अम्बु' पद से शीतलता का सूचन हुआ है अथवा सर्वत्र हो शीकर बहुत जल वाले हो गये, इसलिये 'अम्बु' पद दिया है 'केसर' पद से सुगन्धि का सूचन किया है, मन्दत्व और शीतलता तो स्पष्ट है ही, 'शशित्व' से तपत बुझाना सिद्ध ही है, अम्बुत्व कहने से तृषा मिटाने को प्रकट किया है। छत्र था इसलिये छाया भी थी, हंसत्व कहने से लीला कर्तृत्व (करना) कहा है कल्याण रूप वायु कहने से बताया है कि यह वायु सकल वायुओं से उत्तम है इसलिये यह वायु चंवरों का सम्बन्धी है यदि यों न होता तो महाभूत वायु अपनी चाल से ही प्रकट हो जावे कारण कि उस वायु में कालादि धर्म होने से समय समय पर बदलता रहता है यह कल्याणी वायू स्वभाव से शीतल नहीं रहता है यह कल्याण वायु स्वभाव से शीतल है अतः आनन्दप्रद है इत्यादि हेतुओं से प्रभु को पधारने में परिश्रम नहीं हुआ ॥३८॥

आभास—एवमागच्छन्तं वर्णयित्वा तस्याऽऽगमनहेतुरूपं वर्णयति—

आभासार्थ—यों पधारते हुए भगवान् का वर्णन कर अब निम्न श्लोक में आगमन के हेतु के रूप का वर्णन करते हैं—

श्लोक—कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्वश्चूडामणिं सुभगयन्तमिवाऽऽत्मधिष्ण्यम् ३९

श्लोकार्थ—सर्व के ऊपर कृपा करने के लिए सुन्दर मुखवाले, वांच्छनीय कान्ति वाले, स्नेह रूप देखने की कला से हृदय में प्रविष्ट होने वाले श्याम एवं विशाल वक्ष स्थल पर शोभित लक्ष्मी से, स्वर्गादि के चूड़ामणि (शिरोमणि) रूप अपने स्थान (वैकुण्ठ) को सौभाग्यशाली कर रहे थे ॥३९॥

सुबोधिनी— कृत्स्नप्रसादसुमुखमिति । भगवतो वैकुण्ठे स्थितिः, वैकुण्ठनिर्माणम्, विवादस्थाने समागमनं च सर्वेषामुपकारार्थं । ब्रह्माण्डे यदि वैकुण्ठस्थानं न भवेत् तदा कुत्र गत्वा ब्रह्मादयः कार्यं निवेदयेयुः; यदि वा तत्र भगवान् न तिष्ठेत्, तदा निवेदिते कार्ये कथमवतरेत्; यदि वा तत्र भगवान् नागच्छेत्, तदा कथं सर्वसमाधानं भवेदिति । अतः संपूर्णा एव ब्रह्माण्डे ये वर्तन्ते, तेषां प्रसादार्थं सुमुखम् । अनेन भगवदागमनं कस्याऽपि नाऽपकारि, मुनीनां जयविजययोश्च । अङ्गमित्यस्य सर्वाणि विशेषणानि । स्पृहणीयधाम । स्पृहणीयं धाम तेजो यस्य । दीपादिकान्तिः सर्वेषां न स्पृहणीया, नाऽपि सर्वदा; इदं त्वानन्दरूपमिति स्पृहणीयत्वम् । धामपदं कान्त्यैवाऽऽनन्दजनकमिति । अनेन पर्यवसानविचाराभावेऽपि सर्वेषां प्रसादहेतुर्भवतीत्युक्तम् । किञ्च, स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तमिति । कालान्तर फलहानं दूरे तिष्ठतु, इदानीमेव स्नेहपूर्वकं यदवलोकनं करोति, तस्याऽवलोकनस्यैकदेशेनाऽपि भावितेन भगवान् हृदये निविशति । कलया सह वा हृदि सम्यक् स्पृशन्तम् । अनेन सर्वेषां हृदये तापापनोदो ज्ञानजननं च सूचितम् । एवं विशेषणत्रयेण कार्यतो बहिरन्तश्च सर्वसुखदायि भगवदङ्गमित्युक्तम् । एवमङ्गमात्रस्यैव गुणानुक्त्वा आभरणानामुपयोगमाह-श्यामे पृथाविति । श्यामवर्णे स्थूले वक्षःस्थले; कषपाषाणे सुवर्णरेखेव, श्रीवत्से या लक्ष्मीस्तया कृत्वा स्वश्रूडामणि वैकुण्ठं सुभगयन्तं सौभाग्ययुक्तं कुर्वन्तम् । आत्मधिष्ण्यं स्वनिवासस्थानम् । भगवान् यत् श्रीवत्सलक्षणं स्वस्याऽसाधारणं रूपं गृहीत्वा तिष्ठति, तद्वैकुण्ठशोभार्थम्; अन्यथा तादृशं रूपं किमर्थं गृह्णीयात् ? सर्वस्याऽपि जगतः शोभा स्वर्वः, तस्यापि मुकुटमणिर्वैकुण्ठः, तस्याऽपि शोभा वक्षःस्थस्थितलक्ष्म्या । अनेन लोकवत् स्थानादिसौन्दर्येण भगवत्सौन्दर्यं न, किन्तु भगवत एव सर्वं सुन्दरं भवतीति निरूप्यते । वैकुण्ठस्य शोभां कुतो जनयतीत्याकाङ्क्षायामाह—आत्मधिष्ण्यमिति । इवेत्यनेन नैतावदेव प्रयोजनम्, किन्त्वन्यदप्यस्तीति सूचितम् । श्रिया बिना न कापि शोभा । सा च चञ्चलेति तस्या रमणार्थं श्यामं शृङ्गाररूपम्, स्थूलमालिङ्गनयोग्यम्; तस्याः स्वानन्दत्वादुरःस्थलमासनं कृतम् । हृदये हि सर्वस्य सुखम्, सर्वमेव भगवद्धृदये वर्णत इति सर्वस्याऽपि सुखमपि जनयति । इदमपि वचनमात्रम्, वस्तुतस्तु ब्राह्माण्डमध्ये आनन्दोऽभिव्यक्तिस्तिष्ठति भगवद्रूपः, तेन सर्वं सुखितमिति । एवं श्रीवत्सस्य प्रयोजनमुक्तम् ॥३९॥

व्याख्या—भगवान् का वैकुण्ठ में विराजना, वैकुण्ठ बनाना और विवाद के स्थान पर पधारना आदि कार्य सबके हित के लिए ही हैं यदि ब्रह्माण्ड में वैकुण्ठ धाम् न होवे तो ब्रह्मादिक कहां जाकर अपने कार्य पूर्ण करने के लिये प्रार्थना करें ? अथवा यदि वहां भगवान् नहीं विराजते हों तो प्रार्थना होने पर भगवान् कैसे प्रकटे ? अथवा यदि भगवान् स्वयं वहाँ न पधारें तो सबका

समाधान कैसे हो ? अतः ब्रह्माण्ड में जो सब हैं उन पर कृपा करने के लिए आपने सुन्दर मुखाकृति स्वरूप धारण किया है । इससे भगवान् का पधारना मुनियों वा जय विजय में से किसी के लिए हानिकारक नहीं है । ४२ वें श्लोक में आने वाले 'अङ्ग' पद के ये सब विशेषण हैं 'स्पृहणीयधाम' जिस (प्रभु) का तेज चाहने योग्य है दीपादि के तेज को सब नहीं चाहते हैं और न सर्वदा चाहते हैं क्योंकि उस तेज से आनन्द प्राप्ति नहीं होती है परन्तु इन प्रभु के तेज से आनन्द की प्राप्ति होती है कारण कि 'आनन्द रूप' हैं 'धाम' पद से यह सूचित किया है कि कान्ति से ही आनन्द उत्पन्न करने वाले हैं इससे यह प्रकट किया है कि परिणाम के विचार किये बिना ही (भी) सबके लिये कृपा के कारण बने हैं किञ्च 'स्नेहावलोक कलया हृदि संस्पृशन्तम्' पद से बताया है कि आप दूसरे समय में (अर्थात् अब दर्शन देने के समय में न देकर (बाद में) फलदान करेंगे यह बात नहीं है, किन्तु अब ही स्नेहपूर्वक जो अवलोकन आप कर रहे हैं उससे उस अवलोकन के एक भाग के भी चिन्तनमात्र करने से प्रभु हृदय में पधार जाते हैं, अथवा कला के साथ हृदय को स्पर्श कर रहे हैं जिससे सर्व के हृदय के ताप दूर करते हैं एवं उसमें ज्ञान उत्पन्न करते हैं यह सूचित किया है, इसी तरह उपर्युक्त तीन विशेषणों से कार्य द्वारा बाहर तथा भीतर सबको सुख देने वाले आपके श्री अङ्ग हैं यह सूचित किया है । इसी तरह अङ्गमात्र के ही गुणों को कहकर आभूषणों के उपयोग का वर्णन करते हैं ।

'श्यामे पृथावुरसि' श्याम वर्ण वाले स्थूल वक्षस्थल पर, जैसे कसोटी पर सुवर्ण की रेखा उसी तरह श्री वत्स पर विराजमान लक्ष्मी से स्वर्गों के शिरोभूषण वैकुण्ठ को सौभाग्य शाली बनाते, वह 'आत्मधिष्ण्य' वैकुण्ठ अपने रहने का स्थान है, भगवान् जो श्री वत्स चिन्ह वाला अपना अपना असाधारण रूप ग्रहण कर वैकुण्ठ में विराजते हैं वह वैकुण्ठ की शोभा के लिये ही है अन्यथा (नहीं तो) ऐसा रूप क्यों धारण करे ? समस्त जगत् की शोभा स्वर्ग है उसका मुकुटमणि वैकुण्ठ है । उस (वैकुण्ठ) की शोभा वक्षः स्थल में स्थित लक्ष्मी से है । इससे यह सूचित किया है कि जैसे स्थानादि की शोभा से लोक की (नगर की) शोभा होती है वैसे ही भगवान् की सुन्दरता वैकुण्ठादि स्थानों से नहीं है किन्तु भगवान् की सुन्दरता से ही सर्व सुन्दर हुवे हैं, यों निरूपण किया गया है । वैकुण्ठ की शोभा कहाँ से वा कैसी हुई (होती) है ? तो कहते हैं—'आत्मधिष्ण्यम्' अपने स्थान (निवास स्थान) से शोभा हुई है । 'इव' पद से कहते है कि इतना ही प्रयोजन नहीं है किन्तु दूसरा भी है । लक्ष्मी के बिना कुछ भी शोभा नहीं है । वह तो चञ्चल है, इसलिए उसके रमण के लिये श्याम रूप धारण किया है जो वर्ण शृङ्गार रूप है, स्थूल वक्षः स्थल आलिङ्गन योग्य है, उस (लक्ष्मी) के आनन्दार्थ वह स्थान (वक्ष स्थल) रहने के लिये दे दिया है । हृदय पर ही सर्व को सुख प्राप्त होता है क्योंकि सब कुछ भगवान् के हृदय में ही रहता है इसलिये सबको सब तरह उससे सुख होता है यह भी केवल कहने के लिये है । वस्तुतः तो ब्रह्माण्ड में जो आनन्द प्रकट है वह ही भगवद्रूप है उससे सब सुखी हैं इसी तरह श्री वत्स का प्रयोजन बताया है ॥३९॥

आभास—पीताम्बरादीनां प्रयोजनमाह—

आभासार्थ—पीताम्बरादि वस्त्रों का प्रयोजन कहते हैं।

श्लोक—पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या काञ्च्याऽलिभिर्विरुतया वनमालया च।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—प्रभु के पीताम्बर से सुशोभित, विशाल नितम्बों वाली कटि पर चमकती हुई करधनी लटक रही थी, भ्रमरों से गुंजित वनमाला गले में धरी थी, वैसे ही कलाईयां सुन्दर वलयों (कंगण वा बाजूबन्द) से सुशोभित थीं, अथवा सुन्दर कलाईयों में वलय पहने हुए थे। ऐसे प्रभु अपना एक हस्तकमल गरुडजी के कन्धों पर धर दूसरे हस्त से कमल को फिराते हुवे दर्शन दे रहे थे ॥४०॥

सुबोधिनी— पीतांशुक इति। पीतमंशुकं यस्य, एतादृशे स्थूलनितम्बयुक्ते कटितटे, पीताम्बरोपरि विस्फुरन्त्या काञ्च्या, भ्रमरैर्विशेषेण विरुतया वनमालया च आत्मधिष्ण्यं सुभगयन्तमिति संबन्धः। आत्मनः स्वस्य पुरुषोत्तमस्य धिष्ण्यं जगद्रूपं वा। पीताम्बरं वेदः, तद्भूमौ प्रसृतं यज्ञादिद्वारा हृदय विशुद्धि संपाद्य, आत्मनामात्मनो वा धिष्ण्यत्वं, धिष्ण्यमन्तःकरणादिकं वा शोधयति। नितम्बा हिमालयादिसमीपभूमयः, ते पृथवः सर्वफलजनकत्वात् कर्मभूमिरूपाः। तद्यदि भगवानाधिदैविके रूपे पीताम्बरं स्थापयति तदैवाऽत्र वेदः प्रचरति, तदैव च भगवतोऽधिष्ठानं सर्वेषां हृदयं भवति। तत्र विस्फुरन्ती या काञ्ची काञ्चननिर्मितं दाम उपनिषदर्थरूपम्, तया सुतरामेव महतां हृदयमधिष्ठानं भवति। विस्फुरन्त्येति योगादिसहितया। यद्येतादृशी ब्रह्मविद्या न भवेत्, तदा कुत्राऽपि भगवत्स्थितिर्न भवेदिति। वनमालया च भगवद्गुणकीर्तनरूपया। अलयो भ्रमः। मृत्युरहिताः षड्गुणयुक्ता भगवद्भक्तास्तेषां गुणानां वक्तारः, सत्कीर्तितभगवद्गुणव्यतिरेकेणाऽपि भगवान् न हृदये तिष्ठति। अतो मूले पीताम्बरकाञ्चीदामवनमालानां धारणे भूमौ मार्गत्रयं प्रसिद्धं तिष्ठतीत्यर्थः। चकाराद्भगवत्कृपया च उपवीतादिरूपया। एवं त्रयाणां विनियोगमुक्त्वा वलयादित्रयस्य विनियोगमाह—वल्गुप्रकोष्ठे वलयो यस्य। चत्वारो भगवद्धस्ताश्चतुःपुरुषार्थरूपाः, तत्र तत्र क्रियास्तत्तत्साधका हस्तरूपाः, तेषां शोभा भगवतश्चतुर्मूर्तेर्ज्ञाने भवति। वलयाः तज्ज्ञानात्मकाः, ते चेत्तत्र न प्रतिष्ठिताः, तदा न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येदिति पुरुषार्थसिध्द्यर्थं वलयोपयोगः। गरुडो हि कालात्मा, स भगवत्पराक्रमेण प्रतिरुद्धः, अन्यथा भक्तानपि भक्षयेत्। विशेषेण नता या भगवन्माया, तस्याः पुत्रो गरुडः कालः। सैव श्रद्धेति वैष्णवतन्त्रे। तस्यांऽसे स्कन्धे, प्राणिनाम दृष्टे प्रवाहे वा, विन्यस्तो हस्तो येन। इतरेणेति वचनात् भक्तानामर्थे एको व्यापारः, लोकानां भ्राम-

णार्थे चाऽपर इति। तदाह-इतरेण धुनानमब्ज-मिति। इतरेणेति विशेषतो भगवत्संबन्धरहिताने‌व मोहयतीति ज्ञापितम्। अब्जं जगदात्मकं कमलम्, भगवच्छब्दार्थं वा लीलाकमलमितरेषु कम्पयति ॥४०॥

व्याख्या—पीताम्बर से सुशोभित विशाल नितम्बों वाली कटि पर चमकती हुई करधनी से और भ्रमर गुञ्जित वनमाला से अपने स्थान (वैकुण्ठ अथवा जगत्) को सुशोभित कर रहे हैं।

यह पीताम्बर वेदरूप पृथ्वी पर फैला हुआ यज्ञादि द्वारा हृदयादि की शुद्धि कर आत्माओं के स्थान (आसन) रूप अन्तःकरण को सुशोभित करता है। 'नतम्बा' पद से हिमालयादि के समीप जो विस्तृत रूप में भूमियाँ हैं वे सर्व प्रकार के फल जनक होने से कर्मभूमि रूप हैं अतः भगवान् के नितम्बवत् है, इससे यदि भगवान् आधिदैविक रूप में पीताम्बर को धारण करते हैं तब ही यहाँ (भूमि पर) वेद का प्रचार होता है, तब ही भगवान् का हृदय सर्व का अधिष्ठान होता है, उस पर चमकती हुई सुवर्ण की बनी हुई करधनी (कन्दोरा) उपनिषदों का अर्थ रूप है उससे सुतरां ही महत्पुरुषों का हृदय भगवान् का अधिष्ठान हो जाता है 'तस्फुरन्त्या' चमकती हुई कहने का भाव है कि वह करधनी योगादि सहित ब्रह्मविद्या है, यदि वैसा न होवे तो कहीं भी भगवान् की स्थिति (विराजना) न हो सके 'वनमाला' जिसका तात्पर्य है कि भगवद्गुणों का कीर्तन ही वनमाला है 'अलयः' पद से यह सूचित किया है कि जिन्होंने काल को जीत लिया है ऐश्वर्यादि ६ गुण जिनमें विद्यमान (मौजूद) हैं वैसे तो भगवद्भक्त इन गुणों का गान कर रहे हैं वे यहां भ्रमर माने गये हैं। यदि ऐसे भक्त भगवद्गुण गान न करें तो भगवान् हृदय में नहीं विराजते हैं, इससे ही अर्थात् पीताम्बर, करधनी तथा वनमाला इन तीनों को भगवान् ने धारण किया है तब पृथ्वी पर भगवत्प्राप्ति के तीन मार्ग प्रसिद्ध चल रहे हैं। 'च' से सूचित किया है कि विशेष भगवत्कृपा उपवीतरूपा है, इसी तरह तीनों का विनियोग बताकर वलयादि तीन आभरणों का विनियोग (भावार्थ) कहते हैं, भगवान् के चार हस्त चतुः पुरुषार्थरूप हैं। पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये जो क्रिया करनी पड़ती है उसके साधक (सिद्ध करने वाले) ये चार हाथ हैं, उनकी शोभा चतुर्मूर्ति भगवान् के ज्ञान होने पर समझी व देखी जाती है। उनकी कलाईयों में जो वलय है वे ज्ञानरूप हैं यदि ज्ञान रूप वलय वहाँ धारण न किये होते तो कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता अतः पुरुषार्थ सिद्धि के लिये ही वलयों का उपयोग (धारण) है।

गरुड़ कलात्मा है वह भगवान् के पराक्रम से रुका हुआ है नहीं तो भक्तों को भी खा जावे, कारण कि गरुड़, विनता नाम वाली जो भगवान् की माया है उसका पुत्र गरुड़ काल है, वह ही श्रद्धा है यों वैष्णव तंत्रों में कहा है, उस गरुड़ के कन्धे पर अथवा प्राणियों के अदृष्ट प्रवाह में, आपने एक हस्त धरा है जिससे वे रुके हुवे हैं 'इतरेण' इस वचन से यह सूचित किया है कि भक्तों के लिये एक व्यापार (कार्य) लोकों के भ्रमणार्थ, दूसरा कार्य, इसको कहते हैं 'इतरेण धुनानमब्जं' अन्य

हस्त से कमल फिरा रहे हैं, दूसरे हस्त कहने का आशय यह है कि भगवत्सम्बन्ध रहितों को मोह उत्पन्न कर रहे हैं, 'अब्जं' पद से जगत् रूप कमल अथवा अन्यों के ऊपर लीलारूप कमल फिरा रहे हैं ।।४०।।

आभास—कुण्डलादित्रयस्य विनियोगमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में कुण्डलादि तीन का विनियोग कहते हैं—

श्लोक—**विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्हगण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।**
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्यहारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ।।४१।।

श्लोकार्थ—बिजली की प्रभा (रोशनी) को भी तिरस्कृत करने वाले मकराकृति कुण्डलों से सुशोभित योग्य कपोल और उभरी हुई नासिका युक्त मुख वाले, शिर पर मणिमय मुकुट धारण करने वाले प्रभु की चारों भुजाओं के मध्य में महा मूल्यवान हार से और गले में कौस्तुभ मणि से शोभा अपूर्व हो रही थी ।।४१।।

सुबोधिनी—**विद्युत्क्षिपदिति** । विद्युतमपि क्षिपतो ये मकराकृते कुण्डले, तयोर्मण्डनमर्हति यद्गण्डस्थलम्, ऊर्ध्वा नासिका च; ताभ्यां युक्तं मुखं यस्य । मणियुक्तं किरीटं यस्येति च । शिरो द्विधा वर्णितम्, वृत्तरूपं कोशस्थानरूपं च । साङ्ख्ययोगौ कुण्डले, विद्युन्मृत्युः, कपोलद्वयं च प्रेमप्रपत्ती । साङ्ख्ययोगौ तयोरङ्गम्, वैतृष्ण्ये भगवत्स्मरणे चोपयुज्येते । तौ चेन्मृत्युनिवारकौ भवतः, तदेवाऽस्मिन् शास्त्रे उपयुक्तौ । मकरो हि जलग्राह. प्राकृतं शरीरादिकं ग्रसति, तथाऽभिमानं शरीरं च साङ्ख्ययोगौ ग्रसतः । ताभ्यां कृतमण्डनस्याऽप्राकृतरूपस्य योग्यं भवति गण्डस्थलम् । तादृश एव भक्तिप्रपत्ती उत्पद्येते । यतः सर्वदोषाभावो नासिका, सा चेदूर्ध्वा भवति, तदा भक्तिमार्गः शोभते । औपनिषदं ज्ञानं शिरः, तत् साध्यं पारमेष्ठ्यं वा । तदपि मणियुक्तकिरीटयुक्तम्, मणिस्तत्र भगवत्स्थाने गच्छन्तो भक्ताः । ते चेत्तत्र न गच्छेयुः, सत्यलोकस्य शोभैव न स्यात् । अतो मणिमत्किरीटं यन्मुकुटे स्थापयति, तेन भक्तास्तत्र प्रतिष्ठिता भवन्ति । हारस्य प्रयोजनमाह—**दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्यहारेणेति** । दोर्दण्डाश्चत्वारः, तेषां षण्डं समूहः । तस्य विवरे मध्ये हरता; हरतीति हरन्; मनोहरेण । त्रैलोक्यशोभां वा हरता, उपलक्षणे तृतीया । मुक्ताहारो मुक्ताः सर्वे हारा एवेति । ते हि स्वसंघातं हरन्ति, तेषां समूहो हारः । ते चाऽस्मिन्ब्रह्माण्डे परार्ध्याः । परं ब्रह्मण आयुः, तदर्ध्यं मूल्यं येषाम् । ब्रह्मण उत्पत्तिक्षणमारभ्य तत्समाप्तिपर्यन्तं ब्रह्माण्डान्तरे कृतपुण्यपुञ्जा ये, ते परार्ध्याः । **परार्ध्येति** पाठे अस्मिन्नेव ब्रह्माण्डे पूर्वोक्तन्यायेन परार्द्धमायुर्हरन्तीति परार्ध्याः । ते च ते हाराश्चेति । ते च भगवता महता प्रयत्नेन संरक्षिताः तेभ्यः परितो दोर्दण्डाः । अशक्यप्रतीकारदोषनिवृत्त्यर्थं पुनर्विवरे स्थापिताः । दोषो दण्डत्वम्, बाधकत्वेन

समागतानां प्रहरणार्थम्, न तु रक्षामात्रार्थत्वम् । एवं हारमुक्त्वा कौस्तुभविनियोगमाह-कन्धरा कण्ठः, कं शिरो धारयतीति; सुखधारकश्च । तद्भूतेन कौस्तुभेनाऽप्युपलक्षितः । कौ पृथिव्यां स्तोत्रेण भान्तीति ये भगवद्भक्ता मुक्तोश्चत्यस्य तत्त्वात्मकाः, तेषां समूहः कौस्तुभम् । ते चाऽऽनन्द-धारके योजिताः । कौस्तुभं चेद्भगवान्न स्थापयेत्, भक्तानां ब्रह्मानन्दो न स्यात् । चकारादन्यदपि कण्ठाभरणं लक्ष्यते, गोपिकादितत्त्वरूपम् । यथास्थितचकाराच्च वक्षस्थलेऽपि कौस्तुभस्य स्थितिर्बोध्यते । तदा गोपिकादीनामन्येषां वा भक्तानां जगत्प्रकाशकत्वं सिध्यति ॥४१॥

व्याख्या—बिजली को भी तिरस्कृत करने वाले जो मकराकृति वाले दो कुण्डल उनसे सुशोभित गण्डस्थल और उभरी हुई नासिका से युक्त है, मुखारविन्द जिनका, शिर पर जिनने मणियुक्त मुकुट धारण किया है इससे शिर के दो रूप वर्णन किये एक गोलाकार और दूसरा कोश का स्थान रूप, दो कुण्डल साङ्ख्य और योग विद्या के स्वरूप हैं, बिजली मृत्यु रूप योग तथा साङ्ख्य विद्या मृत्यु का तिरस्कार करती है । दो कपोल (गाल) प्रेम एवं प्रपत्ति (शरणागति) हैं साङ्ख्य और योग प्रेम और शरणागति के अङ्ग हैं, वे वैराग्य प्राप्ति के लिये तथा भगवत्स्मरणार्थ उपयोग में लिये जाते हैं, वे दो शास्त्र मृत्यु निवारक होते हैं तब ही इस (प्रेम और प्रपत्ति) शास्त्र में उपयोगी बनते हैं, जैसे जल जन्तु मकर (मगर) प्राकृत शरीर को ग्रस लेता है वैसे ही साङ्ख्य और योग शास्त्र मकर रूप होके अभिमान और शरीर को ग्रस लेते हैं उन दोनों से सुशोभित गण्डस्थल अप्राकृत रूप के योग्य होता है । ऐसे हो जाने पर ही प्रेम (भक्ति प्रपत्ति (शरणागति) पैदा होती है, क्योंकि सकल दोषों का अभाव रूप आपकी नासिका उभरी हुई हैं, जिससे भक्ति मार्ग की शोभा होती है । उपनिषदों का ज्ञान आपका शिर हैं अथवा ज्ञान से प्राप्य पारमेष्ठ्य, वह (शिर) भी मणियुक्त किरीट जिसके मुकुट में स्थापित करते हैं यों कहने से यह सूचित किया है कि ये मणि भक्त रूप हैं अतः भगवान् के स्थान पर जा रहे हैं यदि वे न जावें तो सत्य लोक की शोभा ही न होवे, भक्तों की सत्यलोक में स्थिति का कारण भगवान् का मणिमय मुकुट अपने मस्तक पर धारण करता है । हार का प्रयोजन कहते हैं 'दोर्दण्डषण्ड विवरे हरता परार्ध्यहारेणति' हस्त रूप डण्डे चार हैं उनके समूह के मध्य में मनोहर (मन को हरने वाले) अथवा तीनों लोकों को शोभा को हरने वाले हार हैं, 'हरता' तृतीया पहचान कराने वाला यह चिह्न है इसलिये दी है, 'मुक्ताः' पद से यह गूढाभिप्राय बताया है कि मुक्तजीव हार हैं, वे (मुक्त जीव) अपने संघात (पाञ्च भौतिक देह) का हरण करते हैं उन जीवों का समूह वह मुक्ताहार, वे मुक्त जीव इस ब्रह्माण्ड में परार्ध्य हैं ब्रह्मा की आयु जिनका मूल्य है, अर्थात् ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से लेकर समाप्ति पर्यन्त अन्य ब्रह्माण्ड में पुण्यपुञ्ज इकट्ठा करने वाले परार्ध्य हैं, 'परार्ध्य' पाठ हो तो जिसका अर्थ इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा की अर्द्ध आयु हरण कर लेते हैं । वैसे वे हार परार्ध्य हार कहे जाते हैं । इन हारों (मुक्त जीवों) की

रक्षा भगवान् महान् प्रयत्न से कर रहे हैं इसलिए इन के चारों तरफ हस्त रूप डंड रखे हैं जिनका उपाय न हो सके ऐसे दोषों को दूर करने के लिए हस्त रूप डंडो के मध्य में उनको रखा है, हस्तों को केवल रक्षार्थं डडे नहीं कहा है, किन्तु दुःख देने के लिए आने वालों के ऊपर प्रहार करने के कारण डडे कहे है। इसी तरह हरि का उपयोग कहकर कौस्तुभ का उपयोग कहते हैं 'कन्धरा' पद के दो तरह से अर्थ कर उनको कंठ कहा है, 'कं (शिरः) धारयति इति कन्धरा कण्ठ' शिर को धारण करने वालो वह कन्धरा अर्थात् कण्ठ 'कं (सुखं) धारयति इति 'कन्धरा कण्ठ' सुख (कौस्तुभ) को धारण करने से कन्धरा कण्ठ है। 'कौस्तुभ' के भावार्थ यह हैं पृथ्वी पर स्तुति से जो, भगवद्भक्त प्रका शत हो रहे हैं, और मुक्त जीव इसके ही तत्त्व रूप हैं, उनका समूह हो 'कौस्तुभ' मणि है, वे ही कण्ठ में धारण किये हैं यदि कोस्तुभ रूप इन भक्त जीवों को अपने कण्ठ में धारण न करें तो उनको ब्रह्मानन्द प्राप्ति न होवे 'च' से जाना जाता है कि कौस्तुभ के सिवाय अन्य भी आभूषण धारण किये हुवे हैं, जो आभूषण गोपिकादि भक्तों के तत्वरूप हैं, 'च' पद जहाँ श्लोक में आया है। जिससे यों बोध (ज्ञान) होता है कि कोस्तुभ वक्षस्थल पर भी धारण की हुई है तब ही गोपी आदि अन्य भक्त जगत् के प्रकाशक सिद्ध होते हैं ॥४१॥

आभास— एवमाभरणादीनां विनियोगमुक्त्वा अङ्गगतसौन्दर्यस्य माहात्म्यस्य च विनियोगमाह—

आभासार्थ—इस तरह आभरणों का उपयोग बताकर निम्न श्लोक में श्री अङ्ग के सौन्दर्य तथा माहात्म्य का वर्णन करते हैं—

**श्लोक-अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः स्वानाँ धिया विरचितं बहुससौष्ठवाढ्यम ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः ॥४२॥**

श्लोकार्थ—भगवान् के श्री अङ्ग बड़े ही सौन्दर्य वाले थे जिसे देख भक्तगण यों कहने लगे कि लक्ष्मी जी का सौन्दर्य इसके आगे फीका पड़ गया है जिससे उसका (लक्ष्मी का) सौन्दर्याभिमान जाता रहा हैं, ब्रह्माजी देवताओं को कहते हैं कि मेरे महादेवजी के और तुम लोगों के लिए, परम सुन्दरता से पूर्ण श्री विग्रह धारण करने वाले प्रभु का दर्शन कर मुनियों ने उन्हें शिरों से सानन्द नमस्कार किया तथा आपको अद्भुत सौन्दर्यवाली आकृति देख तृप्त नहीं हुवे ॥४२॥

सुबोधिनी—अत्रोपसृष्टमिति । इन्दिराया उत्स्मितं सौन्दर्यगर्वोऽत्रोपसृष्टम्, वत्स इव स्तनपानार्थे भगवत्सौन्दर्यलेशप्राप्त्यर्थं प्रस्थापितमित्यर्थः । **इतीति** समाप्तिसूचकम्, हस्तेन दर्शयति च । त्रैलोक्यसौन्दर्यं चाऽत्रोपसृष्टम्, चकरात् ब्रह्माण्डात् परभूतमपि । **स्वानां** भक्तानां निश्चयात्मिकया बुद्ध्या च यद्विशेषेण रचितं ध्यानादिना परिकल्पितम् । सौन्दर्यजनितगर्वश्चोपसृष्टः । सौन्दर्यमेवोपसृष्टम्, गर्वो वा; ततोऽप्युत्कर्षं प्राप्स्यतीति । ये पुनर्लक्ष्म्या भगवति गर्वं प्रतिपादयन्ति, ते लक्ष्म्या दोषमेव कथयन्तीत्युपेक्षणीयाः । शङ्कितमपि तदिति भक्तैः कथमेवं धिया क्रियेत । भगवत्सौन्दर्यप्राकट्यस्याऽयं विनियोगः स्पष्ट एवोक्तः । संस्थानविशेषस्य विनियोगमाह—**बहुसौष्ठवाढ्यमिति** । **सौष्ठवमवयवविन्यासप्रकारः** । तच्च सौष्ठवं ब्रह्मणा निर्मितकमलादिषु वर्तते । तद्यावत् ब्रह्मणा ज्ञायते तावत् सौष्ठवं तस्य । ततोऽप्यधिकं बहुसौष्ठवम्, तेन च तद्रूपमाढ्यम् । तादृशपि सौष्ठवं पूर्णमित्यर्थः । अनेन ब्रह्माण्डेऽस्मिन् ब्रह्मनिर्मितातिरिक्ता अपि भगवदीया बहवः पदार्था भवन्तीति सूचितम्, अन्यथा मूले तथा सौष्ठवं न प्रकाशितं स्यात् एतावद् दूरे सृष्टिपदार्थानामुपयोग इति नाऽधिकं वर्ण्यते । मूलत्वख्यापनाय माहात्म्यमाह—**मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गमिति** । मह्यमिति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी भगवत्स्वरूपस्य स्वफलत्वख्यापिका । राजसतामससात्त्विका-नामाधिदैविकादिभेदभिन्नानां सर्वेषामेव भजनीयमङ्गम् । भजनीयमिति वक्तव्ये **भजन्तमिति** सफलं भजनं निरूपयति, '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' इति वाक्यात् । **भजनीयमिति** पाठस्तु स्पष्टः । सर्वेषां भजनीयरूपप्राकट्येन सर्वे एवाऽनीश्वरवादा निरस्ताः, अन्यथा प्राप्तमहाफलानां कथं भजनीयः स्यात् ? मोक्षोपयोगिपदार्थाश्चैते न भवन्ति, अधिकारिणां कथं भजनीयः स्यात् ? सृष्टौ च कथनं विरुध्येत, नित्य च ब्रह्मादीनां भगवद्भजनम्; अतो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थमेव भगवत्प्राकट्यमिति सर्वेषां भगवद्भजनं सूचयति । तेन सनकादयो भगवन्तं दृष्ट्वा तथात्वं ज्ञातवन्त इति **निरिक्ष्य नेमुरित्युक्तम्** । सर्वे विशेषास्तेषां दृष्टौ स्फुरिता इति नमनं कृतवन्तः । नमने प्राप्तं दोषं वारयति—**नवितृप्तदृश इति** । न विशेषेण तृप्ता दृशो येषाम् । नमस्कारस्य दर्शनप्रतिबन्धकत्वात् बाह्यं तेषां न रस इति नमस्कारो ज्ञापयेत, तद्व्यावृत्त्यर्थं**मवितृप्तदृश** इत्युक्तम् । ननु तथापि साधनात्फलमुत्कृष्टमिति दर्शनं परित्यज्य कथं नेमुस्तत्राऽऽह **मुदेति** । सकृद्दर्शनेनैव पूर्ण आनन्दो गङ्गायां घट इव निमग्नः, अतो मुदैव नेमुः । मुदैव हि ते नामिताः, पूर्णानन्दाश्चरणयोः पतिता इत्यर्थः । तथा दृष्टिर्न तृप्तेति तेषां तुच्छत्वं निराकृतम् । **कैः** शिरोभिः । शिरसा नमस्कारो ब्रह्मविदां ब्रह्मत्वसूचकः ॥४२॥

व्याख्या—लक्ष्मीजी का सौन्दर्य गर्व यहाँ गलित हो गया है, अतः भगवान् की सुन्दरता का लेश प्राप्त करने के लिये वत्स की तरह प्रयत्नशील हो रही है, 'इति' पद समाप्ति की सूचना करता है और हस्त से दिखाता है, कि त्रैलोक्य का सौन्दर्य यहां तिरोहित हो गया है। 'च' शब्द से विशेष कहते हैं कि ब्रह्माण्ड से परे भी जो सौन्दर्य है वह भी फीका पड़ गया है, भक्तों की निश्चयात्मिक बुद्धि से जो विशेष प्रकार से रचा हुआ एवं

ध्यानादि से जिसकी कल्पना की गई है, एवं सुन्दरता से उत्पन्न गर्व जिसके अगाड़ी (आगे) त्यागा गया है, अथवा सौन्दर्य वा गर्व छोड़ दिया है, भगवान् का सौन्दर्य उसे भी उत्कर्ष को प्राप्त करेगा जो लोग कहते हैं कि लक्ष्मी भगवान् से गर्व करती है इसी तरह लक्ष्मी का दोष ही कहते हैं, वे तिरस्कार करने के योग्य है। यों कहना शङ्का युक्त है। वह भक्तजन बुद्धि से ऐसा कैसे करेंगे? भगवान् की सुन्दरता के प्राकट्य का यह विनियोग (उपयोग) स्पष्ट ही कहा है, 'बहु सौष्ठवाढ्यम्' पद से यह दिखाया है कि भगवान् के श्री विग्रह के प्रत्येक अङ्ग की रचना बहुत सुन्दर तरीके से हुई है, वह कारीगरी ब्रह्मा से निर्मित कमलादि में दीखती है, किन्तु वह कारीगरी भी जितनी ब्रह्मा जानता है, उतनी ही है, किन्तु प्रभु के श्री विग्रह में उससे भी बहुत अधिक कारीगरी है, इसमे वह रूप सर्वप्रकार से सुन्दर है। वह सौष्ठवं (सुन्दर रचना) पूर्ण है, इससे इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा के बनाये हुए पदार्थों से अतिरिक्त भी बहुत भगवदीय (भगवत्प्रकटित) पदार्थ हैं, यदि यों न होता तो भगवान् के मूल रूप में वैसी रचना का उत्तम प्रकार होता ही नहीं इतनी दूर तक सृष्टि के पदार्थों का उपयोग हुआ है, इसलिये अधिक वर्णन नहीं किया जाता है।

यह स्वरूप मूलरूप है यह समझाने के लिये इसका माहात्म्य कहते हैं 'मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्ग' इस वाक्य में (मह्यं) पद चतुर्थी में दिया है, किन्तु इसका अर्थ षष्ठि में करने का है। किन्तु (चतुर्थी) इसलिए कहो है कि यह भगवत्स्वरूप अपने लिए (हम लोगों के लिए) फलरूप से प्रसिद्ध हैं।

राजस तामस और सात्विक आधिदैविक आदि भेद के कारण जो भिन्न हैं उन सबों के लिऐ यह रूप भजनीय है, भजनीय के स्थान पर (भजन्तं) कहके यह सूचित किया है, कि भजन सफल है निष्फल नहीं हैं, 'ये यथामां प्रपद्यते इस गीता के श्लोकानुसार भजन सफल है। 'भजनीयं' यह पाठ तो स्पष्ट है. भगवान् ने सब के लिए भजनीय स्वरूप का प्राकट्य कर सर्व को दर्शन दिए इससे अनिश्वर वादी (भगवान् नही हैं यों कहने वाले) परास्त कर दिये (हरादिये) यदि यों न होता तो जिन को महाफल प्राप्त हो गया है, उनके लिए भी भजनीय कैसे कहा जाय ? ये मोक्षोपयोगि पदाथ नहीं हैं, तब अधिकार्यों को भजनीय कैसे हों ? फिर सृष्टि प्रकरण में यह कहना विरुद्ध गिना जावे, ब्रह्मादि भी नित्य भगवद्भजन करते हैं, अन्य मत अपूर्ण व असत् है यों सिद्ध करने के लिए ही भगवान् प्रकट हुवे हैं इससे सनकादि भगवान् के दर्शन कर यह ही भजनोय स्वरूप है यों जानते हुए उनको नमन करने लगे, प्रकाशित भगवान् के सकलगुण उनकी दृष्टि में होने लगे जिस कारण से नमन किया, नमन करने से जो दोष हुआ उसका निवारण करते हैं। न वितृप्तदृशः' जिनके नेत्र तृप्त नही हुए थे, तब नमन क्यों किया ? क्योंकि नमन दर्शन में प्रतिबन्ध डालने वाला है, बाहर दर्शन में उनको रस न होने से नमस्कार के भीतर प्रभु को पधरा के फल आनन्द पाया, नमस्कार तो

साधन है साधन से फल (दर्शन) उत्तम है उसको छोड़ नमन कैसे किया ? इस पर कहते हैं कि एक बार दर्शन से ही यों पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है जैसे गंगा में घट निमग्न हो जावे, अतः प्रेम से ही प्रणाम किया, अथवा भगवदानन्द ने ही उनको नमन करा दिया जिससे पूर्णानन्द हो चरणों में गिर पड़े उनकी दृष्टि तृप्त न हुई जिसका इससे तुच्छत्व निराकरण किया है, 'कै:' शिरोभि:' मस्तक से नमस्कार करना ब्रह्मविदों का ब्रह्मत्व सूचन करता है ॥४२॥

आभास—एवं कृते भगवद्धर्माः प्रविशन्तीति ज्ञापनार्थं तेषु भगवद्धर्माः प्रविष्टा इत्याह—

आभासार्थ—यों करने से भगवान् के गुण हृदय में प्रविष्ट होते हैं इसको जताने के लिए उनमें भगवद्धर्म प्रविष्ट हुवे-निम्न श्लोक में प्रकट करते हैं—

श्लोक-तस्याऽरविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गत स्वविवरेण चकार तेषां सक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥४३॥

श्लोकार्थ—यद्यपि सनकादि मुनि अक्षरोपासक होने से ब्रह्मानन्द में निमग्न थे तो भी भगवान् कमल नयन के पदारविन्द की केसर सहित तुलसी गन्ध के रसवाली वायु ने नासिका रन्ध्रों के द्वारा उनके अन्तःकरण में जब प्रवेश किया तब उनके चित्त और देह में खलबली मचा दी जिससे वे अपने को संभाल न सके ॥४३॥

सुबोधनी—तस्याऽरविन्दनयनस्येति । तेषां चित्ततन्वोः भगवच्चरणसंबन्धिवायुः संक्षोभं कृतवान्, तच्चाऽयुक्तम्, यतस्ते अक्षरोपासकाः । आत्मरूपब्रह्मोपासकास्ते देहेन्द्रियान्तःकरणधर्माध्यासरहिताः । अतस्तेषां न क्वापि क्षोभः भक्तिरस्तु नास्त्येव । तथापि भगवत्सान्निध्यात् भगवदीया धर्मा यथा महादोषं दूरीकुर्वन्ति तथाऽतिशयमप्यादधते । तत्र तेष्वतिशयाधाने संस्कारा उच्यन्ते-तस्यारविन्दनयनस्येति । स हि प्रसिद्धः सर्वानेव स्वापेक्षितान् भक्तान् करोति, तथैतेऽपि भगवदपेक्षिताः । अनेनेच्छयैव ते भक्ताः कृता इति ज्ञापितम् । किञ्च, अरविन्दनयनस्येति । कमलनयनस्य दृष्ट्यैव ते संस्कृता इति । अरविद्यतीति रविव्यतिरक्तं खण्डयतीत्युपजीव्यातिरिक्तं धर्मं तेषामपि दूरीकरोतीति तेषां विरुद्धधर्मान् निवर्तयति । नयनं हि प्रापकम्, प्रापणरूपत्वात् । अतो दृष्ट्या बाधका धर्मा दूरी कृताः, प्रयोजकाश्च स्थापिता इत्युक्तम् । किञ्च, पदारविन्देति पादयोः स्पर्शस्तेषु वृत्तः । पद्यते ज्ञायते इति पदं ज्ञानात्मकम्, तत्स्पर्शे तेषां विशेषज्ञानमपि[२] गतम्, वयमात्मविद एवेत्याग्रहो निवृत्त इत्यर्थः । तदप्यरविन्दं स्वप्रकाशातिरिक्तमात्मनि दूरीकरोतीति ज्ञानधर्मो निरूपितः । तस्य किञ्जल्काः केसराः, खण्डशो दोषनिवर्तकाः, तैरो-

षधैरिव मिश्रो यो भक्तिनिष्ठभक्तत्वापादकशरीर-जनकरजोमिश्रो वायुर्घ्राणमार्गेणाऽन्तः प्रविष्टः (स) स्थूलशरीरनिरपेक्षमेव मध्ये शरीरमुत्पादयति । तदा चित्तदेहयोः पूर्वयोरंशतो ग्रहणत्यागकरणात्संक्षोभो युक्त एव । गन्धस्य हि द्वारं नासिका, अतस्तत्र गन्धस्य प्रतिबन्धो न जातः । अयं च गन्ध आधिदैविक इति स्वशब्दप्रयोगः, तेषां सर्वेषामेव साधनस्य तुल्यत्वात् । अत एव चतुःसनोऽपि प्रह्लादो भक्तो जातः । जयविजयगता भक्तिश्चतुर्षु स्थातेषां ताभ्यां दत्तमिति ।४३।

व्याख्या—मुनियों के चित्त और शरीर में, भगवच्चरणारविन्द सम्बन्धी वायु ने खलबली मचा दी यह तो अनुचित है, क्योंकि वे अक्षर ब्रह्म के उपासक हैं. आत्मरूप ब्रह्म के उपासक होने से वे देह, इन्द्रियाँ अन्तःकरण के धर्माध्यास से रहित हैं, अतः उनको कहीं कभी भी क्षोभ नहीं होता है, भक्तिरस तो इनको प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी भगवत्सान्निध्य से भगवदीय धर्म जैसे महान् दोष को दूर करते हैं तथा उत्तम गुणों को भी ग्रहण कराते हैं, उस समय उत्तम गुण प्राप्त कराने वाले संस्कार उनमें आये यों 'तस्यारविन्द नयनस्य' वाक्य से कहते हैं वे प्रसिद्ध कमल नेत्र भगवान्, जिनको अपना करना चाहते हैं उन सबको भक्त बना देते हैं, वैसे इन मुनियों को भी भगवान् को अपेक्षा थी, इससे भगवान् ने अपनी इच्छा से इनको भक्त बनाया है, भगवान् कमल नयन की दृष्टि से ही ये संस्कृत (संस्कार करने वाले शुद्ध) हो गये । 'अरविंद्यति इति अरविंदः' सूर्य बिना नाश हो वह अरविन्द जिनके (ज्ञानरूप प्रकाश) ऊपर उनका आधार था उसके सिवाय जो विरुद्ध धर्म उनमें थे उनको भी निवृत्त कर दिया, कारण कि नेत्र पहुँचाने वाले धर्म को करते हैं, अतः दृष्टि से बाधक धर्म दूर कर दिये और जो काम के (भक्ति प्रद) गुण थे वे स्थापित किए इनको भगवान् के ज्ञान रूप पाद का स्पर्श हुआ था जिससे इनको जो ज्ञानीपन का हम आत्म वित् है ऐसा जो आग्रह रूप व अभिमान रूप दोष था, वह निवृत्त हो गया था वह चरण भी अरविन्द है इससे आत्मा के प्रकाश के सिवाय अन्य गुण को दूर कर देता है । इससे ज्ञान धर्म का निरूपण किया, उन चरणारविन्दों की केसर धीरे-धीरे दोषों को निवृत्त करने वाली होने से औषधरूप है । उनसे युक्त भक्तिनिष्ठ भक्तपन को प्राप्त कराने वाले शरीर को उत्पन्न कर्ता रज से मिश्रित वायु, नासिका मार्ग से भीतर अन्तःकरण से प्रविष्ट हो के स्थूल शरीर की अपेक्षा (परवाह) न कर मध्य में अन्य शरीर उत्पन्न करता है तब पहले के चित्त और देह के कुछ अंशों का ग्रहण एवं त्याग होने से खलबली होना उचित ही है, गन्ध जाने आने का द्वार नासिका है इससे वहाँ से गन्ध को जाने में कोई रोकता नहीं है । फिर यह गन्ध तो आधिदैविक है इसलिये 'स्व' शब्द देकर यह सूचित किया है कि उन मुनियों को सब साधन समान है, अतः इस गन्ध आने का छिद्र भी स्वतन्त्र हो सकता है । इसलिए ही चतुःसन होते हुए भी प्रह्लाद भक्त हुआ है, जय विजय में जो भक्ति थी वह प्रभुने इन चारों मुनियों में स्थापित कर दी और मुनियों का ज्ञान जय विजय को दिया । ।। ४३ ।।

आभास—ततोभक्तवत्ते प्रणामं कृतवन्त इत्याह—

आभासार्थ—उन्होंने भक्त की तरह प्रणाम किया जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोशमुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रिद्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ।।४४।।

श्लोकार्थ—उन्होने भगवान् का अत्यन्त सुन्दर अधर कुन्दकली के समान हास्य वाला एव श्याम कमल कली सदृश्य मुख को देखकर तथा आशिर्वाद पाकर फिर पद्मरागमणि के समान लाल नखों से सुशोभित प्रभु के चरण कमल देख उन का ध्यान करने लगे ।।४४।।

सुबोधिनी—ते वा इति । ते चत्वारोऽपि वै निश्चयेन भक्त्या व्याकुलिताः भगवदीयमङ्घ्रिद्वन्द्वं निदध्यु । भक्तिर्हि भगवत्संबन्ध सर्वतः प्रापयितुं सकृदेव सर्वं देहेन्द्रियादि क्षोभयति । तत्र ज्ञानादिना न निर्वृतिः, अन्योन्यविरोधान्न समाधानम्, अतः केवलं सर्वसमाधानकर्तृ भगवच्चरणारविन्दद्वन्द्वं निदध्युः । ध्यानात्पूर्वं तेषामनिर्वृतौ हेतुमाह-**अमुष्येति** । स्वस्य भक्तत्वमुत्पादितवतो वदनमेवाऽसितपद्मकोशो नीलकमलमुकुलम्, उद्वीक्ष्य, लब्धाशिषो भूत्वा, अनुरागदृष्टि प्राप्य, पुनरवेक्ष्य; बहुधा नमस्काराः, बहुधा च मुखदर्शनम्, माहात्म्यज्ञानम्, स्वरूपसौन्दर्य चाऽन्तःकरणं दृष्टि च वशीचकार । जीवस्तु तदुभयानुरोधी पर्यायेण तयोः समाधानं कृतवांस्तथापि तद्द्वयं न समाहितम्, उभयोरेकधासमाधानाभावादेकोपद्रवःसिद्ध एवं । असितपद्मकोशमित्यभूतोपमा । देशान्तरे तादृशकमलसम्भवः । ऊर्ध्वबीक्षणे नयनस्य हेतुत्वार्थं तथोक्तम् । तद्धि न सर्वकृष्णम् । रूपतो ज्ञानतश्चाऽस्य तथात्वं भविष्यतीति ख्यापनार्थं पद्मपदप्रयोगः । सजातीया जातीयपोषका इति, कोशपदेन तद्गतानां रक्षा सूचिता । उर्ध्ववीक्षणेन चरणयोः पतिता एव ते मुखारविन्दं पश्यन्तीत्युक्तम् । सुन्दरतर यत् कुन्दपुष्पम्, तद्वद्धासो यस्य । इयमेव ह्याशीः । सुन्दरतरत्वेन पूर्वावस्थानिवारकमायाप्रवृत्तावपि पूर्वावस्थाकृतसुखनिवृत्त्यभाव उक्तः । तरप्प्रत्ययेन चाधिक्यमुक्तम्, ब्रह्मानन्दाद्भजनानन्दस्य महत्त्वात् । सुन्दरतरमधरं वा । तदा तत्र परमानन्दादधिकरसो लोभात्मकः स्थापित इति तद्रसस्पर्शी हासो गोपिकानामिव सुखदः । तस्य सुन्दरतरत्वमानन्दमूर्तेरक्षरानन्दाद्भजनानन्दाच्च महानानन्द इति ज्ञापयति, अन्यथा केवलमोहोऽनिष्टहेतुः स्यात् । कुन्दपुष्पसाम्यता भौतिकरागव्यावृत्त्यर्था । मोहोऽपि भक्त्यर्थमेव न विषयार्थः । कुं पृथ्वीं द्यति खण्डयतीति कुन्दम् । एतादृशं प्रसादं प्राप्य पुनरवेक्षणं स्वहृदये भगवच्चरणारविन्दाविर्भावार्थम् । अत एव तदीयमङ्घ्रिद्वयमाविर्भावात् चित्ते निगृह्यत इति **निदध्युः** । द्वन्द्वपदमवताराभिप्रायम् । साकारब्रह्मवादे नाऽन्यथासिद्धिः स्यात् । तस्य चरणस्य भक्तिमार्गसिद्धस्य सर्वपुरुषार्थदातृत्वज्ञापनार्थम्-**नखा** एव ये **अरुणमणयः**, तेषामाश्रयणं यत्र । ते हि चिन्तामणिरूपा अरुणवर्णाः, अनुरागपूर्वकत्वात् । अनेन तेषां सर्वोऽपि मनोरथः पूर्ण इति सूचितम् ।।४४।।

व्याख्या—निश्चय भक्त्यतिरेक से व्याकुल उन चारों ने भगवान् के दोनों चरण कमलों पर ध्यान धरा. भक्ति ही चारों तरफ भगवान् से सम्बन्ध जोडने के लिए एक साथ ही सकल देह इन्द्रियादि में खलबली उत्पन्न करती है । उस समय ज्ञान आदि से वह खलबली नहीं मिट सकती है जिससे शान्ति (सुख) प्राप्त होवे, क्योंकि ज्ञान तथा भक्ति का परस्पर विरोध होने से समाधान नहीं

हो सकता है। इसलिए केवल सर्व प्रकार समाधान करने वाले भगवच्चरणारविन्द हैं, यों समझ उनका ही ध्यान धरने लगे। ध्यान से पूर्व उनको शान्ति न होने का कारण प्रभु के मुखारविन्द का दर्शन है, कुमारों को भक्त बनाने वाले भगवान् का श्याम कमल की कली के समान रूप का दर्शन कर, आशिष प्राप्तकर, अनुराग युक्त दृष्टि पाकर, फिर कई बार देखकर बार २ नमन किया और पुनः पुनः मुख के दर्शन किये यों करने से उत्पन्न माहात्मय ज्ञान ने तथा स्वरूप सौन्दर्य अनुभव ने मुनियों के अन्तःकरण तथा दृष्टि को अपने वश कर लिया, जीव तो उन दोनों का क्रमशः अनुसरण करते ही समाधान करना चाहता था तो भी समाधान न होने से शान्ति न होती थी, यदि एक का किसी प्रकार समाधान होता तो दूसरे से उपद्रव उत्पन्न हो जाता, एक प्रकार से दोनों का समाधान नहीं हो सकता। 'असितपद्मकोश मत्यिभूतोपमा' श्याम कमल की कली यह अभूत उपमा है, क्योंकि श्याम कमल इस देश में उत्पन्न नहीं होते हैं। अन्य देशों में उत्पन्न होते हैं, ऊंचा होकर देखने में नेत्र कारण रूप हैं इसलिए वैसा कहा है, वह सर्व श्याम नहीं था, रूप से और ज्ञान से उसका वैसापन होगा इसकी प्रसिद्धि के लिए 'पद्म' पद का प्रयोग किया हुआ है अपनी जाति वाले जातिवालों के पोषक होते हैं इससे 'कोश' पद से उसमें रहे हुए पदार्थों की रक्षा की सूचना दी है, 'ऊंचा' ही देखने से इस शब्द द्वारा यह बताया है कि चरणों में पड़े हुए मुखारबिन्द का दर्शन करते रहेते थे। अत्यन्त सुन्दर कुन्द पुष्प के समान हास्य वाले मुख को देखते थे। यह हास्य ही आशिष है। अति सुन्दर पद से कहा है कि पूर्व अवस्था का निवारण करने वाली माया प्रवृत्त होती है तो भी पूर्व अवस्था में प्राप्त सुख की निवृत्ति नहीं होती है 'तरप्' प्रत्यय देने से यह सिद्ध किया है कि अधर में विशेष आनन्द व सुन्दरता है। अर्थात् ब्रह्मानन्द से भजनानन्द का महत्व होने से तब वहां (उसमें) परमानन्द से अधिक रस लोभात्मक स्थापित किया है। इसलिए उस रस को स्पर्श करने वालाहास, गोपिय की तरह सुख देने वाला है। उस आनन्दमूर्ति के सुन्दरतरत्व में अक्षरानन्द एव भजनानन्द से महान् आनन्द है यों जताते हैं। अन्यथा केवल मोह अनिष्ट का कारण है, कुन्द पुष्प को समानता भौतिक, पदार्थों से राग की निवृत्ति के लिए है, मोह भी भक्ति के लिए है न कि विषय भोगार्थ है, 'कुन्द' का अर्थ है पृथ्वी को खण्डन करने वाला।

ऐसी कृपा सम्पादन कर फिर दर्शन करने का कारण भगवच्चरणारविन्दों को अपने हृदय में स्थापित करना है, अतएव भगवान् के दो चरण प्रकट हों तो हृदय में धरे जाँय इसलिए ध्यान करने लगे, 'द्वन्द्व' पद अवतार के अभिप्राय से कहा है, साकार ब्रह्मवाद में दूसरी तरह ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है, भगवान् के वे चरण भक्ति मार्ग के प्रसिद्ध सर्व पुरुषार्थ सिध्द करते हैं यों जताने के लिए कहते हैं कि चरणों के लाल नख मणिरूप अनुरागात्मक हैं अतः इनसे उनके (कुमारादि के) सर्व मनोरथ सिद्ध हुवे हैं ॥ ४४ ॥

आभास—एवं तेषां भक्तकृत्यमन्तरुकत्वा स्तोत्रादिलक्षणं बाह्यमाहुः—

आभासार्थ—इस प्रकार से उनके भीतर का भक्तकृत्य कहकर इस श्लोक से बाह्य भक्तकृत्य स्तुति आदि कहते हैं—

श्लोक—पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गैर्ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धैरौत्पात्तिकैः समगृणन्युतमष्टभोगैः ॥४५॥

श्लोकार्थ—इस जगत् में योग मार्ग द्वारा मोक्ष पद का खोज करने वाले पुरुषों के ध्यान का विषय अत्यन्त आदर योग्य नयनों के आनन्द की वृद्धि करने वाला पुरुष रूप जो गुणगान प्रकट करते हैं, उन हरि का गुणगान रूप स्वाभाविक अष्टसिद्धियों की स्तुति वे मुनिगण करने लगे ॥४५॥

सुबोधिनी—पुंसामिति । भगवति स्तुतिर्युक्तैव, न त्वसद्गुणारोपभूता । ननु ज्ञात्वा हि भगवद्गुणा वक्तव्याः, भक्तैरेव च ज्ञायन्ते गुणाः एते च पूर्वं न भक्ता इति कथं गुणज्ञानमित्याशङ्क्य, भक्तत्वाभावेऽपि पूर्वमेते योगिनः, तत्र योगसिद्ध्यादिकं भगवता जातमिति, तेन मार्गेण तादृश माहात्म्यं ज्ञायत इति वक्तुं योगोपयोगित्वेन भगवन्तं विशिनष्टि पञ्चभिर्विशेषणैः । योगे प्रथमं ध्येयं रूपम्, अन्ते च योगसिद्धिप्रदम्, मध्येऽपि रूपाणि । निरन्तरध्यानेन तस्मिन्नादरः, तदा बहुमतं तद्भवति । ततो भगवत्साक्षात्कारः, तदा नयनाभिरामो भवति बहिर्दर्शनं दत्वा । अन्तरपि स्वदेहान्तर्हृदये प्रादेशमात्रं द्वितीयस्कन्धोक्तं पुरुषं पश्यति, तदा तदुक्तप्रकारेण फलं भवति । अवान्तरफलं चाऽणिमादिरूपं भवतीति तत्रैवोक्तम् । योगस्य बहुविधत्वात् तत्तत्फलदानार्थमिदमेव रूपं ध्यायत इति सर्वफलदातृत्वं तस्य ज्ञायत इति वक्तुम्, नानाविधगतिम्, मोक्षरूपां वा, मृगयतां पुंसां ध्यानास्पदमित्युक्तम् । पुरुषा एव योगिन इति पुंसामित्युक्तम् । बहुकालं योगं विधाय योगबलेन सर्वज्ञये जाते प्राणिनां का गतिरित्यपेक्षायां तन्निश्चयार्थमपि भगवान् ध्यायत इति मृगयतामित्युक्तम् । पुरुषरूपमन्तर्यामिरूपमेव, साक्षात्फलसाधकत्वेन तस्यैवोक्तत्वात् । बहुभ्योऽणिमाद्यैश्वर्यं प्रयच्छन्नपि स्वयं रिक्तो न भवतीति विज्ञापनार्थमनन्यसिद्धैरित्युक्तम् । भगवतोऽणिमादयो नाऽन्यत्र सिद्धाः, अतो दीयमाना अपि नाऽन्यत्र स्वतो गच्छन्ति, किन्त्वंशत एव । तत्र हेतुरौत्पत्तिकैरिति, न हि स्वाभाविका गच्छन्ति । अष्टभोगा अणिमादयः । मनसा सह षट् ज्ञानेन्द्रियसुखानि, गुह्यवा म्भोगौ वा अष्टभोगाः । अष्टभागैरित्यपि पाठे स एवार्थः । समगृणन्नग्रे स्पष्टीभविष्यति ॥ ४५ ॥

व्याख्या—मुनियों से की हुई यह स्तुति उचित एवं वास्तविक है कि असद्गुणों की आरोपित स्तुति है, पहले गुणों का ज्ञान प्राप्तकर पश्चात् उनका गान करना चाहिए, भगवान् के गुण तो भक्त ही जानते हैं । ये तो पहले भक्त नहीं थे तो इन से गुण ज्ञान कैसे हुआ ? इस शङ्का का समाधान करते हैं कि, 'भक्तत्वाभावेऽपि पूर्वमेते योगिनः' कि यद्यपि पहले ये भक्त नहीं थे किन्तु योगी तो थे । उस समय योग सिद्धि आदि भगवान् द्वारा सिद्ध हुवे, उस मार्ग से उसी प्रकार का भगवन्माहात्म्य जाना जाता है यों कहने के लिए योग में उपयोगी होने वाले भगवान् की पांच विशेषणों से पहचान कराते हैं या बखान (स्तुति) करते हैं योग में प्रथम ध्यान करने योग्य स्वरूप

का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अन्त में योग की सिद्धि देने वाले स्वरूप का, मध्य में तीन रूपों का, इसी तरह इन के निरन्तर ध्यान करने से उस स्वरूप में आदर होता है, तब वह स्वरूप विशेष आदरणीय बन जाता है इसके बाद साक्षात्कार दर्शन होते हैं जिससे अर्थात् बाहर दर्शन होने से नयनों को अभिराम (मद्दानन्द) प्राप्त होता हैं, वह योगी भीतर भी द्वितीय स्कन्ध में वर्णन किया हुआ प्रादेश मात्र पुरुष के दर्शन करता है। तब उस में कहे हुए प्रकार से फल मिलता है आणि सिद्धिरूप भी प्राप्त होता है यों वहाँ, ही कहा है। योग अनेक प्रकार के हैं, जैसे फल की इच्छा हो वैसा योग करना पड़ता है किन्तु कोई भी फल चाहिए तो इस एक ही रूप का ध्यान पर्याप्त (समर्थ) है, क्योंकि यह सर्व फलदाता स्वरूप है इसलिए 'नाना विधिगतिम् मोक्षरूपावा मृगयतां पुंसां ध्यान्यास्पदं' विशेषण दिये हैं 1-पृथक् पृथक् प्रकार की गति अथवा मोक्षरूप गति को ढूंढने वालों के लिए ध्यान करने योग्य है, 'पुंसां' पद से यह सूचित किया है कि प्रायः पुरुष ही योगाभ्यास कर योगी हो सकते हैं। बहुत समय योगाभ्यास करने के बाद योगबल से सर्व हो जाने पर भी प्राणियों की क्यागति होती है ? ऐसी अपेक्षा होने पर उसके निश्चयार्थ कहते हैं, कि तदर्थ भी भगवान् का ध्यान करना उचित है। यों 'मृगयत,' पद देने का भावार्थ है अन्तर्यामी का स्वरूप ही पुरुष रूप होने वह ही साक्षात् फल को सिद्ध करने वाले हैं, अन्य से प्राप्त नहीं ऐसी सहज अणिमादि सिद्धियां से भगवान में हैं जिस कारण से बहुतों को सिद्धियां देते हुए भी आप खाली तो नही होते हैं किन्तु पूर्ण होने के कारण सहज पूर्ण ही रहते हैं अणिमादि अष्ट सिद्धियां हैं जिनमें से छ मन सहित ज्ञानेन्द्रियों कों सुखद हैं और दो गुह्येन्द्रिय और वाणी को सुखदायी है। 'अष्टभागैः पाठ से भी यही अर्थ होता है सम्यक् प्रकार से स्तुति आगे स्पष्ट होगी ।। ४५ ।।

आभास—स्तोत्रमाहुः पञ्चभिः

आभासार्थ—निम्न पांच श्लोकों से कुमार स्तुति करते हैं—

कुमारा ऊचुः

श्लोक—योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त ! राद्ध ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः पित्राऽनुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ।।४६।।

श्लोकार्थ—कुमारों ने कहा कि हे अनन्त! यद्यपि आप सकल जीवों के हृदय में अन्तर्यामी स्वरूप से बिराजते हैं। वह जीव चाहे दुरात्मा भी हो किन्तु दुष्टों को दृष्टि से छिपेहुए रहते हो आपसे उत्पन्न हमारे पिताश्री ने जब आपका रहस्य हम को सुनाया तब आप कर्ण रन्ध्र द्वारा हमारे हृदय में पधारे थे। अतः आज ही हमारे यहां पधारे हो यों नही हैं किन्तु नेत्रों से प्रत्यक्ष दर्शन कराने की कृपा तो आज ही की है ।।४६।।

कारिका—**योगे लोके तथा भक्तौ भवान् विख्यातमङ्गलः ।**
सर्वात्मना वयं दासा लब्ध तत्र च यत्फलम् । १ ।

कारिकार्थ- योग में, लोक (वैकुण्ठ) में तथा भक्ति में आप मङ्गल रूप हैं यों प्रसिद्ध है। हम आपके सम्पूर्ण प्रकार से दास हैं, दासत्व से जिसफल की प्राप्ति होती है वह हम को प्राप्त है ।।१।।

कारिका—**एतावतैव तैः स्तोत्रं कृतं भक्त्याऽतिविह्वलैः**
अपराधस्य करणान्नाऽधिकं स्फुरितं हृदि ।।२।।

कारिकार्थ—भक्ति से बहुत विह्वल हुए कुमारों ने इतनी ही स्तुति की, क्यों कि अपराध करने से उनके हृदय में भगद्गुणों की विशेष स्फूर्ति नहीं हुई । ।।२।।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं भगवन्तं ब्रह्मत्वेन स्तुवन्तः शास्त्रार्थपरत्वं स्तुतिपरत्वं वा मा भवत्विति पूर्वदर्शनेन यो दृष्टः स एवाऽयमिति प्रत्यभिज्ञां वदन्तस्तस्याऽन्तर्यामित्वं समर्थयन्ति—**योऽन्तर्हित इति । यस्त्वं दुरात्मनां हृदि गतोऽप्यन्तर्हितः, सोऽद्यैव** नोऽस्माकं नयनमूलं **नो राद्धो** न सिद्धः; किन्तु **यर्ह्येव कर्णविवरेण** हृदयं गतः, तदैव परावृत्तचक्षुषा दृष्ट **इति नयनमूल** तदैव **राद्धः** । ब्रह्म प्रकारद्वयेन निश्चीयते, शास्त्रतोऽनुभवतश्च । तत्र शास्त्रं दुष्टानां ब्रह्मसाक्षात्कारो न भवतीत्याह, न तु सतां साक्षात्कारो भवतीति, तथा सत्यनुवादकत्व स्यात् । अत उपनिषदामात्मब्रह्मवाक्यरूपाणामनधिकार्यसाक्षात्कारविषयप्रतिपादकत्वम् । तदेव प्रथममत्राप्याह—**यस्त्वं दुरात्मनां हृद्गतोऽप्यन्तर्हित** इति । स त्वमेव । अनेन शास्त्रप्रतिपाद्यो भगवानेवेति निरूपितम् । स एव हृदये प्रकाशत इत्यनुभवमाह—**सोऽद्यैवेति** । बहिरिन्द्रियविषयत्वेनात्मत्वं स्यादितीदमप्यस्माकं चक्षुरात्मदर्शनाभ्यासवतामावृत्तमेवेति न बहिर्दर्शनमिति वक्तुं पूर्वदर्शनेन सह साजात्यं प्रतिपादयन्त आहुः-**अद्यैव नयनमूलं राद्ध इति** । एतद्दर्शनस्याऽप्रथमदर्शनत्वादनादर एव, **प्रथमदर्शनस्यैव** अनधिगतार्थज्ञानत्वेनाऽऽदरविषयत्वात् । **भक्तिमार्गानुसारेणाऽप्यन्तर्भगवत्साक्षात्कारो जात** इति वक्तुम्-**कर्णविवरेण गुहां गत** इत्युक्तम्, अन्यथा अन्तरेयव तस्याऽऽविर्भाव उक्तः स्यात् । **'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण'** इति तु भगवच्छास्त्रम् । **पूर्वमपि वयं भवदीया** एव, अन्यथाऽस्मत्पिता ब्रह्मा भवद्रहस्यमस्मासु न वदेत् । न च ब्रह्मा शास्त्राधिकारं न जानातीति वक्तव्यम्, यतस्तव साक्षादौरसः पुत्रः । अतः **'स्वानां भावसरोरुहम्'** इति न विरोधः ।।४६।।

व्याख्या—इनमें से पहले भगवान् की ब्रह्मत्व भाव से स्तुति करते हैं यह स्तुति शास्त्रों में कही हुई है वा केवल प्रशंसा मात्र हैं यों समझने मे न आवे तदर्थ कहते है कि जिस स्वरूप के पहले दर्शन हुए वह ही यह स्वरूप है ऐसी पहचान व पहले का अनुभव करते हुए उनके अन्तर्यामित्व का समर्थन करते हैं । आप दुष्टों के हृदयों में विराजते हुए भी इनको दर्शन नहीं देते हैं । वे आप आज ही हमारे सामने नहीं पधारे थे किन्तु आप से उत्पन्न हमारे पिता के द्वारा वर्णित गुणों द्वारा कर्ण रंध्र में प्रविष्ट हो आगे भी हृदय में पधारे थे तब ही परावृत दृष्टि से आपके दर्शन किये थे इसलिए तब ही हमारे नेत्रों के मूल के पास पधारे थे । शास्त्र तथा अनुभव से निश्चय होता है कि यह स्वरूप ब्रह्म का ही है, शास्त्र यों कहता है कि यह स्वरूप दुरात्माओं को दृष्टि गोचर नहीं होता है किन्तु सत्पुरुषों को होता है यों भी नहीं कहता है । इसलिए श्रुति कहती है कि शोक रहित को दर्शन होता है जो अधिकारी नहीं हो उस को दर्शन नहीं होता है । जिस पर भगवत्कृपा होती हैं अर्थात् भगवान स्वयं कृपा से जिसका वरण करते हैं उसका दर्शन होता है हृदय

में विराजते हुए भी दुष्टों को दर्शन न देने वाले भी आप ही अन्तर्यामी स्वरूप है शास्त्र में भगवान् नाम से आप ही कहे गये हैं वे ही आप हृदय में प्रकाशित हैं यह हम लोगों को अनुभव सिद्ध भी है अतः आज ही हमारे नयन के समीप पधारे हो यों नहीं है। यदि भगवान् बाहर की इन्द्रियों से दर्शन दें तो आत्मा नहीं कहे जायँगे इससे आत्म स्वरूप के दर्शन करने वाले हम लोगों के नेत्र भी पीछे लौटे हुए है इस लिए वस्तुतः यह बाहर का दर्शन नहीं है पूर्व (भीतर) किये हुए आत्मदर्शन के समान ही है यो सिद्ध करने के लिए ही कहा है कि आपने आज ही दर्शन दिये हैं यों नहीं है, केवल पहले बाहर दर्शन होता तो अनादर प्रतीत होता किन्तु यह दर्शन पहले भीतर किये हुए आत्मा के स्वरूप का ही कृपा से प्राप्त हुआ है, इससे अनादर नही है।

भक्ति मार्गानुसार भी भीतर भगवान् का साक्षात्कार हुआ है यों कहने के लिए ही 'कर्ण विवरेण गुहां गतः' वाक्य कहा है यों न होता तो भीतर ही उनका आविर्भाव कह देते, यों न कह कर कर्ण रन्ध्र से प्रविष्ट कहा यह भगवत् शास्त्र है पहले भी हम भगवदीय थे यदि भगवद्भक्त न होते तो हमारे पिता ब्रह्मा हमको भगवद्रहस्य कहकर नहीं सुनाते, यों भी नही है कि ब्रह्मा शास्त्राधिकार को नहीं जानते थे। यों भी नहीं कह सकते हो क्योंकि वे आपके औरस पुत्र हैं अतः 'स्वानां भाव सरोरुहम्' अपने भक्तों के भावरूपी कमल इस वाक्य से विरोध नहीं है ॥४६॥

आभास—एवं भगवन्तं परब्रह्मत्वेन स्तुत्वा, आरोपेणैवं कथनमित्याशङ्कां व्यावर्तयन्ति—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् की पर ब्रह्मपन से स्तुति की यह अर्थात् अन्य के गुण इसमें आरोपण करके की गयी है, इस प्रकार की शङ्का का निवारण इस श्लोक में करते है।

श्लोक—**तं त्वा विदाम भगवन्परमात्मतत्त्वं सत्त्वेन संप्रति रतिं रचयन्तमेषाम्।**
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगैरुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥४७॥

श्लोकार्थ—हे भगवान् ! आप साक्षात् परमतत्त्व हैं यों हम जानते हैं इस समय अपने इन भक्तों को प्रेम (आनन्द) देने के लिये सत्त्वात्मक श्री विग्रह से प्रकट हुए हैं, अनेक प्रकार के तापों से दृढ हुए भक्ति योगों से जिनकी मायोत्पन्न अहंकारादि गांठें शिथिल हो गयी हैं ऐसे वैराग्य युक्त मुनियों के इस स्वरूप का हृदय में अनुभव कर रहे हैं ॥४७॥

सुबोधिनी—तं त्वा **विदामेति**। **तमेव** परब्रह्मरूपं **त्वां** विदामः। अन्यथा ज्ञात्वा अन्यथाकथनार्थमुत्प्रेक्षा भवतिः तथा प्रकृते नाऽस्ति, किन्तु त्वां **परमात्मतत्त्वमेव** जानीमः। एते हि साङ्ख्यानुसारिणः, एतेषां तत्त्वपदप्रयोगः सर्वत्र। तत्त्वं सहजं रूपम्। तत्र तत्त्वेष्वात्माऽप्येकं तत्त्वम्। तत्र तेषामप्यात्मनस्त्रैविध्यम्। अस्मदादिजीवा अंशप्रायाः, तेऽप्यात्मान इत्युच्यन्ते। यश्च

प्रकृत्यधिष्ठाता मुख्यः, सोऽप्युच्यते पञ्चविंशति-तत्त्वेषु परः श्रेष्ठः। ततोऽप्युत्तमोऽसङ्गोदासीनः परमात्मा, स एव प्राप्य इति तं त्वां जानीम इत्यर्थः। ननु तस्य स्वप्रकाशत्वमात्मवृत्तिवेद्यत्वं वा सम्भवतिः न तु चक्षुर्विषयत्वमित्याशङ्क्य तन्मतानुसारेण परिदृश्यमानत्वं समर्थयन्ति—**सत्त्वेन संप्रति रतिं रचयन्तमेषामिति**। इदानीं वैकुण्ठे स्थितानामेषां भक्तानां प्रीत्युत्पादनार्थं शुद्धं सत्त्वं पुरुषरूपं कृत्वा तिष्ठसीत्यर्थः। असङ्गोदासीन एव स्वभक्तानुरोधेन तथा करोति, अन्यथा तस्य फलत्वं शास्त्रार्थत्वं च न स्यात्। किञ्च यदि भगवान् सत्त्वाविर्भावं न कुर्यात् तदा ज्ञानमपि न सिध्येदित्याह—**यत्तेऽनुतापविदितैरिति**। यदा जीवात्मा संचरन् बहुकालं बहून् क्लेशान् प्राप्नोति, तदा भगवतः कृपा उत्पद्यते, अयं स्वानन्दानुभवयोग्यः क्लेशं प्राप्नोतीति। स क्लेशो भगवतैव जात इति कृपानुतापरूपेण निरूप्यते, अन्यथा लौकिका योगप्रकारा लौकिकबुद्धिगम्या न भवन्तीति भगवत्कृपयैव तादृशयोगमार्गाणां परिज्ञानम्। त एव दृढा भवन्ति, भक्तिप्रधानाश्च। भक्तिमार्गसिद्धयोगा वा। भगवतः सत्त्वाविर्भाव एवैतद्भवति। किञ्च, **उद्ग्रन्थयोऽपि** कृपयैव भवन्ति,। अहङ्कारग्रन्थिः रजस्तमोभ्यां दृढो भवति, तद्भगवत्सत्त्वप्राकट्येनैव शिथिलो भवतीति। किञ्च, मुनयोऽपि तेनैव भवन्ति, विरागाश्च। भक्तियोगैश्च वेदेनं न केवलैः, किन्तु भगवत्सत्त्वसहितैरेव। अतः सर्वोपकारित्वात्सत्त्वप्राकट्यमित्यर्थः॥ ४७॥

व्याख्या— आप वह ही परब्रह्म रूप हैं यों हम जानते हैं, एक प्रकार से जानकर दूसरी तरह कहने के लिये उत्प्रेक्षा करनी पडती है। प्रकृत (चालू) प्रसङ्ग में यों नहीं है किन्तु आपको परमात्मतत्व ही हम जानते हैं, ये मुनि साङ्ख्य शास्त्र का अनुसरण[1] करने वाले हैं ये सर्वत्र 'तत्व' शब्द काम में लाते हैं 'तत्व' का तात्पर्य है स्वाभाविक रूप तत्वों में आत्मापन एक तत्व है यों इनके साङ्ख्य मत में माना जाता है, तथा वह आत्मा भी तीन प्रकार की है, हम लोग जो जीव कहलाते हैं वे भी आत्मा के अंश सम होने से (१) आत्मा कहलाते हैं (२) आत्मा वह है जो पच्चीस तत्वों में श्रेष्ठ प्रकृति का अधिष्ठाता है, उनमें भी उत्तम असङ्ग उदासीन परमात्मा है, वह ही प्राप्त करने योग्य है। इसलिये हम आपको वहां प्राप्य परमात्मा जानते हैं, वह परमात्म तत्व तो स्वतः प्रकाश रूप है तथा आत्म वृत्ति से जानने योग्य है, न कि वे नेत्रों का विषय हो सकते हैं? ऐसी शङ्का का निवारण उनके मतानुसार दृश्यमानत्वं सिद्ध करते हैं, 'सत्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषां' अब वैकुण्ठ में स्थित इन भक्तों को आनन्द प्राप्त हो तदर्थं शुद्ध सत्व को आकार रूप कर आप पुरुष स्वरूप से दर्शन दे रहे हो, जो असङ्ग और उदासीन परमात्मा हैं वह ही यों पुरुष रूप धारण कर रहे हैं, यदि यों न करे तो उसका फलपन एवं शास्त्रार्थपन सिद्ध न होवे तथा स्वभक्त की इच्छा पूर्ण न होवे अतः भक्तानुरोध से यों करते हैं किन्च यदि भगवान् अपना सत्व में वासत्व द्वारा प्राकट्य न करें तो ज्ञान की भी सिद्धि न हो सके इसलिये कहते हैं कि 'यत्तेऽनुतापविदितैरिति' जिस पंक्ति से बताते है कि जीव जन्म जन्मान्तर में चक्कर काटते हुए बहुत दुःखी होता है तब सतत दयालु को अपने अंश रूप आत्मा (जीव) पर दया आती है वे (परमात्मा) जानते हैं कि मेरी प्राप्ति के लिये हो इसने ये दुःख

---

१ यों हंसगीता में सिद्ध किया गया है

भोगे है तब कृपया उन जीवों को योगमार्ग का ज्ञान कराते हैं वे मार्ग ही दृढ़ तथा भक्ति में मुख्य हैं अथवा भक्ति मार्ग के प्रसिद्ध 'प्र' योग है, भगवान् का सत्व जब प्रकट होता है तब ही फल की प्राप्ति होती है। भगवान् की कृपा से ही माया की गांठ टूटती है कारण कि अहंकार की गांठ रजो गुण तथा तमोगुण से दृढ होती है वह दृढ़ता सत्व के प्रकट होने से शिथिल होती है।

सत्व से ही मुनि तथा वैराग्य युक्त बन सकते है, केवल भक्ति योग से भगवान् का ज्ञान नहीं होता है, किन्तु सत्व सहित भक्ति योगों से ही भगवान् का ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये सर्व के ऊपर उपकार करने वाला जो सत्व गुण है उसको भगवान् प्रकट करते हैं यों अर्थ तात्पर्य) है।४७॥

आभास:—एव सन्मार्गानुसारेण सत्त्वरूपमेतदिति निरूप्य भक्तिमार्गानुसारेण तद्रूपं परमपुरुषार्थरूपमेवेत्याहु:—

आभासार्थ—इस तरह सन्तों के मार्गानुसार यह सत्वरूप है यों निरूपण कर निम्न श्लोक में कहते हैं कि भक्ति मार्गानुसार वह स्वरूप परम पुरुषार्थ रूप है

श्लोक—नाऽऽत्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग! त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञा ॥४८॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग! आपके चरणों की शरण जिन्होने ली हे, कीर्तन करने योग्य तथा तीर्थ रूप यश वाली आपकी कथा है (गुणगान) में कुशल हैं, और उसके रस को जानने वाले हैं वे आपके मोक्ष रूप प्रसाद का भी विशेष आदर नहीं करते हैं तो टेढी भौं से भय को प्राप्त होने वाले इन्द्रपदादि का अनादर करे तो उसमें कौनसी विशेषता है ॥४८॥

सुबोधिनी— नाऽऽत्यन्तिक**मिति**। हे अङ्ग! **ये त्वदङ्घ्रिशरणास्ते आत्यन्तिकमपि न विगणयन्ति**। निवृत्तसजातीयस्य ससारस्य पुनस्तत्राऽऽमन्यनुत्पाद इति मोक्ष आत्यन्तिक उच्यते। सोऽपि स्वकृतसाधनसाध्यो न भवति, **किन्तु** भगवान् प्रसन्नः सिद्धवत्कारेण तं प्रयच्छति। तादृशं ते न गृह्णन्तीति दूरापास्तम्, यतो विगणयन्त्यपि न। ननु भक्ता भगवत्प्रसादं कथ न गणयेयु:? तत्राऽऽह-**विगणयन्तीति**। गणयन्ति, परं यथा भक्ति विशेषाकारेण प्रमादत्वेन गणयन्ति, तथा आत्यन्तिकं न गणयन्तीत्यर्थः। अत्राऽगणना नाऽवगणना, किन्तु भगवत्प्रसादेषु गण्यमानेषु नान्तरीयकमिति तद्गणनां न कुर्वन्ति। यत्र मोक्षस्यैवैषा व्यवस्था, तत्र **किन्त्वन्यत्**। तुशब्दो विषयासक्तिपक्षं व्यावर्त्तयति, अत्यन्तविषयासक्ता मोक्षं न मन्यन्त इति। ननु भक्त्युपयोगिपदार्था भगवभगवत्सेवौयिका: भक्तैरपेक्ष्यन्त एव, कथं तेषामगणनेत्या शङ्कयाऽऽह**अन्यदिति**। अन्यद्भगवत्सेवानौपयिकम्। परम्परोपयोग्यपि न भवतीति विज्ञापनार्थं विशेषणान्तरमाह—**अर्पितभयमिति**। भयं मृत्युः। भगवदीयपदार्थानामिदमेव निदर्शनम् यद्भयजनकं न भवति, न वा नश्वरम्। तत्र हेतुः-**भ्रुव उन्नयैस्त इति**। ते भगवतो या भ्रूः स एव कालः, तस्योर्ध्वं नयनं सर्वप्रतीकारातिक्रमेण कायसाधनम्, न हि भगवान् स्वाभिप्रेतान विषयांस्तथा करोति। मोक्षस्याऽगणनायामुपपत्तिमाह—येऽङ्गेति अङ्गेतिसंबोधनं श्रवणादिभावे भगवतस्तुल्यतया कोमलसंबोधनप्रतिपादकम्, तादृशभक्तेरङ्गभावाद्वा। अनेनाऽपि मोक्षस्याऽगणना निरूपिता, मोक्षदाता भगवानेव यस्यामङ्गमिति।

तेषां सर्वामेव सामग्री मोक्षादप्यधिकामाह । तत्र तेषामादौ गृहं निरूप्यते--**त्वदङ्घ्रिशरणा इति** । तवाङ्घ्रिद्वयमेव तेषां शरणम्, रजकं वा । एकत्राऽऽधारत्वम्, अपरत्र नियोज्यत्वम् । यच्चरणप्रसादलेशरूपाः सर्वे मोक्षादयः । भगवद्भक्तिः स्वतन्त्रा सप्तविधा, उत्तरोत्तराधिका च । तत्र प्रथमकक्षायामेव स्थिता न गणयन्ति, किमुत चरमकक्षायां स्थिता इति सूचयितुमाह-**भवतः कथाया इति** । ये कथाया रसज्ञाः । भगवदीयो रस उभयत्र प्रतिष्ठितः, रूपलीलायां **नामलीलायां** च । तत्र रूपलीलायामासक्ता भगवदनुरोधमपि कुर्वन्ति, अन्यथा सेवायाः कर्तुमशक्यत्वात् । अतोऽत्र कथारस एव निरूप्यते । कथारसोऽनुभवेनैव ज्ञायत इति **रसज्ञा** इत्युक्तम् । यथा कामादिषु हृदये विद्यमानेष्वेव सत्सु कामिन्यादिनामरूपरसा अनुभूयन्ते, नापि रसास्वादनव्यतिरेकेण किञ्चिदन्यत्तादृश प्रमाणमस्ति, न वा अधिकारिणि कामाद्यभावे स रसः स्फुरति, रसानामधिकारिणं प्रत्येव स्फुरणनियमात् । अतो रसज्ञा एव निरूपिताः । स चाऽधिकारः शास्त्रानुभवाभ्यां प्रेमज्ञानाभ्यामेव भवति । रसान्तराविष्टचित्तानामत्र रसो नोत्पत्स्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं भगवतो विशेषणमाह-**कीर्तन्यार्थयशस इति** । कथा हि यशः प्रतिपादिका । यशो हि, सर्वेषां भगवतश्च श्रवणे रसजनकं भवति । स्वाभाविकोऽन्यो रसः प्रथमरसासक्तिं वारयतीत्यनुभवसिद्धम् । विशेषाकारेणाऽपि पूर्वरसनिवर्तकमिति विशेषणद्वयम्, कीर्तन्यं तीर्थरूपमिति । कीर्तनीयं तदेव भवति, कीर्तयितुर्येन रसो जनितो भवेत्, शास्त्रतो वाऽनुभवतो वा । अनुभवतो रसजनकावर्थकामौ, शास्त्रतो धर्ममोक्षौ । यत् सर्वानुगुणं तत् कीर्तनीयम्, तल्लोके नाऽस्तीति रसचतुष्टयप्रतिपादकं भगवद्यश एवेति **कीर्तन्यपदेनोक्तम्** । तीर्थं हि द्विविधम्, गुरुरूपं जलरूपं च; बाह्याभ्यन्तरोपकारजननभेदेन निरूपितम् । सर्वपुरुषार्थाभीप्सुस्तदुभयं सेवते विशेषसाधनासमर्थः । स्थितिनिर्वाहके च ते अतो मरणान्तं तत्र स्थितौ सुखेनैव पुरुषार्थो भवतीति । यत्र काऽपि पुरुषार्थे आसक्तो भगवद्यश एव शृणुयात् तीर्थरूपत्वादित्यर्थः । अत्र च स्वाभाविकमधिकारसूचकं विशेषणमाह-**कुशला इति** नैपुण्यं बुद्धितीक्ष्णता चाऽपेक्ष्यत इत्यर्थः ॥४८॥

व्याख्या—हे प्रिय! जो आपके चरणों की शरण में पड़े हैं वे मोक्ष की भी परवाह नहीं करते हैं, जो सजातीय संसार से निवृत्त हो गया है वह फिर उस आत्मा में उत्पन्न नहीं होता है जिस मोक्ष को आत्यंतिक कहते हैं वह भी अपने किए हुए साधनों से सिद्ध नहीं होता है । किन्तु भगवान् प्रसन्न होकर (बनकर) सिद्ध हुई सामग्री की तरह जब प्रसाद रूप से देते हैं तब ऐसे भक्त उसको लेते नहीं यह तो दूर की बात है किन्तु (उसका) आदर भी नहीं करते हैं, यह क्या कह रहे हो ? भक्त,भगवान् प्रसाद का आदर कैसे न करेंगे । इस पर कहते हैं 'विगणयन्ती त' आदर नहीं करते हैं यों तात्पर्य नहीं है आदर तो करते हैं किन्तु भक्ति को विशेष प्रकार से आदर योग्य समझते हैं । ऐसा आदर मोक्ष का नहीं करते हैं, यहां आदर न करने का तात्पर्य तिरस्कार करना नहीं है, किन्तु जब प्रभु के प्रसादों की गणना की जाती है, तब मोक्ष आवश्यक प्रसाद रूप है यों आग्रह पूर्वक आदर (गणना) नहीं करते हैं, जहां मोक्ष की यह व्यवस्था है वहां अन्यों की क्या गणना होगी, 'तु' पद विषयों की गणना को नहीं करने के लिये है, क्योंकि विषयासक्त मोक्ष को नहीं चाहते हैं अतः वे उसका आदर नहीं करते हैं ।

भक्तों को तो भगवत्सेवा में उपयोगी पदार्थों की आवश्यकता है उनकी उपेक्षा कैसे करेंगे ? जिस का उत्तर देते हैं कि 'अन्यत' जो सेवा में उपयोगी नहीं है वह चाहे मोक्ष भी होवे तो उपेक्ष्य है, जो परम्परा से भी सेवोपयोगी नहीं वे भी उपेक्ष्य हैं यह बताने के लिये दूसरा विशेषण कहते हैं 'अर्पित-भयं' भय का अर्थ मृत्यु है, भगवदीय पदार्थों की यही पहचान व दृष्टान्त है कि जो न भय-

जनक (मृत्यु करने वाला) है और न नाशवन्त है जिसमें कारण देते हैं 'भ्रुवउन्नयैस्ते' भगवान् को भौंह वह ही काल रूप है उसको टेढी करने से सकल विरोधों का उल्लंघन होकर कार्य सिद्ध होता है अर्थात् उनका नाश हो जाता है किन्तु भगवान् अपनी सेवा में अपेक्षित (आवश्यक) विषयों को ऐसा (नाश) नहीं करते है।

मोक्ष को गणना (दरकार) नहीं करते हैं जिसकी उपपत्ति (हेतु पूर्वक युक्ति) बताते है, 'येऽङ्ग' हे प्रिय! यह कोमल संबोधन इस प्राशय से दिया है कि जब भक्त भगवान् के गुण श्रवण करते हैं व गाते हैं तब भगवत्समान हो जाते हैं क्योंकि उस समय भगवान् उनमें विराजते हैं अथवा भगवान् श्रवण स्मरण भक्ति का अङ्ग बन जाते हैं, इससे भी मोक्ष का आदर (गणना) न करना कहा है, कारण कि जहां मोक्ष देने वाला अङ्गी भगवान् भी जिस भक्ति में अङ्ग बन जाता है, वहां मोक्ष क्या है? भक्तों के लिये सेवोपयोगी सर्व सामग्री मोक्ष से ही अधिक हैं। उसमें पहले उनके गृह का निरूपण किया जाता है, 'त्वदङ्घ्रिशरणाः' आपके दोनों चरण ही उनके रक्षक एवं गृहरूप है, मोक्ष आदि तो आपके चरणों के लेशरूप (स्वल्पभाग) है वे चरण एक तरह आधार (गृहवत्) होते हैं दूसरी तरफ सेवक (रक्षा करने वाले) होते हैं, अर्थात् भगवच्चरण भक्त के लिये आश्रय तथा रक्षक दोनों ही हैं।

भगवान् की भक्ति स्वतन्त्र है एवं सात तरह की है, एक प्रकार से दूसरा प्रकार अधिक है, इसमें जो भगवद्भक्त पहली कक्षा में हैं वे ही मोक्ष की परवाह नहीं करते हैं, तो अन्तिम कक्षा में स्थित न करें तो कौनसा आश्चर्य है। चरम कक्षा वालों को कहते हैं, 'भवत: कथाया: रसज्ञा: जो आपकी कथा के रस को जानने वाले हैं, भगवान् का रस दोनों में (रूप लीला में तथा नाम लीला में) धरा हुआ है, उनमें से जो रूपलीला में आसक्त हैं, वे भगवान् को सदैव अनुकूल करते हैं, यों न रहे तो सेवा बन नहीं सके, अतः यहां कथा रस का वर्णन किया जाता है कथा का रस अनुभव से ही जाना जाता है, इसलिये 'रसज्ञा' पद दिया है अर्थात् इसको जानने वाले। जैसे कामादि हृदय में मौजूद होने पर ही कामिनी (स्त्री) आदिके नाम रूप और रस का अनुभव कर सकता है, इस में रस के अनुभव करने के सिवाय दूसरा कोई प्रमाण नहीं है, यदि पुरुष में कामादि का अभाव हो तो इसको रस की स्फुर्ति नहीं होती है, क्यों कि रस की स्फुर्ति अधिकारी (रसज्ञ) में ही होती है, इसलिये ही 'पुरुष:' न कहकर 'रसज्ञा' पद दिया है रसिकों के हृदय में ही बोज है अतः वह प्रफुल्लित होता है। वह अधिकार शास्त्र और अनुभव से तथा प्रेम एवं ज्ञान से ही होता है। अन्य (लौकिक विषय सम्बन्धी) रसों में जिनका चित्त आविष्ट है उनको यहां कथा में रस की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये ऐसे मनुष्यों को पृथक् करने के लिये ही भगवान् के यह विशेषण 'कीर्तन्य-तीर्थ यशस:' दिये हैं कीर्तन करने के योग्य और तीर्थ रूप यश वाला भगवान् की कथा-यश का प्रतिपादन करने वाला है, यश, सबका और भगवान् को सुनने पर रस पैदा करने वाला है, जो अन्य रस स्वाभाविक है व पहले की रसासक्ति को मिटाता है, यह अनुभव से सिद्ध है। विशेष स्वरूप के कारण भी पूर्व रस के निवर्तक हैं, इसलिये दो विशेषण दिये हैं '१-कीर्तन्यं, २-तीर्थरूपम्' १ कीर्तन करने योग्य २-तीर्थरूप। कीर्तन करने योग्य वह होता है जिससे कीर्तन करने वाले के हृदय में रस उत्पन्न हो, शास्त्र से अथवा अनुभव से। अनुभव से रस पैदा करने वाले अर्थ और काम दो पुरुषार्थ हैं और शास्त्र से धर्म तथा मोक्ष रस जनक हैं, जो सबको रुचि उत्पन्न करने वाला लोक में कोई नहीं है, इसलिये चारों प्रकार के पुरुषार्थ में रस उत्पन्न करने वाला भगवान् का यश ही है। इसलिये वह (भगवद्-यश) ही कीर्तन करने योग्य है अर्थात्

उसका ही कीर्त्तन करना चाहिये। तीर्थ दो तरह के हैं एक गुरु तीर्थ है दूसरा जल रूप गङ्गा यमुनादि तीर्थ हैं ये बाहर एवं भीतर दोनों का उपकार करने वाले हैं, जो विशेष साधन करने में असमर्थ हैं और सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करना चाहता है उसको इन दोनों का सेवन (आश्रय) करना चाहिये, वे दोनों स्थिति के निर्वाहक हैं अतः मरण तक वहां रहने पर सुख पूर्वक पुरुषार्थ सिद्ध होता है, कहीं भी हो पुरुषार्थ में आसक्ति वालों को भगवद् यश ही सुनना चाहिये, क्यों कि वह तीर्थ रूप है, यहां स्वभाव से जो अधिकारी है उसका सूचक विशेषण कहते हैं कुशलाः निपुणता अर्थात् बुद्धि की तीक्ष्णता, इसकी अपेक्षा है, अर्थात् जिसको बुद्धि सारासार, सत्यासत्य जानने वाली है वह स्वाभाविक अधिकारी है ॥४८॥

आभास—एवं भक्तिमार्गानुसारेण भगवन्त स्तुत्वा स्वस्याऽपराधाभावाय स्वदोषं कीर्तयन्ति शपथ प्रकारेण—

आभासार्थ—यों भक्ति मार्गानुसार भगवत्स्तुति कर हम निरपराधी होवें तदर्थ के साथ अपने दोषों का निम्न श्लोक में स्वीकार करते हैं।

श्लोक—**काम भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।**
वाचस्तु नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्र ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! यदि हमारा चित्त भ्रमर की तरह आपके चरण कमलो में रमण करता रहे, एवं हम लोगों की वाणी तुलसी के समान आपके चरण कमलों के सम्बन्ध से सुशोभित होती रहे तथा हमारे कर्ण आपके गुणगणों से पूरित होते रहें तो अपने पापों के फल स्वरूप भले नरकादि लोक प्राप्त होवे उसकी हमें चिन्ता नहीं है ॥४९॥

सुबोधिनी—**कामं भव इति**। जयविजयावस्माभिर्व्याजेन शप्ताविति पक्षो नाऽस्ति, **किन्तु** भगवद्दर्शनलालसतया; अन्यथाऽस्माकमनिष्टं भवत्वित्याहुः-**कामं भव इति। स्ववृजिनैः स्वकृत**-पापैः। नियतदुःखदं पापं वृजिनमित्युच्यते, नियमेन दुःखद वा। अतो यः परस्मै दुःखं प्रयच्छति, स हि स्वयमपि दुःखं प्राप्नोति, अतो नोऽस्माकं **भवो निरयेषु स्तात्**, कामादीनां निरयद्वारत्वश्रवणात्। **'पापीयसस्त्रय:'** इति वाक्यात्तयोः कामादिदानम्। **निरयेष्विति** बहुवचनं न त्रित्वपरम्, देशादिविशेषे दानस्याऽधिकफलजनकत्वात्। **स्तादिति** प्रार्थनायां लोट्। अङ्गीकारेऽनङ्गीकरे चोभयथा हेतुमाह-**चेतोऽलिवदिति**। यथा भ्रमरो रसाविष्टः कालमपि न गणयति, रात्रावपि तत्र स्थितो बद्धो भवति, तथा **नश्चेतस्ते पदयोर्यदि रमेत**, तदा देहस्य नरके स्थितिर्नाऽस्माकं बाधिका। किञ्च, तदेवाऽस्माकं निरये वासो भविष्यति, **अलिवद्यदि पदयो** रतिर्भवेत्। स हि **मधुलोभेन** पुष्पपीडामविगणय्य मधु पिबति, **तथा वयमपि** फल **थिनश्चेत्** दर्शनार्थं **द्वारपालयोरपराधं कृत**-वन्तः, **अन्यथा** मा भवत्वित्यर्थः। एवं मानसमुक्त्वा **वाचनिकमाहु**-**वाचस्त्विति**। यदि नो **वाचस्तुलसीवत्**। **स्वरूपगन्धादिरहिता अपि चरणा**-**रविन्दे शोभते** यथा तुलसी, तथा **वाचोऽपि** **पद**-**चातुर्याद्यनपेक्षा** भगवद्गुणप्रतिपादकत्वेनैव यदि शोभायुक्ताः स्युः, तदापि नरके वासो **न बाधकः**। **तुशब्दः** पूर्वपक्षं व्यावर्तयति, तेन **न समुच्चयः**। किञ्च, यथा तुलसी परप्रेरणया **चरणाविष्टा** भवति, एवमन्यप्रेरणया भगद्गुणा **अस्मद्वाचि** निविष्टा भवेयुः, तदा **नरको भवतु**।

यदा स्वत एव निविष्टाऽभवेत्, तदा न भविष्यतीत्यर्थः । कायिकमाह-पूर्येतेति ते गुणसमूहैर्गुणानामवान्तरजातिभेदैर्वा यदि कर्णरन्ध्रः पूर्येत अलमिति मन्यते, सर्वदा वा पूरितमेव तिष्ठति, निरन्तरश्रवणेन यथाऽन्यन्न प्रविशेत्तथा; पूर्ववदित्यर्थः ।।४६।।

व्याख्या--जय विजय को हमने यों हो छल से शाप दिया है, यों नहीं है किन्तु भगवान् के दर्शन की उत्कट इच्छा थी वह पूर्ण न होगी तो कदाचित् किसी प्रकार की हमारा हानि न हो जावे इस भांति से शाप दिया इसलिये काम-भवः' कहा है 'स्ववृजिनैः स्वकृतपापैः' नियम पूर्वक जिससे दुःख मिले वह वृजिन (पाप) कहा जाता है। अतः जो दूसरे को दुःख देता है वह खुद भी दुःख पाता है इस कारण से भले हम लोगों का जन्म नरकों में हो, क्योंकि काम, क्रोध और लोभ तीन नरक द्वार कहे हैं, 'पापीयसस्त्रयः' इस वाक्य से उन दोनों को (जय विजय को) काम आदि दिये हैं, निरयेषु बहुवचन तीन के लिये नहीं है, किन्तु अधिकता बताने के लिये है, क्योंकि विशेष उत्तम देश में किये हुए दान का फल अधिक मिलता है। 'स्तात्' यह पद लोट् लकार का प्रार्थना अर्थ में दिया गया है। इस पाप करने के कारण नरक प्राप्ति होवे व न होवे दोनों में हेतु कहते है 'चेतोऽलिवत्' पाप का फल नरक मिले परन्तु वहां हम लोगों का चित्त रूप भ्रमर आपके चरण कमलों का रसपान करता रहे तो नरक भी स्वीकार है, और हमको इसका (नरक प्राप्ति का) दुःख भी नहीं होगा यदि आपके चरणों में चित्त रमण न करे तो नरक नहीं चाहिये कारण कि हमने शाप फल प्राप्ति के कारण दिया है वह पाप नहीं है अन्यथा शाप देते तो पाप होने से हम दोषी होते यों मानस कह कर वाचनिक कहते हैं 'वाचस्तु' जो हमारी वाणी तो, जो हम लोगों की वाणी तुलसी के समान स्वरूप एवं गन्ध से रहित होने पर भी चरणारविन्द में जैसे तुलसी शोभती है वैसे हमारी वाणी, पद रचना की चतुरता न होने पर भी भगवद् गुणगान युक्त होकर शोभती रहे तो नरकवासी भी हमें बाधक (दुःखद) नहीं हैं, 'तु' पद प्रथम विचार को अलग करता है इसलिए दोनों को साथ में नहीं दिया है, किञ्च जैसे तुलसी अन्य की प्रेरणा से भगवच्चरणों में प्रविष्ट होती वैसे भगवद्गुण हमारी वाणी में प्रविष्ट हो तो हमको भले नरक मिले यदि हमारी वाणी स्वतः गुणगान करे तो तब नरक न होना चाहिए, अब कायिक कहते हैं 'पूर्येत' हमारे कर्णरन्ध्र सब प्रकार के आपके गुणों से ऐसे भरपूर रहे हैं जिनमें दूसरा कुछ प्रवेश न कर सके तब पूर्वतत हो ।।४६।।

आभास—एवं स्वापराधे स्वयमेव स्वदण्डमनूद्य, समागतानां किमेतदेव फलमिति, शङ्कायां समागमनफलं जातमित्याहुः—

आभासार्थ—इस तरह अपने अपराध का आपने ही अपना दण्ड कहा, तब शङ्का यह हुई कि भगवान् से सम्बन्ध में आये हुओं को क्या यह ही फल हुआ ? जिसके उत्तर में निम्न श्लोक में भगवत्समागम से मिले फल को कहते है-

श्लोक—प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूतरूपं तेनेश ! निवृतिमवापुरलं दृशोनः ।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान्प्रतीतः ।।५०।।

श्लोकार्थ—हे प्रभोः ! आपने यह मनोहर रूप हमारे सामने प्रकट किया है जिससे हमारे नेत्रों को परम सन्तोष हुआ है। यह स्वरूप बहिर्मुख विषयासक्तों को

दृष्टि गोचर नहीं होता है। आप साक्षात् परब्रह्म हैं स्वेच्छा से कृपया हमारे नेत्रों के सामने स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं अतः उसको हम नमन ही करते हैं ॥५०॥

सुबोधिनी—प्रादुश्चकर्थेति । **यदिदं रूपम्,** हे पुरुहूत, **प्रादुश्चकर्थ, तेन** प्रादुर्भूतरूपेण दृशो **निर्वृतिमवापुः** । दृष्टीनां परमसंतोषो जात इत्यर्थः । एवं सुखदातुः प्रत्युपकारोऽपि नमस्कारेणैवेत्याह-**तस्मा इदमिति** । **तस्मै भगवते इदं नम इद्विधेम** न हि शास्त्रानुसारेण कर्तुं शक्यते, अतोऽनुकरणमात्रमिति इदित्युक्तम् । इदित्यव्ययमिवार्थे । **पुरुहूतेति** यज्ञात्मकता, पुरुभिर्हूयत इति, पुरुधा वा इन्द्रादिरूपेण हूयत इति । स्वार्थे प्रादुर्भाव आगमनमेव, अन्तःकरणे तु सुखं न जातमिति भावः । शापदानेन चित्तो ग्लान्युत्पत्तेः । न चैतत्फलमल्पमिति मन्तव्यम्, यतोऽनात्मनां **भवान् दुरुदयः प्रतीतो** दृष्टः । न विद्यते आत्मा येषाम् । यैरात्मैव नाशितो बहिर्मुखत्वादिभिस्तेषां दुरुदयः, दुःखार्थमनुदयो वा । **इदमिति** प्रदर्शयन्तो नमस्कुर्वन्ति । भगवानुपकारकर्तेत्याश्चर्यार्थम्-**तस्मै भगवते** इत्युक्तम् । **प्रतीत** इति प्रमाणम् ॥ ५० ॥

इति श्री भागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चदशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्या—हे प्रभो ! आपने जो यह स्वरूप किया है, उससे हमारे नेत्रों को बहुत सुख प्राप्त हुआ है एवं परम सन्तोष हुआ है । इस प्रकार का सुख देने वाले का प्रत्युपकार भी नमस्कार से ही किया जाता है यों 'तस्या.........नमः' । वाक्य से कहते हैं, उस भगवान् को यह नमस्कार जैसा कहते हैं, क्योंकि शास्त्रानुसार नहीं कर सकते हैं, इसलिए केवल नमन का अनुकरण करते हैं इसलिए इव (समान) अर्थ में 'ईत्' शब्द दिया है ।

'पुरूहूत' पद से यज्ञात्मकता बताई है, बहुत जिनका आव्हान करते हैं अथवा इन्द्रादिरूप से जिसका आव्हान करने में आता है वह यज्ञस्वरूप भगवान् स्वय पधारे हैं, वे हम मुनिओं के लिए ही प्रादुर्भाव हो यहां आये हैं ।

जय विजय को शाप देने से चित्त में ग्लानि की उत्पत्ति होने से अन्तः में इस प्रादुर्भाव से आनन्द नहीं हुआ है, किन्तु यह फल भी जो प्राप्त हुआ है वह अल्प न समझना चाहिये, क्योंकि आप अनात्माओं का (अर्थात्) बहिर्मुख विषयी, जिन्होंने आत्मा को भुला दिया है उनको प्रकट होते हुए भी दृष्टि गोचर नहीं होते है अथवा उनके कारण प्रकट नहीं होते हो, क्योंकि दर्शन न होने से उनको दुःख होगा, 'इदं' पद से यह सामने स्थित स्वरूप को दिखाकर नमस्कार करते हैं, भगवान् उपकार करते हैं यह आश्चर्य कारक है यों जताने के लिए 'उस भगवान् को नमस्कार' कहा है, 'प्रतीतः' पद से प्रमाण कहा हैं ॥५०॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध पन्द्रहवें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

(बन्ध सृष्टि) मतान्तर प्रकरण

"अध्याय"—१६

जय-विजय का वैकुण्ठ से पतन

कारिका—मुनिमानससंतोषस्ततः स्तोत्र तथाविधम् ।
शापस्थापननिर्याणे षोडशे विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—मुनियों को मानस सन्तोष, अनन्तर उसी प्रकार की स्तुति, शाप की स्पष्टता का एवं उनका निष्फल जाना १६ वें अध्याय में निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—भक्तांना तु कृतिः सत्या वाक् सत्या ब्रह्मवादिनाम् ।
मनो भगवतः सत्यमित्यध्यायविनिर्णयः ॥२॥

कारिकार्थ—भक्तों का (जय विजय का) कार्य (मुनियों को भीतर जाने से रुकावट) सत्य हुआ, ब्रह्मवादी मुनियों की वाणी सत्य (जय विजय को दिया हुआ शाप फलीभूत हुआ) हुई, भगवान् का मन (विचार) सत्य होवे यों इस १६ वें अध्याय में निर्णय किया गया है ॥२॥

कारिका—मनसः प्रबलत्वाद्धि तेषां नान्यविरोधिता ।
पूर्वयोरनभिप्रेतं तृतीयादेव सुस्थिरात् ॥३॥

कारिकार्थ-मन प्रबल होने से भक्त (द्वारपाल) और मुनियों की कृति से भगवान् के मानस विचार (मन) विरोधी न हुए, दोनों देवों के लिए जो अनिच्छित था वह विशेष दृढ़ तीसरे से हो गया अर्थात् उस समय लौकिक सघात रहित मुनियों को भी मन आदि का संसर्ग हो गया जिससे क्रोध उत्पन्न हुआ ॥३॥

कारिका—अतो भगवतः सर्गलीलायां दुर्बलार (ऽव) तिः ॥३½॥

कारिकार्थ--इस कारण से इस सृष्टि लीला में वा स्थिति लीला होने से प्रेम दुर्बल है ॥३½॥

आभास—एवं पूर्वाध्याये अर्द्धतुष्टानां मुनीनां स्तोत्रमुक्तम् । तयोः पूर्णसंतोषार्थं भगवान् ब्राह्मणस्तोत्रं कृतवानित्याह--

आभासार्थ--इस तरह १५ वे अध्याय में स्वल्प प्रसन्न हुए मुनियों ने भगवान् की स्तुति की है उनको (मुनियों को) पूर्ण प्रसन्नता हो तदर्थ भगवान् ब्राह्मणों की स्तुति करते हैं यों इस श्लोक में ब्रह्मा कहते हैं ।

श्लोक—**ब्रह्मोवाच । इति तद्‌गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।**
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥१॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा कहने लगे कि, योगधर्म पालन करने वाले मुनि जब इस प्रकार स्तुति कर रहे थे तब वैकुण्ठ धाम वाले सर्व समर्थ भगवान् उसका अभिनन्दन करते हुए निम्न प्रकार से कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—**इति तद्‌गृणतामिति** । पूर्वोक्तप्रकारेण गृणतां तेषां भीतानां मुनीनां शास्त्रानुसारिणां वचनं **प्रतिनन्द्य** । तच्छब्देन वचनं प्राप्यते । प्रतिनन्दनं बहिरेव कृतम्, प्रतिनन्दनस्यैवाऽग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । **इदं** वक्ष्यमाणं **जगाद** । ननु किमित्येवं जगाद, यतो भक्तानां दुःखं भवति । तत्राह-**विकुण्ठनिलय इति** । विकुण्ठस्थानं निलयो यस्य । गृहागतानां संतोषः कर्त्तव्य इति । नन्वेवं सति भक्ताः पीडिता भवेयुरित्याशङ्क्याऽऽह-**विभुरिति** । स्वभृत्यान् सर्वप्रकारेणापि मोचयितुं समर्थः इत्यर्थः ॥१॥

व्याख्या—वे डरे हुए तथा शास्त्रानुसरण करने वाले मुनि ऊपर कहे हुए प्रकार से स्तुति कर रहे थे उसको सुनकर भगवान् उनके वचनों का अभिनन्दन कर कहने लगे, यह अभिनन्दन बाहर ही किया, कारण कि अभिनन्दन सामने ही कहा जाता है, भगवान् ने भक्तों के सामने इस प्रकार का अभिनन्दन कैसे किया ? जिससे भक्तों को दुःख होता है । इस पर कहते हैं कि भगवान् विकुण्ठ में विराजते हैं वह (विकुण्ठ) आपका घर है अतः घर में पधारे हुए सत्पुरुषों को सन्तोष हो ऐसे वचन कहकर उनका सन्तोष करना ही चाहिये, यदि यों किया जाता है तो भक्त दुःखी होंगे इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं कि 'विभुः' भगवान् सर्व समर्थ हैं जिससे अपने भृत्यो को सर्व प्रकार दुःख से छुड़ाने में शक्तिमान हैं यों तात्पर्य है ॥१॥

आभास—प्रथमतः सेवकयोरपराधं समर्थयति-

आभासार्थ--पहले भक्तों का अपराध है यों निम्न श्लोक में सिद्ध करते हैं-

श्री भगवानुवाच । श्लोक—एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रान्तामतिक्रमम् ॥२॥

श्लोकार्थ--श्री भगवान् कहते हैं कि, जय विजय मुझे वर देने वाले मेरे दो पार्षद हैं किन्तु मेरा तिरस्कार कर उन्होंने आपका बहुत अपमान एवं आपसे अत्याचार किया है ॥२॥

सुबोधिनी– एताविति । **एतौ** जयविजयौ, तौ पूर्वकल्पे मधुकैटभौ, **मह्यं** वरदानान्मदुत्सङ्गे मृताविति मया वैकुण्ठे समानीतौ । तदानौ बहूनां सेवकानां विद्यमानत्वात्सन्देहनिवृत्यर्थं नाम गृह्णाति-**जयो विजय एव चेति** । मदर्थं यो जयः स एकः, जयनामा च । इन्द्रियादीनामन्यार्थं जयो ज्ञानमार्गे, मदर्थं जयो भक्ति मार्गे, अन्तःकरणजय इत्यर्थः । विविधो जय इन्द्रियादीनां द्वितीयः । अत एवैतौ मम पार्षदौ, पार्षदि सभायां योग्यौ । यथाऽन्तःकरणे तज्जयो भगवत्स्थितौ हेतुर्भवति, तथा वैकुण्ठस्थितावेतावेव हेतुभूतौ । अत एवैतयोरुत्पत्तिविमर्शनेनाऽपराधकरणं युक्तमेव । न हि साक्षान्मनसा भगवान् गन्तुं शक्यः, किन्तु जयेनैव शक्य इति भगवत आनन्दरूपस्य सहज सुखत्वेन मनसः प्रवृत्तियोग्यत्वेऽपि जयप्रतिबन्धान्न भगवद्गमनम् । अत एव मां **कदर्थीकृत्य**, व्यवहारेऽपि ब्रह्मण्यत्वादिमद्धर्मान् दूरीकृत्य, **वो** युष्माकमतिक्रमं **बह्वक्रान्ताम्** ॥२॥

व्याख्या--ये जय और विजय पूर्व जन्म में मधु और कैटभ थे, इन्होंने मुझे वर दिया था, वे मेरी गोद में मेरे हाथ से मरे थे अतः इनको मैं यहां वैकुण्ठ में ले आया था, उस समय बहुत से सेवक विद्यमान (मौजूद) थे, यदि भगवान् नाम न लेते तो संशय पड़ता इसलिए 'जय विजय' यों नाम लिये ।

ज्ञान मार्ग में इन्द्रियादि पर जय अन्य के लिए की जाती है भक्ति मार्ग में उन पर अन्तःकरण पर जय मेरे लिए की जाती है, इन्द्रियादि का विविध जय दूसरा जय (विजय) नाम वाला पार्षद है, इस कारण से ही ये दोनों मेरे पार्षद अर्थात् सभा में रहने योग्य हैं, जैसे अन्तःकरण में उनकी जय भगवान् की स्थिति का कारण होती है, वैसे ये वैकुण्ठ में स्थिति के हेतु हैं, इस कारण से इन दोनों की उत्पत्ति का विचार करने से समझ में आता है कि, इनका अपराध करना उचित ही है क्यों कि मन, जय के सिवाय सीधा भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता है, अतः भगवद्दर्शन जय द्वारा ही हो सकता है, भगवान् आनन्द रूप हैं वे स्वाभाविक सुख होने से मन उसकी प्राप्ति की प्रवृति योग्य होते हुए भी जय के प्रतिबन्ध से भगवान् के पास नहीं जा सकता है, इस कारण से ही मेरा ध्यान (विचार) न कर व्यवहार में भी मेरे जो ब्रह्मण्यत्व आदि धर्म हैं उनको भी दूर कर आपका इन दोनों ने बहुत अपमान किया है ॥२॥

आभास--अत एवैतयोर्दण्ड उचित इत्याह-

आभासार्थ—इस कारण से इन दोनों को आपने जो दण्ड दिया है वह उचित ही है यों निम्न श्लोक में कहते है–

श्लोक—यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः ।
स एवाऽनुमतोऽस्माभिर्मुनयो ! देवहेलनात् ॥३॥

श्लोकार्थ—मेरे समान धर्म वाले आपने जो इन दोनों को दण्ड दिया है, हे मुनियों ! उसके साथ हम सम्मत हैं क्योंकि इन्होंने देवों का (ब्राह्मणों का) अपमान किया है ॥३॥

सुबोधनी—यस्त्वेतयोरिति । तुशब्दो दण्डान्तरव्यावृत्त्यर्थः । यो जन्मत्रयात्मको दण्डः, स एवाऽनुमतोऽस्माभिः । भवद्भिर्मया चेतिः सेवकसहितेन मया वा । उभावपि दण्डनीयावित्ये तयोरित्युक्तम् । **अनुव्रताः** सधर्माः मत्कार्यं कृतमिति, ममाऽत्र महान् संतोष इति, तेषां कृत्यभिनन्दनम् । **मुनय इति** संबोधनं काकतालीयकरणव्यावृत्त्यर्थम्, अभिप्रायज्ञानार्थं वा । नन्वेतयोः कोऽपराधः ? द्वाररक्षा तु स्वधर्म इति तत्राऽऽह–**देवहेलनादिति** ।अस्मद्देवा ब्राह्मणाः जरोक्षदेवो यज्ञः, प्रत्यक्षदेवो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरिति । स एवेत्येवकारेण इदानीमन्यो न वक्तव्य इति सूचितम् ॥३॥

व्याख्या–'तु' शब्द देने का आशय है कि जो आपने दण्ड दिया है वह उचित होने से बदलना नहीं है । आपका दिया हुआ यह दण्ड ही हम (आप और मैं अथवा मेरे सेवक और मैं) अनुमोदन करते है. ये दोनों दण्ड के योग्य थे, इसलिए 'एतयोः' द्विवचन कहा है, 'अनुव्रताः' शब्द का भावार्थ है कि आप मेरे हमारे समान धर्म वाले हो अतः मेरा कार्य आपने ही कर दिया मुझे इस विषय में बहुत सन्तोष है, यों कहने से उनकी कृति का अभिनन्दन (प्रशंसा) किया है, यह कार्य आपने अचानक नहीं किया है यों बताने के लिए अथवा आपके अभिप्राय को मैं जानता हूं यों कहने के लिए, हे मुनियों ! सम्बोधन दिया है ।

इनका क्या अपराध है, द्वार की रक्षा करना तो इनका अपना धर्म है, जिसका पालन किया है इसमें कौनसा अपराध किया है ? इस पर कहते हैं 'देपहेलनात्' देवताओं का अपमान अपराध है वह इन्होंने किया है, ये देवता ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण ही मेरे देवता हैं, यज्ञ परोक्ष देव हैं। प्रत्यक्ष देव यज्ञ का अधिष्ठाता विष्णु है, ये तीनों देव इनमें हैं अतः दण्ड इन तीन रूप वालों ने दिया है अतः वह ही दण्ड पर्याप्त है दूसरे की आवश्यकता नहीं है इसलिए दूसरा दण्ड नहीं कहना चाहिए यों सूचित किया है ॥३॥

आभास—एवमपराधदण्डौ निरूप्य, सेवकापराधं दूरीकृत्य, दण्डापराधं च दूरीकरोति प्रार्थनया–

आभासार्थ—यों अपराध एवं दण्ड का निरूपण कर सेवक का अपराध दूर कर, अब इस श्लोक द्वारा मुनियों ने जो द्वारपालों को दण्ड देने का अपराध किया वह और अपना अपराध दूर करते हैं—

श्लोक—तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।
तद्धि ह्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृतम् ॥४॥

श्लोकार्थ—इसलिए मैं आज आपसे क्षमा याचना कर आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ, क्योंकि ब्राह्मण मेरे लिए उत्तम देव हैं, अतः मेरे सेवकों ने उनका जो अपराध किया वह मैंने ही किया यों मानता हूँ ॥४॥

सुबोधिनी—तद्वः प्रसादयामिति । युष्मानद्य प्रसादयामि, यतोऽपराधो जात इति । अपराधो हि महत्यल्पस्य भवति, प्रकृते तु कथमपराध इति चेत्तत्राऽऽह—**ब्रह्म दैवं परमिति** मम दैवं देवता, **ब्रह्म** ब्राह्मणजाति । **परमिति** विष्णवपेक्षयाऽपि । आधिदैविको विष्णुर्देवो भवति, '**विष्णुर्वा अकामयत. पुण्यं श्लोकं शृण्वीय न मा पापाकीर्तिरागच्छेदिति** । स एतं **विष्णवे श्रोणायै पुरोडाशं त्रिकपाल** निरवपत्' इति श्रुतेः । तद्यावृत्यर्थमाह-**परमिति** । प्रत्यक्षश्रुतौ देवापेक्षया ब्राह्मणामुत्कर्षविधानात्, '**एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणा इति**' । तदाह—**हिशब्देन** । ननु भवतः कोऽपराधस्तत्राऽऽह-**तद्धि ह्यात्मकृतं मन्य** इति । यत् **स्वपुम्भि**; स्वसेवकैरसत्कृतम्, तदहमात्मकृतमेव **मन्ये** । हि युक्तोऽयमर्थः, भृत्यकृत एव स्वामिकृता भवन्तीति, अन्यथा भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो न स्यात् । अनेन मयैव भवन्तो निवारिता इत्यप्युक्तम्। कृतमपि तद्युक्तमेव, द्वारपालकधर्मत्वात् । अत एव हि द्वयमन्योन्यं हेतुभूतम् । यद्यप्येतादृशे लोक; स्वाम्यपराधं न मन्यते, तथाप्यहं मन्ये; यतस्ते स्वपूरुषाः । ४ ।

व्याख्या—आज आपसे क्षमा लेकर आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ, क्योंकि मुझसे अपराध हुआ है, अपराध तो वह कहा जाता है जो छोटे से बड़े का हो प्रकृत विषय में अपराध कैसे ? आप बड़े हैं हम छोटे हैं, इस पर कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि 'ब्रह्मदेवं परं' मेरे लिए ब्राह्मण जाति ही परम देव हैं इसलिए ब्राह्मण देव होने से विष्णु से भी आप बड़े हैं, विष्णु आधि दैविक देव माना जाता है, जैसे कि 'विष्णुर्वा' अकामयत. पुण्यं श्लोकं शृण्वीय न मा पापाकीर्ति-रागच्छेदिति । स एतं विष्णवे श्रोणायै पुरोडाशं त्रिकपालं निरवपत्' श्रुति है, जिसका भावार्थ है, कि विष्णु ने इच्छा की कि मैं पूण्य श्लोक का श्रवण करूं, जिससे मुझे पापों की अपकीर्ति प्राप्त न होवे, तब उसने विष्णु को तीन पात्रों में यवागू की बलि अर्पण की, इससे यह बताया है कि विष्णु आधिदैविक होने पर देव होते हैं किन्तु ब्राह्मण स्वतः देव हैं इसलिए 'परम्' पद देकर उनकी उत्तम कोटि में गणना की है, अन्यत्र भी श्रुति कहती है कि 'एतेवै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणा इति 'ये जो ब्राह्मण हैं वे प्रत्यक्ष देव हैं' वह 'हि' शब्द से सिद्ध करते हैं 'तत् हि आत्म कृतं मन्ये' जो मेरे, सेवक द्वारपालों ने असत् कर्म किया वह मैंने ही किया है यों मानता हूं यह ही अर्थ उचित है, सेवक के किये हुए दोष (अपराध) स्वामी के किये हुए माने जाते हैं यों न होता तो भृत्य के अपराध पर स्वामी को दण्ड क्यों मिलता ? इससे यों कहा कि मैंने ही आपको भीतर आने से रोका है यह कृत्य उचित ही था क्योंकि द्वारपाल का यह धर्म ही था इस कारण से दो 'हि' शब्द परस्पर के कारण प्रदर्शित करते है यद्यपि ऐसे विषय में लोक स्वामी का अपराध नहीं मानते हैं तो भी मैं मानता हूं क्योंकि वे मेरे पुरुष (सेवक) हैं ॥४॥

आभास–प्रसादश्चाऽत्र सर्वथा कर्मण्य:, अन्यथा महदनिष्टं स्यादित्याह—

आभासार्थ· इस प्रसङ्ग में सर्वथा अनुग्रह करना ही चाहिये नहीं तो महान् अनर्थ होगा यों निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक–यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि।
सोऽसाधुवादस्तत्कीर्ति हन्ति त्वचमिवाऽऽमय: ॥५॥

श्लोकार्थ— सेवकों के अपराध करने पर लोक स्वामी का नाम लेकर उसकी निन्दा करते हैं वह निन्दा स्वामी की कीर्ति का इसी तरह नाश कर दो जैसे चर्मरोग त्वचा का नाश करता है ॥५॥

सुबोधनी—**यन्नामानीति**। महतामपि लोकापवाद्भयं भवति। अत एव भृत्ये कृतागसि लोको यस्य स्वामिनो नाम गृह्णाति। **नामानीति**बहुवचनं तस्य सर्वसंबन्धेनाऽधिक्षेपार्थं सर्वाण्येव नामानि गृह्णाति; **चकारा**त्तस्य गुणान् कर्माणि च निन्दार्थमुद्घाटयति। किमतो यद्येवमत आह–**सोऽसाधुवाद इति**। स लोकैरुच्चार्यमाणोऽसाधुवाद:। असाधुत्वेन कीर्त्तनमपकीर्तिरिति यावत्। **तत्कीर्ति** **यन्ति**, यद्विषयक: स्वयम्। ननु विद्यमानां कीर्ति प्रसिद्धां कथं हन्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन समर्थयति-**हन्ति**, **त्वचमिति** **आमयो** रोग: श्वित्रादि:, यथा शरीरे विद्यमान एव तस्य त्वचं हन्ति, स्वस्य रूपमेव प्रकटयति ॥५॥

व्याख्या—महत्पुरुषो को भी लोकापवाद (लोको में हुई निन्दा) से भय उत्पन्न होता है, इस कारण से ही सेवक के अपराध करने पर लोक स्वामी का नाम लेते हैं अर्थात् यह सब अपराध स्वामी का है स्वामी की इच्छा व आज्ञा के बिना सेवक यों नहीं कर सकते हैं, इस प्रकार होने वाली निन्दा से महापुरूष भी डरते हैं 'च' पद देने का आशय है कि सेवक के अपराध करने के कारण लोक स्वामी के गुण और कर्म सबकी निन्दा करने लग जाते है यदि कोई कहे कि भले करे, करने दो, इससे क्या होगा ? इस पर कहते हैं कि लोकों से जो कुछ कहा जाना है वह 'असाधुवाद' है अर्थात् असाधु वाद (अपकीर्ति) (कहने की अशिष्ट नीति) है, वह अशिष्ट नीत एक प्रकार से निन्दा है उसका विषय यहां मैं हूँ जो कीर्ति प्रसिद्ध हूं एवं विद्यमान (मौजूद) हूँ उस कीर्ति को कैसे नाश किया जायेगा ? इसका उत्तर दृष्टान्त से समझाते हैं कि विद्यमान स्वच्छ शरीर में कोढ़ की (श्वेत कोढ़ की) जैसे त्वचा का नाश करती है अर्थात् वह व्याधि (श्वेत कोढ़) त्वचा का रूप बदल अपने समान श्वेत कर देती है वैसे ही निन्दा रूप व्याधि उस स्वच्छ गुण रूप यशको नष्ट करती है। ॥५॥

आभास—नन्वीश्वरस्य सर्वनियन्तुर्दासानुदासस्य तुच्छस्याऽन्त:प्रवेशाभावे को वा अपराध:? लोको हि तु, महाराजगृहे क्षुद्राणां प्रवेशो नाऽस्तीति, कथमपकीर्ति वदेदित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ– तुच्छ दासानुदास का यदि सर्व नियन्ता ईश्वर के द्वार में प्रवेश नहीं हुआ तो उनका कौनसा दोष ? लोक में भी महाराजा के गृह में शूद्रों का प्रवेश नहीं होता है तब उनकी लोक तो अपकीर्ति नहीं करते हैं, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर इस श्लोक में देते हैं।

श्लोक–यस्याऽमृतामलयशःश्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिश्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ।६।

श्लोकार्थ—जिस मेरे अमृत तथा निर्मल यश का श्रवण रूप स्नान, चाण्डाल पर्यन्त सकल जगत् को उसी समय ही पवित्र करता है। वैसे विकुण्ठ आप लोगों से ही मैंने कीर्ति प्राप्त की है, अतः जो कोई भी आपके विरूद्ध आचरण करेगा उसको मैं काट डालूँगा चाहे वह मेरी प्रजा ही क्यों न होवे ।।६।।

सुबोधिनी –**यस्येति**। उपजीव्यत्वाद्ब्राह्मणातिक्रमे ममाऽपकीर्ति वदेदेव। उपजीव्यत्वं च मम कीर्तिस्तदधीनेति। तदेवाह–**यस्य ममाऽमृतममलं** यद्यशः, तस्य **श्रवणावगाहः**, **आ श्वपचात्** श्वपचं मर्यादीकृत्य, **जगदेव सर्वं पुनाति**। एवं जगत्पवित्र कीर्तित्वादहं **विकुण्ठः** कुण्ठरहितः। कस्मिन्नप्यंशे दोषरहित इत्यर्थः। एतादृशोऽप्यहं पुरुषोत्तमो **भवद्भ्य** एवोपलब्धा **सुतीर्थरूपा कीर्तिर्यस्य** तादृशः। **यशः** पराक्रमजन्यम्, **कीर्तिः** सदाचारजन्या। मम यशो जगति पावित्र्यमपि संपादयति, मन्नाम्ना दुष्टरूपपापनिग्रहात्। पराक्रमो हि दोषनिवारणरूपः। स चेद्दोषः सहजोऽपि भवेत्सोऽपि मद्भयान्नश्येत्, अतश्चण्डालदेहे उत्पादकोऽपि दोषो नश्यति। अतो वैकुण्ठस्थान यशःपुञ्जेन विराजमानं मम सामर्थ्यसूचकं वर्तते। तथापि कीर्तिः, साधवश्चेत् कीर्त्तयेयुः, तदैव भवति। तेन कीर्त्यर्थे मम सेवकाः सदाचाराः, ते मत्परायणा भवन्ति; निरन्तरं कीर्तनेन कृतार्थाश्च भवन्ति। अतस्तीर्थभूतकीर्तिसंपादकत्वेनोपजीव्या ब्राह्मणाः। अतस्तेषु योऽपराधं करोति, मद्बाहुरूप इन्द्रोऽपि, तमपि छिन्द्याम्। अत एव बृहस्पत्यतिक्रमे इन्द्रस्य महती पीडा संवृत्ता राज्यभ्रंशादिरूपा। अतो युक्तमेव प्रसादनमित्यर्थः। ॥६॥

व्याख्या– मेरे उपकारक ब्राह्मणों का अतिक्रम (अपराध) हो तो मेरी अपकीर्ति लोक करेगें हीं मेरा यश उनके आधीन हैं क्योंकि वे मुझ पर सदैव उपकार दृष्टि कर रहे हैं। वह स्पष्ट कर कहते हैं 'यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाह इत्यादि' जो विकुण्ठ रूप मेरे अमृत तथा निर्मल यश का श्रवण रूप स्नान, चण्डाल पर्यन्त समस्त जगत् को उसी ही समय पवित्र कर देता है यों जगत् को पवित्र करने से कीर्ति मान होने से मैं विकुण्ठ कहा जाता हूं अर्थात् किसी भी अंश से मुझ में दोष न होने से निर्दोष हूं, ऐसा भी मैं पुरुषोत्तम हूं तो भी आप लोगों द्वारा ही सुतीर्थ रूपा कीर्ति मैंने प्राप्त की है, यश पराक्रम से उत्पन्न होता है, कीर्ति सदाचार से उत्पन्न होती है, मेरा यश जगत् में पवित्रता भी सम्पादन करता है, मेरे नाम से दुष्टरूप पापों का निग्रह होता है, पराक्रम ही दोषों का निवारक है यदि वह दोष सहज भी होवे तो भी मेरे भय से नाश हो जाना चाहिये, अतः जिस दोष ने जीव को चाण्डाल देह दी है वह दोष भी नाश हो जाता है, अतः वैकुण्ठ स्थान यशःपुञ्ज से सुशोभित हो मेरे सामर्थ्य का सूचक है, तो भी कीर्ति तब होती है जब साधुजन कीर्ति गाते हैं, उस

कीर्तिगान से जो मेरे सेवक सदाचारी हैं वे मेरे परायण होते हैं और निरन्तर कीर्तन करने से कृतार्थ होते हैं, अतः ब्राह्मण तीर्थ रूप कीर्ति प्राप्त करने वाले होने से मेरे उपकारक हैं, इसलिए जो भी इनका अपराध करता है, यदि वह मेरा बाहु रूप इन्द्र भी हो तो उसको भी काट डालूँ, इस कारण से ही बृहस्पति का अपराध करने पर इन्द्र को राज्यभ्रंश आदि महती पीड़ा भोगनी पड़ी अतः आपको क्षमा करनी ही उचित है, यों अर्थ (आशय) है ॥६॥

कारिका—**कीर्तिर्लक्ष्मीस्तथा भोगस्त्रयं विप्रप्रसादतः । भृगोः कन्या यतो लक्ष्मीर्मुखं चाऽपि द्विजा मम ॥१॥**

कारिकार्थ—कीर्ति, लक्ष्मी और भोग ये तीन ही ब्राह्मणों की कृपा से होते हैं क्योंकि लक्ष्मी भृगु (ब्राह्मण) की कन्या है और ब्राह्मण मेरे मुख भी हैं। १॥

आभास—तत्र कीर्ति निरूप्य ब्राह्मणाधीनां लक्ष्मी निरूमयति—

आभासार्थ—कीर्तिकानिरूपण कर इस श्लोक में कहते हैं कि लक्ष्मी भी ब्राह्मणों के आधीन है—

श्लोक—**यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं सद्यः क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।**
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान्वहन्ति ।७।

श्लोकार्थ—जिनकी (ब्राह्मणों की) सेवा करने से ही मेरी चरणरज ऐसी पवित्र बनी है कि वह समग्र पापों को तत्काल नाश कर देती है, और इस कारण से ही मुझे ऐसा सुन्दर स्वभाव प्राप्त हुआ है जो उदासीन रहने पर भी लक्ष्मी मुझे क्षणमात्र के लिये भी नहीं छोड़ती है, यद्यपि इन्हीं (लक्ष्मी) के लेशमात्र कृपा कटाक्ष के लिये दूसरे देव नाना प्रकार के व्रतों तथा नियमों का पालन करते हैं ॥७॥

कारिका—**यत्सेवयेति । स्त्रियः स्वभवतो दुष्टाश्चञ्चलाश्चाऽपि नित्यशः । आचारजनिता कीर्तिर्ब्राह्मणाश्च नियामकाः ॥१॥**

कारिकार्थ—स्त्रियाँ स्वभाव से दुष्ट और नित्य चंचल भी हैं कीर्ति सदाचरण से प्राप्त होती है ब्राह्मण ही उसके (सदाचार के) नियामक (उपदेशक) हैं ॥१॥

कारिका—**ईश्वरस्य तु याः पत्न्यस्ता विरक्ते न हि स्थिराः । भृगोराज्ञां ततः प्राप्य स्थिरा लक्ष्मीस्ततो मयि ॥२॥**

कारिकार्थ—प्रभु की जो पत्नियां होती हैं वे भी वैराग्य वाले पुरुष में स्थिर नहीं रह सकती है, अतः मुझमें लक्ष्मी भृगु की आज्ञा से स्थिर रही है ॥२॥

सुबोधिनी—स्वोत्कर्ष वर्णयति ब्राह्मणोत्कर्षार्थम् येषां ब्राह्मणानां सेवया चरणपद्मे पवित्रो रेणुर्यस्य। सेवाजनित संस्कारश्चरणे तिष्ठतीति चरणसंबन्धी यः कश्चन रेणुः, सगङ्गावत्पवित्ररूपो भवति। रेणोरिति। पाठे एतावद्भिन्नं वाक्यम्। द्वितीयान्तपाठे तु पूर्वार्द्धविशेषणान्युद्देश्यानि ब्राह्मणसेवासाध्यानि। विरक्तिरपि तत एव, विरक्तिविरोधी नियतो लक्ष्मीस्थितिलक्षणो धर्मोऽपि तत एव। लक्ष्म्या माहात्म्यं ब्राह्मणमाहात्म्यार्थम्। सद्यः क्षतमखिलानां मल येन। प्रतिलब्धं शीलं येन। यस्या लक्ष्म्या प्रेक्षालवार्थे इतरे ब्रह्मादयो नियमान् कृच्छ्रादीन्, भगवद्व्रतानि वा, वहन्ति। लक्ष्मीकटाक्षकामनया तपः कुर्वन्तीत्यर्थः। पापनाशकत्वमपि ब्राह्मणसेवया, तद्वाक्यादेव नियमात्, सारस्वतकल्पे सर्वस्य ब्राह्मणाधीनत्वाच्च। वस्तुतस्त्वपहतपाप्मा भगवान्, अत एव लोकानामपि तत्संबन्धात् पापनाशः, लक्ष्म्या अपि दोषनिवृत्तिः। प्रभूणां भोगाभिनिविष्टानां सदाचारपरिपालनलक्षणः सुस्वभावो महापुरुषागमनेन महापरूषसेवया संपद्यते, रागनिवृत्तिरपि तदनुरोधादेव। वस्तुतस्तु धर्मो भगवत्येव प्रतिष्ठित इति निर्दुष्टत्वाच्च रागानाचाराभावः ॥७॥

व्याख्या—ब्राह्मणों का उत्कर्ष दिखाने के लिये ही भगवान् अपना उत्कर्ष कहते हैं ब्राह्मणों की सेवा से मेरे चरण कमल की रज पवित्र हुई है, सेवा से उत्पन्न संस्कार चरण में रहता है, इसलिए चरणों के सम्बन्ध वाली रेणु अङ्ग की तरह पवित्र रूप बन गयी है, यदि मूल श्लोक में 'रेणुः' प्रथमान्त हो तो यह वाक्य यहां तक भिन्न समझना, यदि 'रेणु' द्वितियाविभक्ति में हो तो पूर्वार्द्ध में कहे हुए विशेषण, ब्राह्मणों की सेवा से प्राप्त हुए गुण दिखाने वाले हैं, यों जानना। विरक्ति भी उससे (ब्राह्मण सेवा से) ही हुई है वैराग्य से विरुद्ध जो नियमित लक्ष्मी की स्थिति रूप धर्म भी उससे (ब्राह्मण सेवा से) हुआ है। ब्राह्मणों के माहात्म्य के लिए ही लक्ष्मी का माहात्म्य वर्णन किया है, उसी ही क्षण में सकलों का पाप नाश करने वाले सदाचरण (सदाचार) को प्राप्त करने वाले भी ब्राह्मण सेवा से हम हुवे हैं, जिस लक्ष्मी की क्षणमात्र कटाक्ष प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मादि दूसरे देव कृच्छ्रादि व्रतों के नियम और भगवद्व्रत पाल रहे हैं, अर्थात् लक्ष्मी के कटाक्ष की कामना से तपस्या कर रहे हैं यों आशय है, पाप नाशकत्व भी ब्राह्मण सेवा से हुआ है कारण कि उनके वाक्य से ही नियम पालन हो सकता है सारस्वत कल्प में सब कुछ ब्राह्मणों के अधीन था, वास्तव में तो भगवान् ही पाप नाशक हैं उनके ही सम्बन्ध से लोगों का पापनाश होता है लक्ष्मी के दोषों की भी निवृति इनके सम्बन्ध से होती है, भोगासक्त प्रभुओं का सदाचार पालन रूप उत्तम स्वभाव महापुरुषों के पधारने से तथा उनकी सेवा से होता है (हुआ है) आसक्ति निवृत्ति भी उनकी आज्ञानुसार चलने से होती है वास्तविक धर्म तो भगवान् में ही प्रतिष्ठित है जिससे दोष रहित होने से दोनों (भगवान् और लक्ष्मी) में आसक्ति एवं अनाचार का अभाव है। ७॥

आभास—ब्राह्मणाधीनं स्वस्य भोगमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में अपना भोग भी ब्राह्मणाधीन हैं, यों भगवान् कहते हैं—

श्लोक—नाऽहं तथाऽद्मि यजमानहविर्विताने श्च्योतद्धृतप्लुतमदन्हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥८॥

श्लोकार्थ—जिन ब्राह्मणों ने अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पण कर सन्तोष प्राप्त किया है वे ब्राह्मण जब घृतयुक्त नानाविध पकवानों का भोजन करते हैं तब उनके मुख से प्राप्त भोजन से जैसा मैं प्रसन्न होता हूं वैसा यज्ञ में अग्निरूप मुख में यजमान की दी हुई आहुतियों से प्रसन्न नहीं होता हूं ॥८॥

सुबोधिनी—नाऽहंतथाद्मीति । स्वभावतोऽहं स्वमुखेनाऽनश्नन्नेव तिष्ठामि, '**अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**' इति श्रुतेः । गौणं च मम मुखद्वयम्, अग्निर्ब्राह्मणश्च कार्यरूपम् । तत्राऽन्यपेक्षयाऽपि ब्राह्मणो मम मुखं समीचीनम् । तदाह—**नाऽहं तथा हुतङ्भुग्मुखेनाऽद्मि** तर्हि यज्ञानां वैफल्यं स्यादित्याशङ्कयाऽऽह-**अदन्नपि तथा नाऽद्मीति** अदनमपि वह्नेः सर्वभक्षकत्वात् काष्ठादिभक्षकत्वाच्च तस्य मुखत्वेऽनिष्टं भविष्यतीति न निषिध्यते, किन्तु निषेधेऽन्य एव हेतुरिति वक्तुमाह—**यजमानहविर्विताने श्च्योतद्धृतप्लुतमिति** । यजमानपदेन सत्रनिषेधः, क्रूरत्वात् बहुकर्तृकत्वाच्च '**किमेते सत्रिणः**' इति श्रुतेः ; गणान्नत्वाच्च । हविर्यज्ञाः पश्वादिव्यतिरिक्ताः, अतो हविः शब्देन पश्वादिकं निषिध्यते । **विताने** विस्तारयज्ञे । **श्च्योतद्घृतप्लुतमिति** । उभयतश्च्योतता घृतेन प्लुतं हविर्हुतभुङ्मुखेनाऽदन् । अग्नौ प्रथमत आज्यश्च्योतनम्, पश्चाद्धविषः प्रक्षेपः, पुनः श्च्योतनमिति । तथापि हुतं भक्षयतीति, मन्त्रहोत्राद्यपेक्षित्वान्महता शब्देन हुतत्वाच्च तथा न भक्षणम् । ब्राह्मणमुखे तु नाऽयं दोषः । ब्राह्मणस्य विशेषणमनुघासं **चरत** इति । प्रतिकवलं भक्षयतः । तत्र पुरोनुवाक्य ये, याज्यायै, देवतायै, वषट्कारायेत्येकस्यामाहुत्यां चतुर्णां भागाः । अत्रैक एव प्रतिकवलं भक्षयति, स हि मुखत एव भक्षयति मुखस्याऽपि मुखमिति विशिष्टम् । यथाऽग्नेर्विशेष उक्तः, तथा ब्राह्मणमपि विशिनष्टि-**तुष्टस्येति** । **मयि तुष्टस्य**, विषयव्यतिरेकेणाऽपि केवल मय्येव प्राप्ते तुष्टस्य । **अवहितैः** रहितैरपि **निजकर्मपाकैः**-स्तुष्टस्येति, कर्मवशात् प्राप्तेऽपि दुःखेऽनुद्विग्नस्य भगवति वा समर्पितैः । कर्मसमर्पणं कृत्वा तुष्टस्येत्यर्थः ॥८॥

व्याख्या—स्वभाव से मैं अपने मुख से भोजन नहीं करता हूँ जैसा कि श्रुति 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीत' कहती है भगवान् को मुख से भोजन करते हुए दूसरा (भक्त के सिवाय) कोई भी नहीं देखता है भगवान् कहते हैं साधारणतः भोजन के लिये मेरे दो गौण मुख हैं, (१) अग्नि और (२) ब्राह्मण, ये दो मुख ही मेरे भोजन का कार्य करते हैं इनमें से अग्नि से भी ब्राह्मण मेरा श्रेष्ट मुख है, इसलिये कहते हैं कि, 'नाहं तथाऽग्नि मुखेनाद्मि' मैं वैसी प्रसन्नता से अग्नि मुख से भोजन नहीं करता हूँ (जैसा ब्राह्मण मुख से प्रसन्नता पूर्वक अरोगता हूं) तब तो यज्ञ करना निष्फल होगा ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि ऐसा नहीं है कि मैं खाता ही नहीं हूँ खाता तो हूँ किन्तु ब्राह्मण मुख के समान प्रसन्नता पूर्वक नहीं क्योंकि, अग्नि सर्वभक्षण करती है, काष्ठादि भी भक्षण

करती है अतः यदि ऐसा मेरा मुख हो तो अनिष्ट हो जावे अतः मैं उसके द्वारा हवि का भोजन करता हूं निषेध नहीं करता हूँ निषेध का दूसरा कारण है, वह यह है कि, 'यजमानहविर्वितानेऽश्रयोत्सद्धतप्लुतामिति' जब यज्ञाग्नि में यजमान द्वारा पहले घृताहुति दे फिर हवि दी जाती है हवि के बाद फिर घृताहुति दी जाती है तब मैं उस यज्ञ की हवि ग्रहण करता हूं, जिस यज्ञ में यजमान नहीं है जिसको 'सत्र' कहते हैं वहां मैं भोजन नहीं करता हूं क्योंकि सत्र का निषेध है कारण कि क्रूर होने से [1] और करने वाले बहुत होने से जैसा कि श्रुति कहती है किमेते सात्रिणः' ये सत्र करने वाले कैसे हैं? यजमान तो कोई है कि नहीं सत्र यजमान और अन्न भी बहुतों का है (जिसमे शुद्ध और अशुद्ध का ज्ञान नहीं) अतः सत्र यज्ञ नहीं है-

'हवि' शब्द से वे यज्ञ कहे हैं जिसमें पशु बलि नहीं दी जाती है, यज्ञ में होता अध्वर्यु आदि और मन्त्र आदि की आवश्यकता होती है और मन्त्र जोर जोर से पढ़े जाते हैं-और उसमें (यज्ञ में) ४ भाग होते हैं इत्यादि झंझट के कारण प्रसन्नता से भक्षण नहीं कर सकता हूं ब्राह्मण भोजन में किसी प्रकार का झंझट (दोष) नहीं, ग्रास लिया, मुख द्वारा प्रसन्नता से खाया यह देखकर मैं उसको हर्ष से अरोगता हूं, क्योंकि ब्राह्मण मेरे मुख के भी मुख हैं और मेरी प्राप्ति से ही सन्तुष्ट हैं, दुःख प्राप्त हो तो भी व्याकुल नहीं होते हैं क्योंकि सर्व कर्म भगवदर्पण कर देने से सन्तुष्ट हैं इत्यादि गुणों से भगवान् प्रसन्न हो उनके मुख द्वारा हर्ष पूर्वक अरोगते हैं ।।८।।

आभास—एवं स्वोपकारेण ब्राह्मणान् स्तुत्वा स्वरूपतोऽपि ते महान्त इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह अपने पर किये हुए उपकारों के कारण ब्राह्मणों की स्तुति कर, इस श्लोक में कहते हैं कि स्वरूप से वे बड़े हैं-

श्लोक–येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोगमायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ।।९।।

श्लोकार्थ—अखण्ड एवं असीम ऐश्वर्य वाली योगमाया मेरी विभूति है, मेरा चरणोदक (गंगाजी) चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करने वाले शंकर सहित लोकों को पवित्र करता है, ऐसा भी मैं जिनकी पवित्र चरण रज को अपने मुकुटों पर धारण करता हूं, उन ब्राह्मणों के कर्म को कौन नहीं सहन करेगा ।।९।।

सुबोधिनी—येषामिति । महत्त्वं हि महताम-नुवृत्त्या । महत्त्वं हि द्विविधम्, लौकिकमलौकिकं च । लौकिकमुत्तरोत्तरभावापन्नं भगवति विश्रा-न्तम् । सर्वलोकप्रसिद्धो हि भगवान् पुरुषोत्तमः, वेदप्रसिद्धोऽपि । तेन ज्ञापनं ब्राह्मणाधीनमित्य-लौकिकज्ञानं तेषां वर्तत इति ते भगवज्ज्ञापका

१-बहुत समय चलने से क्रूर कहा गया है-

इति । **ये यथा मां प्रपद्यन्ते'** इति न्यायेन तदनुवृत्तिमपि भगवान् करोति । तेषामवयवत्वात् तदुत्कर्षो न स्वापकर्षं करोति । अधिकारोऽपि त्वयैव दत्त इति, स्वधर्म एव तत्र विद्यत इति, स्वोत्कर्ष एव । यथा च ते अलौकिकप्रकारेण भगवन्तमुत्कृष्टमाहु, तथा भगवानपि लोके तेषामुत्कर्षमाह- **येषाममलाङ्घ्रिरजः किरीटैरहं बिभर्मि** । अग्रे ब्राह्मणवृन्दं गच्छत् रज उत्थापयति तद्रजः किरीटेषु संबद्धं भवति । पावित्र्यं नामैकं भगवत्स्वरूपं सर्वपदार्थेषु सहजं तिष्ठति, संस्कारैराधीयते च । तत्र ब्राह्मणेषु पावित्र्यं पादयोः सहजम् अतस्तेषां चरणरजोऽमलं भवति । **किरीटैरिति** सर्वदा धारणं सूचितम् । अवतारभेदैर्मूलरूपेण वा तथा करोतीति वा । **अखण्डा विकुण्ठा योगमाया विभूतिश्च यस्य** माययोत्पत्तिस्थितिप्रलयाः, विभूत्या सर्वसौख्यम् । एवं सति न कस्याऽप्यपेक्षा, सर्वैरपेक्षित एव भवति । न च तयोर्नित्यशक्त्योर्विच्छेदो वा कार्याक्षमता वा सम्भवति। येषामिति । नाऽन्यद्विप्रत्वात्तेषां गुणान्तरमपेक्ष्यत इति ज्ञापितम् । विप्रपदेन योगोऽपि सूचितः । विशेषेण पूरणं च तेषां सहजो धर्मः । ज्ञानभक्तिव्यतिरेकेण चिदानन्दौ न पूरितौ भवत इति ज्ञानभक्तिमन्त एव योगेन विप्रा इति निरूपितम् एतदुभयसद्भावे नाऽन्यदपेक्षितमिति । संस्कारस्तत्रानुषङ्गिकः । अनेनैवोपकारेण भगवता तथा क्रियते । तुशब्देन योगरहिता व्यावर्त्यन्ते । एतादृशान् ब्राह्मणान् को न विशेषेण सहेत ? को वा तद्द्वारं नाऽङ्गीकुर्यात् ? भारस्त्वतिक्रमादिरूप एव भवति, अतस्त्वन्यलभ्यत्वाद्विप्रापराध इति नोक्तम् । येषामतिक्रमो मया सह्यते, तत्र कथमन्यो न सहत इत्यर्थः । ननु मायाविभूत्योर्विद्यमानत्वेऽपि पावित्र्यस्याऽभावे भगवान् विप्रापराधं सहतु नाम, कथमन्येन सोढव्य इत्याशङ्क्याऽऽह-**यदर्हणाम्भ इति । यस्य** ममाऽर्हणाम्भश्चरणोदकं गङ्गा, **सहचन्द्रललामलोकान्** महादेवसहितांस्त्रीनपि लोकान् **पुनाति** । धर्मः कृतः कर्तारमेव पुनाति, संबद्धं वा न तु मह (?) त्कालपर्यन्तम् । परम्परासंबद्धान्, दूरस्थान्, बहून् सर्वतामसभेदसहितान् यत् पुनाति तदर्हणसंबन्धेनैवेति ज्ञापयति--**अर्हणाम्भ** इति । **'सद्य इति, सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्'** इति वाक्यात् । **भगवतः** कालनियामकत्वान्न तत्संबन्धिनां कालापेक्षा । **चन्द्रललामेति** सर्वदाहकत्वेन तामसी शक्तिः स्वीकृतेति तत्तापव्यावृत्त्यर्थममृतमयश्चन्द्रः स्थापितः । क्रियाजनितो दोषस्तु न तेन निवर्त्तत इति गङ्गा स्थापिता, अन्यथा तावन् दोषो नाऽन्येन निवर्तत इति सूचयति ।।६।।

व्याख्या—महत्पुरुषों के अनुसरण करने से ही महत्व प्राप्त होता है, महत्व दो प्रकार का है, १ लौकिक २-अलौकिक, लौकिक महत्ता क्रमशः बढती हुई भगवान् में विश्रान्ति पाती है, सर्वलोक भगवान् पुरुषोत्तम हैं तथा वेद में भी प्रसिद्ध वे ही हैं, उनकी पहचान कराना ब्राह्मणों के हाथ में है, कारण कि उनको ही अलौकिक ज्ञान है इसलिए ही मेरी पहिचान कराने वाले हैं, ये यथा प्रपद्यन्ते' इस वाक्यानुसार जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूं, इसलिए ही ब्राह्मणों को महत्ता का भगवान् गुण गाते हैं, उनकी प्रशंसा करने में भगवान् की न्यूनता नहीं होती है कारण कि वे ब्राह्मण भगवान् के ही अवयव हैं अधिकार भी उनको आपने ही दिया हैं, उन ब्राह्मणों में आपका ही धर्म विद्यमान है ।

अतः ब्राह्मणोत्कर्ष वह आपका (भगवान् का) ही उत्कर्ष है। जैसे वे (ब्राह्मण) अलौकिक प्रकार से भगवान् को उत्तम कहते हैं, वैसे भगवान् भी लोक में उनका उत्कर्ष प्रकट करते हैं जैसे कि 'येषाममलाङ्घ्रिरजः किरीट रहं बिभर्मि' भगवान् के आगे स्तुति करते हुए ब्राह्मण चलते हैं उनकी चरण रज जो उड़ती है वह भगवान् अपने मुकटों में धारण करते हैं, पवित्रता नाम वाला एक भगवत्स्वरूप है सर्व पदार्थों में स्वाभाविक रहता है वह संस्कारों से बढ़ता है, उसमें ब्राह्मणों के चरणों में सहज पवित्रता है, इस कारण से उनको चरण रज निर्मल होती है. 'किरीटै' पद से यह सूचित किया है कि यह रज सदैव धारण करते हैं अथवा पृथक्-पृथक् अवतारों के भेद से अथवा मूल स्वरूप से धारण करते हैं, तत्क्षण कार्य करने वाली योगमाया जिसकी विभूति है माया मे उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होना है और विभूति मे सुख प्राप्ति होती है इस कारण मे भगवान् को किसी की अपेक्षा नहीं है, सब को भगवान् को अपेक्षा है, उन दानों शक्तियों का कभी न नाश होता है और न कार्य करने की शक्ति लुप्त होती है। 'येषा' पद से यह सूचित किया है कि, उनमें विप्रत्व है जिससे दूसरे गुणों को उनको अपेक्षा नहीं है। विप्र पद मे योग भी इनमें है यह भी सूचित किया है, विशेष प्रकार से पूर्ति करनी यह इनका सहज धर्म है। ज्ञान और भक्ति के सिवाय चिदानन्दों की पूर्ति नहीं होती है इसलिये ज्ञान भक्ति वाले ही योगयुक्त विप्र होते हैं यों निरूपण किया है, इन दोनों के होते हुए दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, यज्ञोपवीतादि संस्कार तो गोण है, इस ही उपकार के कारण ही भगवान् उनकी चरण रज मुकुटों में धारण करते हैं, 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि योगरहित अन्य व्यर्थ (निकम्मे हैं, ऐसे ब्राह्मणों का भार (कर्म) कौन विशेष प्रकार से सहन नहीं करे ? अथवा कौन इनका भार न उठावे ? भार शब्द का तात्पर्य अतिक्रम करना आदि है। अन्य शब्द से वह अर्थ प्राप्त हो जाने के कारण 'विप्रापराध' पद नहीं दिया है, जिनका अतिक्रम (अपराध) जब मैं ही सहन करता हूं तो दूसरे कैसे सहन नहीं करेंगे, माया विभूति के होते हुए भी पवित्रता के अभाव से भगवान् विप्रों का अपराध भले सहन करें दूसरे कैसे सहन कर सकेंगे ? इस शङ्का निवारणार्थ कहते हैं कि 'यदङ्घ्रणाम्भः' जो मेरा चरणोदक (गङ्गा) महादेव सहित तीनों लोकों को पवित्र करता है, किया हुआ धर्म तो) करने वाले को ही पवित्र करता है अथवा उनसे जो सम्बन्ध वाले हैं, किन्तु दीर्घसमय तक पवित्र नहीं करता है, परम्परा से सम्बन्ध वालों से जो दूर रहते हैं, उनको और पृथक्-पृथक् तामस गुण वालों को जो पवित्र करता है वह चरणोदक के सम्बन्ध के कारण ही है इसलिये 'अङ्घ्रणाम्भः' कहा है। जैसे कि कहा है 'सद्यः पुनाति गाङ्गेयम्' तत्काल गङ्गाजल पवित्र करता हैं।

भगवान् काल के नियामक हैं अतः उनके (भगवान् के) सम्बन्धियों को (भक्तों को) काल की परवाह नहीं है, शङ्कर ने सर्वदाहक तामसशक्ति स्वीकार को है जिसके ताप को मिटाने के लिये अमृतमय चन्द्रमा को धारण किया है उससे क्रिया जनित दोष तो नहीं मिटता अतः 'गङ्ग' धारण की है नहीं तो यह क्रिया से उत्पन्न दोष दूसरे से (गङ्गा के सिवाय) नहीं मिटता, यों सूचित किया हैं ६।

आभास—एवं ब्राह्मणातिक्रमः सोढव्य इत्युक्त्वा ये न सहन्ते तेषां विपक्षे बाधकमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मणों का अपराध हो तो भी सहन करना चाहिये जो लोग सहन न कर उनसे शत्रुता करते हैं उनको दुःख प्राप्त होता हैयों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्धया।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान् गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥१०॥

श्लोकार्थ— जिनकी सत् दृष्टि पापों के कारण नष्ट हो गई और जो सर्प जैसे क्रोधी हैं वे ब्राह्मण, दूध देने वाली गोवें और अनाथ प्राणी ये मेरे ही शरीर हैं यों न समझे, मुझसे भिन्न समझते हैं उन्हें मेरे द्वारा दण्डार्थ नियुक्त यमराज के गृद्ध अपनी चोंचो से नोचते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—ये मे तनूरिति। ये द्विजवरादीन भेदबुध्या द्रक्ष्यन्ति, तान् यमलोके गृध्रा कुर्वन्तीति संबन्धः। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इति श्रुत्या क्वचिदपि भेददर्शने संसारो भवतीत्युक्तम्। एतादृशेषु भेददर्शनेन यमयातना भवतीत्यधिकमुच्यते, 'यदा ह्येवैष.' इति श्रुतेः अत्र भेदो भगवद्भेदः, स्वभेदस्य पूर्वसिद्धत्वात्। ननु विद्यमाने भेदे लोकप्रसिद्धे द्रष्टृणां को दोष इत्याशङ्क्याऽऽह—मे तनूरीति। यदि योगी सहस्रं शरीराणि गृह्णाति, तथापि स एक एव; जीवस्यैकत्वात्, तथाऽनन्तमूर्तिः। तत्रापि यज्ञरूप आधिभौतिकशरीरद्वयं गृह्णाति, हविर्मन्त्रात्मकत्वाद्यागस्य। तत्र मन्त्रा ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठिताः, हविर्धेनुषु। ते चेद्ब्राह्मणा गावश्चाऽन्ये भवेयुः, तदा तेभ्य उद्धतेषु मन्त्रत्वं हविष्ट्वं च न स्यात्, भगवद्व्यतिरिक्तास्ते लौकिका एव भवन्तीति। अत एवाऽन्यैरुच्चारिता मन्त्रा एव न भवन्ति, लौकिकवाण्योच्चारितत्वात्। अतस्ते ममैव तन्वः। तान्निर्दिशति—द्विजवरान् दुहतीरिति। यज्ञोपयोगित्वान्नाऽत्र विप्रपदम्, द्विजत्वमेवाऽत्रोपयोगि। जन्मोत्कर्षार्थं द्विजपदम् कर्मोत्कर्षार्थं वरपदं च। दुहतीरिति कर्तरि दुहधातोरतृप्रत्ययः सहजदोहार्थः तास्वेव हविष उत्पत्तेः, अग्निहोत्रार्थमेव च वत्सोत्पत्तेः। मदीया इति गवामधिको गुणः। मित्रत्वाद्भगवतोऽपि सर्वसखित्वात्तद्धर्मप्रविष्टया तदीयत्वम्। अथवा, मदीया इति भिन्न एव निर्देशः, भक्तिमार्गानुसारेण भगवद्भोगोपयिकहविर्दोग्धृत्वात् भूतान्यलब्धशरणानीति रक्षकत्वेन ज्ञानमार्गानुसारेण धर्मो निरूपितः। तत्रापि रक्षकत्वं भगवन्निष्ठमिति भेदाभाव उचित एव। एवं मार्गत्रयोपयोगिपदार्थान् ये मत्तो भिन्नान् जानन्ति, तेषां विशेषभयम्। ननु भगवत्त्वाज्ञानेऽपि, वस्तुतस्तेषां भगवत्त्वात्तद्दर्शने कथं नरकपातस्तत्राऽऽह—अघक्षतदृश इति। अघेन भेदजनितेन क्षता दृष्टिर्येषाम्। ब्रह्मवध इव भेदोऽप्यधर्महेतुः। अयं बधो ज्ञानमयः, तथापि क्रियामयाद्विशिष्टः, मूलविषयत्वात्। दण्डोऽपि चक्षुष एव। ननु व्यवहारे भेदोऽपेक्षित इति कथं तस्य दोषजनकत्वम्। तत्राऽऽह—अहिमन्यव इति। न व्यवहारमात्रं निषिध्यते, किन्त्वन्तःकरणारूढदोषत्वेन। सर्पः स्वल्पोऽप्यपराधो न विस्मर्यत इति, वधान्तं च प्रयत्नं कुर्वन्ति, तथा हृदयेन चेद्दर्शनं तदा दण्ड इत्यर्थः। गृध्रमुखे प्रविष्टं चक्षुर्न कदाचिदप्यावृत्तं भवतीत्यनिर्मोक्षः सूचितः। रुषेति चक्षुषो विद्यमानत्वादेवैतैर्भगवदपराधः कृत इति चक्षुषि रोषः। मम रुषा

सहिता वा गृध्राः कुषन्तीति । तर्जन्यते नाश एव, न तूपघातमात्रम् । अधिकं दण्डान् नयतीत्यधि- दण्डनेता यमः । अल्पदण्डस्तु राजव्याध्यादिभिरेव क्रियत इति निरूपयति यमम् ।।१०।।

व्याख्या—जो लोग उत्तम ब्राह्मणादि को मुझसे पृथक् समझते हैं उनको यमलोक में गृद्ध अपनी चोंचो से नोच नोचकर खाते हैं । इस तरह वाक्य का सम्बद्ध (अन्वय है, मृत्योः स 'मृत्युमा प्नोति' वह मृत्यु के मृत्यु को प्राप्त होता है, इस श्रुति के अनुसार कभी भी भेद दृष्टि करने से संसार को प्राप्त करता है, जीव भेद तो पहले से है ही अब यदि भगवान् से भेद देखने हैं तो उनको यमयातना भोगनी पड़ती है यह अधिक कहा है, 'यदा ह्येवैषः' इस श्रुति में यह बात कही है ।

भेद तो विद्यमान है ही लोक में प्रसिद्ध दिख रहा है तब देखने वालों का कौनसा दोष ? इस शङ्का पर कहते हैं कि 'मे तनू' जब योगी सहस्त्र शरीर धारण करते हुए भी वह एक ही है क्योंकि सब ही में वह एक ही जोव है वैसे 'अनन्तमूर्त्ति' भगवान् अनन्त रूपों में भी वह एक ही है फिर भी यज्ञ स्वरूप भगवान् आधिभौतिक दो शरीर धारण करते हैं कारण कि यज्ञ, हवि और मन्त्ररूप है, इनमें से मन्त्र रूप ब्राह्मणों में है और 'हवि' गौओ में है, जो वे ब्राह्मण तथा गौएं भगवान् से पृथक् हो तो उनमें से उत्पन्न हुवे में मन्त्रत्व एवं हवित्व न होना चाहिये, भगवान् से पृथक होने से वे लौकिक हो जावेंगे तब उनके द्वारा उच्चारण किये हुए शब्दों में मन्त्रत्व ही नहीं होगा । अतः ब्राह्मणेतर यदि मन्त्र पढे तो भी उनमें मन्त्र का आधिदैविक रूप मन्त्रत्व प्रकट नहीं होता है, इससे यह सूचित किया है कि ब्राह्मण मेरे ही शरीर हैं, उनको दिखाते हैं । 'द्विजवरान् दुहतीरिति' यज्ञोपयोगी होने से यहां विप्र पद नहीं दिया है । यहां केवल द्विजत्व ही उपयोगी है, ब्राह्मणों का जन्म से ही उत्कर्ष दिखाने के लिए द्विज पद दिया है और कर्म से उत्कर्षार्थ 'वर' पद दिया है, 'दुहतीः' पद कर्ता अर्थ में दिखाने के लिये अतृप्रत्यय दिया है जिसका भावार्थ स्वाभाविक दूध देने वाली हैं, उनमें से ही यज्ञ की हवि उत्पन्न होती है, अग्निहोत्र के लिये ही वत्सोपत्ति करती है, 'मदीयां' ये मेरी ही है यों कहकर गोओं में अधिक गुण प्रकट किये हैं, भगवान् भी सब के सखा होने से उनके धर्म इनमें (गौओं में) प्रतिष्ठित होने से इनको तदीयत्व (भगवदीयत्व) है अथवा 'मदोया' पद से भिन्न निर्देश किया है, भक्तिमार्ग के अनुसार भगवान् के भोग के उपयोग हवि (पेय) दुहाती है, अनाथों की रक्षा रूप धर्म ज्ञानमार्गानुसारी धर्म निरूपण किया है वहां भी रक्षक पन भगवन्निष्ठ होने से भेद नहीं, वह उचित ही है, इसी तरह इन तीन मार्गों के (कर्म, ज्ञान और भक्ति) उपयोगी पदार्थों को जो मुझ से पृथक जानते हैं उनको विशेष भय होता है ।

भगवान्-पन के अज्ञान में भी वास्तविक तो वे भगवान् हैं ही तो उनके दर्शन करते हुए नरक में पात कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि भेदरूप पाप से जिनकी दृष्टि हो गई हैं, उनका नरक में पात होता है, ब्रह्मवध के समान भेद दृष्टि भी अधर्म का हेतु है, यह वध ज्ञानमय है तो भी क्रिया रूप होने से विशिष्ट (अधिक) अधर्म है, क्योंकि मूल विषय है, दण्ड भी नेत्रों को ही मिलता है । नरक में गिद्ध नेत्रों को नोंचते हैं, व्यवहार में तो भेद की अपेक्षा रहती है इसलिये उसको दोष जनक कैसे कहा जाता है इस पर कहते है कि अहिमन्यवः' वे सर्प के समान क्रोधी होते हैं व्यवहार मात्र का निषेध नहीं किया जाता है, किन्तु अन्तःकरण में जो दोष आरूढ है उस का निषेध किया जाता है ।

सर्प स्वल्प (थोड़े से) भी अपराध को भूलते नहीं मारने के लिये प्रयत्न करते रहते हैं, वैसे वे भी दोषयुक्त हृदय से जब देखते हैं तब दण्ड भोगते हैं, गृध्र (गिद्ध) की चोंच में पड़ी हुई चक्षु (नेत्र) कभी भी फिर छूटती नहीं है, इससे उनका मोक्ष नहीं 'रूषा' क्रोध) पद से यह बताया है कि नेत्र होते हुए भी इन्होंने भगवान् का अपराध किया है इससे नेत्र में ही दोष है, अतः वे मेरे गृध्र चोंचों से नेत्रों को ही नोंचते हैं उससे नाश होता है। केवल दुःख नहीं देते हैं यह अधिक दण्ड यम करता है साधारण दण्ड तो राज-व्याधि आदि से मिल जाता है ॥१०॥

आभास—एवं विपरीते बाधकमुक्त्वा सन्माननायां प्रसादमाह–

आभासार्थ—इस तरह जो ब्राह्मणों का अपमान करते हैं उनको दण्ड मिलता है यह कह कर इस श्लोक में कहते हैं कि जो ब्राह्मणों का आदर कर सम्मान करते हैं वे मुझे प्रसन्नता पूर्वक वश में कर लेते हैं–

श्लोक–ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्ति तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।
वाण्याऽनुरागकलयाऽऽत्मज वद्गृणन्तः संबोधयन्त्यहमिवाऽहमुपाहृतस्तैः ॥११॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण तिरस्कार भी करे तो भी उसमें मेरी भावना करते हुए प्रसन्नता पूर्वक अमृत भरी मुस्कान से युक्त हो उसका आदर करते हैं, तथा रूठे हुवे पिता को एवं आप लोगों को मैं मनाता हूं, उसी तरह जो प्रेम पूरित वचनों से प्रार्थना कर उनको शान्त करते हैं उन्होंने मुझे वश में कर लिया व पा लिया ॥११॥

सुबोधिनी—ये ब्राह्मणानिति । क्षिपतोऽपि ब्राह्मणान् अर्चयन्ति, तैरहमेवोपाहृतः । सर्व-पुरुषार्थरूपोऽहं तत्समीपे चेत् स्थितः, सिद्धा एव सर्वे पुरुषार्थाः । तेषु बन्धुत्वेनाऽपकारभयात्, लोकापकीर्तिभयाद्वा, दम्भेन वा यद्यर्चयन्ति, तदा नेदं फलम् । किन्तु मयि धिया भगवद्विषयकबुद्ध्या मत्तनुरिति । अथवा, मयि या बुद्धिरस्ति, ब्राह्मणाः सर्वथा उपास्या इति, तादृशबुद्ध्या । क्षिपतो गालीः प्रयच्छतोऽर्चयन्तीति विरोधप्रदर्शनेन नाऽयमर्थः क्वचित्सेत्स्यतीति भगवदुपाहृतिर्नाऽतिप्रसक्तेति सूचितम् । तत्रापि तुष्यद्धृदतेः । चेत् क्रोधमन्तरेव स्थापयेयुः, तदा महदनिष्टं स्यादिति तेषां क्रोधस्य बहिर्निर्गमने महान्ममोपकारो जात इति ज्ञानं हृदयतोषे हेतुः । इदमतिमाहात्म्यज्ञाने भवति । किञ्च, स्मितेन सुधाक्षेपेणोक्षितं पद्मसदृशं वक्त्रं येषाम् । माहात्म्यज्ञाने विद्यमानेऽपि स्नेहेनैव दोषसहनम् । मन्दहासस्त्वन्तःक्षोभाद्यजननज्ञापकः । तद्गतस्नेहरसस्तन्निष्पीडनेन प्रकटो भवतीति बालकवत्तेषामाक्रोशः परमसंतोषहेतुर्भवतीति स्मितस्य सुधात्वम् । तस्याऽमृतत्वं स्वकार्यं जनयतीति । तदुक्षितवक्त्रत्वमुक्तम् । तथा सति वक्त्रमतिविकसितं भवतीति वर्णस्पर्शयोर्धर्मजनितयोरत्राऽऽविर्भाव इति ज्ञापनार्थं पद्मपदम् । एवमन्तःकरणकायिकमतोषमुक्त्वा वाचनिकं संतोषमाह–वाण्येति । वाण्या अनरागाः कला भवन्ति, चन्द्रमस इव वृद्धिहेतवः।

एवं कायवाङ्मनप्रीति पुत्र एव भवतीति दृष्टान्तेन तथाकर्तृणां ब्रह्मभावो निरूपितः । अर्चनं कायिकद्रव्यैः गृणनं वाचा । संबोधयन्तीति व्यवहारार्थम्, सम्यक् बोधार्थं वा । आक्रोशेऽपि न तेषु वैषम्यं कदाचिदपीति सूचितम् । एतादृशानां दृष्टान्तोऽहमेव : ज्ञापनार्थमेवमुक्तम्, न तु स्वोत्कर्षार्थम्। यथा भृगवतिक्रमे मया कृतमित्यर्थः। अहमुपाहृत इति फलवाक्यं भिन्नम्, अतो न पौनरुक्त्यम् । तेषामुत्कर्षार्थमन्ते कीर्तनम् ।।११।।

व्याख्या—यदि ब्राह्मण तिरस्कार भी करे तो भी जो, उनका आदर पूर्वक पूजन करता है उन्होंने मुझे ही वश में (प्राप्त) कर लिया है जब सर्व पुरुषार्थ रूप में उसके पास हूँ तो उनके सकल पुरुषार्थ पूर्ण ही है, यदि उनकी पूजा बन्ध है उस प्रकार से अपकार होगा इस भय से, तथा लोक में अपजस होगा इस भय से करते हैं, अथवा दम्भ (छल) से दिखाने के लिए करते हैं, तो उनको यह फल न होगा । किन्तु वे ब्राह्मण होने से भगवान् के ही रूप हैं इस बुद्धि से करते हैं व मुझमें जैसी बुद्धि है कि ये (भगवान्) सर्वथा सर्वदा उपास्य है वैसे ही बुद्धि से ब्राह्मणों को सर्वथा उपास्य समझ पूजते हैं, तब वह फल (अर्थात् मैं वश में हो जाता हूं) मिलता है । ब्राह्मण गाली देवे तो भी उनकी पूजा करते रहें तब वही फल मिलता है अर्थात् मैं वश में हो जाता हूँ, यदि ब्राह्मणों से विरोध कर उनका अपमान करते हैं तो यह फल नहीं मिलता है बल्कि वे दुःख भोगते हैं, इससे यह सूचित किया है कि भगवान् की प्राप्ति बहुत सरल नहीं है, ब्राह्मण पूजन प्रसन्नचित्त पूर्वक प्रेम से करना चाहिये, यदि चित्त में क्रोध रख पूजन किया जावे तो बड़ा अनिष्ट हो जायेगा इसलिये वे अपने क्रोध को बाहर निकाल दे तो उनका मेरे पर बड़ा उपकार हुआ समझूंगा । इस प्रकार का ज्ञान हृदय की प्रसन्नता में कारण है ऐसी प्रसन्नता तब होती है जब भगवान् के व ब्राह्मण के महत्व का विषय ज्ञान होता है,

अमृत रूप मन्दहास्यसिञ्चित कमलवत् मुख वाला होकर, माहात्म्यज्ञान विद्यमान होने पर भी स्नेह से ही उनका (ब्राह्मणों का) दोष सहन करना चाहिए, मन्दहास्य बताता है कि अन्तःकरण में क्षोभ आदि दोष मौजूद नहीं हैं, इनमें रहा हुआ प्रेमरस उन पर दबाव डालने से प्रकट होता है, इसलिए उनका (ब्राह्मणों का) क्रोध बालकों के समान समझने पर परम सन्तोष का हेतु होता है इस कारण मन्दहास्य को सुधा कहा है उसका अमृतत्व अपना कार्य करता है इससे (अमृतत्व से) सिञ्चित होने से मुख विकसित होता है जिससे (स्मित और अमृत रूप धर्म से) मुख में वर्ण और स्पर्श का आविर्भाव होता है । यों जताने के लिए 'पद्म' पद दिया है । इसी प्रकार अन्तःकरण एवं काया के सन्तोष का वर्णन कर वाणी के सन्तोष को कहते हैं, वाणी को कलाएं प्रमरूप होती हैं और वे चन्द्रमा की कलाओं के समान वृद्धि बढने और क्षय घटने वाली हैं, इसी तरह काया, वाणी और मन की प्रीति पुत्र में ही रहती है अर्थात् पुत्र की ही पिता के लिए होती है । यों दृष्टान्त से इस प्रकार करने वालों का ब्रह्मभाव निरूपण किया है पूजन काया द्वारा द्रव्यों से, प्रशंसा वाणी से व्यवहार के लिए अथवा पूर्णरीति से बोध (ज्ञान) हो तदर्थ सम्बोधन करते हैं, इससे यों सूचित किया है कि ब्राह्मण तिरस्कार आदि करे तो भी उनमें विषमता नहीं आती है, ऐसे करने वालों में से मैं (भगवान्) दृष्टान्त हूं । यों कहने से भगवान् ने अपना उत्कर्ष नहीं दिखाया किन्तु ज्ञान देने के लिए यों कहा है, जैसे भृगु ने अतिक्रम (लात मार कर अपमान) किया तो भी मैंने उसकी पूजा

आदि से आदर ही किया, सबको यों ही करना चाहिए, जो यों करते हैं उन्होंने 'अहमुपाहृत' मुझे पा लिया, यह फल वाक्य पृथक् है, इसलिए पुनरुक्ति नहीं है, उनके उत्कर्ष के लिए अन्त में कीर्तन है ॥११॥

आभास—एतन्निरूपणस्य प्रकृतोपयोगमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार के निरूपण का प्रकृत चालू विषय में उपयोग है, यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥१२॥

श्लोकार्थ—मेरे इन सेवकों ने मेरा अभिप्राय न जानकर जो आपका अपमान किया है उसका फल जो आपने इनको दिया है वह फल ये शीघ्र भोगकर मेरे पास लौट आवे, मेरे अनुरोध से आप इन पर इतना अनुग्रह कीजिये ॥१२॥

सुबोधिनी—तन्मे स्वभर्तुरिति। यत एवं ब्राह्मणानां स्वरूपम्, मया च तथा मन्यते। तदज्ञानात् **तौ युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य भूयो ममाऽन्तिकमिताम्।** अयं ममाऽनुग्रहो भक्तिरक्षार्थः। अत्र हेतुर्नाऽस्तीति ममैवाऽयमनुग्रह इत्युक्तम्। अधिकोऽप्यनुग्रहः कर्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह—**यत्कल्पतामिति ।** यस्मादनुग्रहात् **भृतयोर्भृ**त्ययोः, भक्त्या पूरितयोर्वा । **विवासः** परदेशवासः । **अचिरतः कल्पताम्,** शीघ्रमेव परिसमाप्यताम् । जन्ममरणक्लेशाभावाच्छापो विवासत्वेनैवोक्तः । एवं भगवता शापः **ममाऽन्तिकमिति** पुनर्दासभावं प्राप्नुताम् । स्थिरीकृतः ॥१२॥

व्याख्या—क्योंकि ब्राह्मणों का स्वरूप इसी प्रकार का है जैसा कि अब मैंने वर्णन कर बताया है, मैं वैसा ही मानता हूँ, उसके अज्ञान से उन दोनों ने आपका अतिक्रमण (अपमान किया, जिसका दण्ड जो आपने इनको दिया वह भोग कर, फिर मेरे पास शीघ्र आ जावें, यह मेरा इन पर अनुग्रह भक्ति की रक्षार्थ है, इसमें किसी कारण की आवश्यकता नहीं है, इसलिए ही कहा है कि यह मेरा ही अनुग्रह है। यदि कहो कि विशेष अनुग्रह भी करना चाहिए इस पर कहते हैं कि, यत् कल्पतामिति' जिस अनुग्रह से भक्ति पूर्ण दोनों सेवकों का यह परदेश वास शीघ्र समाप्त हो, परदेश वास कहने का गुप्त भाव यह है कि इनको जन्म मरण से जो दुःख होता है वह इनको न होवे 'ममान्तिक इताम्' मेरे पास प्राप्त हो अर्थात् फिर आकर दास ही बने विशेष कारिकाओं से समझाते हैं ॥१२॥

कारीका—**जीवानां तु त्रयो भावा उत्कर्षोत्कर्षहेतवः । जीवाः स्वभावतो दासा देहभावोऽधमस्ततः ॥१॥**

कारिकार्थ—जीवों[1] के तीन भाव हैं जो क्रमशः उत्कर्ष के कारण है, जीव स्वभाव से प्रभु के दास[2] है इससे देह भाव अधम है ॥१॥

कारिका—ब्रह्मभावः स्वतः श्रेष्ठस्तत्स्वभाव इह स्थिताः ।
देहभावस्तु तच्छापः स्वभावोऽनुग्रहः स्मृतः ॥२॥

कारिकार्थ—ब्रह्मभाव दासभाव से स्वतः श्रेष्ट है यहां (वैकुण्ठ में) केवल स्वरूप से अपने स्वभाव (दासभाव) से वे रहते हैं देहभाव शाप से प्राप्त हुआ है स्वभाव भगवदनुग्रह से हुआ है ॥२॥

कारिका—सायुज्ये ब्रह्मभावः स्यान्नाऽन्यथेति विनिश्चयः ।
सायुज्ययोग्यताकाले ब्रह्मभावो निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—सायुज्यमुक्ति होने पर ही ब्रह्मभाव होता है यों निरूपण किया जाता है ॥३॥

कारिका—भगवानेव हि ब्रह्म नाऽन्यो भवितुमर्हति । एकं च ब्रह्म सर्वेषां तथात्वे तु विरुद्धयते ।४।

कारिकार्थ—भगवान् ही ब्रह्म है दूसरा ब्रह्म नहीं हो सकता है और ब्रह्म एक ही है। यदि सर्व ब्रह्म होवे तो 'एक ही ब्रह्म है' इसका शास्त्र से विरोध होगा ॥४॥

कारिका—भगवत्करणाल्लोके भावना दुर्बला मता ।
दासभावादतो नाऽन्यत्काम्यं भवति कस्यचित् ॥५॥

कारिकार्थ—वैकुण्ठ लोक में भगवत्त्व प्रकट है अन्यत्र जीव भगवत्संग न होने से उदासीन रहते हैं ऐसी दशा में ब्रह्म भावना हो (की जावे) तो दोष नहीं है, क्योंकि जीव कार्य नहीं करते हैं अतः भगवान्पन मे तो विरुद्ध है कारण कि भगवान् कार्य करते हैं, तात्पर्य यह है कि भावना भले करे किन्तु ब्रह्म वन नहीं जाता है यदि बन जावे तो भगवान् एक है इसका विरोध हो जाएगा यह दोष है इत्यादि कारणों से भावना दासभाव से दुर्बल है अतः जगत् में दासभाव के सिवाय दूसरी कोई कामना कोई भी नहीं करता है ॥५॥

कारिका—अतो हि भगवान् भर्ता जीवानामिति निश्चयः ।
अभिप्रायस्तु तस्याऽपि ब्रह्मभावमभीप्सुभिः ॥६॥
ब्राह्मणेति क्रमो नैव कर्तव्य इति निश्चयः ।
अतो दण्डस्तु सोढव्यो नो चेदग्रे फल न तत् ॥७॥

१—इन कारिकाओं से भगवान् अपने विचारे हुए आशय को कहते हैं, भगवान् ने सब समर्थ होकर भी मुनियों की प्रार्थना क्यों की ? ऐसी शङ्का कारिकाओं से मिटा देते हैं—'प्रकाश'

२—क्योंकि भगवान् ने क्रीडा के लिये जीवों को उत्पन्न किया है इसलिये देह रहितजीव भाव उत्कर्ष का हेतु है, वह ही अनुग्रह है—'प्रकाश'।

कारिकार्थ–इसलिए भगवान् ही जीवों का भरण करने वाले स्वामी हैं यों निश्चय है उसका (ब्रह्मभाव की चाहना वालों का) भी अभिप्राय यही है कि ब्राह्मणों का अतिक्रमण नहीं करना यों निश्चय है प्रत: दण्ड सहन करना चाहिए, नहीं तो भविष्य में वह फल (भगवान् के पास शीघ्र लौट कर फिर वही पद पाना) नहीं मिलेगा ।.६। ।।७।।

भगवान् ने यों कह कर मुनियों का दिया हुआ शाप पक्का किया ।

आभास—एवं भगवान् प्रसन्नो जात इति ज्ञात्वा गताधयो मुनयः सम्यक् स्त्रोतं कृतवन्त इति वक्तुम्, प्रथमं भगवद्वाक्येन तेषामाधिर्गत इत्याह–अथ तस्योशतीमिति त्रिभि:–

आभासार्थ--इस तरह के वचनों से मुनियों ने जान लिया कि शाप देने से भगवान् प्रसन्न हुवे हैं अत: उनके अन्तकरण का दुःख एवं चिन्ता नष्ट हुए तब प्रसन्न चित्त हो अच्छे प्रकार से स्तुति करने लगे, यों कहने के लिए ब्रह्माजी पहले बताते हैं कि भगवद्वाक्यों से उनकी (मुनियों की) अधि (भीतर की चिन्ता दु:ख) मिटी–जिसका वर्णन 'अथतस्योशती' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं–

श्लोक—**ब्रह्मोवाच । अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।**
नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माऽप्यतृष्यत ।।१३।।

श्लोकार्थ–ब्रह्मा ने कहा क्रोध रूप सर्प से डसे हुए मुनिओं का चित्त भगवान् की अमृतमयी ऋषिकुल योग्य और सुमधुर वाणी का स्वाद लेकर भी तृप्त नहीं हुआ।१३।

सुबोधिनी—भगवतो वाक्यं शब्दार्थभेदेन चिन्तानिवारकम् । तत्र शब्देनैव निःसन्दिग्ध चिन्ता निवारिता, अर्थस्तु भगवद्वाक्यानां सर्वतोमुखत्वादनिर्द्धारित इति स्वरूपतो निर्द्धारितोऽपि फलतो न निर्द्धार इति सम्यक् चिन्तां न दूरीकृतवान् । तथापि दृष्टसामग्र्या बलवत्त्वात् सर्वमेवाऽन्तःकरणं चिन्तावत्त्वेऽपि निर्मलं जातमिति श्लोकत्रयम्, शब्दार्थसामग्रीभेदात् । प्रथमं शब्देन तेषां सुखं जातमित्याह–**अथेति** । भिन्नप्रकमोऽर्थपर्यालोचनाभावाय । **उशतीं** कमनीयाम्, अनेन तस्या दुःखदूरीकर्तृत्वं रूपमुक्तम् । युक्तयर्थ विशेषणान्तरमाह–**ऋषिकुल्यामिति** । ऋषिकुलयोग्याम् । ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः, अलौकिकानुभावाश्च मन्त्राः, तत्र हितकर्त्री ततोऽप्यलौकिकानुभावा भवतीति स्वसामर्थ्यादु खदूरीकर्तृत्वम् । किञ्च–**देवीमिति** । द्योतकत्वात् कान्त्यर्था भवति, काऽन्यथा हृदयप्रकाशिका भवति । अतोऽपि दुःखदूरीकरणम् । किञ्च–**सरस्वतीमिति** । सर

इत्युदकनाम । आधिदैविकीति तदुदकममृतं भवति। तेषां हृदयं मन्युना दष्टं मृतप्रायम्। तदमृतेन जीव्यते, कान्त्या प्रकाश्यते, अलौकिकभावेन कार्यसमर्थं क्रियते, परमानन्दश्च प्राप्यत इति चत्वारि विशेषणानि। एतादृशीं सरस्वतीमास्वाद्याऽपि, स्थितानामात्मा नाऽतृप्यत, अलमिति नोक्तवान्। यद्यर्थं श्रुतं स्यात्, तदाऽर्थैः पूर्ण इति इच्छा पूर्येत। स्वरूपतः श्रवणे तु आनन्देऽलंबुद्ध्यभावान्न निवर्तते। सर्पदष्टो हि मन्त्रेण जलं पाय्यते, न च स तृप्यति, विषज्वालाभूयस्त्वात्। आत्मनोऽपि दंशे सर्वाङ्गे ज्वाला जातेति त एव दष्टा निरूपिताः॥१३॥

व्याख्या—भगवान् के वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों चिन्ता मिटाने वाले हैं इनमें पहले शब्द द्वारा ही संशय दूर कर चिन्ता मिटा दो। अर्थ तो एक प्रकार का न होने से स्पष्ट निर्णायक नहीं होते है यद्यपि स्वरूप से निर्धारित होने पर भी फल से निर्णीत नहीं होता है। इसलिए अर्थ सम्यक् (ठीक) प्रकार से चिन्ता दूर नहीं करता है। अतः यद्यपि पूर्णतया चिन्ता दूर नहीं हुई तो भी प्रत्यक्ष देखे हुए साधन बलवान् होने से समग्र अन्तःकरण चिन्तायुक्त होते हुए भी निर्मल (शुद्ध) हो गया, यों शब्द और अर्थ की सामग्री पृथक् होने से तीन श्लोकों में कहते हैं, पहले शब्द से उनको सुख हुआ वह कहते हैं 'अथ' पद से यह सूचित किया हैं कि अब यह नवीन विषय आरम्भ करते हैं, क्योंकि अर्थ का पूर्ण विचार नहीं किया था, 'उशती' सुन्दर शब्द से बताया है कि इसका रूप दुःख दूर करने वाला है, युक्ति के लिए दूसरा विशेषण 'ऋषि कल्या' दिया है अर्थात् ऋषि कुल के योग्य है, मन्त्रद्रष्टाओं को 'ऋषि' कहते हैं, मन्त्र अलौकिक प्रभाव वाले हैं, उनका भी हित करने वाली उनसे भी अलौकिक प्रभावशाली होती है क्योंकि अपने सामर्थ्य से दुःख दूर करने की शक्ति वाली होने से, किञ्च 'देव' होने से देवी प्रकाश करने वाली है, जिससे कान्ति भी देने वाली है, यदि ऐसी न होवे तो हृदय में प्रकाश कौन करे? इस कारण से भी दुःख मिटाने वाली है, वह 'सरस्वति' भी है। सर नाम जल का है, यह वाणी आधिदैविकी होने से वह जल अमृत रूप है, उनका हृदय क्रोध सर्प से दंशित (डसा हुआ) होने से मृतक समान था, वह अमृत से जीवित हो सकता है, कान्ति से प्रकाशित होता है, अलौकिक भाव से कार्य करने में समर्थ किया जाता है और परमानन्द प्राप्त कराया जाता है, इसलिए चार विशेषण दिये हैं इस प्रकार की सरस्वती (वाणी) का स्वाद लेकर भी उनकी आत्मा तृप्त न हुई, 'अलं' यह पर्याप्त है, जो अर्थ समझने के लिए श्रवण किया होता तो अर्थ पूर्ण होने से इच्छा पूर्ण होती स्वरूप से (वाणी का) श्रवण (दर्शन) करने पर आनन्द में अलबुद्धि के (पर्याप्त बुद्धि के) अभाव से लौटती नही, सर्प से दंशित (काटे हुवे) को मन्त्र पढ कर जल पिलाया जाता है जिससे उसकी प्यास नहीं मिटती है क्योंकि उसमें विष की आग ज्यादा होने से आत्मा को भी दंश लगाने से सर्वाङ्ग में ज्वाला हुई है, इसलिए वे दंशित (डसे हुवे कहे हैं॥१३॥

आभास—एवं शब्दतः फलमुक्त्वा अर्थानुसन्धानेनाऽपि जज्जातं तदाह–

आभासार्थ--इसी तरह शब्द से फल कहकर अर्थ के अनुसन्धान करने से भी जो परिणाम निकला वह निम्न श्लोक में कहते हैं-

श्लोक—सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।
विगाह्याऽगाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—भगवान् की सुन्दर वाणी, स्वल्प अक्षरों वाली गुरु अर्थ के कारण दुर्विज्ञेय (मुश्किल से समझ में आने वाली) और भाव गम्भीर थी, जिससे कान खोल कर भी अर्थात् ध्यान से श्रवण करने पर भी वे मुनि यह न समझ सके कि भगवान् का आशय क्या है ।।१४।।

सुबोधिनि—**सतीमिति** । सा हि सन्मार्गप्रतिपादिका: अतः समुदायार्थपरिज्ञानेन सुखं जातमेव । व्यादाय श्रवणमपावृतकर्णरन्ध्रैः श्रवणम् । लघ्वी सा स्वरूपतः तेनाऽऽलोचयितुं शक्यत इति सुखदायिनी । एवं विशेषणद्वयेनाऽर्थद्वाराऽपि सुखदातृत्वं निरूपितम् । फलतः साधनतश्च न सुखदातृत्वं जातमित्याह-**गुर्वर्थगह्वरामगाधगम्भीरामिति** । अर्थो हि गम्भीरः, पुरुषोत्तमस्य भगवतो हीनानां सेवकजीवानां च विपरीतधर्मप्रतिपादकत्वात् । श्रुतपदार्थानां श्रुतार्थापत्त्या निर्णयं कृत्वा संदेहो दूरीकर्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह-**अगाधगम्भीरामिति** । अगाधत्वान्न तत्र श्रुतार्थापत्तिः कल्प्यते । पदार्थानां तलस्पर्शे तत्कल्पना युक्ता । गम्भीरत्वाच्च मज्जनेनाऽपि तलस्पर्शो न संभवति । एतावता भगवान् किञ्चिद्गम्भीरमुक्तवानित्यध्यवसीयते । तथापि किमयमेवं वदतीति तच्चिकीर्षितं न विदुः । **विगाहनमन्तःप्रवेशः** । विचार्याऽपि न विदुरित्यर्थः ।।१४।।

व्याख्या--वह भगवान् की वाणी सत्यमार्ग को सिद्ध करने वाली है अतः शब्दों के भावार्थ को समझ लेने से सुख तो हुवा ही । कान खोल कर श्रवण किया, वाणी बहुत अल्प (सूक्ष्म) थी इसमे विचार करने में आ सकती, इसलिये सुख देने वाली कही थी, इसी प्रकार दो विशेषणों से अर्थ द्वारा भी वाणी सुख देने वाली है । विस्तृत अर्थ के कारण अगाध तथा गम्भीर होने से साधन और फल से फल देने वाली न हुई, अर्थ गम्भीर है, भगवान् पुरुषोत्तम और हीन सेवक जीवों के परस्पर विपरीत धर्म प्रतिपादन होने से उसका भावार्थ समझ में नहीं आता है, यदि कहो कि जो कुछ सुना है उससे जो अर्थ प्राप्त हो उससे निर्णय कर सन्देह दूर करना चाहिये, इस पर कहते हैं कि भगवान् के वचन अगाध होने से गम्भीर हैं जिससे उसके तल का स्पर्श नहीं हो सकता है जिससे आशय की कल्पना की जा सके, गम्भीर होने के कारण मज्जन करने पर भी तल स्पर्श नहीं होता है, एतावता भगवान् ने कुछ गम्भीर होकर कहा यों समझ में आता है, तो भी यह (भगवान्) यों

क्या कर रहे हैं इनके मन की इच्छा क्या है ? वह समझ में नहीं आती है विगाहनं का अर्थ है भीतर घुस जाना अर्थात् विचार करने पर वे नहीं जान सके ।।१४।।

आभास--एवं वाक्यं किञ्चिज्ज्ञात्वाऽपि भगवन्तं दृष्ट्वा मुदिताः सन्तः स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह वाक्य का कुछ भाव जानकर भगवान् के भी दर्शन कर प्रसन्न होते हुवे स्तुति करने लगे यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक--ते योगमाययाऽऽरब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम् ।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः कुपितत्वचः ।।१५।।

श्लोकार्थ--प्रसन्न हुए वे विप्र त्वचा के कुपित होने पर भी, योगमाया के प्रभाव द्वारा अपने परमैश्वर्य को प्रकट करने वाले प्रभु को हाथ जोड़ कर कहने लगे ।।१५।।

सुबोधिनी—त इति । योगमाया हि भगवद्वैभवयोग्यान्[1] पदार्थान् सृजति । न ते प्राकृताः, नाऽपि ब्रह्मसृष्टाः, अतः पारमेष्ठ्यापेक्षयापि महोदयरूपाः । योगमायया आरब्धाः पारमेष्ठ्यमहोदया यस्य । अतः सामग्री दृष्टा परमानन्दो बहुविधो भासत इति प्रहृष्टा जाताः। स्वयं विप्रा अपि, मनसाऽपि तादृशं नाकलितमिति, माहात्म्यज्ञानात् प्राञ्जलयः । तद्दर्शनेनाऽन्तःपूर्णानन्दो रोमकूपद्वारा निर्गच्छन् कुपितां त्वचं कृतवान् । सा हि वायुदेवताका, वायोश्च संचारो नास्तीति कोप उचित एव । क्षुभितेति पाठेऽपि समानोऽर्थः ।।१५।।

व्याख्या—योगमाया निश्चय से भगवान् के वैभव के योग्य पदार्थों की रचना करती हैं, वे पदार्थ न प्राकृत हैं और न कि ब्रह्मा के बनाये हुवे हैं इसलिये परम ऐश्वर्य की अपेक्षा से भी विशेष उत्तम है, योगमाया ने प्रारम्भ की हुई अधिक श्रेष्ठता के कारण भगवान् भी अधिक उत्तम देखने में आये । अतः इस प्रकार की श्रेष्ठतम सामग्री देखने से उनको परमानन्द नानाविध भासने लगा, इस कारण से प्रसन्न हुवे, (स्वयं) विप्र होने पर भी ऐसी वैभव श्रेष्ठता मन से भी नहीं विचार सके, जिससे भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान हुआ, मत हाथ जोड़े भगवद्दर्शन से एवं प्रभु के वैभव के दर्शन से अन्तःकरण में जो पूर्ण आनन्द भर गया, वह रोम कूप द्वारा बाहर निकलते हुवे त्वचा को कुपित किया, जिसका कारण यह था कि इसकी देवता वायु है, आनन्द परिपूर्ण होने से वायु को रहने का स्थान न मिला जिससे बाहर निकलने लगी । अपने देवता को स्थान न मिले और उसको स्थान छोड़ना पड़े तो त्वचा को अवश्य क्रोध उत्पन्न होगा यों होना उचित ही था । 'क्षुभिता' पाठ हो तो उसका भी अर्थ (आशय) समान ही होता है ।।१५।।

आभास—विरोधं परिहरन्त एव स्तोत्रं कुर्वाणाः प्रथमं विरोधमनुवदन्ति

आभासार्थ—विरोध दूर करने के लिये ही स्तुति करने लगे अतः पहले मुनि विरोध कहते हैं-

श्लोक—मुनय ऊचुः । न वयं भगवन्विद्मस्तव देव ! चिकीर्षितम् ।
कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ।।१६।।

श्लोकार्थ—मुनियों ने कहा हे क्रीडाशील भगवान् ! आप सबके अध्यक्ष हो कर भी यों कहते हो कि 'यह आपने मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया', इन शब्दों के कहने से आपका कौनसा अभिप्राय है यह हम नहीं जान सके हैं ।।१६।।

सुबोधिनी—न वयमिति । विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वे सति न विरोधः, किन्तु मनसा तद्व्यवस्थाशक्तौ सत्याम् । मनो हि वाचो भर्ता, स चेत्प्रभूरविरोधं सम्पादयति, किं दासीनां विरोधेन । तदपि नास्तीति स्वानुभवेनाऽऽहुः-हे भगवन्, स एव तदनन्तरं देव ! तव चिकीर्षितं न विद्मः । ज्ञाने त्वभिप्रायः कल्प्येत । अकल्पनायां हेतुभूतं विरोधमाह-कृतो मेऽनुग्रह इति । यस्त्वमध्यक्षः सर्वसाक्षी प्रभुः, सेवकान् प्रति वदस्यनुग्रहः कृत इति तदर्थतो विरुद्धम् ।।१६।।

व्याख्या—विरुद्ध अर्थ जानने से विरोध नहीं होता है किन्तु मन से यदि उसकी व्यवस्था न हो सके तो विरोध होता है, क्योंकि मन ही वाणी का भर्ता (पति) है, यदि वह प्रभु विरोध नहीं करते हैं तो दासियों के विरोध करने से क्या ? किन्तु वह भी नहीं है यों अपने अनुभव से कहते हैं, हे भगवन् ! वह भगवान् हो फिर 'देव' हो जाते हैं अतः कहते हैं कि इससे आपको क्या करने की इच्छा है जिसको हम नहीं समझ सकते हैं । ज्ञान हो तो आपकी वाणी के अभिप्राय की कल्पना भी करें कल्पना नहीं करने में क्या कारण है वह हेतु पूर्वक कहते हैं--'कृतो मेऽनुग्रह' आप सर्व के अध्यक्ष अर्थात् सर्व साक्षी प्रभु हैं फिर सेवकों को कहते हैं कि 'मुझ पर अनुग्रह' किया, यों कहना अर्थ से विरुध है ।।१६।।

आभास—विरोधान्तरमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में दूसरा विरोध दिखाते (कहते) हैं--

श्लोक—ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो !
विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ।।१७।।

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! आप ब्राह्मणों के हित करने वाले हैं, फिर भी कहते हैं कि ब्राह्मण मेरे आराध्य देव हैं वास्तव में तो ब्राह्मणों, देवों के देवताओं को भी आप ही आत्मा तथा उनके आराधनीय देव हैं ।।१७।।

सुबोधनी—ब्रह्मण्यस्येति । त्वं तु ब्रह्मण्यः, ब्राह्मणानां हितः, तेषां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तदुपास्यः । अथापि ब्राह्मणाः **किल ते परं देवमितो** प्रभाषसे । किलेति प्रसिद्धे । न हि तद्वाक्ये ब्राह्मणप्रभुत्वप्रतिपादके **'येषां बिभर्मि'** इत्यत्र सन्देहोऽस्ति । भागभेदेन तदुभयं संगच्छत इति पक्षं खण्डयति-**प्रभो** इति । सर्वसमर्थो भवान्न केनाऽप्यंशेन ब्राह्मणापेक्षायुक्त इत्यर्थः । किञ्च, विप्राणाम्, देवानाम्, देवदेवानामपि **भगवानात्मा** दैवतं च । आवश्यक उपास्यश्च । आत्मनो वा दैवतम्, चिदंशानां भगवत्सेवकत्वात् ।।१७।।

व्याख्या—ब्रह्मण्य होने से तो आप उनका सर्वथा हित करने वाले हैं और उनके सकल पुरुषार्थ भी आप ही सिद्ध करते हैं अतः उनके उपास्य है, फिर भी **'ब्राह्मणाः किल ते परं देवमिति प्रभाष से'** कहते हैं कि वे ब्राह्मण मेरे लिये निश्चय से परम देव हैं, अथवा 'किल' का भावार्थ है कि यह आपका कहना प्रसिद्ध है, येषां विभर्भि' इस ब्राह्मणप्रभुत्व प्रतिपादक वाक्य में कोई किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, यदि कहो कि भावभेद से ये दोनों बन सकते हैं तो इस पक्ष का खण्डन करते हैं। हे प्रभो ! इस सम्बोधन पद से कहा है कि आप सर्व प्रकार समर्थ है, अतः किसी भी अंश से आपको ब्राह्मणों को अपेक्षा नहीं हैं, किञ्च ब्राह्मणों के देवों का और देवों के देव ब्रह्मादि की भी (आप भगवान्) आत्मा और देव होने से अवश्य उपास्य हैं और चिदंश (जीव) तो सेवक हैं अतः उनके आप देवता हैं ।।१७।।

आभास—नन्वस्मदुक्तप्रकारेणैव वेदो वदतीति तथैव शास्त्रार्थतोऽस्त्वित्याशङ्कयाऽऽहुः—

आभासार्थ--यदि कहो कि जैसे मैंने ब्राह्मणों के लिये कहा है वेद भी यों कहते हैं अतः शास्त्र के अर्थ के अनुसार यों ही होना चाहिये। ऐसो शङ्का हो, तदर्थ निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक—त्वन्नः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्त्वया ।
धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकल्पो भवान्मतः ।।१८।।

श्लोकार्थ--आप ही यज्ञ रूप होने से हमारे सनातन धर्म है, आप ही अवतार लेकर उसकी रक्षा करते हैं, धर्म का गोप्य परम रहस्य आप ही निर्विकल्प माने गये हैं ।।१८।।

सुबोधिनी—त्वन्न इति । त्वमेव नः सनातनो धर्मः, यज्ञरूपत्वात्, ब्रह्मरूपत्वाच्च । **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्'** इति । **त्वयैव तनुभिरवतारैः** स्वधर्मो रक्ष्यते, **'यदा यदा हि धर्मस्य'** इति वाक्यात् । किञ्च, त्वमेव धर्मस्य परमो गुह्यः । धर्मस्याऽत्यन्तं गोप्यस्त्वमेव । धर्मो ह्यन्यगतो धर्मिणं गोपायति; यथा जलगतमौष्ण्यं वह्निं गोपायति, तथा जीवेष्वागतो धर्मो ब्रह्म गोपायति । स हि तस्यैव, क्रियाशक्तिरूपत्वात् । तस्य गोप्यो हि भक्ति-

योगोऽपि भवति, तथापि भगवान् परमो गुह्यः। तस्य ब्रह्मैव गुह्यमिति कथं भगवानित्याशङ्क्याऽऽह-भवानेव निर्विकल्पो मत इति। 'पूर्ववद्वा' इति सिद्धान्तेन सर्वकल्पनाशून्यं ब्रह्म तदेव। पश्चात् धर्मरूपेणाऽऽविर्भूय तत्सहितं भगवानित्युच्यते। भगवतो वा एकं रूपं निर्विकल्पं ब्रह्म। उभयथाऽपि धर्मस्य परमो गुह्यः ॥१८॥

व्याख्या—आप ही हमारे सनातन धर्म हैं, क्योंकि आप ही यज्ञ रूप तथा ब्रह्मरूप हो, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि, 'यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः' देवों ने यज्ञ द्वारा यज्ञ पुरुष (आपका) पूजन किया, 'अयंतु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्' योग से आत्मा का दर्शन करना यह उत्तम धर्म है, इत्यादि श्रुतियों से आप सनातन से हमारे धर्म हैं जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब आप अवतार धारण कर उसकी रक्षा करते हैं, जैसा कि गीता में कहा है 'यदा यदा हि धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' फिर आप तो धर्म के परम रहस्य रूप हैं, धर्म का अत्यन्त गोप्य स्वरूप आप ही हैं, यदि धर्म दूसरे पदार्थ में जाता है तो वहां धर्मी को छिपा लेता है। जैसे कि जल गत उष्णता वह्नि (अग्नि) को छिपा लेती है वैसे जीवों में आया हुआ जीवत्व धर्म ब्रह्म को छिपा लेता है, कारण कि वह धर्म उसका (ब्रह्मका) ही क्रियाशक्तिरूप है, उसको छिपाने के योग्य भक्ति योग भी है, तो भी भगवान् परमगुह्य हैं, उसको ब्रह्म हो छिपाने योग्य हैं फिर भगवान् कैसे कहते हो? इस शंका पर समाधान के लिए कहते हैं 'भवानेव निर्विकल्पो मत' कि आप ही निर्विकल्प (ब्रह्म) माने गये हैं। जैसा कि 'पूर्ववद्वा' इस ब्रह्म सूत्र में कहा है। सर्व कल्पना शून्य ब्रह्म है, वह ही बाद में धर्म रूप से प्रकट होते हैं। उस स्वरूप के साथ भगवान् कहलाते हैं, भगवान् का एक स्वरूप 'निर्विकल्प ब्रह्म' है। दोनों प्रकार से भी धर्म से परम गुह्य रखना है ॥१८॥

आभास—ज्ञानस्याऽपि गुह्य इत्याह—

आभासार्थ—ज्ञान से भी आप गुह्य रखने योग्य हैं यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक-तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।
योगिनः स भवान्किंस्विदनुगृह्णीत यत्परैः ॥१९॥

श्लोकार्थ—वैराग्य वाले योगीजन भी जिनके अनुग्रह से मृत्यु को सरलता से पार कर जाते हैं, ऐसे आपके ऊपर अन्य ऐसा कौन है जो अनुग्रह करे ॥१९

सुबोधिनी—तरन्तीति। निवृत्ताः परमहंसाः। यस्याऽनुग्रहं प्राप्य अञ्जसा मृत्युं तरन्ति। उभयतः कूलङ्कषा नदीव मृत्युः सर्वेषां मज्जनर्ता, अतस्तस्य तरणमुक्तम्। योगिन इत्यधिकारिविशेषणमनुग्रहे, न तु तरणे योगो हेतुः। एतादृशो भवान् सर्ववेदरहस्यः किमन्यैरनुगृह्णीत? तत्रापि परैरप्रयोजकैः। गृह्णीत इत्यपि पाठे परैः कृत्वा यत्कर्म, किं किमर्थम्, स्विदिति निश्चये, अनुगृह्णीत; किमर्थमनुगृह्णीयात्। अन्यैः स्वस्य माहात्म्यं

संपाद्य परानुग्रहं किमर्थं कुर्यादित्यर्थः। एतादृश्याऽनुग्रहवचनं बाधितार्थमिति प्रतिभाति। सत्यवाक्यत्वाच्च तदपि न संगच्छते; अतोऽज्ञानमेव ॥१९॥

व्याख्या—संसार से छूटे हुए अर्थात् वैराग्य वाले परमहंस जिनका अनुग्रह प्राप्त कर सरलता से मृत्यु को पार कर जाते हैं, दोनों तटों को तोड़ कर ग्रामों को डुबो देने वाली नदी के समान मृत्यु सबको डुबाने वाली है। उसको (मृत्यु को) भी पार करते हैं यों कहा है। कौन ? कि योगी जन, क्योंकि ये अनुग्रह करने के अधिकारी हैं, तरने में योग कारण नहीं है। अपितु (बल्कि) आपका अनुग्रह ही कारण है। ऐसे आप जो वेदों के भी रहस्य रूप हो उनमें 'पर' अर्थात् उनसे श्रेष्ठ दूसरा कौन ऐसा हैं, जो कृपा करें, और वे भी असमर्थ हैं अतः कैसे अनुग्रह करेंगे। फिर आप उनका अनुग्रह कैसे स्वीकार कर सकेंगे ?

यदि गृह्णीत' पाठ हो तो, दूसरों के लिए जो कर्म है उसका आप क्यों निश्चय से स्वीकार करें, दूसरों से अपना माहात्म्य संपादन कर दूसरों पर अनुग्रह किसलिए करना चाहिये, यों अर्थ है, ऐसे के अनुग्रह वचन बाधित अर्थ वाला अर्थात् असत्य भासता है, भगवान् तो सत्यवादी हैं अतः वह भी बन नहीं सकता है जिससे हमारा अज्ञान ही है, अर्थात् आप क्या करना चाहते हैं वह हम नहीं समझते हैं ॥१९॥

आभास—किञ्च, ब्राह्मणकृपया लक्ष्मीः स्थिरेति वचनं सर्वथा बाधितार्थमिति प्रतिभातीत्याह—

आभासार्थ—ब्राह्मणों की कृपा से ही लक्ष्मी हमारे यहां स्थिर रही हैं यह भी सर्वथा असत् है यों भासता है, जिसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं–

श्लोक—यं वै विभूतिरुपयाण्यनुवेलमन्यैरर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥२०॥

श्लोकार्थ—अर्थ की कामना वाले जिसकी चरण रज को सदैव अपने मस्तक पर धारण करते हैं वह लक्ष्मीजी आपकी सेवा परायण है, फिर भी भक्तजन आपके चरणों पर जो तुलसी की मालाएं अर्पण करते हैं उन पर भौरों का गुंजार देखकर चाहती है कि मैं भी पादपद्मों को अपना निवास स्थान बनाके उनका रसपान करूं।२०।

श्लोक—यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां नात्यादियत्परमभागवतप्रसङ्गः।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥२१॥

श्लोकार्थ - परन्तु पवित्र चरित्रों से सदैव सेवा करने वाली उस लक्ष्मी का आप विशेष आदर नहीं करते हो, आप तो भक्तों से ही प्रेम करना चाहते हैं जो आप स्वतः पवित्र एवं स्वयं सम्पूर्ण सद्गुणों के आश्रय हैं ऐसे आपको जहां तहां फिरने वाले ब्राह्मणों के चरणों के स्पर्श होने से पवित्र हुई धूलि तथा श्री वत्स का चिन्ह आपको कैसे पवित्र कर सकते हैं, क्या इनसे आपकी शोभा बढ़ सकती है ? ।।२१।।

सुबोधिनी—यं वै विभूतिरिति । विभूति-र्लक्ष्मी । यं भगवन्तमनुवेलमन्यैरर्थार्थिभिः शिरसा धृतपादरेणुरप्युपयाति सेवार्थं गच्छति । तत्रापि भक्तेव । तां च भवान् नात्याद्रियत्, स कथं द्विजानुपथपुण्यरजसा पुनीतः सन् श्रीवत्सलक्ष्म अगा इति श्लोकद्वयान्वयः । विप्रसादात् लक्ष्म्याः स्थैर्यमिति पक्षो न संगच्छते, भक्त्यैव तस्याः स्थिरत्वात् । न च तस्या भक्तिर्ब्राह्मणसाध्या, भक्तौ ब्राह्मणानामपि भक्तत्वेनैवोपयोगात् । ब्रह्म-भावानन्तरं भक्त्यधिकारात् ब्रह्मभावप्रापणार्थं तदपेक्षेति चेत्, तस्याः सिद्ध एव ब्रह्मभावः, 'मम योनिर्महद्‌ब्रह्म' इति वाक्यात्, ब्रह्मानन्दरूपत्वाच्च तच्छरीरस्य । अतः साक्षात्परम्परया वा तस्या भक्तौ ब्राह्मणानामनुपयोगात्, भक्त्यैव च स्थैर्यां-द्भगवद्वाक्यं चिन्त्यम् । किञ्च, ब्राह्मणा भिक्षु-का अर्थार्थिनामिन्द्रादीनामुपसर्पकाः ते च लक्ष्म्या-श्चरणरेणूपासकाः । अत उपजीवयोपजीव्यत्वात् तस्याः कथं ब्राह्मणाधीनत्वम् ? किञ्च, सा हि भोग्यभावमेव त्यक्तवती, तेन तस्याः फलत्वमेव नाऽस्ति । सा हि रसान्तरे प्रविष्टा, न हि भक्ति-रसे कामरसः प्रविशति भगवानपि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति वाक्यात् भक्तत्वेनैव तां स्वीकरोति, यथा तुलसीम् । अतस्तस्या गुणा अपि नाऽपे-क्ष्यन्ते । सा हि तुलसीमपि निर्गुणां बहु मन्यते, ततोऽपि हीनभावं च । भ्रमरा नानापुष्परसेष्वा-सक्ताः, तेऽपि यदि भक्तिमाहात्म्यात् तुलसीरस एव मकरन्दाभासेऽप्यासक्ताः, तदा मयाऽपि तथैव विधेयमिति भ्रमरलोकमेव कामयते । एवमपि सति लब्धपदा सा पुनः स्वभावं प्राप्स्यतीति भक्तत्वेऽपि तां नाऽत्याद्रियत् । तदपेक्षयाऽपि स्वभावत एव निर्दुष्टा भगवति लब्धपदा अपि हेत्वभावान्न पूर्वावस्थां प्राप्नुवन्ति, ते परमभा-गवताः, तेष्वेव प्रकृष्टः सङ्गः । एतादृशलक्ष्म्याः कथमसाधारणधर्मत्वम् ? तत्रापि भवान् भगव-च्छब्दार्थः । नित्या एव भगवति षड् गुणाः ब्राह्मणानुग्रहजन्यत्वे कृत्रिमता स्यात् । व्यामो-हनलीलापरत्वेन तु अलौकिकप्रकारेण वयं न व्यामोहनीयाः, साधारणेन तु विशेषज्ञानस्य जात-त्वान्न व्यामोहो भविष्यतीति तात्पर्यम् । विशेषेण भूतिर्यस्या इति भगवद्भजने भगवदुपयोगिनी सर्वसामग्री निरूपिता । तस्याः समीपगमनमेव, न तु भोगपर्यवसानमित्युपेत्युक्तम्, अन्यैरिति भगवद्विमुखैः । भगवद्वैमुख्ये हेतु-अर्थार्थिभिरिति । धनाभिनिविष्टचित्ता न भगवत्संमुखा भवन्ति । बाला एव ते स्तनपानव्यग्रा मातरमेव मन्यते । स्वशिरसा धृतपादरेणुरिति भक्त्यैवाऽन्येषां प्रवृत्तिः, तेषां चेयमुपास्या देवता । तस्या अपि चरणरेणवस्तदीयशरीसंपादकाः । शिरसा स्था-

धनं तेषामेव प्रथमसंबन्धार्थम्। तुलस्या अलौकिकत्वे तल्लोकाकाङ्क्षित्वं न भक्तिहेतुकमिति धन्यार्पितेत्युक्तम्। कृत्रिममात्रत्वे भगवत्संबन्धो न सम्भवतीति धन्येति। धनमर्हन्तीति, धन्याः। लक्ष्म्या आधिभौतिकं रूपमर्हन्तीति भगवत्सङ्गानि। सेवका धन्याः, अन्ये धनिनोऽपि न धनमर्हन्ति, श्वान इव गङ्गाजलम्। अत एव न तस्य धनस्य भगवदुपयोगः। धनस्य स्वोपयोगात् तदधिका तुलसी तैर्भगवति समर्प्यते। अङ्घ्रौ समर्पणं भक्तिहेतुकम्। तुलस्या नवदाम चरणे समर्प्यते, अन्यथा बहुतुलसीदाने चरण आच्छन्नः स्यात्। तद्भगवच्चरणारविन्द एव तिष्ठति, भक्तप्रसादे वा तत्कण्ठेषु। उभयथाऽपि नैतादृशं स्थानमन्यदस्तीति तद्धाम भ्रमरस्य। तथात्वे हेतुमाह—मधुव्रतपतेरिति। मध्वेव व्रतं यस्य। नियमाद्धर्म इति पक्षे मधुव्रतेऽपि धर्मः मधुव्रतानां पतिरिति व्रतिनामिव तत्संबन्धित्वेन कृतार्थः परम्परयाऽपीति सूचितम्। इवेति ब्रह्मानन्दस्य हीनभावव्यावृत्यर्थमुपमा निरूपिता। कामयानेवेति वा, कामितोऽर्थः श्रद्धायुक्तो भवतीति। एवमपि भजने भगवतश्चेत्तत्फलं भवेत्तदापि ब्राह्मणवाक्यस्य हेतुत्वं कल्प्येताऽपि, तदपि नास्तीत्याह। यस्तामिति। यः प्रसिद्धो लक्ष्म्याः प्रसादत्वं वदति, सोऽपि वदत्येव, न तु तां मन्यते, यतस्ता नाऽऽद्रियत्। तत्र हेतुः—परमभागवतेषु प्रकृष्टः सङ्गो यस्येति। ते हि परमा असाधारणाः, लक्ष्मीसहितं नोपासते, अंशेन सेवाया व्यभिचारात्। अतस्तदनुरोधेनाऽपि न लक्ष्म्या सह रमणम्। एतादृशस्त्वं द्विजानामनुपथं यत्पुण्यरजः। भगवतो द्विजानुगमनमेव न सम्भवति, ईश्वरत्वात्। ते हि पादचारिणोऽर्थ्यनुवर्तकाश्च। दूरे तद्रजसः पुण्यत्वम्, मार्गरजसोऽपवित्रत्वात्। तेन च पावित्र्यं ततोऽपि दूरे। श्रीवत्सरूपं लक्ष्म चिह्नं किमर्थं त्वमगाः प्राप्तवानसि ? यतस्त्वं भगभाजनः सहजश्र्यादिधर्मयुक्तः ॥२०॥ ॥२१॥

व्याख्या—जिस लक्ष्मी की पादरेणु अर्थार्थी अपने शिर पर चढ़ाते हैं वह लक्ष्मी जिस भगवान् की सेवा के लिए समयानुसार भक्त की तरह स्वयं आती है उसका तो आप विशेष आदर भी नहीं करते हैं, ऐसे वे आप द्विजों के चरणों से पवित्र हुई मार्ग को जो रज, उससे पवित्र होकर कैसे श्रीवत्स का चिन्ह धारण कर सकते हो, अतः ब्राह्मणों की कृपा से ही चञ्चला लक्ष्मी मेरे पास स्थिर रही है, आपका यह पक्ष भी नहीं बनता है। वह तो आप में उसकी भक्ति है इसलिए स्थिर रही है। उसकी आप में भक्ति ब्राह्मणों से सिद्ध नहीं हुई है, भक्ति मार्ग में ब्राह्मण भी भक्तपन से ही उपयोग में लिये गये है। ब्रह्म भाव के अनन्तर ही भक्ति का अधिकार होने से ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए अपेक्षा है। यदि यों कहे तो उसका (लक्ष्मी जी का) ब्रह्म भाव सिद्ध हुआ ही है, जैसा कि कहा है 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' लक्ष्मी जी का शरीर ब्रह्मानन्द रूप है, अतः साक्षात् व परम्परा से उसकी भक्ति में ब्राह्मणों का उपयोग नहीं है, भक्ति के कारण ही आपके पास स्थिर रही है इससे भगवद्वाक्य विचार करने के योग्य है, और विशेष-ब्राह्मण भिखारी है, अर्थ चाहने वाले इन्द्रादिके पास माँगने जाते हैं। इन्द्रादिक तो लक्ष्मी चरणों की रेणु के उपासक हैं, अतः ब्राह्मणों का निर्वाह जो इन्द्रादिक करते हैं उनका भी निर्वाह करने वाली लक्ष्मी उनके (ब्राह्मणों के) अधीन कैसे होगी ? किञ्च भोग्य भाव ही उसने छोड़ दिया है जिससे वह फल रूप नहीं रही है, वह तो दूसरे रस (भक्ति रस) में प्रविष्ट हो गयी है, भक्तिरस

से काम रस में प्रवेश नहीं कर सकता है, भगवान् ने भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वाक्य को 'जो जैसे मुझे भजते हैं उनको मैं भी उसी तरह भजता हूँ' चरितार्थ करने के लिए लक्ष्मी जी को भक्त-पन से ग्रहण किया है, जैसे तुलसी को, अतः उसके गुणों की भी अपेक्षा नहीं है वह भी निर्गुण तुलसी का बहुत आदर करती है अपने को उससे हीन समझती है। भौंरे अनेक प्रकार के पुष्पों के रस के ग्राहक एवं उससे आसक्त होते हैं तो भी भक्ति के माहात्म्य के कारण सुगन्धित रस रहित तुलसी के रस में आसक्त हुवे हैं तो मुझे भी यों ही करना चाहिए इसलिए भ्रमरों के स्थान को ही प्राप्त करना चाहती है, यों होने पर भी उस स्थान को प्राप्त करके भी वह फिर अपने ही पद को प्राप्त कर लेगी अतः भक्त होने पर भी उसका अधिक आदर नहीं करते हो।

स्वभाव से निर्दोष भगवान् के पास स्थान प्राप्त करने में कोई अन्य हेतु नहीं है तो भी उस स्थान को त्याग कर पूर्व अवस्था को ग्रहण नहीं करते हैं अतः वे परम भगवदीय हैं, इसलिए ही लक्ष्मी से विशेष प्रेम (संग) आप उनसे करते हैं, अर्थात् भगवान भौंरों से विशेष प्रेम करते है क्यों कि लक्ष्मी से ये अधिक भगवदीय हैं जो मेरे चरणों में ही आसक्त और व्यसन वाले है उनको छोड़ते नहीं ऐसे लक्ष्मी में असाधारण गुण कैसे हों ? उसमें भी आप तो भगवान् शब्द का जो अर्थ उसके रूप ही हो, आप में नित्य ही षड्गुण (ऐश्वर्यादि) विराजते हैं, यदि ये गुण ब्राह्मणों के अनुग्रह से आप में आये हों तो वे कृत्रिम हो जाय। यदि व्यामोह क्रीड़ा (मोहित) करने के लिए कहते हैं तो अलौकिक प्रकार से ही हमको मोहित नहीं करना चाहिए, साधारण रीति से तो हमको मोह नहीं होगा क्योंकि हमको विशेष ज्ञान हो गया है। कहने का यही तात्पर्य है, 'विभूति' विशेषण भूतिः यस्या इति 'विभूति' भगवान् के भजन में जिस सामग्री की उपयोगिता है वह सर्व सामग्री इस पद से कह दी हैं, उपयाति पद में 'उप' शब्द के प्रयोग का यह आशय है कि, उनके (भगवान् के) समीप ही यह सामग्री पहुँचती है, न कि भोग करती है, अन्यैः दूसरे पद से भगवद्विमुख कहा है, वे भगवद्विमुख क्यों हुवे हैं इस पर कहते हैं कि अर्थ चाहने वाले हैं, जिनका चित्त धन में ही आसक्त है वे भगवत्सम्मुख नहीं होते हैं उनसे विमुख ही रहते हैं जैसे अज्ञ (छोटे) बालक को दूध न मिलने से व्याकुल होते हैं माता के सिवाय किसी को नहीं चाहते हैं वैसे ही धनार्थी लक्ष्मी को ही चाहते हैं उनको उपास्य देवता लक्ष्मी ही है, 'स्वशिरसाधृतपाद रेणुम्' प्रथम सम्बन्ध के लिए ही पहले अपने मस्तक के उपर जिसकी चरणरज धारण की है, इस पद से यह बताया है कि जो लक्ष्मी के उत्सुक हैं वे लक्ष्मी को चाहते हैं क्योंकि उसकी चरण रज से ही उनके शरीर बने हुए हैं। जिसके लिए ही भगवान् को भी चाहते है, शेष अन्य तो भगवान् की भक्ति के लिए ही भजते हैं एवं चाहते हैं।

यदि तुलसी अलौकिक होती तो उसके स्थान की प्राप्ति की इच्छा भक्ति उत्पन्न करने वाली न हो, इसलिए अर्थात् वह अलौकिक नहीं है किन्तु भाग्यवान् पुरुषों ने चरणों में अर्पण कर अपनी भक्ति प्रकट की है अतः भक्ति को उत्पन्न करने वाली है यदि केवल कृत्रिम हो तो उसको भगवत्सं-

बंन्ध न होता। किन्तु 'धन्य' पद से अर्पण करने वाले 'भक्त' हैं यों सूचित किया है ।

जो लोग लक्ष्मी के आधिभौतिक स्वरूप धन को प्राप्त करने के योग्य हैं ऐसे भगवान् के प्राणी (सेवक) धन्य हैं, दूसरे धनी होते हुए भी धन प्राप्ति के योग्य नहीं है जैसे कुत्ते गङ्गा जल के योग्य नहीं हैं, इसी कारण से ऐसे धनियों का धन भगवान् के उपयोग में नहीं आता है। धन तो अपने उपयोग में लाते हैं उससे अधिक तुलसी है अत: वे, वह तुलसी भगवान् के चरणों में समर्पण करते हैं चरणों में समर्पण भक्ति के हेतु वाला है। भगवान् के चरणों में तुलसी की नवीन माला बना के अर्पण करते हैं माला बना के अर्पण न करे तो बहुत तुलसी से भगवान् के चरण आच्छन्न हो जावे। वह (माला) तो भगवच्चरणारविन्द में ही विराजमान रहती है अथवा भक्तों पर कृपा होने पर उनके कण्ठों में पहनाई जाती है, दोनों प्रकार से ऐसा स्थान दूसरा कोई नहीं है, वह भौंरों का स्थान होता है; यों होने में हेतु कहते हैं 'मधुव्रतपतेः' मधु (शहद) ही जिनका व्रत है वे मधुव्रत कहे जाते हैं, अपने नियम के पालन से धर्म होता है, इस पक्ष में मधुव्रती होने पर भी धर्म है, मधु-व्रतियों का पति, यों उनके संबन्धी होने से व्रत पालन करने वालों के समान परम्परा से कृतार्थ हुवे हैं यों सूचित किया है, 'इम' पद से ब्रह्मानन्द का हीन भाव मिटाने के लिये उपमा दी है, अथवा इच्छित अर्थ श्रद्धा वाला होने से भक्ति कामना वाली है इस तरह भी भजन में भगवान् को वह फल प्राप्त होता हो तो भी ब्राह्मणों के वाक्य को इसमें हेतु कल्पा (माना) जावे, वह भी नहीं हैं। इसलिये कहते हैं 'यस्तामिति' इस श्लोक से जो प्रसिद्ध रीति से कहते हैं कि 'लक्ष्मी' ब्राह्मणों के प्रसाद से प्राप्त हुई है वह भी केवल कहना ही है उसको मानते तो नहीं, अर्थात् लक्ष्मी ब्राह्मण प्रसाद से प्राप्त हुई मान कर उसका आदर करे वह (आदर) तो करते नहीं, उसमें कारण यह है कि परम भगवदियों में विशेष प्रकार से सङ्ग है वे भगवदीय परम (उत्तम) हैं और असाधारण हैं अत: लक्ष्मी सहित भगवद् अंश के साथ सेवा करना व्यभिचार वाली सेवा है। अत: उन भक्तों के अनुरोध से भी लक्ष्मी से रमण नहीं करते हैं, ऐसे आप ब्राह्मणों की चरण रज से पवित्र होते हैं यह कहना बन नहीं सकता है क्योंकि आप ईश्वर होने से ब्राह्मणों के पीछे पीछे चलें यह अनुचित है वे ब्राह्मण पैरों से चलने वाले अर्थ चाहने वाले देवों के अनुयायी हैं उनको चरण से छुई हुई रज का पवित्र होना दूर है फिर विशेष वह मार्ग की रज होने से स्वतः अपवित्र होने से, आपको पवित्र करे यह तो उससे भी दूर है. श्री वत्स का चिन्ह आप क्यों धारण करें जब कि आप षड्ऐश्वर्यादि भगों के भाजन (पात्र) हैं अर्थात् आप तो सहज श्री आदि धर्मो से सहज युक्त हैं ।।२०-२१।।

आभास—एवं विरोधमुक्त्वा तस्य तात्पर्यं कल्पयन्तो धर्मरक्षार्थं वचनमिति धर्मो।
कल्पयितुम्, धर्मौ भगवता सर्वथारक्षित इति धर्मरक्षां हेतुत्वार्थमाह—

आभासार्थ—इस तरह विरोध कहकर, उसके तात्पर्य की कल्पना करते हुए बताया है कि ये वचन धर्म की रक्षा के वास्ते कहे है क्योंकि धर्म की रक्षा भगवान् ने सर्वथा की है जिसकी रक्षा का कारण इस श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग ! त्रिभिः स्वैः पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च सत्त्वेना नो वरदया तनुवा निरस्य ।।२२।।

श्लोकार्थ—हे त्रियुग ! सत्वगुण को नष्ट करने वाले रजो गुण और तमो गुण को हमारे कल्याणकारी सतोगुण रूप तनु से दबाकर धर्म रूप आप भगवान् अपने तीन चरणों से इस स्थावर जंगम रूप जगत् की ब्राह्मण तथा देवों के लिये निश्चय रक्षा करते हैं ।।२२।।

सुबोधिनी—धर्मस्येति । हे त्रियुग ! युगत्रय एव भगवदाविर्भावः, न कलौ । अत एव कलौ धर्मोऽपि नास्ति, रक्षकाभावात् । युगत्रय एव भगवदाविर्भावे तत्रैव रक्षायां च हेतुमाह–त्रिभिः स्वैः पद्भिरिति । भगवांस्त्रिपात्, यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात् । स्वैरसाधारणैः । अतो द्विपाच्चतुष्पाच्च लोकसिद्ध इति इति तद्वैलक्षण्यं न दोषाय । पद्भिरिति वा द्वित्वसङ्ख्या तेन षङ्गुणेषु द्वाभ्यां द्वाभ्यामेकैकस्मिन् युगे धर्मरक्षा । ज्ञानवैराग्याभ्यां सत्ये, यशः श्रीभ्यां त्रेतायाम् ऐश्वर्यवीर्याभ्यां द्वापर इति कलौ न कोऽप्यवशिष्यते धर्मो धर्मरक्षकः । किञ्च, सत्त्वेन पाल्यते धर्मः । केवलसत्त्वस्य प्रवृत्तिः सत्ये, रजसा सहितस्य त्रेतायाम्, सत्त्वसंबन्धयोग्येन रजसा तमसा च द्वापरे धर्मरक्षा । कलौ तु सत्त्वस्य तत्संबन्धिनश्चाऽभावान्न रक्षा । जगदपि भगवता धर्मार्थमेव रक्षितमित्याह–चराचरमिदमिति । यद्यपि धर्मोऽपि भगवान्, जगदपि; तथापि धर्मार्थमेव जगत् पाल्यते । तदाह–द्विजानां देवानां चाऽर्थे इदं जगत् नूनं भृतमिति । ननु स्वरूपेणैवाऽत्र धरणम्, किं सत्त्वेन गुणैर्वेत्याशङ्क्याऽऽह–तस्य जगताऽभिघाति नाशकं रजश्च तमश्च । विक्षेपेण मारयति रजः; आवरणेन तु तमः । उभयथाऽपि जगद्धर्मार्थं न भवति, अतो रजस्तमश्च सत्त्वेन निरस्य नूनं भृतमिति संबन्धः । सत्त्वस्योभयनिराकरणे सामर्थ्यमाह–नो वरदया तनुवेति । ब्रह्मादीनां वेदानामूर्ध्वगतिदातृत्वात् वरदत्वम्, अन्यदपोष्टं प्रयच्छतीति च । तदेव सत्त्व तनुरूपं जातम् । तनोतीति तनुः । अतोऽनन्तस्वरूपजननसामर्थ्यात् तयोर्निरसनसामर्थ्यम् । अतस्त्वं धमरूपो देवब्राह्मणेषु प्रतिष्ठित इति ब्राह्मणोत्कर्षस्तद्रक्षापरनामेत्यन्तः प्रीतिहेतुत्वात् तथोच्यत इति भावः ॥२२॥

व्याख्या—हे त्रियुग ! तीन युगों में ही प्रकट होने वाले सत्युग, त्रेता और द्वापर युग में ही भगवदाविर्भाव होता है कलियुग में नहीं, अतएव (इस कारण से ही) कलियुग में धर्म भी नहीं है क्योंकि उसका कोई रक्षक भी नहीं है, तीन युगों में ही भगवान् के प्राकट्य में और उनमें ही रक्षा के हेतु बताते हैं । 'त्रिभिः स्वैः पद्भिः' अपने तीन पादों से रक्षा करते हैं क्योंकि भगवान् त्रिपात् हैं कारण कि 'यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात्' यज्ञ तीन सवनरूप हैं अर्थात् सोम यज्ञ में 'सवन' (सोमरस) निकालने के तीन समय हैं, भगवान् (के) अपने असाधारण इन तीन चरणों से, अतः भगवान् द्विपात्

(दो पैर वाले) और चतुष्पात् (चार पैर वाले) भी लोक में प्रसिद्ध हैं इस प्रकार की विलक्षणता भगवान् में दोष वाली नहीं है। 'पद्भिः' पद कहने से एक एक में दो दो की संख्या समझनी चाहिये, इससे भगवान् में जो ऐश्वर्यादि छ गुण हैं उनमें से एक एक युग में दो दो गुणों से धर्म रक्षा करते हैं जैसे कि सत्युग में ज्ञान और वैराग्य गुणों से धर्म को रक्षा करते हैं, त्रेता युग में यश और श्री गुणों से तथा द्वापर में ऐश्वर्य और वीर्य से धर्म की रक्षा करते है, इसलिये कलियुग में कोई धर्म (गुण) शेष नहीं रहता है जो धर्म रक्षक बने किन्तु सत्वगुण से धर्म की पालना होती है। इसलिये सत्युग में केवल सत्व की प्रवृत्ति थी, त्रेता में रजो गुण सम्मिलित सत्व की प्रवृत्ति थी, जिससे धर्म रक्षा होती थी, कलियुग में तो न सतोगुण है और न उससे सम्बन्ध रखने वाला कोई गुण है अतः इसमें धर्म रक्षा हो नहीं सकती है। जगत् भी भगवान् ने धर्म के लिये ही रखा है, 'चराचर-मिदमिति' यद्यपि धर्म और जगत् भगवान् ही हैं तो भी धर्म के लिये ही जगत् की पालना की जाती है, उसको कहते हैं कि, ब्राह्मण तथा देवों के लिये ही निश्चय जगत् धारण (पालन) किया है। इस जगत् का धारण स्वरूप से किया जाता है फिर सत्व से व गुणों से क्या ? इस प्रकार की शङ्का पर कहते हैं कि 'तस्य जगतोऽभिधाति (नाशकं) रजश्च तमश्च' जगत् को नाश करने वाले रजोगुण और तमोगुण हैं, रजोगुण विक्षेप (लड़ाई, दंगे, लूटमार) कराके नाश कराता है और तम, आवरण से (बुद्धि का नाश कर) जगत् का नाश करता है, दोनों तरह से जगत् धमर्थि नहीं रह सकता है इस लिये आपने सत्व से रज और तम को दबाकर जगत् धारण किया है सत्वगुण में दोनों (रज और तम) को दबाने की शक्ति है, 'नो वरदया तत्वा' ब्रह्मादि देव (और वेद) ऊर्ध्वगति कराने वाले हैं और वर देने वाले हैं, वह भी सत्व तनुरूप हुआ है, 'तनु' शब्द से यह आशय है कि विस्तार करने वाला अतः अनन्त देह उत्पन्न करने की शक्तिवान् होने से सत्व रजो और तमो को खाने की शक्ति वाला है। इसलिये धर्म रूप आप, देव एवं ब्राह्मणों में विराजमान हो अतः उनका उत्कर्ष है, आपके द्वारा ही रक्षा होती है कारण कि उनके लिये आपके अन्तःकरण में प्रेम है, इसलिये आपने यों कहा है ॥२२॥

आभास—विपरिते बाधकमाह—

आभासार्थ—यदि विपरीत हो अर्थात् भगवान् रक्षक न बने तो उससे जो धर्म हानि होगी वह इस श्लोक में बताते हैं–

श्लोक—न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहाऽऽत्मगोपं गोप्ता वृष ! स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव वेदपन्था लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे वृष ! जो द्विजों का उत्तम कुल, आत्मा का रक्षण कर रहा है उसकी आप सुमधुर वाणी और पूजनादि से रक्षा नहीं करो तो आपका स्थिर किया हुआ यह वेद मार्ग उच्छिन्न हो जाय, क्योंकि लोक तो स्वामी के कृत्य को ही प्रमाण रूप मानते हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—न त्वमिति। यदि त्वं द्विजोत्तमकुलं न गोप्ता, तर्ह्येव तव शिवो वेदपन्था नङ्क्ष्यति। तत्र हेतुः—**लोकोऽग्रहीष्यदिति। ऋषभस्य** प्रभोर्यत् प्रमाणम्, तल्लोकोऽग्रहीष्यत्। द्विजोत्तमानां धर्मज्ञानसहितानां कुलं समूहः। यद्यस्मात् कारणात्। यद्वा, कुलमात्मगोपम्, आत्मानं स्वात्मानं वा भवन्तं गोपायतीति। आत्मा स्थितश्चेत् स्वमार्गे गच्छेत्, अत आत्मा प्रथमतो रक्षणीयः। तदनन्तरं स्वमार्गरक्षा। स्वात्मानं प्रति ये समायान्ति येन मार्गेण, स स्वमार्गः। तत्रापि भक्तानामागमनप्रतिबन्धकनिवृत्तिरेव रक्षा। ते चेद्भगवद्रक्षका भवेयुर्धर्मज्ञानयुक्ताश्च भक्तिमार्गप्रवर्तकाः, तदा ते रक्षणीया इत्यर्थः। तेषां रक्षा त्रिविधा; स्वरूपतः, संतोषजननेनाऽन्तः, प्रतिष्ठाजननेन च बहिः। तत्र स्वरूपतो रक्षाऽवतारैः क्रियत एव। अथाऽवशिष्यतेऽन्तर्बहिश्च। तदाह—**स्वर्हणेन समूनृतेनेति।** सुष्ठु अर्हणं पूजा कायिकी तेन बहीरक्षा तेषां प्रयोजनसाधिका, अन्यथा लोकसमानवाभावे भगवन्मार्गोपदेशो न स्यात्। सूनृतेन चाऽन्तः परिसंतोषोऽनेनोक्तः। एतस्य सहभावोऽन्तस्तोषस्य भगवत्कार्यहेतुत्वाय। अतो मार्गप्रवर्तकरक्षाभावे मार्गो नश्येदेव। **तर्ह्येवेति** पाषण्डप्रवृत्तेः सुगमत्वात्। न च बहूनां मार्गाणां विद्यमानत्वात् किं वेदमार्गेणेत्यत आह—**शिव इति।** अन्ये यादृच्छिकाः, कस्यचिदेव दुःखेनाऽपि फलसाधकाः, वेदमार्गस्तु शिवः कल्याणरूपः। ननु ब्राह्मणानां सन्माननाभावे कथं वेदो न रक्षितः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**लोकोऽग्रहीष्यदिति।** लोकस्तु स्वामी भगवान् यं तमेव मन्यते। ब्राह्मणैरेव वेदमार्गो बोधयते, नाऽन्यैरिति तेषां संमाननाभावे अप्रवृत्ति, पाषण्डतुल्यता वा स्यात्। **वृषेति** संबोधनं धर्मरूपत्वाय, वर्षणाद्वा ॥२३॥

व्याख्या—जो आप द्विजोंके उत्तम कुल का रक्षण न करो तो, उस समय ही आपका कल्याणकारी वेद मार्ग नाश हो जायेगा। कारण कि स्वामी के कृत्य को ही लोक प्रमाण रूप स्वीकार करते हैं, द्विजो का उत्तम कुल वह है जो धर्म और ज्ञान वाला हो और उस (धर्म और ज्ञान) से आत्मा का व आप अपनी आत्मा का रक्षण करता हे। यदि आत्मा स्थित होगा तो अपने मार्ग पर चलेगा। अतः प्रथम, आत्मा रक्षा करने के योग्य है उसके बाद अपने मार्ग की रक्षा, जिस मार्ग से जो अपनी आत्मा (भगवान्) के पास आते हैं वह स्वमार्ग है उसमें भी भक्तों को आने में जो भी प्रतिबन्ध (रुकावट) हो उन प्रतिबन्धों को दूर करना ही रक्षण है। यदि वे भगवद्रक्षक, धर्म और ज्ञान वाले बने, भक्ति मार्ग का प्रचार करे तब वे रक्षा के योग्य हैं, यह अर्थ है उनको रक्षा तीन प्रकार की है १-स्वरूप से रक्षा अवतार धारण कर की जाती है, २-भीतर की रक्षा-अर्थात् अन्तःकरण में सन्तोष, सुमधुर वाणी से किया जाता है, ३-बाहर की रक्षा, अच्छे प्रकार से कायाद्वारा पूजन करके की जाती है, जब उनका यों आप (भगवान्) पूजा द्वारा सम्मान करते हैं तब भगवन्मार्ग का उपदेश कर सकते है जिसका प्रभाव लोको पर पड़ता है यदि यों न करो तो सफल उपदेश नहीं कर सके, अन्तःसन्तोष होने से ही भगवत्कार्य सिद्ध हो सकता हैं, यदि मार्ग प्रवर्तकों की रक्षा न होवे तो, मार्ग नाश हो ही जाय, तब ही पाषण्डपन्थों को प्रवृति सुगम होती है, यों भी न कहना चाहिये कि बहुत मार्ग विद्यमान हैं फिर वेद मार्ग की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि वह 'शिवः' है दूसरे पन्थ अचानक लाभकारी होते हैं और फिर दुःख से फल देने वाले है वह भी किसी को ही। प्रायः नहीं, वेद मार्ग 'शिवः' कल्याण रूप है यदि ब्राह्मणों का सम्मान नहीं किया जाए तो,

वेद मार्ग की रक्षा क्यों न हो सकेगी ? इस शङ्का पर कहते हैं कि ।'लोकोऽग्रहीष्यदिति" लोक तो स्वामी अर्थात् भगवान् जो मानता है उसको ही मानते हैं ।

ब्राह्मण ही वेद मार्ग समझाते हैं दूसरे नहीं समझा सकते हैं, इसलिए उन ब्राह्मणों का यदि सम्मान न किया जायेगा तो उनकी उपदेश देने में प्रवृत्ति नहीं होगी, अथवा पाषण्ड के समान प्रवृत्ति हो जाय, भगवान् धर्म रूप हैं और इच्छित पदार्थों की वृष्टि करने वाले हैं अर्थात् मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं इसलिए 'वृषः' ! सम्बोधन दिया है ।।२३।।

आभास—नन्वेवं सति वैषम्यप्रप्रतिपादनान्मम ब्रह्मत्वं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–

आभासार्थ—यदि यों होगा, तो मैं विषमता करने वाला हो जाऊंगा, जिससे मेरा ब्रह्मत्व नहीं रहेगा, इस शङ्का के उत्तर में यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।**
नैतावता अधिपत्तेर्बत ! विश्वभर्तुस्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ।।२४।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों का सम्मान धर्म रक्षा के लिए किया जाता है, वह (सम्मान) आपकी पूर्णतः अभीष्ट नहीं है, कारण कि यों करने से इनका (ब्राह्मणों का) सम्मान करने से विषमता प्रकट होती है, अथवा पूर्व श्लोक में वेदमार्ग का जो नाश कहा है वह भी आपको पूर्ण अभीष्ट नहीं है, अनभीष्ट का अर्थ सर्व प्रकार अभीष्ट का अभाव है, अनभीष्ट इनका भाव है कि अल्प अभीष्ट का अभाव अर्थात् पूर्णतया अभीष्ट नहीं हैं ।।२४।।

सुबोधिनी—**तत्तेऽनभीष्टमिति** । तद्ब्राह्मणानां रक्षार्थं सन्मानम्, **तेऽनभीष्टमिव** । अथवा, पूर्वश्लोके वेदमार्गनाश उक्तः, अतस्तद्वेदनाशनं **तेऽनभिष्टमिव** । सर्वथाऽभीष्टाभावोऽनभीष्टम्; अल्पाभीष्टाभावस्त्वनभीष्टमिव । प्रथम पक्षे रक्षा एवार्थः, द्वितीये नाशः; कालत्वात् सर्वकर्तृत्वाच्च । तत्र हेतुः–**सत्त्वनिधेरिति** । सत्त्वनिधे रक्षाऽभीष्टा, नाशस्त्वनभीष्टः । **विधित्सोरिति** । स एव तथा विधातुमिच्छति । जनाय हि क्षेमं विधातुमिच्छति, जायमानाः स्वकृतेनैव हि सम्यक् भवन्तीति : अथवा, सत्त्वनिधेर्नाशोऽनभीष्टः । जनानां क्षेमकरणं तन्नाशः, उत्पत्तेर्वेदनाश एव भवति । उत्पत्त्यर्थं क्षेमश्चेत्, उत्पन्नानां वा वैदिकस्य संस्कारकत्वे पाषण्डाद् बलत्वम् । पुरुषार्थप्रतिपादकत्वे देहनिर्वा कपाषण्डाद्बलिष्ठत्वम् । **निजशक्तिभिरुद्धृतारेरि**त्युभयत्र हेतुः । स्वस्याऽसाधारणसामर्थ्यैरुद्धृता अरयो येन । उभयत्राऽपि प्रतिबन्धकाभावो भगवच्छक्त्यैव सिद्धः । ननु तथापि स्वस्य दोषजननेन परोपकारः सिध्यति, धर्मरक्षायां त्वेक एव दोष इति चेत्तत्राऽऽह–

नैतावतेति। स्वस्य नमनमात्रं न दोषः, नमतां नमनमिति व्युत्पत्तेः। नम्रभावो हीनानामेव हीन त्वबोधकः, उत्कृष्टानां तु भारसूचक एव। ये हि महाभारवन्तो भवन्ति ते नम्रा भवन्ति, अतो नम्रत्व मनम्रत्वं वा नैकान्ततो दोषरूपम्, गुणरूपं वा; अतस्तव महत्त्वं सिद्धमिति। हीनावनतिः कौतुकार्थं भवत्यभिनयरूपत्वात्। स एव हि रसजनकः। महत्त्वमाह—**अधिपतेरिति**। **बतेति** हर्षे, स्वस्तिसन्माननापरिज्ञानात्। **विश्वभर्तुरित्यपि** माहात्म्यम्। विश्वं हि यो बिभर्ति स हि लोके भाराक्रान्त इव नम्रो भवति, अन्यथा लोका भर्तुर्भारं न ज्ञापयेयुः। अतो नमनस्य प्रयोजनद्वयम्, लोके स्वस्य भर्तृत्वज्ञानम्, स्वार्थे तु विनोदः अवनतस्य सोऽवनतिरूपः पदार्थः, ते विनोद इति संबन्धः। अनेन दोषः परिहृतः॥२४॥

व्याख्या—प्रथम पक्ष आप सत्त्वनिधि हैं अतः आपको रक्षा करना अभीष्ट (पसंद) है दूसरा पक्ष आप कालरूप हैं अतः आपको नाश करना अभीष्ट है रक्षण करना अभीष्ट नहीं है, एवं आप सर्वकर्ता हैं अतः आपको वेद का नाश अभीष्ट नहीं है उसकी रक्षा ही चाहते हो, 'विधित्सोः' वह सत्त्व निधि ही यों करना चाहता हैं, अर्थात् मनुष्यों के लिए रक्षण ही चाहते हैं उत्पन्न हुवे अपनी कृति (भगवत्स्मृति) से ही श्रेष्ट बनते हैं, तथा सत्वनिधि (भगवान्) को उनका नाश होना पसद नहीं हैं यदि मनुष्यों को क्षेमवान् किया जाय तो वेद का वैदिक मार्ग का नाश होता है, उत्पत्ति (जन्म मरण) का चक्र फिरता रहे तो भी वेद का (वैदिक मार्ग का) नाश होता है यदि उत्पत्ति के लिए सुख हो तो यों (वेद नाश) होता है।

उत्पन्न हुवे जीवों की रक्षणार्थ किया हुआ वैदिक संस्कार पवित्र करने वाला होने से पाषण्ड के कारण दुर्बल होता हैं, यदि पुरुषार्थो का प्रतिपादक हो तो देह निर्वाहक पाषण्ड से वह बलिष्ठ है, 'निजशक्ति भिरुद्धतारेः' यह दोनों का कारण है, अपने असाधारण सामर्थ्य से जिसने शत्रुओं का उद्धार किया है। भगवान् की शक्ति से ही दोनों तरफ प्रतिबन्धकों का अभाव हुआ है। तो भी अपने को दोष लगाने से परोपकार सिद्ध होता है धर्म रक्षा करने पर यह एक ही दोष लगता है यदि यों कहो इसका उत्तर यह है, 'नैतावता' भगवान् का ब्राह्मणों को केवल नमन दोष नहीं हैं, क्योंकि स्वभावतः नमे हुए (भार वाले, बोझ वाले) हो नमते है ऐसे बड़े होते हैं जो बोझ वाले नहीं होते (छोटे) है उनका नमन उनके लिये ही हीनता बोधक है और जो महान् हैं वे यदि नमते है तो समझा जाता है कि इनमें भार है (बोझ है) जो अधिक भार वाले होते हैं वे नम्र होते हैं, अतः नम्रता व अनम्रत्व समान ही हैं, न दोषरूप हैं और न गुण रूप है। अतः आपकी महत्ता सिद्ध ही है, फिर भी आप जो नमन करते हैं वह हीनता का सा दृश्य दीखता है परन्तु वह वास्तव में नाट्य रूप होने से रस को उत्पन्न करता है। 'अधि' पद से भी उत्तमता प्रदर्शित की है। स्वस्ति (वेद का) और सम्मान के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अहो ! बत! पद से हर्ष की सूचना दी है 'विश्वभर्तुः' पद से भी माहात्म्य प्रकट किया हैं, निश्चय है कि जो विश्व का भरण (पालन-रक्षण)

करता है वह ही लोक में भार से झुका हुआ होता है (नम्र होता है अभिमान् रहित होता है जिससे उसको नमन करने में हीनता प्रतीत नहीं होती है) यदि नम्र न होवे तो लोक स्वामी (भर्ता) के भार की प्रशंसा नहीं करे, अतः नमन के दो प्रयोजन है (१) लोक में अपने भर्तापन का ज्ञान कराना (२) अपने लिए एक प्रकार का विनोद अवनत का, यह नमन अवनतिरूप है, अर्थात् हीन नमन करने से अपनी हीनता समझता है, किन्तु आपके लिए विनोद है, यों सम्बन्ध है, इससे दोष को मिटाया है ॥२४॥

आभास—एवं पूर्णान्तःकरणा भूत्वा, भगवता यो दण्डः स्थापितः, तत्राप्यभिप्रायापरिज्ञानात्, स्वापराधं दूरी कुर्वन्ति—

आभासार्थ—इस तरह आनन्द से पूर्ण अन्तःकरण वाले मुनिओं ने भगवान् के स्थिर किए हुए दण्ड का अभिप्राय न समझ अपना अपराध दूर कराने के लिए इस श्लोक में प्रार्थना की है—

श्लोक—यं वाऽनयोर्दममधीश ! भवान्विधत्ते वृत्ति नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितोध्रियतां स दण्डो येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बषेण ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे सर्वेश्वर ! आप इन दोनों द्वारपालों को जो चाहे वह दण्ड दो अथवा इनकी वृत्ति बढ़ा दें, हम निष्कपट भाव से उस आज्ञा को मान लेंगे । अथवा हमने इन निरपराधियों को यदि शाप दण्ड दिया है तो इसके लिए हमको जो दण्ड देना उचित समझो वह दीजिये ॥२५॥

सुबोधिनी- यं वाऽनयोरिति । हे **अधीश** ! अस्माकं तयोश्च । अधिकेशत्वं नाम वेदयुक्त्याद्यपेक्षयाऽपि, वेदादीनां नियामकत्वं वा; अत एवाऽस्मदुक्तप्रयोजनम् । **अनयोर्भवान् वृत्ति यं वा दमं विधत्ते, तदनुमन्महि** । वृत्तिर्जीविका, द्वारि स्थित्वा, सर्वेषां निवारणं कर्तव्यम् । तदा निवारिताः स्वप्रवेशार्थं स्वकीयं धनंधर्मं वा दास्यन्तीति वत्तिदानम् । स्वयं वा द्वारे परिपालनं करोतीति स्वतन्त्रतया वा वृत्तिदानम् । अस्मदुक्तो वा दण्डोऽन्यो वा, यमेव दण्डं भवान् विधत्ते तदनुमन्महि। भवदिच्छानन्तरमस्माभिरपि स्वीक्रियत इत्यनुमाननम् । एतदपि नाऽनुरोधात्, किन्तु **निर्व्यलीकम्** । स्वस्याऽप्यपराधात् दण्डश्चेत् तदप्यङ्गीक्रियत इत्याहुः-**अस्मास्विति** । वेत्युभयत्राऽनादरे। सङ्कोचो न कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाऽऽहुः-**य उचित** इति । **ध्रियतां स दण्ड** इति । इदानीं वाक्यमात्रमुक्त्वाऽन्येन तत्फलं संपादनीयमिति न, किन्तु इदानीमेव स दण्डोऽस्मासु स्थापनीयः । अथवा, स एव वा दण्डो जन्मत्रयात्मकोऽस्मासु स्थापनीयः। तत्र स्वस्याऽपराधमाहुः-येन कारणेन **अनागसौ** निरपराधौ **वयं किल्बिषेण अयुङ्क्ष्महि** योजितवन्तः । स दण्डः सहैवोभयेषां जन्मत्रयमिति । **अस्मासु वेति** पक्षे तेषां दण्डोऽस्तु न वेत्यौदासीन्यम् । एवं सर्वभावेन भगवतो माहात्म्यं निरूपितम् ॥२५॥

हे सर्वेश्वर ! अर्थात् हमारे और इन दोनों के बड़े स्वामी। बड़े स्वामी पद कहने का भावार्थ है वेदों में कहे हुए तर्कों से भी आप बड़े हैं अथवा वेदादि शास्त्रों के भी आप नियामक हैं, इसलिए सर्वेश्वर हैं, इस कारण से हो जैसा हमने कहा वैसा ही आप करने वाले हुए हैं, इन दोनों को आप जो वृत्ति (जीविका) दो या दण्ड दो वह हम मान लेंगे । वृत्ति अर्थात् आजीविका का सारांश है कि द्वार पर खड़े होकर सबको भीतर आने से रोकना तब जो रोके जायेंगे वे प्रवेश की आज्ञा पाने के लिए अपना धन व धर्म देंगे यह वृत्ति, दान (आजीविका) है, अथवा स्वयं द्वारपाल द्वार पर खड़े हो यह कार्य करें इसी तरह स्वतन्त्रता रीति से आजीविका का दान कीजिये, अथवा जो हमने पहले दण्ड (शाप रूप) दिया है अथवा दूसरा कोई, जिस दण्ड को ही आप स्वीकार करोगे उसको हम मानेंगे। आपकी इच्छानुसार हम भी स्वीकार करेंगे, इसको अनुमाननम् (स्वीकार) कहा जाता है, यह भी आपके आदरार्थ नहीं, किन्तु शुद्ध भाव से स्वीकार करते हैं, यदि हमारा भी अपराध हो तो उसका हमको भी दण्ड दीजिये वह भी हम स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, यों 'अस्मासु' पद से कहते हैं, 'वा' पद दोनों प्रसङ्गों में अनादर सूचक है सङ्कोच नहीं करना, इस अभिप्राय से कहते हैं। 'यं उचित इति' जो दण्ड उचित हो वह बिना संकोच कीजिये, अब आप वाणी मात्र से कहकर फिर दूसरे से उसका (वाणी का) फल (दण्ड) दिलाओ यों न करना, किन्तु वह दण्ड अब ही कीजिए, अथवा वह हो दण्ड जो द्वारपालों को तीन जन्म का दिया है हम पर लगाईये, क्योंकि हमने निरपराध दोनों को क्रोध के कारण अपराधी बनाया है, अतः वह तीन जन्म लेने का दण्ड साथ ही दोनों को हो। 'अस्मासु वा' पद से कहते हैं कि उनको दण्ड हो, या नहीं हो, यों कहकर उदासीनता दिखाते हैं किन्तु हमको तो अपराध का दण्ड दीजिये, इस तरह सर्वभाव से भगवान् का माहात्म्य निरूपण किया है— ॥२५।

आभास—भगवांस्तु शापाद्भीता इति तान् ज्ञात्वा शापं स्वकृतमित्याह—

आभासार्थ—भगवान् ने जान लिया कि इन मुनियों ने जो मेरे द्वारपालों को शाप दिया है उससे डरे हुए हैं अतः भगवान् उनको (मुनिओं को) आश्वासन देने के लिए इस श्लोक में कहते हैं कि यह शाप मेरी ही इच्छा से इनको (द्वारपालों को) आपने दिया है।

श्री भगवानुवाच—एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः संरम्भसंभृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः शापो मयैव निहितस्तदवैत विप्राः ।२६।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे विप्रों ! आपने इनको जो शाप दिया है वह मेरी ही इच्छा से हुआ हैं, अब ये दोनों देवों से पृथक् अन्य गति को (असुरादिको) प्राप्त होंगे, उस योनि में मुझसे वैर के कारण बढ़ा हुआ क्रोध रूप योग जिससे मुझमें एकाग्रचित्त होने से फिर शीघ्र हो मेरे समीप लौट आयेंगे ॥२६॥

सुबोधिनी-एताविति । सुरेतरगतिं दैत्यत्वम्, राक्षसत्वम्, मनुष्यत्वं च । इतरत्वं समाने भवतीत्यसुरमनुष्ययोर्देवतुल्यत्वं 'त्रया ह प्राजापत्या:' इत्यत्र निरूपितम्, राक्षसा अपि बीजपराक्रमाभ्या देवतुल्या इति । यक्षादयस्तु न स्वतन्त्रा:, कुबेरस्तु देव एव; अतस्त्रिविधामेव सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्य एव भूयो ममाऽन्तिकमुपयास्यत: । **यो वो** युष्माभिर्दत्त: **शाप:** स मयैव **निहित** इति, **तदवैत। निमित इति** पाठे नितरां मयैव मित: । **विप्रा** इत्यदीर्घदर्शित्वम् । ननु सुरेतरगतिप्राप्तौ शीघ्रं कथं भवत्समीपागमनम्, तत्तज्जन्मकर्मणां भोक्तव्यत्वादित्याशङ्कयाऽऽह--**संरम्भसंभृतसमाध्यनुबद्धयोगाविति** । क्रोधसंरम्भेण सम्यस्मृतो य: समाधि:, तेनाऽनुबद्धो योग: योगेन सर्वपापक्षय इति पूर्वमवोचाम । **भूय: सकाशमुपयास्यत** इति शापान्त: । परिमितशापदानं मत्कृत: शाप इत्यवैतेति निर्भयार्थम् ।।२६।।

व्याख्या—'देवों' से दूसरे प्रकार की गति अर्थात् दैत्यपन राक्षसपन और मनुष्यपन, इतर कहने से समानतत्व वताया है, अत:असुर और मनुष्यों में देवतुल्यता है जैसा कि कहा हैं कि 'त्रयाह' प्राजापत्या इस श्रुति में बीज और पराक्रम के कारण राक्षस भी देवों के समान हैं यक्ष आदि तो स्वतन्त्र नहीं है । कुबेर तो देव ही है अत: तीन प्रकार की सुरेतरगति को प्राप्त कर फिर शीघ्र ही मेरे पास आयंगे ।

आपने जो शाप इनको दिया है वह मैंने ही दिया हैं, यों समझो 'निहित' के स्थान पर 'निमित' पाठ होवे तो उस का आशय हैं कि इस शाप को मैंने ही स्वल्प (छोटा) कराया हैं, विप्रा:! विशेषण से सूचित किया हैंकि ब्राह्मण होनेसे दीर्घ दर्शी नहींहो, इनको तीन योनि भोगनी हैं तो फिर शीघ्र कैसे लौट आयेंगे ? क्योंकि उस जन्म के कार्यों को भोगने में समय लगेगा, इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं, 'संरम्भसंभृतसमाध्यनुबद्धयोगौ' क्रोध वेश के कारण पूर्णरूप से भगवान् में समाधि लग जाने से जो योग सिद्ध होगा उससे सर्व पापक्षय हो जाने से मेरे पास शीघ्र आयेंगे, ऐसे शाप का अन्त होगा शाप को स्वल्प करने का तात्पर्य है कि शाप मैंने ही दिया हैं यों यह श्लोक मुनिओं के निर्भयार्थ है ।।२६।।

आभास—एवमागतानां मुनीनां सर्वदु:खदुरीकरणमुक्तम् । इदानी सर्वेषां यथायथं प्रतिगमनमाह–अथेति । तत्र प्रथमं योगिनां प्रतिगमनं द्वाभ्यामाह कृतकरिष्यमाणप्रमेयभेदेन—

आभासार्थ—इस तरह कहकर पधार कर आये हुए मुनिओं के दु:ख दूर किये अब सर्व अपने२ स्थान पर जाने लगे यों कहते हैं जिसमें पहले योगियों का गमन दो श्लोकों से किये हुए और जो करना है दोनों का प्रमेय भेद से वर्णन करते है अग्रिमकृत्य २८ वें श्लोक में कहते हैं–

ब्रह्मोवाच । श्लोक—अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।
वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयं प्रभुम् ॥ २७ ॥

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्याऽनुमान्य च ।
प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने कहा—पश्चात् उन सनत्कुमार योगियों ने नेत्रों को आनन्द-दायी पात्र रूप विष्णु और उनके स्वयं प्रकाश स्वरूप वैकुण्ठ के दर्शन किये तथा उनकी परिक्रमा की अनन्तर प्रणाम कर आज्ञा लेके भगवान् के ऐश्वर्य का बखान करते हुए प्रसन्नता से लोटने लगे ॥२७॥ ॥२८॥

सुबोधिनी--**अथेति** । पुनस्ते स्वभावं प्राप्ताः, यतो मुनयः । यस्य या निष्ठा तस्य स एव गुणः, विपरीतो दोषः । ते ह्यन्तरेव भगवन्तं पश्यन्ति, न बहिः । बहिर्दर्शनं च नोपकारीति **प्रतिजग्मुः** । बहिर्दर्शने एको गुणो जात इत्याह-**नयनानन्दभाजनमिति** । इन्द्रियाणि हि परमैश्वर्यसंबन्धात् सुखं पञ्चधा विभज्य रूपादिभेदेन तमानन्दमनुभवन्ति, करणत्वाज्जीवस्यापि सुखजनकानि । अयं च भगवानानन्दमूर्तिर्लावण्यपूर इति नयनानन्दस्य भाजनम् । तद्भाजनं द्वयमपीत्याह-**वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं चेति** । ननूभयोस्तुल्यतया नयनानन्दभाजनत्वं कथमुच्यते ? तत्राऽऽह-**स्वयं प्रभुमिति** । लोकः स्वयमेव, वैकुण्ठोऽपि स्वयम्ः तथापि प्रभुत्वेन भगवत्स्फुरणे लोकत्वेन तत्स्फुरणात्. अक्षरस्य भगवत्त्वाच्चोभयोस्तथात्वमित्यर्थः ॥२७॥

व्याख्या - वे फिर अपने स्वभाव को प्राप्त हुए क्योंकि मुनि थे जिनकी जैसी श्रद्धा (निष्ठा) उनका वह ही गुण होता है । उससे विपरीत होवे तो दोष कहलाता है । वे मुनि होने से अन्तःकरण में (भीतर) ही प्रभु के दर्शन करते हैं । बाहर नहो, बाहर का दर्शन उपकारी नहीं है, इसलिये लौटने लगे, इस समय यहां आने से जो भगवान् का बाहर साक्षात् दर्शन हुआ उनसे एक गुण (लाभ) हुआ, वह 'नयनानन्द भाजनम्' वाक्य से बताया है. इन्द्रियां परमेश्वर के सम्बन्ध से जो सुख प्राप्त होता है उसको पांच भागों में बांटकर रूप आदि भेद से उस आनन्द का अनुभव लेती है, इन्द्रियां साधन हैं जिससे जीव को भी आनन्द स्वरूप लावण्य से भरपूर हैं इसलिये नयनानन्द के भाजन (पात्र) हैं, वह पात्र दोनों 'वैकुण्ठ और उसका अधिष्ठान विकुण्ठ (प्रभु) दोनों का समान नयनानन्द भाजन से बनेगा ? इसका समाधान करने के लिये कहते हैं 'स्वयं-प्रभुम्' लोक (विकुण्ठ) आप ही हैं तथा भगवान् जब प्रभु तरीके स्फुरते हैं तब विकुण्ठ लोक तरीके स्फुरित होता है वह अक्षर-रूप ... भगवान् है अतः दोनों समान है । २७॥

कारिका—भगवन्तं परिक्रम्येति । प्रदक्षिणा नमस्कार आज्ञाप्रार्थनमेव च ।
आगत्यतोष-भावश्च गमने स्तोत्रमेव च ॥१॥

कारिकार्थ—(१) प्रदक्षिणा, (२) नमस्कार (३) जाने की आज्ञा के लिए प्रार्थना, (४) आकर प्रसन्नता की वृत्ति होना, (५) जाते समय प्रशसा करनी, आये हुए मुनियों के आनन्द का लक्षण पांच अङ्गवाला कहा है ॥१॥

कारिका—समागतानां पञ्चाङ्गं तोषलक्षणमुच्यते ।
यथागतिगतिः कार्ये प्रसङ्गं वारयेदिति ॥२॥

कारिकार्थ—कार्य करने में प्रतिबन्ध के भय से जैसे आए वैसे लौट गए ॥२॥

सुबोधिनी—प्रतिजग्मुरागमनप्रकारेणैव पुनर्गता इत्यर्थः । बहिर्दर्शनस्याऽधिकत्वात् प्रकर्षेण मुदिताः । वैष्णवीं श्रियमिति शान्तिप्रसादलक्षणाम् । पूर्वस्मादयमेव विशेषः ॥२८॥

व्याख्या—'प्रतिजग्मुः' क्रिया का आशय है कि जिस प्रकार आए उसी प्रकार से लौट गए, उन्हे जो यहाँ भगवान् के साक्षात् दर्शन बाहर हुए उनसे बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि बाहर के दर्शन भीतर के दर्शन से अधिक है 'वैष्णवीं श्रीयम्' विष्णु की शान्ति एवं प्रसन्नता रूप सम्पत्ति इनके आने से पूर्व जो थी उससे अब वह ही विशेष है । ॥२८॥

आभास—अग्रिमकृत्यमाह-भगवतो निर्गमनं वक्तुं सेवकयोः समाधानमाह-

आभासार्थ—भगवान् का निर्गमन कहने के लिये सेवकों का समाधान कहते हैं-

श्लोक—भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं नु मे ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने अनुचरों को कहा, जाओ भय मत करो तुम्हारा कल्याण होगा, यद्यपि' मैं ब्रह्म तेज को मिटाने के लिए समर्थ हूं तो भी यों करना नहीं चाहता हूं कारण कि जो हुआ वह मेरा निश्चित मत हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—भगवानिति । अनुरोधे हेतुः—अनुगाविति । तेषां वाक्यविश्वासे कारणम्-भगवानिति । यातमित्याज्ञा शापेन गमनाभावार्थम् अनेन तयोः स्वधर्मो रक्षितः । अत एव-मा भैष्टम् । शापेन गमने सति भयं भवति । ननु कृते कारणे कथं फल न भविष्यतीत्याङ्कयाऽऽह-अस्तु शमिति । भवतां कल्याणमस्तु । इदानी सालोक्यम्, गतानां तु सायुज्यं भविष्यतीत्यर्थः ।

इदानीं लोके कौचिद्भवन्तौ, पश्चाल्लोकरूपावेव भविष्यत इति '**लोकाय कल्पताम्**' इति वाक्यम्। चरणपदमपि तमेवार्थं वक्ति। प्रविष्टयोश्वरणभावश्च सिद्धः, नैकट्यं तु तदा महत्। किं ब्राह्मणानामनुरोधेनैवं क्रियते? नेत्याह-**ब्रह्मतेज इति**। ब्रह्मास्त्रं किल दूरीक्रियत आधिदैविकं ब्रह्मतेजः, इदं त्वाधिभौतिकम्। अतः समर्थोऽपि ब्रह्मतेजो हन्तुं नेच्छे, सृष्टच् पयोगित्वात्। अतो **मम मतम्**। **नु** इति निश्चये। अभिप्रायं तु भगवानेव जानाति, वचनात् न कल्प्यते, कल्प्यमानोऽपि कार्यानुरोधेन कल्पनीय इति ॥२९॥

व्याख्या—आज्ञा पालन की क्योंकि सेवक हैं उन्होने वाक्य में विश्वास किया कारण कि आज्ञाकर्त्ता भगवान् हैं शाप के कारण नहीं जाओ किन्तु मेरी आज्ञा जाने की है इसलिये जाओ, उन्होने जाने से अपना धर्म पाला इस कारण से 'माभैष्ट' आर्शोवचन कहे हैं मत डरिये, शाप के कारण जाते तो भय होता अब आज्ञा से जाने पर भय नहीं किन्तु कल्याण होगा जब, ऐसा कर्मकिया है तो फल कैसे न होगा? इस शङ्का को मिटाने के लिये ही कहाहै अस्तुशम' आपका कल्याण हो? क्या कल्याण होगा अब सालोक्य मुक्ति जाकर लोटोगे तो सायुज्य मुक्ति है पाओगे अर्थात् इस समय वैकुण्ठ मेंआप कुछ (द्वारपाल) हो बाद में लोक रूप हो जाओगे लोकायकल्पताम्' इस वाक्य में कहे अनुसार, 'चरणपद' का भो यह पर्थ है, जिनका भगवान् में प्रवेश हो गया है उनका चरण भाव तो सिद्ध ही है तब निकटता तो महती है, क्या ब्राह्मणों में आदर होने से भगवान् ने यों किया है? उत्तर में कहते हैं कि जो ब्रह्मास्त्र आधिदैविक तेज वाला था उसको भी भगवान् ने दूर कर दिया यह तो आधिभौतिक है इसको दूर करने में क्या देरी लगेगी फिर समर्थ होते भी दूर नहीं किया, जिसको बताते हैं कि मैं (भगवान्) यों करना नहीं चाहता हूं क्योंकि सृष्टि के उपयोगी होने से इस कारण निश्चय मेरा मत यों हैं। जिसका अभिप्राय भगवान् ही जानते हैं, वचनों से कल्पना नहीं होती है। यदि कल्पना की भी जावे तो भी वह कल्पना कार्यानुकूल करनी चाहिये ॥२९॥

आभास—तर्हि ब्रह्मशापस्य का गतिः? तत्राह—

आभासार्थ—तब ब्रह्मशाप की क्या गति होगी? इस पर कहते हैं—

श्लोक—**मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्।**
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाऽल्पीयसा पुनः ॥३०॥

श्लोकार्थ—अब दैत्य योनि में मेरे प्रति क्रोध वृत्ति द्वारा जो एकाग्रता होगी उससे ब्राह्मणों के तिरस्कार करने से जो आपको पाप लगा है वह मिट जायेगा, फिर शीघ्र ही मेरे पास लोट आओगे ॥३०॥

सुबोधिनी--मयीति । ब्रह्मशापस्य प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । प्रायश्चित्तानन्तरं हि पुरुषः शुद्धः, शुद्धेनैव हि विहितं कर्तव्यम्, भगवद्भक्तानां च प्रायश्चित्तं भगवत्स्मरणमेव । तच्च स्मरणं लौकिकं भवति, शुद्धस्यैव हि वैदिके अधिकारात् । लौकिकत्वात् प्रायश्चित्तत्वं च । नित्यता तु स्मरणस्य प्रथमप्रवृत्तानाम्, यावद्भगवदीया भवन्ति । पश्चात्तु पापमेव नोत्पद्यते । भगवदिच्छया तु तदुत्पत्तिः तदिच्छाया बलिष्ठत्वात् स्मरणं न सम्भवति । लौकिके तु बाधाभावात् भगवत्सायुज्यादिसाधकत्वाभावेऽपि प्रायश्चित्तत्वमस्ति, दोषनिर्घातकत्वस्य स्मरणसहजधर्मत्वात् । कामादयो हि केवललौकिका लौकिकपोषहेतवः । क्रोधोऽत्र शापे हेतुर्जात इति क्रोधेनैव स्मरणं भविष्यति, अन्यथा विस्मरणमेव स्यात् । एवं गोपिकानां कामोऽपि । ब्रह्मणा हि कामेन वाक् शप्ता, अत एव वाचा न प्रजापतेर्होमः । 'वाक् च मनश्चार्त्तीयेताम्' इत्युपाख्याने तथा निरूपणात् । सैव वाक् गोपिकाः । भयेन शुक्राचार्येण शप्ताः कालनेमिप्रभृतयः. ते हि बृहस्पतिमुररीकृतवन्तः तपोरोहित्यगमनभयात् क्षिप्ता इति भयेनैव स्मरणं कंसस्य । अन्ये च देवा यथायथं लक्षसंबन्धिनो बृहस्पतिदुर्वासःप्रभृतिभिः शप्ता इति संबन्धस्नेहादेव स्मरणं यादवादीनाम् । एते चत्वारोऽपि शापात् तथोत्पन्नाः, तथा स्मरणेन तत्तच्छापं हित्वा स्वभगवदीयेनैव रूपेण भगवत्पदं प्राप्ताः । तथाऽत्रापि 'अस्तु शम्' इति वाक्यात् भगवत्पदप्राप्तिः । भगवति च क्रोधसंरम्भयोगेन ब्रह्मावज्ञालक्षणं दोषं निर्हृत्य, मे निकाशं समीपम्, अतिनेकस्थं वा द्वारापेक्षया चरणे अल्पीयसा कालेन पुनः प्रत्येष्यतमिति । क्रोधसंबन्धस्य लोके अपुरुषार्थत्वात् पुरुषार्थत्वाय योगपदम् ॥३०॥

व्याख्या--ब्राह्मणों के दिये हुए शाप का प्रायश्चित करना चाहिये, क्योंकि प्रायश्चित करने के बाद ही पुरुष निश्चय शुद्ध होता है, शुद्ध को ही वैदिक कर्म करना चाहिये भगवद्भक्तों के लिये प्रायश्चित भगवान् का स्मरण ही है और वह स्मरण लौकिक है, शुद्ध को ही वैदिक कर्म में अधिकार है, लौकिकत्व और प्रायश्चितत्व दोनो भगवत्स्मरण में है । स्मरण में प्रथम ही जो प्रवृत हो नित्य स्मरण तब तक करता रहे जब तक भगवदीय बने । पश्चात् तो उनमें पाप उत्पन्न ही नहीं होता है, यदि भगवदिच्छा हो तो उत्पन्न होता है, उनकी (भगवान् की) इच्छा बलवान् है उनकी इच्छा यदि ऐसी होती है तो फिर उस जीव मे भगवान् का स्मरण होना सम्भव नहीं, अर्थात् वह स्मरण करना भूल जाता है, लौकिक स्मरण में बाधा भाव होने से वह स्मरण केवल प्रायश्चित रूप होता है, भगवत्स युज्यादि फल को सिद्ध करने वाला नहीं होता हैं । किन्तु दोषों (पापों) का नाश करना स्मरण का सहज (स्वाभाविक) धर्म है वह मिटता नही है, काम आदि (क्रोध) केवल लौकिक हैं लौकिक कामों का पोषण करने वाले हैं यहां शाप में कारण क्रोध हुआ है इसलिये क्रोध से ही स्मरण होगा । यदि क्रोध न होगा तो स्मरण भी न होगा, इसी तरह गोपियों का भी काम स्मरण में हेतु हुआ । ब्रह्मा ने काम के कारण वाणी को शाप दिया इस कारण से ही वाणी से (मंत्र पढ़कर) प्रजापतियों को आहुति नही दी जाती है ? 'वाक्चमनश्चातो येनाम्' इस उपाख्यान में इस विषय का वर्णन है । वह ही वाणी गोपिका रूप में प्रकटी हैं, कस के भय के कारण ही बार बार भगवान् का स्मरण होता था क्योंकि कंस कालनेमिका है कालनेमिका आदि को शुक्राचार्य ने अपनी पुरोहिताई जाने के भय से शाप दिया था । अतः कंस ने भय से स्मरण किया ।

योग्यतानुसार पृथक पृथक ऋषियों के सम्बन्ध वाले देवों को बृहस्पति दुर्वासा आदि ने शाप दिया वे देव यादव रूप में जब प्रकटे तब उन्होंने सम्बन्ध के स्नेह से ही भगवान् का स्मरण किया ये चारों १द्वारपाल २गोपियां ३ कंस और यादव) शाप के कारण ही इस प्रकार प्रकटे अतः स्मरण भी उसी तरह कर शाप को मिटा के फिर अपने भगवदीय रूप से भगवत्पद से प्राप्त किया वैसे इस प्रसंङ्ग में भी 'अस्तुशम् इस वाक्यानुसार भगवत्पद की प्राप्ति होगी, भगवान् के साथ क्रोध रूप योग से एकता हो जाने से ब्राह्मणों का अपमान रूप दोष मिटाकर मेरे समीप अतिशय पास अर्थात् आगे द्वारपर स्थिति थी अब चरण रूप में स्थिति होगी शीघ्र ही लौट आओगे लोक में क्रोध से सम्बन्ध को पुरूषार्थ नहीं माना जाता है अतः योग पद दिया है जिससे यह क्रोध भी पुरूषार्थ बन जावे ।।३०।।

आभास—एवं तयोः सान्त्वनमुक्त्वा भगवान् यथास्थानं गत इत्याह—

आभासार्थ—इसी प्रकार दनों द्वारपालों को आश्वासन देकर भगवान् अपने स्थान पर पधार गये यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम् ।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या युक्तं स्वं धिष्ण्यमाविशत् ।।३१।।

श्लोकार्थ—द्वारपालों को इस तरह आज्ञा दे, विमान श्रेणियों के सुसज्जित सबसे उत्तम शोभा वाले अपने धाम में भगवान् प्रविष्ट हुए ।।३१।।

सुबोधिनि—द्वाःस्थाविति । **आदिश्येति** वचनात् नाऽन्यथाकरणं संभवति । भगवतः खेदो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-**भगवानिति**। ऐश्वर्यज्ञानवैराग्याणां खेदनाशकत्वात् । नन्वेतावुभौ निष्कासितौ दुष्टौ चेत्, अन्येऽपि तथा भविष्यन्तीति तन्निष्कासनमपि कर्तव्यम्, अन्यौ च द्वारपालकौ कर्तव्यौ । तदुभयम कृत्वा कथं गृहे गत इत्याशङ्क्याऽऽह-**विमानश्रेणिभूषणमिति** । विमानानां श्रेण्यः, तासां भूषणमलङ्कारभूतम् । वैकुण्ठस्थितानि सार्थकानि । अतो विगतो मानो येषामिति तदतिरिक्ताः सर्वेऽभिमानरहिताः, अतो निर्दुष्टा इत्यर्थः । त एव तत्र साधारणा अपीति **श्रेणिपदम्** । तेषामपि भूषणमिति सर्वथा सर्वदोषरहितं स्थानमित्यर्थः अत एवाऽन्ये न विनियुक्ताः, एतौ सदोषाविति । परं द्वारस्थत्वेन नियुक्तौ, न त्वन्यप्रतिरोधार्थम्, मुनीनां वाक्येन तथा निर्गयात् । पुनस्तत्रैव गमने हेतुः-**सर्वातिशयया लक्ष्म्येति** । सर्वेभ्योऽतिशयया । लक्ष्म्यर्थं कृतत्वात् लक्ष्मीस्तं सर्वभावेनाऽलङ्कृतवती, अतः सर्वातिशयया शोभया युक्तं भवति । स्वकीयं स्वरूपभूतं च तत् स्थानमिति नाऽन्यत्र गमनम् ।।३१।।

व्याख्या—'आदिश्य' आज्ञा देकर पद से सूचित होता है कि वे (द्वारपाल) दूसरी तरह करे यह सम्भव नही यदि करेंगे तो भगवान् को खेद होगा। यह शङ्का भी नहीं करनी, क्योंकि भगवान् में जो ऐश्वर्य ज्ञान और वैराग्य गुण है वे खेद नाशक हैं भगवान् को खेद होता नहीं हैअर्थात् भगवान् की आज्ञा का कोई उल्लङ्घन नही करता है।

यदि ये दुष्ट हैं तो उनको निकाल देना चाहिये था, यदि इनको न निकाला जायेगा तो दूसरे भी वैसे होंगे अथवा दूसरे भी ऐसे हो तो सबको निकाल दूसरे सेवक रखने चाहिये यह कार्य पूर्ण न कर भगवान् कैसे घर को पधार गये ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि विमानश्रेणिभूषणम्' विमानों की पंक्तियाँ जिस (वैकुण्ठ) की अलङ्कार रूप हैं वैकुण्ठ में स्थित विमान सार्थक (अर्थ वाले) हैं, अत: वहां सर्व अभिमान रहित अर्थात् दोष रहित है, वहां वे साधारण भी भूषण रूप है। अत: श्रेणी पद दिया है, जिसका आशय है कि यह स्थान सर्व प्रकार के दोषों से रहित है। इस कारण से दूसरे नहीं रखे, ये दोष वाले थे इसलिए इनको द्वारपाल करके ही रखा दूसरों को रोकने के लिए नहीं रखा है, मुनिओं के वचनों से पता लगता है कि इन्होने दूसरों को रोकने का कार्य किया है भगवान् फिर वहां गये जिसका कारण 'सर्वातिस्य याललक्ष्मेति पद से बताया है यह स्थान (वैकुण्ठ) लक्ष्मी के लिए बनाया है इसलिए लक्ष्मी ने इसको सर्व प्रकार से सुशोभित किया है। अत: सर्व से विशेष शोभा से युक्त है और वह अपना ही स्वरूप भूत है इस कारण से दूसरे स्थान पर नहीं पधारे ॥३१॥

आभास—एवं भगवतो गृहप्रवेशमुक्त्वा तयोरन्यत्र गमनमाह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् का अपने गृह में प्रवेश कह कर अब इस श्लोक में द्वारपालों का दूसरे स्थान पर जाना कहते हैं

श्लोक-**तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः।**
हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥३२॥

श्लोकार्थ—वे देव श्रेष्ठ जय विजय, ब्रह्मशाप से वहां ही श्री हीन हो गये और उनका गर्व गलित हो गया तब दुस्तर हरिलोक से गिरने लगे ॥३२॥

तौ त्विति। तत्रतयोर्निलीय स्थितिं व्यावर्तयति तुशब्द: **तौ** हि विचारकौ, भगवदाज्ञापरिपालनादेव निस्तार इति। तथा ज्ञाने हेतु:-**गीर्वाणऋषभाविति**। **दुस्तरादिति** तस्य लोकस्य तरणं दु:खेनाऽप्यशक्यम्। तत्रापि--**हरिलोकत**: स हि सर्वदु:खनिवारक:। तत्रापि प्रकाशमानो लोक:, अन्यत्राऽज्ञानमेवेति भाव। वैकुण्ठस्थितयोर्या शोभा स्थिता, सा **ब्रह्मशापाद्धता**; अतस्तत्र स्थातुमपि न शक्यते; तत्रत्यै: सह साधर्म्याभावात किञ्च, विगता स्मयो गर्वो ययो:। अत एवैतयो: पूर्वं गर्व: स्थित:, न तु निर्दुष्टौ। ततो निष्कासिताविति। लोकस्योपकारित्वख्यापनार्थं लोकत एव विगतस्मयाविति हेतुहेतुमद्भावो निरूपित: ॥३२॥

व्याख्या—'तू' शब्द से यह सूचित किया है कि वैकुण्ठ में ही छिपकर नहीं रहे, क्योंकि उन्होने जाना कि भगवदाज्ञापालन करने से ही निस्तार होगा कारण कि वे विचार करने वाले नीतिज्ञ थे, वैसा ज्ञान होने में कारण यह है कि वे देव श्रेष्ठ है, उस लोक को पार करना दुःख से भी अशक्य है, उसमें भी फिर 'हरिलोकतः हरि लोक से वे हरि सर्व दुःख हर्ता हैं इसमें भी फिर प्रकाशमान है इस लोक के सिवाय अन्यत्र अज्ञान ही है यह भाव है वैकुण्ठ में स्थिति के कारण जो शोभा थी वह ब्राह्मण शाप से नष्ट हो गई, अतः वहां स्थिति होना कठिन है क्योंकि वहां के निवासियों के साथ साधर्म्य न रहा और उन दोनों का गर्व भी मिट गया है, परन्तु निर्दोष थे इससे वहां से निकाले नहीं गये। पश्चात् निकल गये, लोक (वैकुण्ड) उपकारी है यों प्रसिद्ध करने के लिये लोक (वैकुण्ठ) के कारण ही अभिमान मिट गया यों हेतु हेतुमद्भाव × का निरूपण किया ॥३२॥

आभास—एवं तत्कृतमुपकारं प्राप्य तौ गतावित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार वैकुण्ड का किया हुआ उपकार प्राप्त कर वे दोनो भगवदाज्ञानुसार गये यों इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः।
हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः! ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे पुत्रों! फिर जब वे वैकुण्ठ लोक से गिरने लगे तब उत्तम विमानों में बैठे हुए वैकुण्ठ वासियों ने बहुत हाहाकार किया ॥३३॥

सुबोधिनी—तदेति। वैकुण्ठधिषणात् तयोर्निपतमानयोः सतोः, तदा हाहाकार आसीत्, अयुक्तं जातमिति। विमानाग्र्येष्विति तेषां दर्शनयोग्यता निरूपिता। हाहाकारवर्णन तयोर्दया सूचकम्, अत एवाऽत्र प्रतीकारो न कर्तव्यः, क्लिष्टयोरधिकक्लेशापतेः। पुत्रका इति स्नेहेन संबोधनं स्वस्य दयावत्त्वज्ञापनार्थम् ॥३३॥

व्याख्या—वैकुण्ठ लोक से उनके गिरते समय हाहाकार मच गया, क्योंकि इनका यहाँ से गिरना अनुचित है. विमानाग्र्येषु' पद से यह सूचित किया है कि देवता वहां से इनको देख सकते थे,

× इस भाव का आशय है कि वैकुण्ठ वास कारण और अभिमान का दूर होना यह कार्य। इस कारण और कार्य का सम्बन्ध बताया गया है।

देखते ही हाहाकार करने लगे जिससे इन पर दया प्रकट की है, इस कारण से इस विषय में प्रतिकार नहीं करना चाहिए क्योंकि दुःखियां को विशेष दुःख होगा, 'पुत्रकाः ! यह सम्बोधन स्नेह के कारण दिया है, अपना दयालुपन प्रकट करने के लिए ॥33॥

आभास—तयोर्निरूपणस्य प्रकृतोपयोग माह–

आभासार्थ—उन दोनों के निरूपण का प्रकृत (चालु) विषय में उपयोग है यों इस श्लोक में कहते हैं –

श्लोक—**तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।**
दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—दिति के गर्भ में स्थित कश्यप जी के उग्र तेज में भगवान् के उन पार्षद प्रवरों ने आकर प्रवेश किया ॥३४॥

सुबोधिनी – **तावेवेति** । अधुना तावेव दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेजः प्राप्तौ गर्मे प्रवेश एवाऽत्र, न तु प्रकारान्तरेणाऽन्नादिषु संक्रमः । सुरभावान्निर्गतत्वादसुरत्वम् । तयोर्योग्यं बीजमित्याह–**उल्बणमिति** । स्वभावत एवोल्बणम्, अन्यायेन निर्गतत्वात् । तत्रापि **दितेर्जठरनिर्विष्टम्** तयोरापद्दशेयमिति ख्यापनार्थं पूर्वावस्थाकीर्तनम्–**हरेः पार्षदप्रवराविति** ॥३४॥

व्याख्या—अब वे दोनों ही, दिति के गर्भ में स्थित कश्यपजी के तेज में प्रविष्ट हुए, यहां गर्भ में प्रवेश ही हुआ है कि दूसरे लौकिक प्रकार से अन्न आदि में सक्रमण नहीं हुआ हैं, देव भाव निकल जाने से असुरत्व आ गया । यह बीज उन दोनों के लिए योग्य था इसलिए उस बीज का विशेषण 'उल्बणम्' दिया है अर्थात् वह उग्र बीज था, स्वभाव से ही उग्र था क्योंकि अन्याय मे निकला था, फिर प्रवेश भी दिति के गर्भ में किया । उन दोनों के लिए यह दशा आपत्ति की दशा थी । यों बताने के लिए उनकी पूर्वावस्था कहते हैं कि हरेः 'पार्षदप्रवरौ' हरि के उत्तम पार्षद थे ॥34॥

आभास—तर्ह्यन्धकारे किं कारणम् ? तत्राऽऽह–

आभासार्थ—तब अन्धकार होने का क्या कारण ? इस पर निम्न श्लोक कहते हैं–

श्लोक—**तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्दिवः ।**
आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥३५॥

श्लोकार्थ—उन दोनों असुरों के तेज से स्वर्ग का (देवों का) तेज ढक गया है अर्थात् फीका पड़ गया है। क्योंकि भगवान् की ऐसी ही इच्छा है अर्थात् इस समय भगवान् यों करना चाहते हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—**तयोरिति**। तौ ह्यधुना असुरौ, अतस्तत्तेजसा वो (?) युष्माकं तेज आक्षिप्तम्। भगवत्तेजसा दैत्यतेज आक्षिप्तं भवति, दैत्यतेजसा च देवानाम्। किञ्च, मुनीनामपकारसंस्मरणात् **दिवः**। **यमयोर्हि व** इति पाठेऽपि भवतामेव यमौ, अत एव भवतां तेज आक्षिप्तं भवति। तर्हि प्रतीकारः कर्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह **भगवांस्तद्विधित्सतीति**। एतर्हीदानीं भवतामुपद्रवं भगवानेव विधित्सति, केन प्रतीकारः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥३५॥

व्याख्या—क्योंकि इस समय वे दोनों असुर हैं अतः उनके तेज से आप देवों का तेज आच्छिन्न हो (ढका) गया है, भगवान् के तेज से दैत्य तेज आच्छिन्न होता है। दैत्य तेज से देवों का तेज आच्छिन्न होता है, किञ्च मुनिओं के अपकार स्मरण से स्वर्ग का तेज फीका पड़ जाता है,

यदि 'यमयोर्हितः यों पाठ हो तो भी यही अर्थ होता है आपके ही दो यम[1] हैं उनसे ही आपके तेज का नाश हुआ है। यदि कहो कि उसका उपाय करना चाहिये इस पर कहते हैं कि "भगवांस्तद्विधित्सति" अब आप के लिये यह उपद्रव भगवान् ही करना चाहते हैं-तो फिर कौन प्रतिकार (उपाय) कर सकेगा ? ॥३५॥

आभास—तर्हि का गतिरित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—तब क्या गति होगी ? इस पर निम्न श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययोगमायः।**
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्राऽस्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ।३६।

१—'सयमो देवानामिन्द्रियं वीर्यमयुवत तद्यमस्य यमत्वंऽनियम पदों निर्वचनात् भवता मेव इन्द्रिय वीर्यनाशका इत्यर्थ' उस यम ने देवों की इन्द्रिय और वीर्य को पृथक २ किया वह ही यम का यमत्व है यम पद की इस व्युत्पत्ति से आपकी इन्द्रिय और वीर्य को ये नाश करने वाले हुए हैं।-

'प्रकाश'

श्लोकार्थ — जो प्रभु विश्व की स्थिति, नाश और उत्पत्ति के कारण हैं एवं जो आद्य हैं जिनकी योग माया योगेश्वरों से भी कठिनता से पार की जाती है, वे तीन लोकों के स्वामी हैं अतः हमारा कल्याण ही करेंगे, इस विषय में हमारा विचार करना निष्फल है जिसका कोई अर्थ नहीं ।।३६।।

सुबोधिनी—विश्वस्येति । का भवतां चिन्ता स एव शान्तिं करिष्यति । तत्र हेतुः-**यो विश्वस्य स्थितिलयोद्भवहेतुरिति** । यस्तूत्पादयति, स एव पालयतित्यधुनाऽपि स एव पालयिष्यति । अथ यदि न पालयिष्यति, तदा प्रलयकर्तृत्वात प्रलयं करिष्यतीति न चिन्ता कर्तव्या, । प्रलयस्याऽवश्यम्भावात् । तथापि क्लेशाच्चिन्तेति चेत् तदुत्पादनमपि करिष्यतीति न चिन्ता कर्तव्या । किञ्च, न केवलं भवतामेव तेन कार्यं कर्तव्यम्, किन्तु विश्वस्यैव । यतो विश्वस्यैव स उत्पत्त्यादिकर्ता । ननु साधारणदाहेऽपि यथा पलायनेन जङ्गालुर्न दह्यते, तथाऽस्मासु प्रतीकारस्त्वया कर्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह-**योगेश्वरैरपि दूरत्यययोगमाय इति** । भगवतो योगमाया सर्वक्लेशहेतुः सा हि दुरत्यया । साधनेषु योगो महान्, तस्याऽपि ये ईशाः स्वाधीनयोगाः; तैरपि योगमायातिक्रमः कर्तुमशक्यः । अतो न मया प्रतीकारः । तर्हि त्वत्तोऽप्युत्कृष्टो वक्तव्य इति चेत्तत्राऽऽह-**आद्य इति** न ही तदपेक्षया कश्चिदाद्योऽस्ति, यो वक्तव्यः स्यात् । तर्हि स एवोच्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—**क्षेम विधास्यतीति** । सोऽनुक्तोऽपि स्वयमेव क्षेमं विधास्यति । तत्र हेतुः—**त्र्यधीश इति** । अन्यथा लोकद्वयमेव स्यात्, यदि ताभ्यां दिवो नाशः स्यात् । ननु ताभ्यां नाशे कृते पश्चात् कथं पालयिष्यतित्याङ्क्याऽऽह—**भगवानिति** । ननु तथापि त्वया शुभाशसनं कर्तव्यम्, अस्माभिर्वा त्वद्वचनेन तपस्यादिकं कर्तव्यमिति चेत्तत्राह- **तत्राऽस्मदीयविमृशेनेति** । यथा पर्जन्येऽवर्षति ततः पूर्वं घटेन क्षेत्रसेचनम् । यदि देवो न वर्षेत् सेकेनाऽपि न सस्योत्पत्तिः, वृष्टौ सत्यां सेको व्यर्थ एव । तत्राऽस्मदीयेन विमर्शेन । तत्र सर्गे, इहेदानीम्, कियान् वा अर्थः ? स सर्वार्थमेव शुभं करिष्यतीति किं प्रत्येकप्रयासेन फलासाधकेनेत्यर्थः ।।३६।।

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्ष्मण भट्टात्मज श्री मद्वल्लभ दीक्षित विरचितायां तृतीय स्कन्धे शोडशाध्याय विवरणम ।

व्याख्या - तुम चिन्ता क्यों करते हो ? वे प्रभु ही कल्याण करेंगे, वह ही पालन करते हैं अब भी वे ही पालन करेंगे, यदि पालन न करें तो प्रलय करेंगे क्योंकि प्रलय कर्त्ता भी आप ही है तो भी चिन्ता नहीं करना चाहिये प्रलय भी अवश्य होने वाली है प्रलय होने पर क्लेश होगा इसलिये चिन्ता है तो इस पर कहते हैं कि फिर उत्पत्ति भी अवश्य करेंगे । अतः चिन्ता नहीं करनी चाहिये, भगवान् केवल आपका ही कार्य (हित) करेंगे ऐसा नहीं हैं । किन्तु समग्र विश्व का कल्याण करने वाले हैं ।

कारण कि विश्व की उत्पत्ति आदि करने वाले वे ही है, साधारण दाह (जलन) होने पर जैसे शीघ्र गामी जन्तु भाग जाने से जलता नहीं है वैसे ही आपको हमारे लिये कोई भी उपाय करना चहिये, इस पर कहते हैं 'योगेश्वरैरपि दुरत्यय योगमायः' भगवान् की योगमाया सर्व क्लेशों का कारण हैं वह ही पार करना कठिन है, यद्यपि साधनों में योग बडा (उत्तम) साधन है, उस (योग) के जो ईश हैं अर्थात् जिन्होंने योग को अपने अधीन कर रखा हैं वे भी योग यदि आप माया का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं अतः मुझसे प्रतिकार न होगा, से नहीं होगा तो आप से जो उत्कृष्ट हो उसको कहना चाहिये, इस पर कहते हैं कि 'आद्यः' भगवान् से कोई उत्कृष्ट नहीं है वे ही आदि पुरुष हैं, अतः दूसरा कोई कहने योग्य नहीं हैं, जब यों हैं इनको ही प्रार्थना करनी चाहिये, इस पर कहते हैं कि क्षेमंविधास्यति' यह बिना कहने के भी कल्याण करने वाले हैं क्यों कि त्र्यधीश' तीन लोकों के ईश हैं, यदि वे असुर स्वर्ग का नाश करेंगे तो शेष दो लोक बचेंगे, तो फिर स्वर्ग का पालन कैसे करेंगे, दो लोकों के ही ईश हो जायेंगे, अतः यों नहीं होगा क्योंकि भगवान् हैं ऐश्वर्यादि गुण सम्पन्न होने से स्वर्ग का नाश होने नहीं देंगे इसलिये धीरज धरो, यों होने पर भी आप कोई उपाय बताइये आपकी आज्ञानुसार तपस्यादि उपाय हम करें, इस पर उत्तर देते है कि 'तत्राऽस्मदीयविमृशेन....' जैसे वर्षा न होने पर हम घड़ों से खेत को सींचें तो भी धान उत्पन्न न होगा यदि वर्षा हुई तो भी घड़ों से सींचना व्यर्थ ही हुआ, इसी तरह हमारे उपाय में निरर्थक है, अब सृष्टि के विषय में हमारे उपायों का क्या अर्थ है ? कुछ भी नहीं, वह प्रभु सब के लिये ही शुभ करेंगे, इसलिये फल के असाधक प्रत्येक प्रयास करने से क्या लाभ ? ।।३६।।

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के सोलहवें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
अणुर्द्वौ	१०८	इति तां	२७६	एषदंनन्दिनः	१२८
अतः परं	६८	इति ते वर्णितः	१४३	एष प्रपन्न	३८
अथोप सृष्ट	३८१	इति ब्रुवाणं	२०२	एष मां त्वत्कृते	२७१
अथ तस्योशती	४१८	इति मीमांसतः	२२२	एषा घोरतमा वेला	२८३
अथते मुनयो	४३८	इतिहास पुराणानि	१७४	कङ्क गृध्र	६५
अथ मे कुरु	२७५	इत्यभिध्यायतोः	२१६	कदाचिद्ध्यायतः	१७१
आथाऽत्रापीति	२६७	इत्यादिष्टः	१५४	कालोऽयं द्विपरार्ध	१३६
अथापि काम मेतं	२८२	इत्युपस्थीय	२५५	कालाऽयं परमाण्वादि	१६७
अथाऽभिप्रेत	४४	इन्द्राऽग्नि जिह्व	२७०	किमेतत्सूकर	२२०
अथाऽभिध्यायतः	१५६	उत्सङ्गान्नारदो	१६०	कृतशोकानुतापेन्	३०४
अथोप स्पृश्य	२६३	उत्स्रोतस	६१	कृतं त्रेता द्वापरं	१२१
अन्तः स	१८२	उत्क्षिप्तबालः	२२६	कृत्सन प्रसाद	३७४
अन्तर्बहिः	३११	ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान्	१७३	को नाम लोके	२५८
अन्तर्हिते	६८	ऋषिमाद्यं	५४	को वामिहेत्य	३६०
अप्रायत्याद	२६६	एतस्यांसाध्वि	२८४	कः श्रद्दधीत	२५१
अयने च	११२	एतावत्या	२०६	खरोऽश्वोऽश्वतरो	६४
अयं तु कथितः	१३५	एतावान्जि	७५	खुरैः क्षुरप्रैः	२३१
अर्वाक् स्त्रोतस्तु	६६	एतौ तौ पार्षदौ	४०१	गुणव्यतिकरा	७७
अलम्पटः	३१०	एतौ सुरेतर	४२६	गृहाणैतानि	१५३
अलं प्रजाभिः	१५६	एवमात्मभुवा	१५८	गौरजो महिषः	६३
अहमात्मात्मना	६२	एवं कालोऽपि	१०६	ग्रहर्क्षतारा	११५
अह्नया पृतार्त	२०	एवं तदैव	३७०	घ्राणेन पृथ्व्याः	२२८
आकृतिं रुचये	१६३	एवं युक्त	१८९	चत्वरि श्रीणि	१२३
आदेशोऽहं	२११	एवंविधैर	१३२	चरमः सद्विशेषाणां	१०३
आद्यस्तु महतः	८३	एवं संचोदितः	७०	चरितं तस्य	२००
अन्वीक्षिकी	१८१	एवं संविदिते	२८१	चातुर्होत्रं	१७२
इति तस्य वचः	१५१	एषतेऽहं	२७७	छायायाः कर्दमो	१६३
इति तग्दृणतां	४००	एष देव	३२६	जघान रुन्धान	२३२

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
जितं जितं	२३८	तस्मिन्नलोत्य	३५१	त्रसरेणुत्रिकं	१०९
त एकदा	३२९	तस्मिन्प्रसन्ने	२५७	त्रिलोक्या युगसा हृस	१२५
तत आत्मनि	५०	तस्मै नमो	१६८	त्रिलोक्यां दह्यमा	१२९
ततोऽपरा	१८७	तस्य चोद्धरत:	२६५	त्वम्न: सनातनो	४२३
तत्तेऽन भीष्ट	४३३	तस्याऽभिपश्यत:	२१७	त्वमेक: सर्वं	२०४
तत्सं कुलं	३३८	तस्याऽरविन्द	३८४	त्वं भावयोग	२२
तदा विश्ववेश्वर:	३०१	तस्यैव चाऽन्ते	१३४	दशोत्तराधिकै:	१३८
तदा विकुण्ठ	४४४	तस्योष्णिक	१८३	दितिर्दाक्षायणी	२६८
तदाहुरक्षरं	१३९	तरन्ति ह्यञ्जसा	४२४	दितिस्तु व्रीडिता	२९४
तद्भ्रान्दह्यमानायां	२७२	तान् बभाषे	१४७	दोक्षनुजन्मोपसद :	2४३
तद्वा इदं	८	तान्न वीक्ष्य	३५६	देव देव !	३१९
तद्वामनुष्य	३६६	ताभ्यां मिषत्	३५८	देवः सर्गश्चाष्ट	९७
तद्विधेहि नमस्तुभ्यं	२०५	ताभ्यां रूप	१९०	दैवेन ते	१४
तद्विलोक्य	७३	तावत्त्रि भुवन	१३१	दंष्ट्राग्रकोट्या	२४७
तद्विलोक्याऽब्ज	७१	तावद्भूयं द्रविण	१२	दृष्ट्वा पापीयसी	१४५
तद्विश्वगुर्वधि	३५०	तावेव ह्यधुना	४४५	दृष्टोऽङ्गुष्ठ	२२१
तद्व: प्रसाद	४०३	तिर्यङ्मनुष्य	३३	द्वादशार्धपलो	१११
तन्मे स्वभर्तु:	४१६	तिरश्च मष्टम:	९२	द्वार्येतयोर्निविविशु:	३५५
तप आतिष्ठ	१५६	तुभ्यं मद्विचिकित्सायां	५६	द्वा: स्थावादिश्य	४४२
तपसा ह्येधमानेन	७२	तेजोयसामपि	१६७	धर्मश्चतुष्पान	१२४
तपसैव परं	१५७	तेनैव तु	२६४	धर्मस्य ते	४३०
तम एतद्विभो	३१८	ते योगमायया	४२१	धर्मस्तनाद्दक्षिण	१६१
तम धर्मे कृत	१६६	ते वा मनुष्य	३८५	धिया निगृह्य	१४९
		तेषामितीरित	३६७	धीर्वृत्तिरुशनो	१५३
तमालनीलं	२३६	तेषां सतां	२२५	न त्वं द्विजोत्तम	४३१
तमेवाऽन्वपि	१२९	तेषां सुपाश्व	३२३	न ब्रह्मदण्ड	३०२
तमोमात्रा	१२९	तौ तु	४४३	नमो नमस्ते	२४६
तयो: समुच्चयो	११२	त त्वागतं	३७२	नमो रुद्राय	२९५
तयोर सुरयो:	४४५	तं त्वा विदाम	३९१	नमो विज्ञान	३२०
तस्मा एवं	६४	त्रयीमयं रूप	२४९	न वयं प्रभव:	२८१

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
न वयं भगवान्	४२२	प्रादुश्चकर्थ	३९७	यत्सेवया चरण	४०६
नह्यन्तरं	३६३	प्रीतस्तुभ्य महं	२०५	यत्र चाऽऽद्यः	३३१
न ह्यस्य लोके	२८७	प्रीतोऽहमस्तु	५८	यत्र नैः श्रेयसं	३३२
नाऽतः परं	७	ब्रह्मण्यस्य परं	४२२	यथेदानीं	८१
नाऽति प्रसीदति	२४	ब्रह्माणं हर्षया	२२३	यदर्धमायुषः	१३३
नाऽऽत्यन्तिकं	३६३	ब्रह्मादयो यत्कृत	२६०	यदरोदीः सुर	१५२
नाना कर्म वितानेन	५३	भगवन्तं परिक्रम्य	४३८	यदा तु सर्वं	५१
नाभिह्रदादि	४०	भगवाननुगावाह	४३९	यदात्थ बहु	७६
नाऽहं तथाऽद्मि	४०८	भगवान्वेद	१२०	यदा रहित	५२
निमेषस्त्रिलवो	१०९	भक्त्यर्पितोरु	२७३	यदा स्वभार्यया	२०३
निशम्य कौषारविणो	२६३	भविष्यतस्तवाऽभद्रा	२९९	यदोकः सर्वं	२११
निशम्य ते घर्घरित	२२४	भूतसर्गस्तृतीयस्तु	८५	यन्न व्रजन्त्यघ	३४४
निशम्य वाचं वदतो	१९८	भूयस्त्वं तप	४९	यन्नाभिपद्म	३५
निशावसान	१२६	भूत प्रेतपिशाचाश्च	९८	यन्नामानि च	४०४
नैतत्पूर्वैः	१६६	भूयादघोनि	३६८	यस्तां विविक्त	४२५
पद्मकोशं तदा	७४	मत्तद्विरेफ	३५३	यस्त्वेत योर्धृतो	४०२
परमेष्ठी तु	२१२	मन्दारकुन्द	३३७	यस्माद्बिभेम्यहं	३२
परं शुश्रूषणं	२०८	मन्युर्मनुः	१५३	यतोत्तानपदः	२६६
पारावतान्यभृत	३२५	मन्वन्तरेषु	१२९	यस्य वाचा	३२४
पीत्वैवमनु	१२०	मरीचिप्रमुखैः	२१९	यस्याऽनवद्या	२८८
पितांशुके	३७७	मरीचिरत्र्यङ्गि	१६०	यस्यामृतामल	४०५
पुत्रस्यैव तु	३०५	मानसा मे	३२८	यस्याऽवतार	२९
पुरापिता नो	२७४	मा मे गर्भमिमं	२९५	यस्याऽहं	२१४
पुलहो नाभितो	१६०	मयिसंरम्भयोगेन	४४०	यामाश्रस्वार	१११
पूर्तेन तपसा	६०	मा वेदगर्भ	४८	यामाश्रित्येन्द्रिया	२८०
पूर्वस्याऽऽदौ	१३४	य एतेन	५९	यामाहुरात्मनो	२७९
पुंसां गति	३८८	य एष मेर्ता	२५६	यावत्पृथक्त्व	१८
पुंसामतो	२६	यच्चक्रर्याङ्ग	५७	ये च मे	६९
प्राजापत्यं हि	३१६	यच्च व्रजन्त्य	३४८	ये तु त्वदीय	१०
प्राणिनां हन्य	३००	यत्प्रसादादिदं	३०७	ये त्वाऽनन्येन	३२२

श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट	श्लोक	पृष्ट
ये ब्राह्मणान्	४१४	वैकारिको देवसंग:	८६	सविदित्वाऽथ	२९२
येऽभ्यर्थिता	३४६	वैकृतास्त्रय	९६	सविदित्वाऽऽत्म	२७४
ये मे तनूर्द्विज	४१२	वैखानसा बाल	१७७	स वै बत	२५३
येषां न	२०९	वैमानिका: सललना	३३३	स वै महाभागवतो	३०८
येषां विभर्म्यं	४०९	शब्द ब्रह्मात्मन:	१८५	स वै रुरोद	१५०
योगैर्हेमेव	३०६	शश्वन्स्वरूप	२७	स वै विश्व	१७३
योऽन्तर्हितो	३८९	श्मशान चक्रा	२८५	ससर्जाग्रेऽन्ध	१४४
यो वा अहं	३०	श्वाश्रृगालो वृको	९४	साधुवीर	२६५
यो ऽविद्ययाऽनुप	३४	श्री रूपिणी	३४०	सावित्रयं प्राजापत्यं	१७६
यंवाऽनयो	४३५	श्रुतस्य पुंसां	२००	सुजतो मे	२१३
यं वै विभूति	४२५	श्रुत्वा भागवतं	३१३	सोमस्तु रेत:	२४५
य: सृज्य	११८	षडिमे प्राकृता:	८८	सोऽयं समस्त	३७
रुद्राणां रुद्रा	१५५	षोडश्युक्थो	१७५	सोऽवध्यात:	१४८
रूवं तवैत	२४०	सइत्थं गृणत:	१९९	सोऽसावद	४२
रूपं यदेतद्	५	सइत्थं भगवानु	२५५	संप्रहस्य महा	३२७
लघूनि वै	१०९	स काल:	१०७	संवत्सर: परि	११६
लोक संस्थान	४५	स च स्वायम्भुव:	१९९	संस्थापयैनां	२५०
लोके तेन	३१७	स चापि शतरूपायां	१९२	स्त्रीयाऽऽसी	१९०
लोको विकर्म	३१	सत एव	१०५	स्पर्शं स्तस्या	१८४
वधं भगवता	३०२	सती व्यादाय	४२०	स्त्रुक्तुण्ड्आसीत	२४२
वसन्ति यत्र	३३०	सत्वमस्या	२०७	स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य	२३२
वाच दुहितरं	१६४	सत्वं विधत्स्व	३२५	स्व सम्भवं	४४
वाविषु विद्रुम	३४२	सनकं च	१४६	स्वसर्गस्याऽऽशिषं	२९८
विकारै: सहितो	१३७	स न: प्रसीदतां	२९७	स्वं स्वं कालं	१२७
विद्यादानं तप:	१७६	सन्ध्यांशयो	१२३	हसन्ति यस्या	२८९
विद्युत्क्षिन्य	३७९	सप्तमी मुख्य	८९	हृदि कामो	१६२
विधुन्वतो	२५३	सर्गोनव विध:	८२	हृदिन्द्रियाण्य	१५३
विरञ्च्योऽपि तथा	७१	सर्वं वेदमयेने	६३	क्षुत्तृट्त्रिधातु	१६
विश्वस्य य:	४४६	सर्वाश्रमानु	२७८	ज्ञातोऽसिमेऽद्य	३
विश्वं वै	८०	सव्रज कूटाङ्ग	२२९	ज्ञातोऽहं	५५
				ज्ञात्वातद्धृदये	१८८

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी अध्याय ९ से १९

कारिकानुक्रमणिका

कारिका	पृष्ठ
ॐ कारश्चार्थशब्दश्च	१८१
अतोऽत्रनवमें	२
अतो हि भगवान्	४१७
अन्नं प्रथमतः	८९
अन्यथा प्राकृती	१६५
अन्यथा भगवल्लीला	२६२
अविद्या प्रथमं	१६४
आत्मान वस्तुरूप	१४४
अज्ञानं भगवच्छक्ति	१४५
अतोभगवत	३९९
अतोहि भगवान्	४१७
आधार कथन	२६२
आधिदेविक रूपे	२२५
आध्यात्मिकास्तु	१७०
आलम्भने फले	२२४
आलस्या भाव	४६
इतिहास प्रवृत्त्यर्थं	३१५
ईश्वरस्पतु	४०६
उत्तमस्य तु	१६५
उभयोर्भगवत्वाय	२३८
एकादशे तु	१०१
एका भगवतो	२२६
एता वतैव	३९०
एव मुत्कर्षं	२७७
एवं द्वादशधा	१९५
कामेन क्रोध	२६१
कारणेषड् गुणः	३०४
कालेनैवगृहोताः	६७
कीर्तिर्लक्ष्मीः	४०६
क्रोधो अविकाम	२६२
गद्यपद्याभि	१६६
चरित्रपरता	४७
जगतोभूतसर्ग	६७
जीव सर्गो	१
जीवानां तु	४१६
ततस्तद्रूदकल्पेषु	१९६
ततो वेदे	१४२
तन्नेच्छन्	१६५
तत्राऽपिकाम	१९७
तपो ज्ञानं	७०
तयोःस्वाभाविको	३६१
तामिस्त्रादि	१४१
दयासृष्टिर्द्वितियेति	१६५
देवाभीता	३१८
दोषतृतियो	३६१
दोषोऽप्यत्रहरेः	१४२
द्वादशार्कं समैः	२३८
द्वितीयस्योत्तरं	४८
धर्माद्दक्षात्	२७६
न तं विदाय	१६५
नाऽन्यत्रविनियो	४८
निरूप्यते पञ्चदशे	३१५
परिभ्रमो दर्शनं	२८४
पृथिवी च जलं	१०२
पुत्रस्य कार्यं	२०३
प्रकाशक मुपादानं	१५४
प्रजापतेरुद्भूतत्वात्	१९६
प्रथमे अप्यत्र	१९७
प्रदक्षिणा नमस्कार	४३९
प्रार्थितस्य	२७७
ब्रह्म भाव: स्वतः	४१७
ब्राह्मणेति क्रमो	४१७
भक्तानाम भयं	३१८
भक्तानां तु	३९९
भगवत्करणा ल्लोके	४१७
भगवानेय हि	४१७
भूत मात्रेन्द्रियधियां	८४
भूमिस्तु देवयजनं	१९६
मतान्तरे	२६२
मनसः प्रवलंत्वात्	३९९
मया तथैव	४७
महत्त्वेन प्रकारेण	८४
मात्राणि सर्व	६७
मुनिमानस सन्तोषः	३९९
य देव भिन्नरीत्याऽत्र	२६१
यंद्याधिदैविको	१९७
यज्ञ भूमित्व	१९६
योगे लोके	३९०
रसातलान्तः	१९६
लोला कथन	१९७
लौकिकी चाऽन्य	२६१
लौकिकी मपि	१६४
लौकिकी साऽत्र	१६४
वर्णिता सर्गलीलाऽत्र	२६१
विषयः पुरुषश्च	१४४
वेदा उत्पादिता	२२५
वेदानुसारिणी	१४३
वैकुण्ठे वृक्ष	३१६
सत्य सृष्टौ	१६४
सदोषासाऽपि	१४२
समागम क्रिया युक्तम्	२७२

कारिका	पृष्ठ	कारिका	पृष्ठ	कारिका	पृष्ठ
समागतानां	४३९	साधारणानां	१४१	स्त्रिय: स्वभावतो	४०६
सर्गस्थित्यन्त	२६२	सायुज्ये ब्रह्मभाव:	४१७	स्वप्नरछाया	१६३
सर्गाग्रत्र	८४	सुखे हेतुश्च	४७	स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्या	२१२
सर्वं तो अप्युत्तमा	१४२	सूर्यगत्या तु	१०२	स्वाभाविकस्य	४७
सर्ववेदार्थ रूपो हि	१९५	सूर्यात्मकस्तु	१०२	हिरण्याक्षादि	१६७
सर्वोहि भगवान्	१०२	सृष्टयर्थ तस्य	१६६	ज्ञानमार्गस्य	२
सात्त्विका द्विशफा:	६३	संसार दुःखतरणे	२७७	ज्ञानं समर्थितं	३१८

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी अध्याय ६ से १६

शुद्धि—पत्र

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१३	पच्चीस	पच्चीस	३५	२२	काय	कार्य
१	१८	पस्य	पुरुषस्य	३६	३१	(योग निद्र)	(योगनिद्रा)
१	१६	वाद	पाद	३७	२२	ज्ञान पुवक	ज्ञानपूर्वक
१	१६	स्वरू	स्वरूपं	३७	२७	स्पर्थ	स्पयामक
४	३०	(सत्य) ही	(सत्य) नहीं	४१	१२	प्राथना	प्रगिथि
५	१४	थदेत	यदेत	४१	१६	अथात्	अर्थात्
१६	४	ाते	जाते	४१	२६	बहले	बदले
२२	६	अचिरादि	अर्चिरादि	४३	५	प्राथना	प्रार्थना
२३	१६	भवागन्	भगवान्	४५	३	देख देखा	देखा
२३	१७	पमेय	प्रमेय	४७	३	आश्य	आशय
२४	६	निरूपणा	निरूपण	५०	२४	होने लिये के	होने के लिये
२८	१७	अक्षरूप	अक्षरस्प	५०	२५	समभगे	समभोगे
२८	२६	सूचिन	सूचित	५०	२६	भातर	भीतर
२६	११	गुणकर्मा	गुणकर्म	५१	३	ब्रमन्	बह्मन्
३०	१	न मन	नमन	६१	२२	इच्चाति	इच्छति
३१	१	मरच्यादि	मरीश्चादि	६२	६	प्रेष्ठ	प्रेष्ट:
३२	२	भीवन	जीवन	६२	२८	सफल	सकल
३२	२६	यद्यद	यद्यपि	६४	२१	सामथ्य	सामर्थ्य
३३	११	कृतयेतु	कृतसेतु	६७	२०	निर्मिता	निर्मिता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	३०	आलाचना	आलोचना
७४	२४	भगवत्कम	भगवत्कर्म
७६	३०	—	जानेयोग्य
७९	३०	बनाय	बनाया
८१	२६	उपादाक	उपादान
९०	१९	कीये	किये
९२	५	विशाद्विधो	विशुद्धिधो
९४	२	नो	तो
९९	९	तनीय	तृतीय
९९	२१	अपन	अपने
१००	८	इद्रां	इन्द्री
१००	१४	करीज	करीजे
१०७	२२	भुड़क्त	भुङ्क्ते
१०९	९	वितुः	विदुः
११३	२०	मस	मास
११४	१८	थ्यादा	ज्यादा
११८	९	स्वशक्या	स्वशक्त्या
१२२	१८	निश्चित	निन्दित
१२२	२९	व्यवघात	व्यवधान
१२४	१४	धम	धर्म
१२५	२	घर्ह	धर्म
१२६	२२	क्याकि	क्योंकि
१२६	२४	प्रवृत	प्रवृत्ति
१२९	१७	पडिसंरुद्ध	प्रतिसंरुद्ध
१३१	१०	ज्योतिश्वचक्र	ज्योतिश्चक्र
१४४	१५	ज्ञानः	ज्ञाने
१४४	२६	अन्युक्रयश्चे	अत्युत्कटश्चे
१४४	२६	स्टष्टिन	सृष्टिनं
१४८	२४	इनका	इनको
१५१	२७	एक ही ाथ	एक ही था
१५३	५	स्तमश्चैव	स्तपश्चैव
१५४	५	कारणं	प्रकाशकमुपादानं करणं
१५४	२६	प्रज	प्रजा
१५५	२६	प्रजापत	प्रजापति
१५६	६	अल	अलं
१५६	७	भया	मया
१५८	१३	मैत्रेपजी	मैत्रेयजी
१५८	१६	दनम्	वनम्
१५९	५	भगवत्छुक्ति	भगवच्छुक्ति
१६३	१९	स्वप्नश्रद्वाया	स्वप्नच्छाया
१६७	२५	आचारण	आचरण
१७१	२२	पडतो	पड़ता
१७५	१०	वादपेयं सगोसयम	वाजपेयं सगोसवम्
१७९	१७	काल काल	काल का
१८१	३	ब्रह्मजर्यादि	ब्रह्मचर्यादि
१८२	९	अत्मविद्या	आत्मविद्या
१८७	२५	ऋसीणां	ऋषीणां
१८८	१९	क्षत्वात	ज्ञात्वात
१८९	१२	पड़े	रहे
१९१	२८	अज्ञादि	आज्ञादि
१९७	१६	यद्याधि दैमिको	यद्याधिदैविको
१९७	२४	प्रथम ऽप्यत्र	प्रथमे ऽप्यत्र
२०१	३३	भगवाम	भगवान्
२०२	८	अरणेपधानम्	अरणोपधानम्
२०३	२	ज्ञनो	ज्ञानी
२०३	१२	वेदगर्म	वेदगर्भ
२०६	१९	अ्यर्पण	अर्पण
२०६	२७	शत्तायऽप्र	शक्त्याऽप्र
२०७	१३	जिसने	जिससे
२०८	१६	हाने	होने
२११	७	पृश्की	पृथ्वी
२१२	२५	धिरम्	चिरम्
२१६	९	निष्पाय	निष्पाप
२१९	२३	अनुपनीत	अनुपवीत
२२२	१३	मर्ग	मार्ग
२२३	२१	प्रधोष	प्रघोष
२२५	१३	लिए प्र. कठ	लिये प्रकट
२२५	१५	लोक	लोकों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२७	१६	हाकर	होकर	२८३	२७	ऽधिष्ठत्री	ऽधिष्ठात्री
२३२	३	भगवन्	भगवान्	२८५	१३	भस्मावगुष्ठा	भस्मावगुण्ठा
२३७	२०	तत्पर्य	तात्पर्य	२८६	२३	उज्जवल	उज्वल
२३६	२५	पदर्थों	पदार्थों	२८७	४	सम्बन्ध	सम्बंध
२४१	२६	युर्ज्ञेय	दुर्ज्ञेय	२८७	२४	अतः से	अत: उनसे
२४२	३	घृत	धृत	२८८	२०	कोति	कोटि
२४२	४	धृत	धृत	२८६	८	निवृत्र	निवृत्त
२४२	१५	धृत	धृत	२६०	११	चन्दानादि	चन्दनादि
२४४	१८	शिरोघर	शिरोधर	२६०	२०	विशाचचर्या	पिशाचचर्या
२४५	४	दशपूण	दर्शपूर्ण	२६०	२४	आज्ञाकारी	आज्ञाकरी
३४५	६	अर्मं	अर्थ	२६०	२८	विशाच	पिशाच
३४५	३०	सन	सबने	२६१	८	ब्रह्मा	ब्रह्मा
२४६	१४	समस्ते	नमस्ते	२६३	६	वांस्ताह	वांस्तदाह
२४८	३०	असन	आसन	२६५	८	पतिहिं	पतिहिं (?)
२५१	१८	लसृजेऽति	ससृजेऽति	३०१	६	जतुष्टये	चतुष्ठये
२५३	२	वमुर्जनस्तप:	वपुर्जनस्तप:	३०२	२२	कराव	करावें
२५३	२८	भरवन्	भगवन्	३०३	१५	दृग्ध	दग्ध
२५४	२३	(सबल)	(सबूत)	३१०	१५	वाली	वाला
२५४	२	असाम	असीम	३११	१३	भातर	भीतर
२५५	३	दटा	दया	३१२	२६	मोक्षदालता	मोक्षदाता
२५७	३१	प्रहोजन	प्रयोजन	३१३	२८	भद्भागवत	मद्भागवत
२५८	१०	दुर्लस	दुर्लभ	३१७	२७	फल	फल
२५८	१५	सुखामाम	सुखाभास	३१८	४	समर्य	समर्थ
२५८	२४	महाफख	महाफल	३१८	११	समर्पित	समर्थित
२५८	२८	भगवत्कथ सुधाम	भगवत्कथा सुधाम्	३२२	३	अत्व्यक्त	अव्यक्त
				३२३	२	(सवभव)	(सर्वभाव)
२५६	३१	(बदर)	(बन्दर)	३२३	१०	सवभाव	सर्वभाव
२६१	१३	अर्णंन	वर्णन	३२५	४	३	२
२६४	३	॥२॥	×	३२५	१०	भगवदाताज्ञा	भगवदाज्ञा
२७२	१२	हा	हो	३२५	१०	ब्रह्मा क	ब्रह्मा को
२७४	१२	असग	अलग	३२६	२४	दिनी	दिति
२८०	१३	सितरा श्रमैः	नितराश्रमैः	३३०	२	साक्षत	साक्षात
२८१	३	जाता	जाती	३३०	१८	ग्रैकुण्ठ	वैकुण्ठ
२८२	१४	मुर्हत	मुहुर्त	३३१	१६	अने	अपने
२८२	२१	जि समें	जिमे मैं	३३२	२२	सोक	लोक
२८३	२५	सकत	सकता				